समर्पण—

अशरण शरण !

'यत्करोषि—कर मुझे समर्पण'—

नाथ ! आपका विदित निदेश।

पालन हित—यह तुच्छ भेंट लो,

आया शरण भक्त-हृदयेश ! ॥

तेरे ही वर का प्रसाद यह,

अपना है क्या मेरे पास ?

तेरे वरद हस्त में अर्पित,

इसे संभालो ! रमा-निवास ! ॥

दासानुदास —

माधव

उपहार
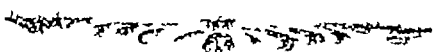
श्री ....

. ... महोदय !

(१)

एक 'मगर' से ग्रस्त डूबते गज को हरि ही सके उबार,
बहुविध अगर मगरसे निगलित, सम्प्रति नव शिक्षित संसार।
ननु-नच किन्तु परन्तु नक्र का, करने को सहसा संहार,
वज्रसार यह 'क्यों' माधव का चक्र सुदर्शन सुनिशित धार।

(२)

मानस मानसरोवर वासी, राजहंस चिद् अंश उदार,
जिज्ञासा प्रियतमा सहचरी, दिव्य दयित दम्पति अविकार।
तत्सम्भूत तनय 'क्यों ?' नामक, प्रश्नरूप निगमागम सार,
नीर-क्षीर विवेक अर्थ, अवतरित भेंट यह नव उपहार॥

समर्पक—

'क्यों ?' के सम्बन्ध में-

श्रीमन्नारायण की अनुकम्पा से आज हम 'क्यों' ग्रंथ के जिस चिर प्रतीक्षित द्वितीय संस्करणको पाठकोंकी भेंट कर रहे हैं, इसका सम्पादन तो बहुत पहिले हो चुका था, परन्तु धर्मप्रचार कार्य में अतीव व्यस्तता के कारण चाहते हुए भी हम इसे प्रकाशित न कर सके थे। यद्यपि इस लम्बे अर्से मे पाठक एक दिन भी 'क्यो ?' को नही भूले, अनेक धर्म-प्रेमियों ने इसके शीघ्र छप जाने की उत्सुकता प्रकट की, सख्त तकाजे उपालम्भ और दीर्घसूत्रता के लिए प्रेमपूर्ण तानो से भरे बहुत से पत्र भी लिखे, परन्तु गत वर्ष जब नित नए वायदों से ऊबकर हमारा अन्तरात्मा भी हमें लज्जित करने लगा, तब अन्य सब काम छोडकर भी इसे छाप डालने का दृढ़ संकल्प किया। फलस्वरूप 'क्यो' पूर्वार्ध का यह द्वितीय संस्करण आपके हाथ में है।

इस ग्रंथ के सम्पादन मे जिन महानुभावो के अनुकूल किंवा प्रतिकूल लेखों या विचारो से हमें कुछ भी सहायता मिली है, हम उन ज्ञात अथवा अज्ञात सभी सज्जनों के अत्यन्त आभारी हैं, विशेषकर अनन्त श्री विभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज के—जिन्होंने अनेक धर्म-सेवाओ मे अधिक व्यस्त होते हुए भी इस ग्रंथ की भूमिका लिखकर ग्रंथ का गौरव बढाया था। इस ग्रंथ मे जो मननीय सामग्री है वह वेदादि शास्त्रों की है और जो दोष हैं, वे सब हमारे हैं। भगवान् हमें बल दें कि हम 'क्यो उत्तरार्ध' का भी द्वितीय संस्करण भेंट कर सकने मे भी शीघ्र ही समर्थ हो! तथास्तु!!

प्रथम संस्करण
सम्वत् २००६
द्वितीय संस्करण
सम्वत् २०१९

—माधवाचार्य

—श्रीकण्ठ शास्त्री

क्यों ?—एक अध्ययन

धर्मश्रद्धा का विषय है और राजनीति तर्क का। हमारे महर्षियो ने योग की अलौकिक शक्ति द्वारा प्राप्त अपनी दिव्य दृष्टि से प्रकृति के जिन रहस्यो का जिन सूक्ष्म तत्त्वो का जिस रूप मे प्रत्यक्ष अवलोकन किया है उन्हे ही अपने ग्रन्थो मे लिख दिया है। वह उनकी कल्पना नही और न अनुमान ही है, वह तो उन के अनुभव मे आये हुए प्रत्यक्ष देखे हुए सिद्धात हैं अत उन्हे न मानने का या उन पर विश्वास न करने का कोई प्रश्न ही नही उठता और न वह उठा ही। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज से एक हजार वर्ष पूर्व तक हम अपने उन महर्षियो द्वारा दिखाये गए मार्ग पर चलते रहे, उनके बताये हुए सिद्धातो पर आचरण करते रहे और इसी का परिणाम यह हुआ कि बिना ही किसी प्रयत्न के हम इस दिशा मे सकल जगत् के मार्गदर्शक बने रहे और हमारा देश जगद्गुरु के पद पर अभिषिक्त रहा।

समय ने करवट ली। भारत परतन्त्र हुआ। हमारे जो नये शासक आये वे यहाँ राज्य करने के लिये ही नही आये थे अपितु भारत के धर्म-प्राण नागरिको को अपने मजहब मे दीक्षित करना भी उनका एक प्रधान उद्देश्य था। एक हाथ मे कुरान और दूसरे मे तलवार लेकर ही उन्होने इस देश मे प्रवेश किया था और इसके लिये सबसे पहिले उन्होने हमारे धर्मग्रथो को ही नष्ट करने का कार्यक्रम प्रारम्भ किया।

शासको के हरमो मे पानी गर्म करने के लिये हमारे धर्म ग्रथ ईंधन की भाति फुकने लगे। वह फुकते रहे फुकते रहे और

जब तक एक भी धर्म ग्रंथ उन की दृष्टि मे शेष रहा उनका फुकना बन्द नही हुआ।

और जब उनके शासन का अन्त हुआ तो अंग्रेज हमारा नया शासक बन कर इस देश मे आ गया। तलवार तो उसके भी एक हाथ मे थी किन्तु उसके दूसरे हाथ मे कुरान के स्थान पर बाईबिल थी। वह हमे ईसाई बनाना चाहता था और इसके लिए भी यह आवश्यक था कि हम अपने धर्म ज्ञान से शून्य हो जायें। इसके लिए उसने हमारे धर्मग्रंथो को फूका तो नही किन्तु बड़े-बड़े मूल्य देकर जहाँ तहाँ देश के अन्धेरे कोनो मे छिपे हमारे शेष बचे धर्म ग्रंथो को खरीद कर उनसे अपने देश के पुस्तकालयो की आलमारियो को सजाने के लिए ले गया।

मुगल हमामो की भट्टियो और अंग्रेजो की इस लूट के पश्चात् यदि फिर भी हमारे कुछ ग्रंथ बच रहे तो सचमुच ही इसे एक आश्चर्य ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार एक ओर धर्मग्रन्थो का अभाव हुआ और दूसरी ओर धर्महीन शिक्षा का प्रसार। जनता पर इसका प्रभाव गुलामी के पहिले आठ सौ वर्षो मे जितना न हो सका उतना पिछले डेढ सौ वर्षों मे हुआ। मुसलमानो के शासन काल में तो जब जब भी हमारे सामने अपना सिर अथवा सिर की चोटी मे से किसी एक को दिये जाने का प्रश्न उठा तो हमने सदैव सिर ही दिया किन्तु सिर को चोटी से पृथक् नही होने दिया किन्तु इस अंग्रेजी काल मे किसी के विना कहे सुने ही हमारे सिर की चोटी गायब हो गई। मुसलमानो ने जब तक हमारे धर्म ग्रन्थो का विनाश जारी रक्खा हमने उन्हे आततायियो की दृष्टि से बचाने के लिये अपने ही पेट फाड कर और उन ग्रन्थों को उसमे सी-सी कर उन्हें बचाया किन्तु अंग्रजी काल में धर्महीन शि..।

के प्रभाव से मरना तो दूर, कोई अगुली भी नहीं काँटता किन्तु फिर भी किसी के घर मे एक भी धर्म पुस्तक ढूढे नही मिलती। ऐसी परिस्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि जनता धर्म से अनभिज्ञ होती चली जाये।

अग्रजी शासन काल मे हमारी शिक्षा की बागडोर परम्परागत गुरुओ के हाथ से हट कर पाश्चात्यो के हाथ मे आई। पश्चिम का प्राण है उसकी राजनीति जो तर्क का विषय है। अत इस शिक्षा ने हमे भी तर्क करना ही सिखाया। हम हर क्षेत्र मे तर्क करने लगे।

अनन्तश्री विभूषित श्री स्वामी करपात्री जी के शब्दो मे यद्यपि धर्म प्रत्यक्षानुमानादि का विषय नही है, केवल अनादि अपौरुषेय शास्त्रो के द्वारा ही उसका अवगम होता है, किन्तु इस शिक्षा के प्रभाव से धर्म के क्षेत्र मे भी तर्क तीव्रता से प्रवेश पाने लगा, मानव बुद्धि मे धर्म के भी प्रत्येक विषय की 'क्यो' जानने की जिज्ञासा जागृत हो उठी।

मत मतान्तरो, रिलीजनो, महजबो मे एक भूकम्प सा आ गया। उनकी महजबी पुस्तको मे कही ढूंढे भी क्यो का उत्तर देने का साधन न मिला और उन्होने क्यो पूछने वालो को काफिर की उपाधि देकर ही अपना पिण्ड छुडाया। किन्तु वेद शास्त्र और पुराणो का अनुयायी सनातनधर्म इस क्यो का मुकाबला करने के लिये छाती ठोक कर सामने आया। उसने धर्म के प्रत्येक अग को क्यो की कसौटी पर कसे जाने के लिए प्रस्तुत कर दिया।

और इसका श्रेय सनातन धर्म के जिन विद्वान् महानुभावो को है उनमे सर्व प्रमुख है प्रस्तुत ग्रन्थ रचयिता हमारे शास्त्रार्थ-महारथी एवं अद्वितीय वक्ता श्री पण्डित माधवाचार्य जी शास्त्री।

पण्डित जी ने सनातनधर्म के प्रत्येक अग पर बहुत कुछ लिखा है इतना कुछ कि उसके पढने के पश्चात् सम्भवत. सनातन धर्म के विषय मे और कुछ पढने को शेप नही रह जाता, किन्तु यदि उन्होने इतना सब कुछ न लिखकर केवल 'क्यो ?' ग्रन्थ ही लिखा होता तो भी वे धार्मिक साहित्य प्रणेताओ मे अग्रणी ही माने जाते।

शास्त्री जी की महान् रचना 'क्यो' मे विज्ञान सम्मत तर्को द्वारा सनातन धर्म के विभिन्न प्रकरणो पर अत्यन्त ही रोचक शैली से और आधुनिक भापा मे प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ रत्न मे केवल 'क्यो' का ही निरूपण नही है किन्तु क्यो के साथ ही साथ 'क्या' और 'कैसे' पर भी विशद रूप से विचार किया गया है।

ग्रन्थकार के शब्दो मे—ससार मे किसी भी वस्तु की सिद्धि के लिए तीन अग ही आवश्यक होते है। सस्कृत साहित्य मे उन्हे क्रमश पक्ष, हेतु और दृष्टान्त कहा जाता है। लौकिक भाषा मे उन्हे क्रमश दावा, दलील और मिसाल कह सकते हैं और इस ग्रन्थ की भाषा मे उन तीन अगो को ही क्रमश क्या क्यो और कैसे कहा गया है। और यह कहना किंचित् भी अतिशयोक्ति नही है कि लेखक अपने उद्देश्य मे पूर्णत· सफल हुए है।

'क्यो' ग्रन्थ की रचना सर्वथा मौलिक और साथ ही वैज्ञानिक पद्धति से हुई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही विस्तृत रूप से आधारभूत मौलिक सिद्धान्तो का विवेचन है। जड़ और चेतन वाद, स्थूल और सूक्ष्मवाद, दृष्ट और अदृष्टवाद, अनन्त और सान्तवाद, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षवाद, अण्ड और पिण्डवाद, शुचि और अशुचिवाद, लोक और परलोकवाद, आदि विभिन्न वादो का जिस विस्तार और योग्यता से निरूपण हुआ है वह देखते ही

बनता है। ग्रन्थ का प्रारम्भ ही एक रूप से समस्त ग्रन्थ का मूलाधार है। धर्म विषयक अनेको शकाओ का समाधान तो केवल इसी अध्याय के अध्ययन मात्र से ही हो जाता है। और फिर उसके पश्चात् एक के बाद दूसरे सिद्धान्तो को लेकर उनकी सभी शकाओ का सामाधान इस ग्रन्थ मे किया गया है। धार्मिक साहित्य मे सचमुच ही यह ग्रन्थ अद्वितोय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दो भागो मे विभक्त है। पूर्वार्द्ध मे जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के सभी वैदिक सस्कारो के साथ २ दिनचर्या रात्रिचर्या ग्रहविज्ञान, महूर्तविज्ञान यज्ञ आदि विपयो पर वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया गया है। उत्तरार्ध मे ईश्वर उपासना, मूर्तिपूजा अवतार, श्राद्ध, वर्ण-व्यवस्था, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, आदि विभिन्न साम्प्रदायिकवाद, यज्ञ, पर्व त्यौहार आदि विषयो पर अधिकार पूर्वक शास्त्रीय विवेचन किया गया है। १५०० पृष्ठो के इस बृहद् ग्रन्थ को सनातन धर्म के रहस्यो का अक्षय कोष कहे तो अत्युक्ति न होगी।

इस ग्रन्थ के अध्ययन के पश्चात् लोकसभा के अध्यक्ष माननीय श्री अनतशयनम् आयगर महादय के इन शब्दो से सभी व्यक्ति सहमत होगे कि 'वर्तमान युग मे एक ऐसे ग्रन्थ की, जिसमे सनातन धर्म के मूल सिद्धान्तो पर शास्त्रीय प्रमाणो के अतिरिक्त युक्ति-युक्त वर्णन हो अत्यन्त ही आवश्यकता थी और विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ द्वारा उस आवश्यकता की पूर्ति करके एक महान् कार्य किया है। अत इस ग्रन्थ का जितना भी प्रचार होगा सनातन धर्म का उतना ही प्रचार होगा इसमे किंचित् भी सन्देह नही है।' —श्री मदन गोपाल सिंघल

(लोकालोक से साभार)

[अभिनव-शङ्कराचार्य्य, विश्ववन्द्य, अनन्त श्री विभूषित **स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती 'करपात्री' जी महाराज** ने हिमाचल यात्रा के एकान्तवास मे इस ग्रन्थ के अनेक प्रकरण स्वय पढकर तथा लेखक से सुनकर भूमिकास्वरूप नीचे लिखी पक्तिया लिखने की अनुकम्पा की है, जो देखने मे सक्षिप्त किन्तु भाव गाम्भीर्य मे 'गागर मे सागर' को भरते हुये मीमासा आदि दर्शनो की सर्वतन्त्र पद्धति से प्रस्तुत ग्रन्थ के मथितार्थ को प्रकट करती हैं। पाठक एक-एक अक्षर को मनोयोग देकर मनन करें—लेखक]

प्रख्यात प्रवक्ता, विश्रुत-कीर्ति, सनातन-धर्म स्तम्भायमान, शास्त्रार्थ-महारथ, श्री माधवाचार्य्य जी के **'पुराण-दिग्दर्शन'** आदि विद्वत्तापूर्ण अनेक ग्रन्थ प्रकाशित होकर जनता का महान् उपकार कर रहे हैं। उन्ही का यह प्रस्तुत ग्रन्थ **'धर्म-दिग्दर्शन'** है जो जनता मे **'क्यो ?'** इस नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुका है।

इसमे शास्त्रो एवं शास्त्र-सम्मत तर्कों के द्वारा भी सनातनधर्म के विभिन्न मर्मों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ के विभिन्न प्रकरण बडे ही रोचक ढङ्ग से परिष्कृत, आधुनिक भाषा मे अपनी भावाभिव्यञ्जना मे सफल हुवे हैं।

यद्यपि धर्म प्रत्यक्षानुमानादि का अविषय है, केवल अनादि अपौरुषेय शास्त्रो के द्वारा ही उसका अवगम होता है। जो उपाय, प्रत्यक्षानुमान द्वारा नही ज्ञात हो सक्ते उनका गमक होने से ही वेदो का वेदत्व सम्प्रतिपन्न होता है, जैसे चक्षुरादि के अविषय, शब्द का बोधक होने से ही श्रोत्र की सार्थकता होती है वैसे ही प्रत्यक्षानुमानाविषय धर्मबोधक होने से ही वेदो की सार्थकता और धर्मब्रह्म की वेदैक-वेद्यता सिद्ध होती है। इनमे भी ब्रह्म, 'भूत–' अर्थात्—सिद्धवस्तु है उसमे तर्क को अवकाश हो सकता है परन्तु धर्म तो 'भव्य' अर्थात्—क्रिया निर्वृत्त होना है अत उसमे तर्कादि को अवकाश नही रहता। यद्यपि नैयायिक, वैशेषिक आदिको ने अनुमान के द्वारा ईश्वर सिद्ध किया है और ईश्वरकर्तृक होने से वेदो का प्रामाण्य माना है तथापि मीमासको ने उन तर्कों का सर्वथा खण्डन कर दिया है, उनका कहना है कि 'पहिले तो ईश्वर साधक अनुमान, अनेक उपप्लवो से युक्त है, अनुमानसिद्ध ईश्वर मान भी लिया जाय तो वह 'ईश्वर-सामान्य' ही सिद्ध होगा 'ईश्वर-विशेष' नही। जैसी युक्तियो से नैयायिक वेदकार को ईश्वर सिद्ध करेगा वैसी ही युक्तियो से अन्यान्यवादी भी स्वाभिमत ग्रथकार या आचार्य्य को ईश्वर सिद्ध करेगा, ऐसी दशा मे वेदकार के ईश्वर होने मे कोई विशेष वाचोयुक्ति नही होगी, अत अपौरुषेय वेदो से ही धर्म ब्रह्म की सिद्धि होती है। इस तरह धर्म और ब्रह्म दोनो ही वेदैक-वेद्य हैं, यही—

(क) 'तं त्वौपनिषदं-पुरुषं पृच्छामि'

(ख) 'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति.'

(ग) 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'

—इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है। अतः वेद-शास्त्राविरोधी तर्कों से ही धर्म का अनुसन्धान करना मनु भी कहते हैं।

विज्ञान का आंशिक प्रवेश बाह्य भौतिक तत्त्वों में ही होता है। सूक्ष्म वस्तु तक उसका प्रवेश नहीं, केवल प्रत्यक्ष या प्रत्यक्षायित ज्ञान ही विज्ञान की सीमा है उसमें भी अभी तक उसकी कहीं स्थिरता नहीं हुई उसके पीछे अनादि, अपौरुषेय, अपास्त-समस्त-पुंदोष शंका-कलंक, वेदादि शास्त्रों को दौड़ाना अनुचित ही है। प्रत्यक्षवादी चार्वाक को भी दूसरों के संशय, विपर्य्यय, अज्ञान, जिज्ञासा आदि जानने के लिए अनुमान या शब्द का ही सहारा लेना पड़ता है। क्योंकि दूसरों के संशयादि का ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव ही नहीं या तो उनके वचनों से या मुखाकृति विशेष आदि से ही उनका ज्ञान सम्भव है। तर्क युक्ति तो स्वयं प्रमाण नहीं है, किन्तु व्याप्तिग्रहादि का अनुग्राहक होने से अनुमान में उपयोगी होते हैं परन्तु कितने ही ऐसे अचिन्त्य भाव हैं जहाँ अनुमान का प्रवेश नहीं होता।

(क) 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'

(ख) 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इत्यादि अनेक प्रमाण साक्षी हैं।

तार्किक-शिरोमणि न्यायभाष्य कार वात्स्यायन, वार्तिककार भारद्वाज उद्योतकर और वार्तिक तात्पर्य्य कार वाचस्पति मिश्र सब एक स्वर से कहते हैं कि आगम विरुद्ध अनुमान चाहे कितना भी निर्दुष्ट हो पर वह अनुमानाभास ही होता है। यथा—

'नरशिरःकपालं शुचि, प्राण्यंगत्वात्, शंखशुक्तिकादिवत्,' यह अनुमान-'नारं स्पृष्ट्वाऽस्थिसस्नेहं सचैलो जलमाविशेत्'

——इस आगम वचन से विरुद्ध होने के कारण ही अनुमाना-

भास है अन्य कोई दोष नहीं है। यदि आगमार्थ भी तर्कानुमान से सिद्ध ही होता तब तो सत्प्रतिपक्ष आदि दूषणों से ही पूर्वोक्त अनुमान दूषित हो जाता, फिर **'आगमविरुद्धत्वात्'** हेतु से उसे अनुमानाभास कैसे कहा जा सकता ? तभी जैसे प्रत्यक्षागम्यावगमार्थ ही आगम की अपेक्षा होती है, अपरीक्षित अनुमान और अतत्पर आगम से प्रत्यक्ष प्रवल होता है, प्रत्यक्ष से साध्याभावादि निश्चित होने से अनुमान की दूष्यता प्रसिद्ध है। **'आदित्यो यूप'** इत्यादि स्वार्थ में अपर्य्यवसित आगम भी प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से गौणार्थक मान लिये जाते हैं, परन्तु परीक्षित अनुमान से भ्रमात्मक प्रत्यक्ष का ही बाध होता है, जैसे चन्द्र सूर्य आदि का प्रादेशमात्र परिमितत्व और स्थिरत्वादि अनुमान से बाधित होते ही हैं।

उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिङ्गों द्वारा स्वार्थपर्य्यवसायी तत्पर आगम से प्रत्यक्षानुमान सबका ही बाध हो जाता है, अग्निहोत्र-होम और स्वर्ग का कार्यकारणभाव प्रत्यक्षानुमान से विरुद्ध होने पर भी तत्पर आगम की प्रबलता से प्रत्यक्षानुमान का ही बाध होता है। आगम विरुद्ध, अस्थि-शुचित्वानुमान का बाध भी दिखलाया जा चुका है, वेदान्त मे ऐसे सहस्रों उदाहरण मिल सकते हैं।

तथापि तत्त्व को बुद्ध्यारूढ करने के लिये यथासम्भव तर्क का उपयोग दूषित नहीं है इसलिये **'श्रोतव्य'** इस वाक्य से ब्रह्म साक्षा-त्कारार्थ श्रवण का विधान करके **'मन्तव्य.'** इस वचन से श्रुत अर्थ के व्यवस्थापनार्थ उपपत्तियों का आदर किया गया है। नैयायिकों का कहना है कि यह न्यायचर्चा 'श्रवणान्तरागता' ईश्वर की उपासना ही है।

धर्म के सम्बन्ध मे अनेक उपपत्तिया ब्राह्मण ग्रन्थों मे मिलती हैं। यद्यपि वहा भी उपपत्ति का प्रवेश जिस अंश मे होता है वह

अंश शास्त्र तात्पर्य का विषय नही समझा जाता अत तद् बोधक वेद वाक्यो को भी अनुवादक होने से स्वार्थ मे अप्रमाण ही माना जाता है, क्योकि तात्पर्यार्थ अवश्य ही सर्वथा मानान्तरागम्य है तथापि उतने से ही लोकबुद्धि मे तत्त्वारूढ कराने के लिये उपयोगी होने से तर्क का आदर होता है।

इसी तरह अनेक उपासनाओ, कर्मकाण्डो, सदाचारो, तीर्थों, तथा व्रतो आदिको का शास्त्रैक-समाधि-गम्य अर्थ तर्कादि से अगम्य ही है फिर भी उनके बाह्य और गौण स्वरूप के सम्बन्ध मे तर्क श्रवण करने से ही दुस्तर्को का समाधान होता है, पुन- सूक्ष्म वस्तु मे आस्था हो जाती है, एतदर्थ ही विद्वान् लोग, तर्कप्रिय या तर्क-रसिक लोगो के सन्तोषार्थ तर्क या विज्ञान का नाम लिया करते हैं। बाह्य गौण वस्तुओ की प्रत्यक्षायित ज्ञान सिद्धतामात्र से वैज्ञानिकता की चर्चा भी की जाती है। इस दृष्टि से आजकल के तर्कतत्त्वानभिज्ञ, तर्काभास-प्रिय आधुनिक नवशिक्षित समाज को भी वास्तविक तत्त्व की ओर उन्मुख करने के लिये तर्क विज्ञान आदि का प्रयोग किया जाता है, इत्यादि अनेक दृष्टियो से यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है, इससे आधुनिक जगत् का अधिकाधिक उपकार सम्भव है। निश्चित ही इसके द्वारा शास्त्र मर्मज्ञान की ओर जनता की प्रवृत्ति बढ सकती है। तथास्तु !

इन्द्र-प्रस्थ
श्रावणी २००९ }

करपात्र स्वामी

सिद्धान्ताध्यायः

[पहिला अध्याय ३२ से ११२ तक]

अहोरात्रचर्याध्याय:

[दूसरा अध्याय पृष्ठ ११३ से २९६]

जीवनचर्याध्यायः

[तीसरा अध्याय पृष्ठ २९७ से ६२२]

प्रकीर्णाध्यायः

[चौथा अध्याय पृष्ठ ६२३ से समाप्ति तक]

श्री गणेशाय नमः

क्यों ?

धर्म-दिग्दर्शन पूर्वार्द्ध

धर्म-दृढ-बद्ध-मूलो, वेद-स्कन्धः पुराण-शाखाढ्यः ।
क्रतु-कुसुमो मोक्ष-फलो, मधुसूदन-पादपो जयति ॥१॥

ये वै पुरातन-महर्षिवरा नृलोके,
प्राप्तं विचिन्त्य कलिकालमनर्थमूलम् ।
शङ्का-कलङ्क-कलुषं परिमार्ष्टुकामा,
ग्रन्थान् प्रणिन्युरिह ते नितरां प्रणम्याः ॥२॥

मन्दोऽप्यहं यत्कृपया गभीरं
सद्धेतुसिन्धुं मथितुं प्रवृत्तः ।
प्रणम्य तच्च श्री गुरुपादपद्मं
'श्री धर्मदिग्दर्शन'मातनोमि ॥३॥

चार्वाक-व्रात-दम्भ-द्रुम-दव-दहनो, बौद्ध-यज्ञाङ्ग-यूपः[१],
ईसाई-सर्प-तार्क्ष्यो, यवन-घन-मरुत्, कापडेयेभसिंहः[२] ।
सौशल्येष्टान्धकार-क्षपण-दिनकरः[३], काम्यनिष्टाद्रि-वज्रः[४]
ग्रन्थो वेदार्थहृद्यो, जगति विजयते, धर्म-दिग्दर्शनाख्यः ॥४॥

आम्नाय-वाङ्मय-विधावकृतश्रमाणां,
नाना-कुतर्क-मलदूषितमानसानाम् ।
पाश्चात्य-शिक्षण-कषायित-मस्तकानां
मोहान्धकार-हरणं भवतादनेन ॥५॥

कृतिर्ममैषा विदुषां समाजे,
स्यात्कीर्तनीया वत ! निन्दिता वा ।
नूनं पुनर्धर्मविदूषकाणां
कृते भवेदुग्रविभीषिकेयम् ॥६॥

जन्मतो मृत्युपर्य्यन्ता याः क्रिया धर्मसम्मताः ।
ता एवात्र निरूप्यन्ते हेतुवादपरिष्कृताः ॥७॥

ये पालयन्ति मनुजा निजधर्मकृत्यान्
सद्विद्यया प्रतिभया च धनेन वापि ।
तेषां कृते लघुतरो हि मम प्रयासो
ज्ञेयास्त एव विबुधा अधिकारिणोऽस्य ॥८॥

टिप्पणी—(१) यागीय पशु (२) कापडीवंशोद्भव—दयानन्दमतावलम्बी (३) सोशलिस्ट (४) कम्यूनिस्ट ।

सिद्धान्ताऽध्यायः

(पहिला अध्याय)

——❀——

अनन्तपारं शास्त्राब्धिं, नानाशङ्कोर्मिसंकुलम् ।
सिद्धान्तपोतमारुह्य, तरन्तु तरणोत्सुकाः ॥

वेद में 'क्यों'वाद

जिस प्रकार मुसलमान ईसाई अपने पन्थों के तत्तत् अनुष्ठानो की इतिकर्तव्यता को अवैज्ञानिक एव कपोल-कल्पित होने के कारण 'क्यो ?' की कसौटी पर कसने मे घवडाते है और ऐसे जिज्ञासु को 'काफिर' कह कर टाल देते है, ठीक इसी प्रकार कुछ हमारे अनुयायी भी वेद शास्त्रो की आज्ञाओ मे 'क्यो ?' का अडगा लगाना अनुचित अनुभव करते हैं। हम जहा इन महानुभावो को प्रमाणप्रतिष्ठापक प्रवृत्ति का आदर करते है, वहा यह भो नम्रता-पूर्वक कह देना चाहते है कि जब स्वय वेद मे ही वडे विस्तार से 'क्यो ?वाद' भरा पडा है, तब आपको अहिन्दुओ की भाति अपनी धार्मिक व्यवस्थाओ को 'क्यो' की कसौटी पर कसते हुए देखकर भयभीत होनेकी आवश्यकता नही। सोने के भाव मुलम्मा बेचने वाले व्यक्ति को तो यह भय हो सकता है, कि यदि मेरे

इस मुलम्मे को अग्नि मे तपाया गया, या कसौटी पर कसा गया, तो इसकी पोल खुल जायगी, अत वह केवल कसमे खाकर ग्राहक को विश्वास दिलाना चाहा करता है और परीक्षा से भयभीत हुआ करता है, परन्तु जिसके पास खरा सोना हो, उसे परीक्षा से घबराने की क्या आवश्यकता ? वह तो भरी सभा मे अपने खरे सोने को आग मे तपाने और कसौटी पर कसने की खुली छुट्टी देता है। चैलेज करता है!! ललकारता है!!! ठीक इसी प्रकार अहिन्दू घबडाए तो घबड़ाए। क्योकि वे जानते हैं कि वैज्ञानिक कसौटी पर हमारा मजहब खरा साबित नही हो सकता, इसलिये उनके यहां 'बाइबिल या कुरान पर यकीन लाओ!' अथवा 'खुदाके इकलौते बेटे ईसा पर या अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद पर यकीन लाओ' का बोलबाला रहता है। ईसाई जगत् तो मजहब को केवल चर्च की चाहर दिवारी के अन्दर २ ही चर्चा करने योग्य वस्तु मानता है। चर्च मे बैठो तो कहो 'खुदा ने सिर्फ छ दिन मे कुल दुनिया बना दी'। साइन्स रूम मे जाओ तो कहो 'दुनिया के बनने मे करोडो वर्ष से कम समय नही लग सकता'। सो, 'नही सांच को आच' के अनुसार, जब मैं जानता हू, कि सनातन धर्म खरा सोना है ग्राहक जैसे चाहे वैसे परीक्षा कर देखे, तब मुझे उसे 'क्यो' की कसौटी पर कसने का खुला अवसर देते हुए आपत्ति क्या ?

विरोधी भी शरण में—

नि सन्देह हम प्रमाणवादी हैं, परन्तु संसार के समस्त पुरुषो को खुला निमन्त्रण देते हैं कि वे जैसे चाहे हमारे धर्म की परीक्षा कर देखे। हमे सोलहो आने विश्वास है, कि वे जब परीक्षा करने

के लिये प्रवृत्त होगे, तो कुछ दिन मे स्वय सनातनधर्म की सत्यता के विश्वासी बन जायेंगे। यह हम स्वय अनुभव कर चुके है।

(१) एक बार लायलपुर (पजाब) मे और नैरोबी (अफरीका) मे श्रीमद्भागवत पुराण की कथा करते हुए, हमने आर्यसमाज के जिम्मेवार व्यक्तियो को स्वय इसलिये निमन्त्रण दिया, कि वे कथा सुनते हुए शङ्कास्पद बातो को नोट करे और कथा के अन्त मे पूछे, उत्तर दिया जाएगा। प्रथम दिन वे बडे जोश के साथ आए, दशो बाते नोट की, अन्त मे उत्तर दिया गया। दूसरे तीसरे दिन शङ्काओ की सख्या कम होने लगी, दो चार बाते ही पूछी। एक सप्ताह के बाद ऐसा अवसर आ गया, कि वे नित्य की भाति कागज पैन्सिल तैय्यार किये बैठे रहे परन्तु नोट कुछ नही किया। जब अन्त मे पूछा गया कि आज कुछ क्यो नही नोट किया तो उनके मुखिया ने कहा, कि शङ्का की दृष्टि से कथा सुनते हुए कथा का रस भग हो जाता है, आज मुझे ऐसा आनन्द आया कि रस मे तन्मय हो गया, आज से आगे कागज पेन्सिल ही न लाऊगा। इस शातिपूर्ण मार्ग का तो मुझे आज ही पता लगा है, खाक डालो शङ्काओ के सिर पर। बस, उस दिन से वे सब लोग एक सच्चे कथाश्रोता की भाति आने लगे। आर्यसमाज मे इसकी बहुत चर्चा चली। कई कट्टर कठमुल्लाओ ने इसमे आर्यसमाज की 'तौहीन' अनुभव की। मिटिग बुलाकर प्रस्ताव पास कर दिया कि 'पुराणो की कथा मे समाज का कोई सदस्य सम्मिलित न हो'—परन्तु वह पार्टी नही हटी। नगर के सुप्रतिष्ठित सज्जन होने के कारण उनपर अनुशासन का शस्त्र न चल सका।

(२) शिमले की पहाडियो मे आज भी एक मिस्टर स्टाक नाम के अंग्रेज निवास करते है। ये लार्ड खानदान के सज्जन

मिश्नरी वनकर ईसाई मत के प्रचारार्थ भारत मे आये थे* । दसो वर्ष काम करने पर उन्हे यह अनुभव हुआ कि कोई भी हिन्दू ईसाई-धर्म को श्रेष्ठ समझ कर उसमे-प्रविष्ट नही हुआ। उन्हे यदि ईसाई वनने के लिये कुछ लोग मिले भी, तो वे नौकरी चाकरी या अन्य किसी लौकिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए इस मत मे दीक्षित होने वाले पिछडी जाति के लोग थे । उन्होने अपने किन्ही हिन्दू मित्र से यह चर्चा की, तो मित्र ने विनोद मे कहा कि जव तक आप हमारे धर्म मे कोई दोष न वतायेंगे तो मैं अपने धर्म को छोड़कर आपके मत मे क्यो आने लगा ? पादरी स्टाक को यह वात जच गई । तव उन्हे यह जानने की आवश्यकता पड़ी कि 'हिन्दू धर्म क्या है ?' और इसे समझने के लिये कौन ग्रंथ पढा जाए,क्योकि हिन्दू धर्म को समझ कर ही उसमे छिद्रान्वेषण किया जा सकता है। इसके लिये भी उसे किसी जानकार हिन्दू ने वताया कि यो तो सनातन धर्म के वेदादि वहुत ग्रन्थ हैं जिन्हे जीवन भर मे पूरे नही पढ पाओगे, परन्तु थोड़े मे ही यदि हिन्दू-धर्म का भेद जानना हो तो इसके लिये 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' पढ लेनी पर्याप्त होगी । यह छोटी सी पुस्तक हिन्दू धर्म की सक्षिप्त 'डायरैक्ट्री' कही जा सकती है ।

पादरी अपने मिशन की सफलता के लिये दोष दर्शन के विचारसे गीता पढनेमे प्रवृत्त हुआ। मिसेज एनीवेसेन्ट का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ने लगा । गीता पढते हुए अभी चार पाच महीने ही हुए थे कि उसके विचारो मे क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगा और गीता की पहिली आवृत्ति समाप्त होते ही वह लार्ड कृष्ण और हिन्दू धर्म के महत्त्व का विश्वासी वन गया। इस समय

*पता चला है कि वे तो परलोकगामी होगए, परन्तु उनका परिवार है।

उक्त पादरी के परिवार के चार दर्जन से अधिक मनुष्य यहां थे। उसने सब को इकट्ठा करके एक दिन कहा कि तुम सब मिल कर या तो मुझे 'ईसाइय्यत' समझादो अन्यथा मुझ से हिन्दू धर्म समझलो, अब परिवार के आदमी या ईसाई रहेगे या हिन्दुओ की तरह शेष जीवन बितायेगे। खूब कसमकस हुई। घर वालो ने अनेक बडे बडे पादरो बुलाकर मि० स्टाक की तसल्ली करनी चाही, परन्तु फल विपरीत हुआ, क्योकि घर वाले भी जब स्टाक तथा अन्य पादरियो की बहस (वादानुवाद) सुनते थे तो इन्हे ईसाई पन्थ की निर्बलता और हिन्दू सिद्धातो की सत्यता का सुस्पष्ट अभास होता था । अन्त मे इस सारे के सारे परिवार ने अपने को हिन्दू घोषित कर दिया। इनको अपनी बहुत सी जमीन है, और ये शिमले के किसानो मे अच्छे प्रतिष्ठित जमीदार रईस माने जाते है । घर मे लार्ड कृष्ण का मन्दिर बना है, सब गीता पाठ करते है। नित्य प्रात साय दोनो समय 'लार्ड कृष्ण लार्ड कृष्ण' का कीर्तन होता है। आर्यसमाजी आदि किसी प्रपची से इस परिवार ने 'शुद्धि' का अभिनय नही रचाया। न ये लोग खान पान के लिये किसी हिन्दू को अपने सम्पर्क मे आने देने के इच्छुक हैं, किन्तु गीता के 'येऽपि स्यु पापयोनय' सिद्धान्त के अनुसार अपने आपको इसी कोटि का हिन्दू मानते हैं।

(३) इसी तरह से एक फासीसी सज्जन काशी मे रहते है। वे भी हिन्दू धर्मानुसार अपने आपको अन्त्यज मानते हुए अपना सात्विक जीवन बिता रहे हैं। आप अपना हिन्दू नाम 'शिव शरण' बतलाते है और हिन्दी के साप्ताहिक पत्र 'सिद्धात' (बनारस) मे इसी नाम से धार्मिक लेख लिखते भी हैं।

इन दृष्टान्तो का तात्पर्य केवल यह है कि सनातनधर्मियो

को अन्यान्य पन्थो की भाति 'क्यो' से चिन्तित होने की आवश्यकता नही अपितु सर्व साधारण को खूब—'क्यो ?' 'क्यो ?' पूछने की खुली छुट्टी देनी चाहिये और उनकी, दार्शनिक रीति से तथा वर्तमान भौतिक-विज्ञान से भली भाति तसल्ली करनी चाहिये। हमारा अनुभव है कि इस मार्ग के अवलम्बन से हम अधिक से अधिक नास्तिको को प्रमाणविश्वासी सनातन-धर्मानुयायी वना सकने मे कृतकार्य हो सकेंगे।

यहां पाठको को हमारे प्रत्येक समाधान मे प्रयुक्त 'विज्ञान' शब्द को देखकर इस प्रकार की आशका नही करनी चाहिये कि जव वेद स्वत. प्रमाण है तव वेदोक्त भावो के भी समर्थन के लिये 'वैज्ञानिक विवेचन' करना मानो वेदो के प्रामाण्य मे सदेह करना है—जो किसी भी आस्तिक को अभीष्ट नही हो सकता। परन्तु यह शका व्यर्थ है क्योकि स्वय वेद, विज्ञान द्वारा अपने को समझने का आदेश देता है यथा:—

—विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति इमञ्च लोकममुञ्च विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते (छान्दोग्य ७। ७। १। २)

अर्थात्—विज्ञान से ऋग्वेद को जानता है, विज्ञान से ही इस लोक और परलोक का रहस्य जाना जा सकता है। विज्ञान साक्षात् ब्रह्म है, यह जानकर विज्ञान की उपासना करनी चाहिये।

—❀.०.❀—

वैदिक 'क्यों' का नमूना

अव हम वेद के कतिपय ऐसे प्रमाण उद्घृत करते हैं, जिनमे वैदिक सिद्धान्तो की 'क्यो' जानने का सुस्पष्ट उल्लेख विद्यमान है।

अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त २, ७ और ८ के कुछ मन्त्रांश मननीय हैं यथा.—

(क) केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य ? केन मांसं संभृतं ?
केन गुल्फौ ? केनाङ्गुलीः ? पेशनीः केन खानि ?
केनोच्छ्लङ्खौ ? मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥१॥

(ख) कति देवाः ? कतमे त आसन् ?...कति स्तानौ व्य-
दधुः ? कः कफौडौ ? कति स्कन्धान् ? कति पृष्टीर-
चिन्वन् ? ॥४॥

(ग) क उ तच्चिकेत ? ॥७॥
दिवं रुरोह कतमः स देवः ? ॥८॥

(घ) प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रो नंदांश्च कस्माद्वहति पूरुषः ? ॥६॥

(ङ) को अस्मिन् रूपमदधात् कश्चरित्राणि पूरुषे ? ।१२।
को अस्मिन्प्राणं ? को अपानं ? व्यानमु ? समान-
मस्मिन्को देवः ।
को अस्मिन्सत्यं ? कोऽनृतं ? कुतो मृत्युः ?
कुतोऽमृतम् ? ॥१४॥

(च) को अस्मै वासः पर्यदधात् ? को अस्यायुरकल्पयत् ?
बलं को अस्मै प्रायच्छत् ? को अस्याकल्प-
यज्जवम् ? ॥१५॥

(छ) केन पर्जन्यमन्वेति ?···केनास्मिन्निहितं मनः ।१६।
(अथर्व १० । २ । १—१६)

(ज) कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात्पवते मातरिश्वा ? (अथर्व १० । ७ । २)

(झ) द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ? तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये। (अथर्व १० । ८ । ४)

अर्थात् —(क) मनुष्य की एडिये मास से क्यो भरी होती हैं ? टखने अगुली इस प्रकार की क्यो होती है ? सव इन्द्रियो के छिद्र क्यो खुले रहते है ? दोनो शङ्खास्थियो के वीच मे चीर क्यो रहता है ? (ख) देवता कितने होते है ? और वे कौन से हैं ? स्त्रियो के स्तनाशय क्यो होता है ? कोहनी आदि जोड मुडते तुडते क्यो हैं ? कन्धो और पीठ की रचना इस प्रकार की क्यो है ? (ग) इन सव तत्त्वों का जानने वाला कौन है ? वह कौन शक्ति है जो यह सव कुछ रचकर स्वय द्यौलोक मे चढ गया ? अर्थात् अदृश्य हो गया। (घ) यह मनुष्य स्वप्न मे प्रिय और अप्रिय पदार्थ क्यो देखता है ? तथा उससे आनन्द या दुख क्यो अनुभव करता है ? (ङ) पुरुष मे रूप सौन्दर्य कहा से आता है ? और इसके चरित्रो का अधिष्ठान क्या है ? मानवपिण्ड मे प्राण अपान, समान, उदान और व्यान किसने फूके ? सत्य और झूठ का आधार क्या है ? तथा मृत्यु और अमरत्व का हेतु क्या है ? (च) मानव समाज को वस्त्र पहिनना किसने सिखाया ? और इस आयुष्य की अवधि का क्या रहस्य है ? वल और वेग दोनो क्या

वस्तुए है ? (छ) बादल क्यो बरसता है ? मन के न लगने का क्या आधार है ? (ज) अग्निका प्रकाश चुन्धियाने वाला क्यो होता है ? वायु की सरसराहट अज्ञात किन्तु सुनिश्चित सी क्यो होती है ? (झ) बारह पर्वों वाला एक चक्र=पहिया है, परन्तु उसकी नाभि तीन क्यो है ? यह तत्त्व कौन जानता है ? उसमे तीन सौ साठ कोले ठुकी है जो निरतर चलती फिरती क्यो रहती हैं ? अर्थात्—बारह महीने का एक वर्ष गाडी के पहिये की भाति घूमता है परन्तु गर्मी, सर्दी और वर्षा ये तीन प्रकार की उसकी नाभ उत्तरायण दक्षिणायन और विषुवत् रेखा पर आश्रित क्यो है ? वर्ष के तीन सौ साठ दिन छोटे बडे क्यो होते हैं ?

अथर्ववेद के दसवे काण्ड मे कई सूक्त 'क्यो' से भरे पडे है । यदि हम चारो वेदो के केवल प्रश्नात्मक मन्त्रो का सग्रह करे तब तो हमारे 'क्यो ?' से भी कई गुणा बडा एक स्वतन्त्र महाग्रन्थ ही तैयार हो जाय, फिर यदि उसके उत्तरो का शब्दानुवाद मात्र भी लिखने बैठे, तो रेलवे की एक छत्तीस टन की गाडी भर जाय, विवेचन और व्याख्यान की कथा तो कथा ही है । 'केन उपनिषद्' का नाम ही उसके 'क्यो' होने का प्रमाण है, यही बात 'प्रश्नोपनिषद्' के सम्बन्ध मे भी समझनी चाहिये ।

इस प्रघट्ट से हम पाठको को नास्तिको की 'क्यो' का सदैव उत्तर देने के निमित्त कटिबद्ध रहने के लिये प्रोत्साहित करना चाहते हैं । भगवत् कृपा से सनातन धर्म के पास सर्व क्योओ का उत्तर देने की विपुल सामग्री विद्यमान है, वे जब जो चाहे सो पूछे, परतु यह ध्यान रहे कि -यदि हमने किसी नास्तिक से एक भी क्यो पूछ ली, तो सात जन्म तक भी उसका उत्तर देने मे समर्थ न हो सकेंगे । इतने पर भी यदि किसी को अपनी तर्कशील-

वुद्धि का अधिक भरोसा है तो वह नीचे के कतिपय प्रश्नो पर आजमाइश कर देखे, और जरा वताये कि—

१—वेर के वृक्ष की समान टहनी मे जो काटे होते हैं उनमे से एक सीधा और दूसरा टेढा क्यो ?

२—ढाक के सदैव तीन पात क्यो ?

३—मीठे नदी नदो का जल समुद्र मे पहुचते ही खारा क्यो ? और वही पुन. वादल से वरसने पर मीठा क्यो ?

४—सर्प के कान एव पाव, मेढक के जीभ और चिमगादड़ के गुदा क्यो नही ?

५—सोने मे गध, ऊख मे फल, चदन मे फूल, करीर मे पत्ते और कक, (गोघड-नामक श्वेत रग की चील) मे चहचहाना क्यों नही ?

—.(❀).—

धर्म निर्णय में 'क्यों' का स्थान

(युक्तिप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः)

'हेतुवाद' किंवा 'तर्कवाद' धर्म निर्णय का अन्यतम साधन है। वैदिक वाङ्मय मे यत्र तत्र 'क्यो' मूलक प्रश्नो का समावेश है इसका दिग्दर्शन पीछे कराया ही जा चुका है। स्वभावत मानववुद्धि मे प्रत्येक विषय की 'क्यो' जानने की जिज्ञासा रहती है। स्तनधय वालक जव से कुछ वोलना सीखता है, तव से लेकर आयु भर नवीन वस्तु को देखते ही 'किं' शब्द की मुहारणी रटने लगता है। खासकर वच्चे तो 'यह क्या' 'यह क्यो' 'यह

कैसे' और 'यह किस लिये' आदि प्रश्नो का ताता बाधते हुये अपने अभिभावको के नाको दम कर डालते है । हमारे पूर्वज महर्षियो ने जहा अन्यान्य मानसिक प्रवृत्तियो को उच्छृङ्खलता के दायरे से निकालकर मर्यादित एव नियन्त्रित करने का पुनीत प्रयत्न किया है, वहा हेतुमूलक जिज्ञासा प्रवृत्ति की भी इयत्ता स्थिर करके धर्म निर्णय मे इसका उचित मूल्य निर्धारित किया है। तदनुसार शास्त्र कहते है कि—

(क) आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते ।

(अमृतनादोपनिषद् १७)

(ख) आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

(मनु १२ । १०६)

(ग) योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

(मनु २ । ११)

अर्थात्—(क) आगम शास्त्र का विरोध न करके जो समझने की चेष्टा करना है उसे तर्क कहते है। (ख) महर्षियो द्वारा समाधिलब्ध वेद और तदुपदिष्ट स्मृत्यादि अनुमोदित धर्म का वेद शास्त्र से अविरुद्ध तर्क द्वारा, जो व्यक्ति अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, अन्य नही। (ग) जो द्विज हेतुशास्त्र के आश्रय से=कुतर्कों के बल से-धर्म की मूलभूत श्रुति और स्मृति का अपमान करता है, वह नास्तिक एव वेदनिन्दक होने के कारण सज्जन पुरुषो द्वारा बहिष्कार करने योग्य है।

महर्षि वेदव्यास वेदान्तदर्शन (२ । १ । ११) मे सुस्पष्ट लिखते हैं कि.—

तर्क अप्रतिष्ठानात् ।

अर्थात्—धर्माधर्म-निर्णय मे तर्क की प्रतिष्ठा नही है। भारत के सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्री भर्तृहरि ने अपने महा महिम ग्रन्थ वाक्यपदीय मे तर्क की प्रामाण्यता को सीमा सुतरा निर्धारित की है, यथा --

(क) न चागमादृते धर्मः । (१ । १३)

(ख) वेदशास्त्राविरोधी च तर्कः । (१ । १३६)

अर्थात्-(क) आगम शास्त्रोय प्रमाण के अतिरिक्त धर्म निर्णय मे अन्य कुछ प्रमाण नही है। (ख) वेद शास्त्र के अविरुद्ध तर्क भी मान्य है ।

महर्षि चरक—जो कि भारतोय आयुर्वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषियो मे प्रमुख हैं—शारोरिक रोगो का प्रधान कारण पूर्व जन्म कृत पाप मानते हुये स्वास्थ्य सम्वर्द्धन के निमित नास्तिक वुद्धि के परित्याग का परामर्श देते हैं। यथा --

वुद्धिमान् नास्तिकवुद्धिं जह्यात् ।

(चरक सूत्र स्थान ११-७-८)

अर्थात्—वुद्धिमान् पुरुष को नास्तिक वुद्धि का परित्याग कर देना चाहिये। तत्त्व यह है कि हेतुवाद किंवा तर्कवाद धर्म-निर्णय का अन्यतम साधन होते हुए भी धर्माभिमानियो के निकट गौण साधन है। ऋषियो की सम्मति मे हमे अपनी जीवन रूपी गाड़ी वेद रूपी इञ्जन के पीछे जोड देनी चाहिये । वह,

तर्कवाद रूप पहियो के आधार पर तो अवश्य लुढके, किंतु उसका पथ प्रदर्शक प्रमाणवाद होना चाहिये। यही सनातन धर्म का आदर्श है।

आज भले ही वेदाभिमानी होने का दावा करने वाले आर्य-समाजी, वेद रूपी गाडी को अपने तुच्छ तर्क रूपी इञ्जन के पीछे खीचने का उपहासास्पद प्रयास करते हो और इस तरह तर्क को वेद ज्ञान का अन्यतम साधन मात्र न मानकर उसे वैदिकत्व परखने की खरी कसौटी समझते हो, एवञ्च जिन अनुभवैक-वेद्य विषयो के याथातथ्य निर्णय मे वह तर्क कुण्ठित होता दीख पडा कि झट उस विषय पर अवैदिकता की मुहर लगाने की धृष्टता कर सकते हो परन्तु पुरातन काल से कल तक के सभी आस्तिक महानुभावो ने तो एक स्वर से--प्रत्यक्षानुमानोपमानादि-सर्व-प्रमाणान्तर से सर्वथा अविज्ञात विषय का 'इदमित्थ' ज्ञान प्रदान करना ही वेद का 'वेदत्व' प्रकट किया है, यथा--

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

अर्थात्--प्रत्यक्ष मे किंवा अनुमान से अथवा अन्य प्रमाण से जो उपाय नही विदित हो सकता है उसे वेद से जाना जा सकता है, यही वेद का 'वेदत्व' है। अस्तु,

ससार की प्रत्येक वस्तु की सिद्धि के लिये तीन अग आवश्यक होते हैं। सस्कृत साहित्य मे उन्हे क्रमश -पक्ष, हेतु और दृष्टात कहा जाता है। लौकिक भाषा मे--दावा, दलील और मिसाल कह सकते है, हम इस ग्र थ की भाषा मे उन्ही तीनो अगो को क्रमश 'क्या, क्यो और कैसे ?' कहेगे।

धर्म क्या है ? यह जानना हो तो यह तत्त्व वेद और धर्म-शास्त्रो द्वारा विदित होगा, अतः हम श्रुति और स्मृति को सक्षिप्त शब्दो में 'क्या' ? कह सकते हैं।

तत्तद् धर्म क्रियायें तथैव क्यो आचरणीय हैं—यह तत्त्व दर्शन-शास्त्रो से विदित होता है, इसलिये उन्हे हम एक शब्द में 'क्यो' कह सकते हैं।

'क्यो' रूप धर्म की 'क्यो' रूप कारणावली को समझ लेने पर प्रत्येक धर्मानुरागी के मन में स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न होगी, कि तादृश धर्मानुष्ठान की इति-कर्तव्यता का, किस व्यक्ति को क्या लाभ हुआ यह कैसे जाना जाये।—इस तत्त्व का निरूपण पुराणेतिहास ग्र थों से जाना जा सकता है। इसलिये इन्हें हम 'कैसे' कह सकते हैं।

इस प्रकार सनातन धर्म की सिद्धि के लिये आर्य साहित्य में तीनों अग विद्यमान हैं। वेद ने कहा—'सत्य वदं' अर्थात् सत्य बोलो—यह दावा है।। दर्शन शास्त्र ने कहा—'सत्यप्रतिष्ठाया सर्वव्यवहारसिद्धि' अर्थात् सत्य के आश्रय से समस्त व्यवहार सिद्ध हो जायेंगे—यह दलील है। पुराणेतिहास ने साक्षी दी कि जैसे राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य की उपासना के बल से अपना और अपनी प्रजा का कल्याण किया—यह मिसाल है।

अन्यमत और क्यों ?

इस प्रकार सनातनधर्म दावा, दलील और मिसाल तीनो प्रकार के शास्त्रो से सम्पन्न होने के कारण सर्वांगपूर्ण है, परतु

ईसाई मुसलमान आर्यसमाजी आदि सभी मतो मे केवल दावा मात्र है। किसी अश मे यथाकथञ्चित् मिसाल भी मिल जाती है, परतु दलील का सर्वथा अभाव है। यदि हम किसी मुसलमान से पूछे कि वह दाढी रखता हुआ भी मूछो को क्यो कटा डालता है ? और खुदा को निर्विशेष रूप से सर्वत्र मानता हुआ भी केवल काबे की ओर मुख करके ही निमाज क्यो पढता है ? तो वह यही कहेगा कि हमारे कुरान और हदीसो मे ऐसा करने का हुक्म है। यदि पुन पूछा जाय कि ऐसा हुक्म क्यो है ? तो वह कुछ भी हेतु =दलील देने मे असमर्थ होने के कारण बिगड कर यही कहेगा कि 'तू काफिर है, जो मजहव मे 'क्यो' का अडगा लगाता है।' इसी भाति किसी ईसाई से पूछिये, कि आपका पादरी कमर मे रस्सा क्यो बाधता है ? और गले मे लकडी का बना क्रास चिह्न क्यो लटकाता है ? तो वे भी यही कहेगे—हमारे धर्मग्र थ अजील और तौरेतमे ऐसा करना लिखा है। पुनश्च पूछा जाय कि ऐसा क्यो लिखा है ? तो वे भी पूछने वालो को 'काफिर' कहने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उत्तर नही दे सकते।

भारतीय सम्प्रदायो मे आर्यसमाज भी एक ऐसा मत है कि जो कहने को तो बडा तार्किक बनता है और वह अपना जन्म ही शिवलिंग पर चढे चूहे को देखकर—'जब यह प्रतिमा अपने ऊपर चढे चूहे को भी नही हटा सकती तो यह हमारी रक्षा कैसे कर सकेगी'—इस तर्क या कुतर्क के आधार पर मानता है। अन्यान्य सभी सम्प्रदायो की धार्मिक क्रियाओ का उपहास उडाने मे भी अपने तर्क तोमर की तीव्र धार का बडी वेरहमी से प्रहार करता है, परतु स्वय इतना दकियानूस और 'दादावाक्य प्रमाणम्' की

दल दल मे आकण्ठ मग्न है कि अनेक सर्वथा मिथ्या और कपोल-कल्पित बातो को भी केवल इसलिये हठात् पकडे बैठा है कि वे बाते दयानदी टकसाल के साचे मे ढली है। उदाहरणार्थ—

समाजियो से पूछिये कि हवन क्यो करते हो ? तपाक से उत्तर देंगे—वायु शुद्ध करने के लिये। पुन प्रश्न कीजिये कि वायु शुद्धि तो अग्नि मे यथा तथा सुगधित द्रव्य डालने मात्र से हो सकती है फिर आप साथ २ मत्र क्यो बोलते हो ? उत्तर मिलेगा कि इस बहाने से वेद मत्र भी कण्ठस्थ हो जायेंगे। पुनश्च पूछिये कि यदि मत्र कण्ठ करने मात्र के ही अभिप्राय से बोले जाते है—तो अकल का तकाजा है कि अमुक २ मत्र कण्ठ हो जायें तो पुन नये २ मत्र बोलने चाहिये। परतु तुम तो अन्यून एक शताब्दी से वही स्वा. दयानन्द सगृहीत 'हवन मत्रा.' नामक साढे सात मत्रो के ट्रैक्ट को रटते हो—सौ वर्ष मे भी यदि ये साढे सात मत्र कण्ठस्थ न हो पाये, तो इस सुस्त रफ्तार और इतनी कुन्द जहनियत से एक लक्ष मत्र वाले वेदो का पूरा पारायण तुमसे सहस्र जन्मो मे भी नही हो सकेगा। बस, यह सुनते ही दयानन्दियो की दलीलो का दिवाला निकल जायगा और शास्त्रार्थ को शस्त्रार्थ बनाने के प्रयत्न मे तत्पर हो जाएगे।

वास्तव मे इन सभी पथो के पास 'क्यो ?' बताने के साधन-भूत ग्र थ ही नही हैं। आर्यसमाज भी यदि किसी एक भी दर्शन को मानले तो उसकी रेत की दीवार तत्काल धम्म से गिर जाय। सभी दर्शनो मे मूर्तिपूजा, ईश्वर का अवतार, मृतश्राद्ध, जन्मना वर्ण व्यवस्था, तीर्थ और छुवाछूत आदि वैदिक विषय ओतप्रोत हैं। अत वह 'केवल वेदानुकूल और प्रक्षेप रहित अश हमे मान्य

है' इस बहाने से उन्हे न सर्वांश मे मान सकता है न छोड सकता है —'भई गति साप छछुंदर केरी' ।

अस्तु, अन्य मत वाले 'क्यो' से बहुत घबराते है । 'क्यो' पूछा कि प्रश्नकर्ता को 'काफिर' की उपाधि मिली । वस्तुत ये सब सम्प्रदाय 'क्यो' का उत्तर देने मे विवश है ! लाचार है !!

सनातनधर्म और क्यों

'क्यो' की समस्या एक उदाहरण से अच्छी तरह समझ मे आ सकती है । आपने देखा होगा कि बडे २ रेलवे स्टेशनो, बैंको और आफिसो मे सार्वजनिक जिज्ञासाओ की निवृत्ति के लिए पूछताछ (Enquiry) का दफ्तर होता है । यहा लम्बे लम्बे वेतन वाले सुयोग्य व्यक्ति केवल इसी काम के लिये महकमे की ओर से नियुक्त रहते हैं, कि वे जनता की पूछताछ का उचित उत्तर दे । जनता उनसे सौ बार भी पूछे तो वे बुरा नही मानते, बराबर उचित उत्तर देते रहते हैं । कुछ लोग तो ऐसे अनावश्यक ऊलजलूल प्रश्न भी करते हैं कि जिन्हे सुनकर सर्व साधारण मे भी झु झलाहट सी होती है परतु इस कार्यालय के इचार्ज अजीब मिट्टी के पुतले होते हैं, अत उनके धैर्य का बाध नही टूटता । तथैव मुस्कराते हुये सौ बार कहा सुना उत्तर पुनरपि अन्वादेश= (रिपीट) कर देते हैं, परतु यदि किसी ऐसे व्यक्तिसे, जो कि वस्तुत पूछताछ का अध्यक्ष नही—कोई प्रश्न किया जाय तो वह प्रश्न का उत्तर देने के लिये बाध्य न होगा । एक बार यदि उपकारकी दृष्टि से कुछ बता भी दे तो पुनः पूछने पर झु झलाकर डाट हो बताएगा । ठीक इसी प्रकार सनातनधर्म रूप इस महान् आफिस मे एक दो नही पूरे छ पूछताछ के कार्यालय खुले हैं । संसार भरको

जिज्ञासाओ='क्योओ'को छ भागोमे विभक्त करके एक एक क्यो का सर्वाङ्ग पूर्ण उत्तर देने के लिये एक २ प्रधान अध्यक्ष और उसके अनेक सहकारी शिष्य प्रशिष्य नियत है। प्रधानाध्यक्षो के नाम हैं—कपिल, गोतम, कणाद, पतंजलि, जैमिनि और व्यास।

इन महात्माओ ने अपने २ विभाग की सर्वांगपूर्ण दर्शनसंचिका =डायरैक्ट्री तैयार कर रक्खी है, जिनके नाम हैं क्रमश—साख्य न्याय, वैशेपिक, योग, मीमासा और वेदात। आप पूछिये कि यह ससार क्या है ? तो झट कपिल जी महाराज अपने शास्त्र साख्यदर्शन को खोलकर उत्तर देंगे, कि केवल २५ही तो मूलतत्त्व है जिनसे यह अनंत प्रपच दीख पड़ता है। वस, इसी तरह पदार्थ की दृष्टि से प्रश्न करने पर गोतम जी प्रमाण प्रमेय आदि केवल सोलह पदार्थ समझाकर आपकी जिज्ञासाओ का समाधान करेंगे। यदि आप इसी वात को और भी सक्षेप मे पूछना चाहे तो श्री कणाद जी वात की वात मे द्रव्यगुणादि केवल सात ही पदार्थों के वर्णन से शार्ट मे समझा देंगे। अपनी देह के अस्तित्व और उसमे होने वाली अज्ञात शक्तियो को विकसित करके, सदेह लोकातरगमन, परकाय-प्रवेश सर्व-भूत-रुत-ज्ञान, क्षुत्पिपासा-निवृत्ति आदि अनन्त सिद्धियो का भेद जानना चाहते हो तो इस 'क्यो ?' का उत्तर महर्पि पतञ्जलि प्रदान कर देगे। यज्ञ यागादि अनेक धार्मिक क्रियाओ की इतिकर्तव्यता से सम्वंध रखने वाली समस्त शंकाओ का समाधान श्री जैमिनि जी करेंगे। अत मे अथ से लेकर इति पर्यन्त सव प्रपंच के जन्म स्थिति निलय से संवंध रखने वाले समस्त प्रश्नो का समाधान करते हुये श्रीकृष्ण द्वैपायन वादरायण व्यास, नर को नारायण तक पहुंचाने का मार्ग परिष्कृत कर देंगे।

आपके उल्टे सीधे जितने भी प्रश्न होगे उन सब के सर्वाङ्ग-पूर्ण उत्तर देने के लिये उक्त ग्रन्थो के अनेक भाष्यकार, टीका टिप्पणीकार और प्रस्थानत्रयी के उदार भाष्यकार तैयार बैठे है। इन धुरन्धर महानुभावो के पास जाते हुए यदि आप अपनी अयोग्यता के कारण भयभीत होते है तो 'सिया राम मय सब जग जानी' के अनुसार आप मे भी अपने इष्ट देव की बाकी भाकी देखने वाले सौम्यमूर्ति गोस्वामी तुलसीदास जी के ही सम्पर्क मे आजाइये, वे ही आपके तुच्छ से तुच्छ और बडे से बडे दार्शनिक प्रश्न का आपकी ही भाषा मे अकाट्य समाधान कर डालेगे। क्या आपको शङ्का है कि निर्गुण कहा जाने वाला भगवान् सगुण कैसे हो जाएगा ? तो सुनिये गोस्वामी जी क्या कहते है—

जो गुण रहित सगुण सो कैसे ?
जलं हिम उपल विलग नही जैसे ॥

यदि इतने पर भी आप, जल और हिम-उपल के तारतम्य को समझने मे असमर्थ है तो आपकी हिमालयप्रख्य बुद्धि की बलिहारी ! आप भूलकर भी—'एक दारुगत देखिये एकू। पावक युग सम ब्रह्म विवेकू'—के पचडे मे मत पडिये ।

हा, तो सनातन धर्म मे ये सब महात्मा 'क्यो' कार्यालय के अवैतनिक अध्यक्ष है। सम्भवत क्या—निश्चित ही, आपको इन तक पहुँचने का कष्ट भी न होने दिया जाएगा। मादृश कई स्वयसेवक उक्त महानुभावो के द्वार पर ही जिज्ञासुओ की सुव्यवस्था के लिये निरन्तर खडे पायेगे—आपकी शकाओ के समाधान का तो हमी प्रबध कर सकेगे। खबरदार ! कुतर्को और ननु, नच, किन्तु, परन्तु से परिपूर्ण हुज्जतो का पुलिन्दा व्यर्थ ही साथ न उठा लाना, क्योकि ऐसी आपत्तिजनक सामग्री का यहा प्रवेश

निपिद्ध है। हम लोग इसीलिये ही द्वार पर तैनात है। यदि हमे आपके पड़ौस मे भी उक्त वस्तुओ की दुर्गन्ध आगई तो लेने के देने पड़ जायेगे। कुतर्को का ऐसा कचूमर निकाला जाएगा। ननु, नच को नोच नोच कर ऐसा चकनाचूर किया जाएगा—किन्तु परन्तु की ऐसी तुनतुनी तोड़ी जाएगी, कि हुज्जते हाय हाय करती हुई जहन्नुम रसीद हो जायेगी।

इसलिए हम उपर्युक्त स्थापना द्वारा डके की चोट यह घोपित करते हैं कि जिस भी तार्किक को अपनी क्यो का गर्व हो वह सनातन धर्म के सामने आए। जिज्ञासु के स्वागत मे हम पलके विछायेंगे और हुज्जतवाजो को खरीखरी—किन्तु सभ्य भाषा मे सुनायेंगे। सो जिस 'क्यो ?' के पचडे से पागल हुए पादरी 'प्लायताम्' के पाठ की प्रैक्टिस करने लग जाते हैं और जिस 'क्यो' के मारे मुल्ला मौलाना मेमने की तरह मिमियाते हुए मगज-मारी के मरोज वन जाते हैं—तथा वडे से वडे वौद्ध विद्वान् जिस 'क्यो ?' को 'वुद्धिवाह्य' वताकर वाते वनाना भूल जाते हैं—एव जिस 'क्यो ?' की दहाड से विदीर्ण हृदय होकर दादा वाक्य को वेद मानने मे दिलेर दकियानूस दयानन्दी अपनी सुध वुध' का दिन दहाडे दीवाला निकाल डालते हैं—अथ च दूसरी सारी समाज सोसाटियो के सदस्य भी जिस 'क्यो ?' की सनक सवार हो जाने से सदा के लिए सन्देह सागर मे समा जाते है—उसी कल्पित पन्थो को डराने वाली महाकाली 'क्यो ?' को सनातन-धर्म रूप शंकर ने अपनी अर्धाङ्गिनी वना छोडा है। ऐसी स्थिति मे—व्रह्म का अपनी अभिन्न छाया माया से, धर्म का शास्त्र समस्त तर्क से, और 'क्या' का 'क्यो' से वही सम्वन्ध है जो कि

सती साध्वी अनुगामिनी अर्धाङ्गिनी का अपने सर्वस्व प्राणाधार पति से होता है।

यह बात सर्वविदित है कि आजकल सनातन धर्म की प्रत्येक बात पर चारो ओर से 'क्यो ?' का कोलाहल मचाया जाता है। यह भी आपको मालूम हो है कि पाश्चात्य-शिक्षा-दीक्षित जन समुदाय को हमारा रहन-सहन, हमारी उठ-बैठ, हमारा जीवन-मरण, गर्ज है कि हमारी ऐहलौकिक और पारलौकिक समग्र दैनन्दिनी चर्या अथ से लेकर इतिपर्यन्त कोरी पोप लीला ही जचती है !! इसलिए कथित बुद्धिवादी भी धर्म पराङ्मुख न हो उनकी भी धर्म मे प्रवृत्ति बनी रहे एतदर्थ—गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त समस्त सस्कारो की इति कर्तव्यता का, प्रात जगने से लेकर पुन शयन तक की आह्निक क्रियाओ का, चारो वर्णो और चारो आश्रमोके विभिन्न अनुष्टेय कर्मो की इयत्ता का, अमुक २ पदार्थों के स्पृश्यास्पृश्य, ग्राह्याग्राह्य और भक्ष्याभक्ष्य होने की व्यवस्था का,—गर्ज है कि सनातनधर्म की प्रत्येक रीति और नीति का सप्रमाण सयौक्तिक वैज्ञानिक रहस्य प्रकट करने के लिए, आस्तिक समाज के एक मात्र धर्म्माधर्म्म निर्णायक सर्वथा और सर्वदा शिरोधार्य शब्द प्रमाण के साथ प्रत्यक्षवादी किवा बुद्धिवादी कहे जाने वाले लोगोको यथा कथञ्चिद् सन्तोष दिलाने वाली 'क्यो ?' अर्थात्—हेतुवाद—का भी धर्म निर्णय मे विशेष स्थान है। इसलिए जहा पतञ्जलि जी महाभाष्य के शब्दो मे 'शब्द-प्रामाणिका वयम्' कहते हुए वेद प्रतिपादनको प्रमाण मानने वाले कहलाने मे गर्व अनुभव करते है वहा 'युक्तिप्रमाणाभ्या हि वस्तुसिद्धि'. कहते हुए 'युक्तिवाद' का भी यथेष्ठ आदर करते है। यही सनातन धर्म मे 'क्यो ?' का स्थान है।

'क्यों' ग्रंथ प्रयोजन और अधिकारी

प्रस्तुत ग्रन्थ लिखने मे हमारा एक ही तात्पर्य है और वह यह कि मुट्ठी भर शास्त्र श्रद्धालु आस्तिक तो धर्मानुष्ठान के अदृष्ट फल मे विश्वास रखते हुए नित्य नैमित्तिक कर्मो का सम्यग् अनुष्ठान कर सकते है परन्तु आज के युग मे बहु-सख्यक मनुष्य-समाज इतना प्रच्छन्न नास्तिक बन गया है कि वह पदे पदे अमुक अमुक धर्मानुष्ठान का प्रत्यक्ष फल देखकर ही उसमे प्रवृत्त हो सकता है अन्यथा नही, ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक हो गया है कि सर्वसाधारण के कल्याण के निमित्त तत्तत् धर्मानुष्ठानो से होने वाले प्रत्यक्ष लाभो का भी दिग्दर्शन कराया जाए जिससे ऐसे मनुष्यो की भी धर्म मे अभिरुचि बढ़े ।

हमारा यह दावा कदापि नही कि इस ग्रन्थ मे जो कुछ लिखा गया है वह सर्वथा और सर्वदा 'ब्रह्म वाक्य' है, परन्तु हमारा यह निजी अनुभव अवश्य है कि लगातार तीस वर्ष पर्यन्त धर्म प्रचार करते हुए जब कभी भी हमने उक्त रहस्यो का निरूपण किया है, तो जिज्ञासु किंवा जिगीषु, दोनो प्रकार के लोगो ने सतोष अनुभव किया है और बहुत से लोग तो उस दिन से धर्म-पथ के पथिक बन गए है ।

यहा यह कह देना आवश्यक न होगा कि उत्तम श्रेणी के आस्तिक विद्वान् तो सकेत मात्र से सब कुछ समझ सकते हैं और उन्हे समझाया भी जा सकता है अत. वे महानुभाव उक्त ग्रन्थ के अधिकारी नहीं, और ना ही मध्यम श्रेणी के वे अर्धविदग्ध=अधकचरे सज्जन ही इसके अधिकारी है जिनको समझाने मे हम प्राय अकृतकार्य रहे हैं और जिनको लक्ष्य करके श्रीभर्तृहरि

सरीखे महाकवियो को भी—झख मारकर कहना पडा है कि—

'ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति ।

अर्थात्—ज्ञान के लवमात्र से जो बुरी तरह पाण्डित्य के अभिमान मे भुना बैठा हो उसको तो ब्रह्मा भी नही रिझा सकता।

हा ! तीसरी श्रेणी के कोरे नास्तिको से जब जब भी हमारा वास्ता पड़ा तभी हम उनको समझा सकने मे सोलहो आने सफल हुए। हमे स्मरण नही कि कभी कोई नास्तिक शङ्का समाधान मे किंवा जिज्ञासा पूर्ति मे सतुष्ट न हुआ हो ! इसलिए जब कभी हमे पाश्चात्य रग मे रगा हुआ और पश्चिमी सभ्यता तथा आज के भौतिक विज्ञान का अभिमान रखने वाला श्रोता मिला, तो हमने उसे उपयुक्त पात्र समझा और उसे पाकर हमे बहुत सतोष भी हुआ, क्योकि थोडे प्रयास से ही हमने उसे उसके ही शस्त्रास्त्रो से काबू कर लिया। सो इस ग्रन्थ के अधिकारी वे ही तीसरी श्रेणी के महाशय हो सकते है। भारत मे आज ऐसे ही लोगो का आधिक्य है। उन्ही के लिए यह ग्रन्थ रामबाण सिद्ध होगा, यह हमारा अनुभव है।

—: ❀ —

क्यों निर्णायक दार्शनिक पद्धति

भारतीय पद्धति के अनुसार इस प्रकार के आलोचनात्मक ग्रन्थो को दर्शन नाम से स्मरण करने की पुरानी परिपाटी प्रसिद्ध है। साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमासा और वेदात विषयो के प्रख्यात दर्शन भारतीय साहित्य की निधि है। शाण्डिल्य और नारद प्रणीत भक्ति-सूत्र भी दर्शन नाम से प्रसिद्ध है। उक्त

आस्तिक दर्शनो की भाति नास्तिक दर्शन भी पाये जाते है, सो इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम भी 'धर्म दिग्दर्शन' है—जिसके सर्व साधारण मे 'क्यो ?' नाम से अधिक प्रख्यात हो जाने के कारण हमने भी उसे नामान्तरके रूपमे स्वीकार कर लिया है। सो हमने 'धर्म दिग्दर्शन' नाम को अन्वितार्थ करने के लिये इस ग्रन्थ का मूल ढाचा भी सूत्रो मे निबद्ध किया है, जिससे थोड़े मे ही ग्रन्थ का सब तात्पर्य सूत्ररूपेण हृदयङ्गम हो सकता है। आशा है पाठक हमारे इस प्रयास से सन्तुष्ट होंगे।

धर्म दिग्दर्शन सूत्रमाला

(थोरेउ मे सब कहो बुझाई ❀ जाते सकल मोह भ्रम जाई)

अथातो धर्मजिज्ञासा । १ ।

अर्थ—(अथ) [ससार की बढती हुई अशान्ति अन्य किसी भी उपाय से शान्त नही हो रही है]—यह अनुभव करने के अनन्तर (अत) [धर्म ही एक मात्र सब दु खो को दूर करके प्राणिमात्र का कल्याण करने मे समर्थ है]—इस हेतु से, 'धर्म-जिज्ञासा'=धर्म जानने का उपक्रम किया जाता है।

प्रेरकश्रुत्युपदिष्टो धर्मः । २ ।

अर्थ—['अहरह सन्ध्यामुपासीत' प्रतिदिन सन्ध्योपासन करना चाहिये—इस प्रकार की] प्रेरक श्रुतियो द्वारा उपदिष्ट तत्त्व धर्म है।

प्रेरणं न निष्प्रयोजनम् । ३ ।

अर्थ—वेद, जिन कर्मो को करने के लिये और जिन कर्मो को न करने के लिये प्रेरणा करता है वह प्रेरणा बिना प्रयोजन नही है।

दृष्टादृष्टफलश्रवणात् । ४ ।

अर्थ—वेद विहित कर्मो के करने से और वेद निषिद्ध कर्मो के त्याग से दृष्ट=देखा जा सकने योग्य प्रत्यक्ष लाभ और अदृष्ट=चर्म चक्षुओ से न देखा जा सकने योग्य पारलौकिक कल्याण—दो प्रकार का फल मिलता है। यह वेदादि शास्त्रो द्वारा प्रमाणित है।

साक्षात्कृतधर्मभिरदृष्टफलस्मरणात् । ५ ।

अर्थ=समाधि मे जिन महर्षियो ने धर्म का साक्षात्कार किया है उन्ही मन्त्रद्रष्टा ऋषियो ने—धर्म सेवन का 'अदृष्ट फल' स्मृतियो मे कहा है, यथा—'धर्मानुगो गच्छति मर्त्य एक'। इसलिये उसकी सत्ता पर सन्देह नही हो सकता।

दृष्टफलदर्शनाच्च । ६ ।

अर्थ—और धर्मानुष्ठान का 'दृष्टफल' दर्शन शास्त्रो मे प्रकट किया गया है, यथा—'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभ' इसलिए वह तो प्रत्यक्ष ही है।

नाऽव्यवहार्यम् । ७ ।

अर्थ—वेदादि शास्त्रो मे ऐसा कोई विधि निषेध नही है मनुष्य, जिसका पालन न कर सकता हो।

ऐतिह्याख्यानात् । ८ ।

अर्थ—क्योकि इतिहास और पुराणो मे ऐसे आख्यान देखे जाते है कि जिनसे धर्म के तत्तद् अङ्गो का हमारे पूर्वजो द्वारा अनुष्ठान करना और उनसे लाभान्वित होना सिद्ध होता है।

उपर्युक्त आठ सूत्रो मे धर्म विषयक सभी तत्त्वो का समावेश

हो जाता है। आज ससार मे फैले हुए अनर्थो को सभी दूर करना चाहते है, परन्तु अर्बो रुपया खर्च करने और अनेक गिर तोड प्रयत्न करने पर भी वे अनर्थ घटने के वजाय वढते जा रहे हैं। सन् १९१४ का महायुद्ध=ग्रेट वार शान्त भी न हुआ था कि दूसरा महायुद्ध गिर पर आ पडा। यह अभी पूरी तरह समाप्त भी न हो पाया है कि तीसरे प्रलयङ्कर युद्ध की सम्भावनाए दिन प्रति दिन वढती जा रही है। ऐसी दशा मे अव ससार अपने त्राण का दैवी अमोघ उपाय ढू ढने मे प्रयत्न शील है। सो सव अनर्थो को दूर करने का अव्यर्थ उपाय धर्मानुष्ठान ही है। अतः उसकी जिज्ञासा ही सर्व साधारण का कल्याण कर सकती है।

आज भले ही मानव समाज धर्म के स्थान मे अपनी कल्पना से तत्काल घडे हुए धर्माभास को ही हठात् धर्म्म वनाने के लिए 'अधेरे मे डले ढोने का प्रयत्न' करता हो, परन्तु वस्तुत धर्म का अन्तिम निर्णय वेद शास्त्र ही कर सकते हैं—यह अमिट तथ्य है। इसे मानव समाज चाहे आज समझले, और चाहे शताब्दियो और सहस्राब्दियो पर्यन्त ठोकरे खाने के वाद समझे 'नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय।'

वेद शास्त्रो में जो धार्मिक विधान है वे निष्फल नही है किन्तु उनसे ऐहलौकिक उन्नति='अभ्युदय' और पारलौकिक कल्याण='नि श्रयस्' दो फल प्राप्त होते है। सो जो लोग 'प्रयोजन विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात्—विना प्रयोजन तो मूर्ख भी किसी कार्य मे प्रवृत्त नही होते इस सिद्धात के कट्टर पक्षपाती है उनके लिये भी डवल फल दायक होने के कारण धर्म, सर्वथा और सर्वदा अनुष्ठेय है।

मन्त्रद्रष्टा ऋषियो ने धर्म का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करके स्मृति-ग्रन्थो मे उसका और उसके पारलौकिक फलो का विशद निरूपण किया है। जैसे—आयुर्वेदोक्त विषो को विष ही समझा जाता है, इसमे सदेह करके स्वय प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये विष खाने का प्रयत्न नही किया जाता और ऐसी मूर्खता करना निश्चित मृत्यु का आवाहन करना ही है, ठीक इसी प्रकार उन्ही आयुर्वेद-प्रणेता महर्षियो की बताई हुई पाप पुण्य व्यवस्थाये भी सर्वथा विश्वसनीय है। उनका उल्लघन करके हानि लाभ का स्वय परीक्षण करने वाला व्यक्ति भी निःसन्देह खतरा खरीदता है।

कदाचित् मूर्खतावश, सर्व साधारण, धर्म के अदृष्ट फलों मे आस्था न भी रक्खे, तो भी दर्शन-शास्त्रो मे तत्तद् धर्मानुष्ठानो के प्रत्यक्ष दृष्ट फलो का भी निरूपण किया गया है। एतावता दृष्ट फलाग्रही मनुष्यो के लिये भी धर्म सर्वथा अनुष्ठेय है।

बहुत से लोग धर्मानुष्ठान से इस भ्रम से जी चुराते है कि यह बहुत ही कठिनतम व्यापार है। उनकी सम्मति मे धर्म, केवल ग्रन्थो मे लिखने और कहने सुनने मात्र का ही विषय है, व्यवहार जगत् में उसका कुछ भी उपयोग नही हो सकता। ऐसे व्यक्तियो को यह समझना चाहिये कि महाभारत रामायण और पुराणादि ग्रन्थो मे धर्मपरायण आस्तिको की जो अनेक कथाए आती है उनमे बहुत से ऐसे भी उदाहरण मिलते है जिनसे जाना जाता है कि मनुष्यो को साधारण धार्मिक अनुष्ठान से भी अतुल सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। स्वय भगवान् कृष्ण ने गीता मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, यथा —

(क) क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

(ग्र) स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।

अर्थात्—(क) झटपट धर्मात्मा बन जाता है और उसे कभी नष्ट न होने वाली चिर शान्ति प्राप्त हो जाती है। (ख) धर्म की थोडी सी भी की हुई रक्षा, मनुष्य को महान् भय से बाल बाल बचा देती है।

अजामिल, व्याध, गज, गणिका आदि इसके अनेक निदर्शन हैं। सो अपना कल्याण चाहने वाले पुरुष को श्रवण कीर्तन आदि सरलतर धर्मानुष्ठानो द्वारा ही अपना मार्ग निष्कण्टक बनाना चाहिये ।

अमुक धर्मानुष्ठान से अमुक फल प्राप्त होता है—इसका उल्लेख तो इस ग्रन्थ मे तत्तद् अनुष्ठानो के वर्णन प्रसग मे किया जाएगा, परन्तु अमुक क्रिया इसी रूप मे क्यो की जाती है? इसके हेतुभूत सिद्धान्तो का वर्णन एक पूरे अध्याय मे किया गया है। उक्त सिद्धान्तो के मूल सूत्र यहा अङ्कित किए जाते है—

फलमनुद्दिश्य प्रवृत्तेरभावात्फलजिज्ञासा । ९ ।

अर्थात्—फल के उद्देश्य बिना प्रवृत्ति नही होती इस हेतु से फल जानने का प्रयत्न किया जाता है।

कलियुग-अविद्या-नास्तिक्य-दारिद्र्य-आलस्यादि-सन्निधानान्नादृष्टफले सामन्यजन-आस्था । १० ।

अर्थात्—कलियुग के प्रभाव से, पठन पाठन की कमी के कारण, नास्तिकता बढ जाने से, रोटी के ही प्रश्न मे उलझे रहने के कारण और आलस्य दोष से, धर्म के अदृष्टफल मे अब सर्व-साधारण की आस्था नही रही ।

सर्वकल्याण-कामनया दृष्टफल-समारम्भः ।११।

अर्थात्—सर्वविध मनुष्यो के कल्याण की कामना से। इस ग्रन्थ मे धर्म के दृष्ट=प्रत्यक्ष लाभों के निरूपण का प्रयत्न किया गया है ।

नामूलम् । १२ ।

अर्थात्—दृष्टफल कल्पना निर्मूल नही है ।

ज्ञानविज्ञान-प्रमाणोपन्यासात् । १३ ।

अर्थात्—क्योकि इस ग्रंथ मे ज्ञान=मोक्ष विषयक वेदादि शास्त्रो के और विज्ञान=शिल्पशास्त्र आदि भौतिक विज्ञान के प्रमाणो का सर्वत्र उल्लेख किया गया है ।

नाहैतुकं षोडशवाद-प्रमाणात् । १४ ।

अर्थात्—दृष्टफल कल्पना बिना हेतु की नही है किन्तु उसमे वक्ष्यमाण सोलह 'वाद' प्रमाण है ।

जड-चेतनसमन्वयात् । १५ ।

अर्थात्— जड और चेतन दो विभिन्न तत्त्वो का समन्वय करने से [अनेक धार्मिक अनुष्ठानो की तादृश इतिकर्तव्यता के कारणो का ज्ञान हो सकता है] ।

स्थूल-सूक्ष्मसमीक्षणाद् । १६ ।

अर्थात्—स्थूल और सूक्ष्म के भली प्रकार जानने से ।

दृष्टादृष्टदर्शनात् । १७ ।

अर्थात्—दृष्ट और अदृष्ट दो प्रकार के पदार्थ देखने से ।

शाश्वत-विपरिणामि-विश्लेषणात् । १८ ।

अर्थात्—सदैव रहने वाले और क्षण मे बदलने वाले द्विविध पदार्थों का विश्लेषणात्मक ज्ञान प्राप्त करने से ।

अनादिमादिवीक्षणात् । १९ ।

अर्थात्—अनादि और सादि दो प्रकार के पदार्थों का अस्तित्व होने से ।

अनन्त-सान्त-निरीक्षणात् । २० ।

अर्थात्—अनन्त और सान्त द्विविध पदार्थों की विद्यमानता से ।

प्रत्यक्ष-परोक्षपरीक्षणात् । २१ ।

अर्थात्—इन्द्रियो से अनुभूत और इन्द्रियो से अननुभूत द्विविध तत्त्वो का परीक्षण करने से ।

अण्ड-पिण्डसाम्यात् । २२ ।

अर्थात्—ब्रह्माण्ड और शरीर पिण्ड की तुलनात्मक स्थिति से

पाप-पुण्यपरिज्ञानात् । २३ ।

अर्थात्—अमुक कृत्य पाप है और अमुक कृत्य पुण्य है—ऐसी सर्व-वादि-सम्मत व्यवस्था के परिज्ञान से ।

भावना-भावात् । २४ ।

अर्थात्—सर्व कार्यो की सिद्धि असिद्धि मे भावना का साम्राज्य होने से ।

शौचाशौच-व्यवस्थापनात् । २५ ।

अर्थात्—शुचि और अशुचि द्विविध वस्तु जात की व्यवस्था से ।

लोकपरलोकसंस्थानात् । २६ ।

अर्थात्—भूलोक के अतिरिक्त अन्यान्य अनेक लोकों की सत्ता होने के कारण—

देशकालवस्तुजातिवैशिष्ट्यानुरोधात् । २७ ।

अर्थात्—देश, काल, वस्तु, और जातिगत नानाविध वैचित्र्य होने से—

यहा हमने जान बूझकर ही इन सूत्रो का साधारण अर्थ किया है क्योकि उक्त हेतु सूत्रो की ही विशेष व्याख्या अनुपद, तत्तद्वादो के रूप मे अगले प्रघट्ट मे हो दी जा रही है। आशा है पाठक, दार्शनिक प्रक्रिया से तत्तद् धार्मिक क्रियाओ की 'क्यो ?' समझने मे उक्त सताइस सूत्रो की नक्षत्र माला का सदुपयोग करेंगे।

आधारभूत मौलिक सिद्धान्त

ब्रह्माण्ड मे अगणित वस्तुजात की जुदा जुदा परीक्षा और समीक्षा करना सर्वथा असम्भव है। मनुष्य जीवन मे विभिन्न वस्तुओ के वैलक्षण्य का निरन्तर अनुभव होते ही तत्काल 'यह क्या ?' 'यह क्यो ?'—की परम्परा की भी कोई सीमा नही। ऐसी स्थिति मे त्रिकालदर्शी महर्षियो ने थोडे मे सब कुछ समझ लेने की जिस परिपाटी का आविष्कार किया था उसका नाम--'सिद्धात वाद' है, एक मात्र इसी नाव के सहारे अनन्त पार दुस्तर तर्क-सागर को पार किया जा सकता है। इसलिये हम इस अध्याय मे प्रकृति के कुछ ऐसे अटल नियमो का उल्लेख करना चाहते हैं कि जिनको समझ लेने पर बहुत सी शङ्काओ का अपने आप समाधान हो जाता है। यह प्रघट्ट पढने मे बड़ा अटपटा प्रतीत

होगा और साथ ही अनावश्यक सा भी जान पडेगा, परन्तु जैसे किसी भी ऊचे प्रसाद की आधार भित्ति (नीव) टेढे मेढे विना घडे वेडौल पत्थरो की होती हुई भी उस प्रासाद की मूल आधार होती है। उसका एक पाषाण निकाल लेने पर समस्त ऊची अट्टालिकाऐं धराशायी हो सकती हैं, ठीक इसी प्रकार इस प्रघट्ट को भी उक्त ग्रन्थ की रोढ समझना चाहिये। पाठक यदि साव-धानी से एक २ अक्षर का मनन करेंगे तभी वे आगे के समाधान को समझ पायेंगे।

जड़ और चेतनवाद

(उभयं वा एतत् प्रजापति)

ससार मे पत्थर मिट्टी पानी आदि वस्तुओ को 'जड' कहा जाता है और पशु पक्षी मनुष्य आदि को 'चेतन' कहा जाता है परन्तु विचार पूर्वक यदि जड़ और चेतन का विश्लेषण किया जाय तो ऐसी एक भी वस्तु उपलब्ध नहीं होगी जिसे केल 'विशुद्ध-जड़' या केवल 'शुद्ध चेतन' कहा जा सके। विधाता का यह सव का सव प्रपञ्च ही जड चेतन दोनो तत्त्वो के विमिश्रित-सङ्घात का विपरिणाम है। यह हो सकता है कि पाषाण आदि मे जड तत्त्व का वाहुल्य है और चेतन तत्त्व उसमे विकसित नही हो पाया है परन्तु—यह सर्वथा और सर्वदा चेतन सत्ता से शून्य हो विज्ञानवेत्ता यह स्वीकार नही करते, क्योकि वर्तमान युग के भौतिक शास्त्रवेत्ताओ ने सनातन धर्म के पुरातन सिद्धान्त 'वृक्ष वनस्पति चैतन्य' को तो स्वीकार कर ही लिया है। श्री जगदीश चन्द्र वसु आदि भारतीय वैज्ञानिको ने अपने यन्त्रो की सहायता से चैतन्य के लक्षण—देखना सूघना, सुनना, आदि क्रियाय वृक्षो मे सुस्पष्ट दिखलादी है। जीवित पाषाण भी चेतनांश से अशून्य हैं इसके अनेक निदर्शन तो आर्य साहित्य मे उपलब्ध होतेहै

परन्तु भौतिक यन्त्रो द्वारा पाश्चात्य जगत् को विश्वास दिला सकने की परिस्थिति मे हम नही है। पापाण शब्द के साथ 'जोवित' विशेषरण देखकर पाठक अवश्य चकित होगे परन्तु उनको यह समझना चाहिये कि जैसे जीवित मनुष्य और उसका प्राणशून्य शव=लाश विभिन्न दो वस्तुए है ठीक इसी प्रकार हरे भरे वृक्ष और कटे सूखे लक्कड, वृक्षो के जीवित और मृत कलेवर समझने चाहिये। इसी प्रकार पहाड़ के परिवर्द्धनशील पाषाण और उससे पृथक् हुए शिला वट्ट आदि समझने चाहिये।

कहना न होगा कि जड और चेतन दोनो तत्त्वो के विमिश्रण का नाम ही ससार है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी रामायण मे 'जड चेतन गुण दोष मय विश्व कीन्ह करतार' कहते हुए प्राचुर्य्य विकार और प्राधान्य अर्थ सूचक 'मयट्' प्रत्यय का प्रयोग करके इस रहस्य को प्रकट किया है। अर्थात्—यह विश्व जड़ और चेतन तत्त्वो का 'आवास' मात्र नही किन्तु यह तो उक्त दोनो तत्त्वो की प्रचुरता विकृति और प्रधानता के कारण 'तन्मय' है। इसलिये यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि विश्व मे किसी भी वस्तु को केवल जड या केवल चेतन नही कहा जा सकता किन्तु यहा प्रत्येक जड चेतन से अधिष्ठित है और प्रत्येक चेतन जड का अधिष्ठान है। जिस वस्तु मे उक्त दोनो मे से जिस किसी एक तत्त्व का अधिक विकास हुआ है उसी तारतम्य से 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार उसका वैसा नाम पड गया। जैसे हलवाई की दुकान मे मैदा, घी, खाड, पानी, पत्तल, दोना, लक्कड, कडाही, थाल अनेक तरह का सामान रहता है तथापि उसे व्यवहार मे हलवा+ई=हलवे वाले की दुकान कहा जाता है। तथा चिड़िया, मोर, सिंह, व्याघ्र ऊंट, घोड़े बनमानुस आदि

अनेक प्रकार के जीवो से संकुल अद्भुतालय को 'चिडियाघर' कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार स्थूलाश की अधिकता के कारण पाषाण वृक्षादि को जड, और सूक्ष्माश की अधिकता के कारण मनुष्य पशु आदि को चेतन कहने की परिपाटी पड़ गई है। वस्तुत जड से चेतन को और चेतन से जड़ को पृथक् नही किया जा सकता। ये दोनो तत्त्व प्रत्येक वस्तु मे अपरिहार्य रूप से विद्यमान रहते हैं। मुर्दा देह मे भी, प्राणवायु का सञ्चार बन्द होते ही 'धनञ्जय' नाम का वायु उसमे व्याप्त हो जाता है, इसी प्रकार 'जीव' भी पाचभौतिक स्थूल शरीर को छोडते ही तत्काल 'वायुभूतो दिगम्बर' के अनुसार दिव्य अथवा यातनामय शरीर से सम्पन्न हो जाता है। इस लिये विश्व की प्रत्येक वस्तु जड चेतनमय है।

स्थूल-सूक्ष्म-वाद--

(अणोरणीयान्महतो महीयान्)

जड और चेतन की भाति ससार की प्रत्येक वस्तु मे स्थूल और सूक्ष्म ये दोनो भाव भी समान रूप से पाये जाते हैं। मनुष्य देह स्थूल है परन्तु उसका चेतन आत्मा सूक्ष्म है। फूल स्थूल है किन्तु उसमे रहने वाला गन्ध सूक्ष्म है। लड्डू, पेडा मिश्री स्थूल है किन्तु इन सबमे रहने वाला रस=स्वाद सूक्ष्म है। चुम्बक पत्थर स्थूल है उसमे रहने वाला आकर्षण सूक्ष्म है। सखिया वत्सनाभ आदि विष स्थूल द्रव्य हैं किन्तु उनमे रहने वाली मारण सामर्थ्य सूक्ष्म है। उसी प्रकार अन्यान्य स्थूल पदार्थो मे अन्यान्य सूक्ष्म तत्त्व पाये जाते हैं।

प्रत्येक पदार्थ के स्थूलाश मे आकार, प्रकार, रग, तोल

वजन प्रत्यक्ष दीख पडता है, पन्तु सूक्ष्मांश मे आकार प्रकार रग रूप तोल वजन कुछ नही रहता। उदाहरणार्थ— मनुष्य, शारीरिक दृष्टि से काला गोरा टन मन सेर पौंड रत्तल भार का कहा जा सकता है परन्तु उस देह मे रहने वाला चेतन जीव काला गोरा टन मन सेर तोला माशा रत्ती भर का नही कहा जा सकता। सेर भर पेड़े चटकर जाने वाले चौबा जी यह बताने मे असमर्थ है कि पेडे मे रहने वाला स्वाद, लम्बा चौड़ा गोल तिकोन चपटा आदि किस आकार प्रकार का है? और श्वेत श्याम रक्त पीत मे से किस रग का होता है, एव टन मन तोला रत्ती किस परिमाण का है? कल्पना कीजिए कि गुलाब का स्थूल फूल गुलाबी रग, मण्डलाकार, और चार तोले का है, तो भी उसके सूक्ष्म भाग गन्ध का आकार रग और तोल नही बतलाया जा सकता।

प्रकृति का यह अटल सिद्धात है कि ससार की प्रत्येक स्थूल वस्तु मे एक सूक्ष्म तत्त्व भी रहता है इसलिये स्थूल और सूक्ष्म इन दोनो अशो को एक दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। ससार की प्रत्येक स्थूल वस्तु सूक्ष्म से अधिष्ठित है और प्रत्येक सूक्ष्म वस्तु स्थूलका अधिष्ठान है। स्थूल और सूक्ष्म दोनो तत्त्वो के अपरिहार्य सघात का विपरिणाम तत्तत्पदार्थ है।

दृष्ट और अदृष्टवाद

(एको देव सर्वभूतेषु गूढ)

ससार मे जिन पदार्थों का, घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र इन पाच ज्ञानेन्द्रियो से साक्षात्कार हो सकता है वे सब पदार्थ दृष्ट कहे जाते है, परन्तु जिन तत्त्वो का मन बुद्धि=अन्त -करण द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है उन्हें अदृष्ट कहते है।

नेत्र, मोदक के केवल रग रूप को ही देखने मे समर्थ है, उसके रसास्वादन के साक्षात्कारमे ममर्थ नही। जिह्वा यद्यपि अन्धकार में भी मोदक के रसास्वादन मे निपुण है किन्तु उसका रग रूप जानने की उसमे सामर्थ्य नही। एतावता चाक्षुप प्रत्यक्ष का विपय न होने पर भी मोदक के रस की सत्ता का अपलाप नही किया जा सकता और रासनिक प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी मोदक के तादृश रूप रग का भी अपलाप नही किया जा सकता। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से अननुभूत किन्तु 'ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः' के अनुसार मानस साक्षात्कार के विषयभूत तत्त्व का अपलाप नही हो सकता। सुतरा अवाङ् मनसो गोचर तत्त्व भी 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' के अनुसार समाधिनिष्ठ योगियो को हस्तामलक की भाति भासता है। इसलिये जैसे दृष्ट पदार्थो के रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द के प्रत्यक्ष मे तत्तत् ज्ञानेन्द्रिये प्रमाण हैं उसी प्रकार अदृष्ट अग के साक्षात्कार मे भी मन बुद्धि=अत करण प्रवल प्रमाण है। तभी तो 'सता हि सन्देहपदेपु वस्तुपु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय' यह आभाणक सुप्रसिद्ध है।

शाश्वतवाद और विपरिणामवाद—

(विनश्यत्स्वविनश्यन्त य पश्यति स पश्यति)

जो तत्त्व सर्वदा निर्लेप निरञ्जन निर्विकार और सदैव स्व-स्वरूप मे अवस्थित रहता है उसे शाश्वत सनातन कहते हैं। वेदान्तवेत्ताओ का ब्रह्म, श्रीमद्भगवद्गीता वर्णित जीव और नैयायिक के परमाणुरूप–पृथ्वी, अप, तेज, वायु आदि पदार्थ शाश्वत कोटि मे परिगणित किए गए हैं। इसके सर्वथा विपरीत

जो तत्त्व क्षण क्षण मे बदलता हो-कुछ का कुछ बन जाता हो—उसे विपरिणामी कहते है। निरुक्तकार यास्क ने लिखा है कि—

"षड् भावविकारा भवन्ति,—अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते विनश्यति" (निरुक्त। १। १। २)

अर्थात्—प्रत्येक वस्तु मे ६ भाव विकार होते है, जैसे—सत्ता, उत्पन्न होना, बढना, पकना, घटना और नष्ट हो जाना।

सो, विश्व मे जड चेतन स्थूल सूक्ष्म और दृष्ट अदृष्ट पदार्थो की भाति शाश्वत और विपरिणामी इन दोनों तत्त्वो का सघात भी सर्वत्र दीख पडता है।

अनादिवाद और सादिवाद—

(अनादि मत्पर ब्रह्म, जन्माद्यस्य यतो मतम्)

विश्व प्रपञ्च मे कुछ पदार्थ अनादि माने जाते है। यद्यपि उनकी सख्या मे तत्तत्सम्प्रदायानुरोध से कुछ अन्तर पाया जाता है तथापि अनादि तत्त्व की सत्ता आनास्तिक सभी सम्प्रदाय एक-स्वरेण स्वीकार करते है इसलिये अनादि तत्त्व सर्ववादिसम्मत है। अमुक पदार्थ को अनादि मान लेने पर तदतिरिक्त अन्य पदार्थ स्वभावत आदि सिद्ध हो जाते है, अत अनादि और सादिवाद सभी मतो मे परिगृहीत है। जिसका आदि न हो अर्थात् जो 'मूले मूलाभावादमूलम्' के अनुसार स्वय मूलभूत होने के कारण अपने अन्य किसी मूल की अपेक्षा न रखता हो वह पदार्थ अनादि है। 'ब्रह्म' इसका सर्वसम्मत उदाहरण है। इसके विपरीत 'जिसका आदि हो' अर्थात् जो एक दिन अमुक कारणसे उत्पन्न हुआ हो वह 'सादि' है। 'दृश्य जगत्' इसका निदर्शन है। कहना

न होगा कि यह दृश्य जगत् भी केवल विपरिणाम की दृष्टि से ही सादि कहा जा सकता है, किन्तु 'हरिरेव जगद् जगदेव हरि' के अनुसार प्रवाह से तो अनादि ही है। 'वीजाकुर' न्याय से पहिले वीज या पहिले अकुर ? वीज के विना अंकुर सम्भव नही और अंकुर के विना वीज सम्भव नही।—ऐसी अनवस्था का एकमात्र दार्शनिक उत्तर—ससार को प्रवाह से अनादि—मानने के अतिरिक्त अन्य कुछ नही। सो अनादि और सादिवाद भी सर्व सम्मत हैं।

अनन्त और सान्तवाद—

(क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते)

जिन पदार्थों का कभी अन्त न हो वे 'अनन्त' माने जाते है और जिनका अन्त निश्चित हो, वे 'सान्त' कहे जाते है। परमात्मा अनन्त है और 'अन्तवन्तइ मे देहाः' के अनुसार शरीर सान्त है। सभी अनादि पदार्थ अनन्त भी हो—दार्शनिक विद्वान् यह व्याप्ति मानने को प्रस्तुत नही। उनकी दृष्टि मे—'प्रागभाव' (कार्य की उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था) अनादि होता हुआ भी सान्त होता है, अर्थात् घट के वनने से पूर्व जो उसका अभाव चला आता था वह अनादि तो अवश्य है परतु घट रूप कार्य वनते ही उस प्राग-भाव का विनाश हो जाता है। अत वह अनादि सान्त है। इसी प्रकार 'प्रध्वंस' (कार्य नष्ट हो जाने के वाद की स्थिति) सादि है परन्तु है वह अनन्त, अर्थात् घट फूट जाने पर जो उसका अभाव हुआ है वह अभी घट फूट जाने के समय से आरम्भ हुआ है अतः वह 'सादि' है परन्तु अव वह अभाव कभी पूरा न हो सकेगा अतः वह 'अनान्त' भी है। सो जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश

अवश्य होता है और जिसकी उत्पत्ति नही होती उसका विनाश भी कभी नही होता—यह जो लोक प्रसिद्ध व्याप्ति है वह दार्शनिको की दृष्टि मे तुच्छातितुच्छ है क्योकि प्रागभाव की कभी उत्पत्ति नही होती परंतु उसका विनाश होता है इसीप्रकार प्रध्वसाभाव उत्पन्न होता है परंतु वह कभी विनष्ट नही होता, इस लिये अनन्त और सान्तवाद का गम्भीर तारतम्य खूब समझ लेना चाहिये।

प्रत्यक्षवाद और परोक्षवाद—

(प्रत्यक्षाद् बलवच्छास्त्रम्)!

नास्तिक लोग 'प्रत्यक्ष' को ही सर्वोपरि प्रमाण मानते है, और 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' कहकर प्रत्यक्षवाद का अभिनन्दन करते है परन्तु देवता=विद्वान् प्रत्यक्ष को अनेक भ्रान्तियो का आगार एव कोरी धोखे की टट्टी समझते है। अत उससे द्वेष रखते है और परोक्ष= इन्द्रयातीत शब्द प्रमाण का आदर करते है। इसलिये वेदादि शास्त्रो का यह डिण्डिम घोष है कि—

परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।

अर्थात्—देवता परोक्ष को प्यार करते है और प्रत्यक्ष के शत्रु हैं। वह किस प्रकार धोखे से भरा है यह बात एक दो दृष्टान्तो से भलीभाति समझ मे आजाती है। सूर्य देखने मे प्रत्यक्ष हमे थाली के बराबर दीख पडता है परन्तु विज्ञान और गणित के अनुसार है वह हमारी पृथ्वी से भी बडा। कोई भी प्रत्यक्षवादी गवार इस प्रत्यक्षवाद के धोखे मे आकर सूर्य की वास्तविक विशालता के ज्ञान से वञ्चित रह सकता है।

इसीप्रकार सूर्य आदि ग्रह प्रत्यक्ष तो पूर्व से पश्चिम की ओर जाते दीख पड़ते हैं परन्तु वस्तुत वह इसके सर्वथा विपरीत पश्चिम से पूर्व की ओर जा रहे हैं। शुक्ला दूज के चाद की छोटी सी कला पश्चिम से निरन्तर पूर्व की ओर वढते वढ़ते पौर्णिमा को ठीक उदयाचल पर प्रतिष्ठित हो जाती है। इस निदर्शन से अन्यान्य ग्रहो का भी पश्चिम से पूर्व की ओर वढना भली प्रकार समझा जा सकता है।

चन्द्रमा, प्रत्यक्ष तो श्वेतिमासम्पन्न दीख पड़ता है परन्तु जव वह सूर्य और पृथ्वी के ठीक मध्य मे समानान्तर रेखा पर पड़कर सूर्य को ढांप लेता है तो हम उसके वास्तविक काले भयङ्कर रूप से परिचित होते हैं और उसे सूर्य-ग्रहण के नाम से याद करते है। कवि लोगो की कल्पना प्रत्यक्षवाद पर अवलम्बित होकर ही नायिका को चन्द्रमुखी कहनेमें चरितार्थ होती है, अन्यथा चन्द्रमा का वस्तुत काला कलौटा कलेवर यमराज और उसके भैसे की उपमा का ही पात्र है।

प्रत्यक्ष मे वृक्षो की पत्तिये हरी भरी हैं। कैरव कुमुद चम्पा का फूल श्वेत है, कौव्वा कोयल-काले, एव शुक हरित रग के दीख पडते हैं, परतु विज्ञान की गवेषणा के अनुसार ब्रह्माण्ड भर की कोई वस्तु स्वय रगीन नही होती किन्तु जैसे सूर्य का प्रकाश समुद्र जल मे पड़कर अपनी परछांही से चांदके अभास्वर गोलेको श्वेतिमा प्रदान करता है और स्वच्छ स्फटिकके निकट किसी रगीन वस्तुकी छाया उसे रजित कर डालती है तथा अति स्वच्छ समुद्रजल अपनी गहराई के अनुपात से उत्तरोत्तर अधिकाधिक काला दीख पडता है एव शून्य आकाश प्रत्यक्ष नीला मालूम होता है—वैसे ही

ससार की रग रहित तत्तत् वस्तुए एकमात्र सूर्य के विभिन्न रगो के तारतम्य से रगीन मालूम पडती है।

हमारे वेदादि शास्त्रो में तो सूर्य को सप्तरश्मि, प्रभाकर, विभाकर, चित्रभानु, त्विषापति, आदि नामो से स्मरण किया ही गया है, जिसका स्पष्ट तात्पर्य है कि सूर्य सात प्रकार की किरणो वाला है, विभिन्न आभाओ का आगार है, चित्र विचित्रता का हेतु है एव समस्त कान्तियो का एक मात्र आधार है, परन्तु वर्तमान वैज्ञानिक भी यह घोषणा कर चुके हैं कि ससार की कोई वस्तु रगीन नही होती किन्तु सूर्य की सात किरणो मे ही वस्तुत. सात रग रहते हैं। सूर्यनिष्ठ सात रग ही तत्तत् वस्तुओ को अमुक रग मे आभासित करते है, जो वस्तु जिस रग की दीख पडती है वास्तव मे वह वस्तु सूर्य के सात रगो मे से अमुक रग को ग्रहण कर सकने की योग्यता रखती है–यही उसकी विशेषता है। जिस वस्तु को हम श्वेत=सफेद समझते है लौकिक दृष्टि मे वह रगहीन समझी जाती है, परन्तु वैज्ञानिको की दृष्टि मे—सातो रग जब जीवित दशा मे समान रूप से सम्मिलित हो जाते है तब श्वेत बनता है और यदि यही सातो रग मृत अवस्था मे समान रूप से सम्मिलित हो जाए तो काला रग बन जाता है। सफेद और काला दोनो ही सात रगो के समान सम्मेलन का परिणाम है, अन्तर केवल जीवित और मृत रगो का है। यही कारण है कि श्वेत वस्तु मे सातो रगो मे से किसी भी एक को प्रकट किया जा सकता है, परतु कालापन मृत रगो का परिणाम होने के कारण पुन किसी एक रग को प्रगट करने की योग्यता नही रखता, इसीलिये—'सूरदास खल काली कमलिया चढत न दूजो रग'—यह कहावत चरितार्थ होती है।

पाठको ने वर्षा ऋतु मे कई वार इन्द्र धनुष को अवश्य देखा होगा, वह सूर्यविम्व की ठीक सामने की दिशा मे गोलार्ध आकृति मे दीख पड़ा करता है। शून्य आकाश मे क्रमश सातो रंगो की यह सुहावनी रेखायें किसी भी भावुक के मन को मुग्ध किये विना नही रहती। ये सातो रग सूर्य की किरणो से ही प्रतिफलित होकर आकाशस्थ जलीय वाष्प पुञ्ज के निरोध के कारण दीख पड़ा करते है। जल प्रपात और फव्वारो मे तथा पिचकारी द्वारा छोड़े हुए जलसघात मे भी इन्द्र धनुष का आभास देखा जा सकता है। वालको की क्रीड़ा की साधन कांच की सफेद गोलियो मे भी सातो रगो का आभास दीख पड़ता है। इन सब लम्वे चौड़े दृष्टातो का यही आशय हुआ कि ससार की प्रत्यक्ष मे रगीन दीख पडने वाली समस्त वस्तुए वास्तव मे रगीन नही होती किन्तु वे सूर्यकिरण-गत सात रगो मे से अमुक अमुक एक या एक से अधिक रगो को व्यक्त=कैच कर सकने की योग्यता के कारण ही रगीन दीख पड़ती हैं। यह प्रत्यक्ष के द्वारा उपस्थित होने वाला सुस्पष्ट धोखा है। इसलिये सर्वदा प्रत्यक्षवाद का ही विश्वास करके परोक्ष प्रमाण=आगम प्रमाण को नही झुठलाना चाहिये किन्तु आगम को प्रत्यक्ष से अधिक विश्वासनीय समझना चाहिये। यही एक मात्र 'निष्कण्टक मार्ग' है।

अराडपिराडवाद—

(ब्रह्माण्डरूपी भगवान्नरपिण्डकृतालय.)

अकारण-करुण, करुणावरुणालय परमात्मा ने जीवो के उद्धार के निमित्त चौरासी लाख योनियो मे सर्वोपरि जो सर्वाङ्ग-पूर्ण मानव शरीर प्रदान किया है हम इस प्रघट्ट मे उसे ही पिण्ड और

सूर्य गोलक से चारो ओर व्याप्त पचास कोटि योजन (योजन=चार कोश या आठ मील) परिधि वाले आकाश प्रदेश को ब्रह्माण्ड कहेगे। ब्रह्माण्ड मे—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे, सितारे सय्यारे, आकाश गङ्गा, धूमकेतु और उल्का पिण्डो के अतिरिक्त पृथ्वी अप तेज वायु आकाश=पञ्चभूतो का विस्तृत प्रपञ्च विद्यमान है। श्रीमन्नारायण भगवान् प्रकृति के द्वारा ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डो का नियमन करते है, ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु प्रकृति के नियमो मे बन्धी हुई आज्ञाकारी सेवक की भाति विना ननु नच किये ठीक ठीक शाश्वत मर्यादा मे स्थिर है। इसी शाश्वत मर्यादा का नाम धर्म' है, यवनादि इसे ही 'कुदरते कानून' कहते हैं। आधुनिक विज्ञानवेत्ता इसे ही 'ला आफ नेचर' के नाम से स्मरण करते है।

जैसे एक माता के दो पुत्र हो, एक वडा युवक-जो सर्वगुण सम्पन्न और अपने पावो पर खडा होकर अपने हानि लाभ को सोचने समझने तथा तादृश आचरण कर सकने की सामर्थ्य के साथ २ दुर्दैव से सम्भावित आपत्तियो का प्रतिकार कर सकने की भी क्षमता रखता हो, दूसरा छोटा स्तनन्धय—जो स्वय अपना हानि लाभ सोचने समझने मे अकृतकार्य, तादृश आचरण करने की योग्यता से शून्य और अपने किसी भी कष्ट का प्रतिकार कर सकने मे असमर्थ, एक मात्र माता की कृपा पर निर्भर। माता वडे बेटे से प्रेम करती है उसका कल्याण भी चाहती है, परन्तु उसकी सरक्षा के लिये चौबीसो घन्टे पोछे पीछे डोलना व्यर्थ समझती है, क्योकि वह स्वय अपनी सरक्षा का दायित्व सम्भालने की क्षमता रखता है। स्तनन्धय=दुधमुहा वालक एकमात्र

मातापर निर्भर है। वह आग मे हाथ डालना चाहता है, सर्प को पकड़ने दौडता है, भरे रिवाल्वर को खिलौना समझकर हथियाना चाहता है—यदि माता थोड़ी भी उपेक्षा करे, लापरवाही से काम ले— तो दिन मे बीसो बार वह मृत्यु का ग्रास बन सकता है। अत माता हर समय उसकी रक्षा मे सचेष्ट रहती है अमुक बुराई मे स्वय रोकती है अमुक भलाई मे स्वय नियुक्त करती है।

ठीक इसी प्रकार प्रकृति माता के भी दो पुत्र हैं। बड़ा पुत्र—बुद्धिजीवी मनुष्य, और छोटा दुधमु हा बच्चा—परमुखापेक्षी पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च। प्रकृति, तिर्यञ्चो को पापमार्ग मे प्रवृत्त होने से स्वय रोकती है और उन्हे सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करती है। हम सब अच्छी तरह जानते हैं कि बैल ऊट घोड़ा आदि कोई भी पशु गर्भवान के काल के बिना अनृतु अवस्था मे व्यवाय =मैथुन मे प्रवृत्त नही होता किन्तु नासिका से गर्भाशय को सूघ कर पहिचान लेता है और स्वय ही उपरत हो जाता है। घूंटकर जल पीने वाला कोई पशु कभी मास नही खाता फिर चाहे वह कितना ही क्षुधित क्यो न हो। गाय भैंस वानर आदि अनेक जीव इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्रकृति ही इनको इस पापाचार से रोकती है। इसी लिये वेद मे सुस्पष्ट लिखा है कि—

'यस्य व्रतं पशवो यान्ति सर्वे'

अर्थात्—सब पशु भगवान् के नियन्त्रण मे रहते है।

सभी पक्षी निरन्तर प्रात काल ब्रह्म-मुहूर्त मे जगकर भगवद् गुणानुवाद मे प्रवृत्त हो जाते है। कुक्कुट जैसा मलभोजी पामर जीव भी इस नित्य कर्म मे कभी आलस्य नही करता। यह सब श्रेय प्रकृति माता को ही है।

इसी प्रकार सभी तिर्यञ्च प्रकृति की देख भाल मे और उसी के नियन्त्रण मे मर्यादित जीवन बिताते है, परतु प्रकृति माता ने मनुष्य रूप ज्येष्ठ पुत्र को बुद्धिजीवी प्राणि समझकर अपने नियन्त्रण की कैद से सर्वथा उन्मुक्त कर दिया है, उसे यथेष्ट स्वतन्त्रता प्राप्त है। यद्यपि मनुष्य प्रकृति की इस अहैतुक अनुकम्पा से अनुचित लाभ उठाता हुआ अत्याचार, अनाचार, दुराचार और व्यभिचार के गहरे गर्त मे आखे बद करके कूद पडता है और उसे अन्त मे इस जघन्य स्वेच्छाचारिता का कुपरिणाम—'ये कपूयाचरणास्ते कपूया योनिमापद्येरन्'—के अनुसार मनुष्य पद से भ्रष्ट हो कर सूकर कूकर आदि योनियो मे जन्म लेने के रूपमे भुगतना पडता है तथापि तात्कालिक सुखाभास के प्रयास मे ही सुर दुर्लभ मनुष्य जीवन का अपव्यय करना 'प्रवृतिरेषा भूतानाम्' बन गई है।

कदाचित् कोई मनुष्य अपना उद्धार करना भी चाहे तो अनेक कल्पित पन्थो का ऐसा जटिल जाल उसके चारो ओर बिछा हुआ है कि वह वास्तविक कल्याण का मार्ग ढूढने मे कृतकार्य नही हो पाता।

'सत्य क्या है ? असत्य क्या है ?'—इस समस्या को हल करने का प्रथम उपाय—ततद् सम्प्रदायो के ग्रन्थो का गुरु मुख से स्वाध्याय करके पुन तुलनात्मक अनुसन्धान से सत्यासत्य का विश्लेषण करना—कहा जा सकता है,परतु यह मार्ग सुवर्ण का सुमेरु होते हुए भी सर्वथा दुष्प्राप्य है क्योकि प्रथम तो इस छोटी सी आयु मे सभी सम्प्रदायो के ग्रन्थो को पढ सकना ही सर्वथा असम्भव है। केवल एक वेद-सहिता मात्र पढने के निमित्त ही प्रथम—'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरण श्रूयते' की खैबर घाटी पार करना

सर्व साधारण के लिए कठिन कार्य है। यदि कोई आग्रही ग्रन्थो के पठन पाठन और अनुसन्धान मे ही समस्त आयु विता भी डाले तो उमर भर पत्थर कूटते २ मर जाने वाले कुली की भाति मोटर मे वैठकर सड़क पर सुगमता पूर्वक चलने का तो उसे कभी अवसर आ ही नही सकता। सडक केवल पत्थर कूटने के लिए नही होती किन्तु गाडी चलाने के लिए होती है, ठीक इसी प्रकार ग्रन्थो का स्वाध्याय केवल तोता रटन=रिसर्चमात्र के लिए नही होता किन्तु उनमे लिखे सिद्धान्तो के अनुसार अपने जीवन को सयत वनाकर जोवन्मुक्त होने के लिए होता है। सो यदि समस्त आयु केवल सत्य की खोज मे ही व्ययित हो जाए तो फिर इस सत्य पर आरूढ होने का अवसर कव मिलेगा? इसलिए सत्य के अन्वेषण के निमित्त ग्रन्थो का तुलनात्मक स्वाध्याय करते करते आयु विता डालना वडा लम्वा और कण्टकाकीर्ण मार्ग है। फिर ढलती अवस्था के, कल्याण चाहने वाले मनुष्यो को, किंवा सर्वथा अपठित देहातियो को तो सत्य की खोज के लिये समस्त सम्प्रदायो के ग्रन्थों का तुलानात्मक स्वाध्याय करने का परामर्श देना मानो उनको एक प्रकार से टालना ही ठहरा।

धर्माधर्म निर्णय का अन्तिम उपाय शास्त्रार्थ भी कहा जा सकता है। प्राय· समझा जाता है कि अमुक २ सम्प्रदायो के मध्य मे यदि शास्त्रार्थ हो तो उसे सुनकर सत्यासत्य का पता लगाया जा सकता है। प्राचीन समय मे यह मार्ग भले ही प्रशस्त रहा हो परन्तु अव शास्त्रो के नाम पर होने वाले अनेक वाग्युद्धो मे स्वय प्रवृत्त हुए एक भुक्तभोगी की भांति अविकार पूर्वक यह कहा जा सकता है कि आज के शास्त्रार्थो को शास्त्रार्थ कहना हो वाद समारोह का घोर अपमान करना है। आज पहिले से ही दोनो पक्ष

अपनी अपनी बात को सिद्ध करना और दूसरे की बात का खण्डन करना अपना २ ध्येय बना लेते है । यही कारण है कि ऊंट चाहे किसी करवट बैठे परन्तु पचो का कहना सिर माथे पर होते हुए भी पैनाला जहा का तहा रहता है । अब न श्री शंकराचार्य और मण्डन मिश्र जैसे सत्यनिष्ठ वादी प्रतिवादी होते है और नाही श्रीविद्यावती और भारती जैसे निष्पक्ष मध्यस्थ मिल सकते है । कही कही तो आर्यसमाज आदि मतो के हठ के कारण जनता को ही मध्यस्थ मान लेने का उपहासास्पद नियम स्वीकार करना पडता है, सो आज के शास्त्रार्थो को सत्यासत्य का निर्णायक मानना कोरी विडम्बना है ऐसी स्थिति मे धर्माधर्म का निर्णय कैसे हो यह विकट समस्या है ।

हम पीछे कह आये है कि परम कारुणीक भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य को उसके कल्याण के निमित्त सर्वाङ्गपूर्ण स्वावलम्बी बनाया है । पूर्व जन्म के पापो के कारण विकलाग हुए कुछ अपवादभूत मनुष्यो को छोडकर अन्य सब के सब मनुष्य अपनी ही आखो देखते हैं, अपनी ही जिह्वा से चखते है; अपनी ही नाक से सू घते और अपने ही कानो सुनते हैं । अर्थात्—तत्तद् वस्तुओ के याथातथ्य को समझने के लिये वे अन्य किसी के दास नही । यदि कोई धूर्त, दूध का रग हरा या काला वतलाये—और कोयल तथा कौव्वो को श्वेत बतलाये तो मैं अपनी आखो से स्वय उन्हे इसके विपरीत देखता हुआ उस वचक की सौ युक्तियो तथा सहस्रो शपथो पर कभी विश्वास नही कर सकता फिर चाहे वह कितना ही प्रतिष्ठित धर्माचार्य, मुल्ला और लाट पादरी क्यो न हो ! जब कि मै स्वय अपनी जिह्वा से चखकर नमक और मिश्री की परीक्षा कर सकता हू तब कोई भी धूर्त मुझे मिश्री के स्थान

में नमक की कांकर देकर पथभ्रष्ट नही कर सकता। अर्थात्—एक ओर मेरी अपनी ज्ञानसाधन निर्विकार इन्द्रिये—और दूसरीओर समस्त ससार के वचकों की युक्ति, प्रत्युक्ति, मन्तक, दलील तथा वाग्जाल[1] सो जिस प्रकार तत्तद् पदार्थों को जानने में प्रभु ने मनुष्य को स्वावलम्वी वनाया है ठीक इसीप्रकार धर्म्माधर्म के निर्णय मे भी उसे किसी अन्य का दास नही वनाया किन्तु आ-चाण्डाल आ-ब्रह्मर्षि, और आ-काला अक्षर भैंस वरावर—आ-वेद-निष्णात सभी को समान रूप से अपना कल्याण मार्ग स्वय परिष्कृत कर सकने योग्य वनाया है।

हम पीछे सिद्ध कर चुके है कि प्रकृति के नियन्त्रण से ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु सुतरा मर्यादित है और ब्रह्माण्ड व्याप्त उन्ही प्राकृतिक नियमो का नाम धर्म है, सो जैसे जिन नियमो से ब्रह्माण्ड का नियमन होता है ठीक उमी प्रकार और उन्ही नियमो से मानव पिण्ड का भी नियमन होना चाहिये, इसी समता का नाम 'अण्डपिण्ड' सिद्धान्त है। वेद का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि –

यद् अण्डे तत्पिण्डे

अर्थात्—जो ब्रह्माण्ड मे है सो ही पिण्ड मे है। हम साढे तीन हाथ के मानव पिण्ड को एक अरव योजन विस्तार वाले ब्रह्माण्ड का सर्वांगपूर्ण सक्षिप्त सस्करण कह सकते है। जैसे विस्तृत भूगोल का समस्त सस्थान छोटे से चित्र=नकशे मे अङ्कित रहता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्माण्ड की सव वस्तुओ की सत्ता पिण्ड मे विद्यमान है और पिण्ड की वस्तुओ का मूल स्रोत ब्रह्माण्ड मे विद्यमान है।

ब्रह्माण्ड यदि पृथ्वी, अप, तेज वायु, आकाश, इन पञ्च

महाभूतो के पञ्चीकरण का विपरिणाम है तो पिण्ड भी इन्ही के सघात का परिणाम है। ब्रह्माण्ड मे सूर्य है तो पिण्ड मे सूर्य का प्रतिनिधि आत्मतत्त्व विद्यमान है, ब्रह्माण्ड मे चन्द्रमा है तो पिण्ड मे उसका प्रतीक मन है। अण्ड में मगल नामक रक्त रग का ग्रह विद्यमान है तो पिण्ड मे विभिन्न रगो के खाए हुए भोजन के रस से यकृत् और प्लीहा (जिगर और तिल्ली) यन्त्र द्वारा रजित, पित्त के रूप मे परिणत होने वाला रक्त=रुधिर=खून विद्यमान है। अण्ड मे बुध, बृहस्पति शुक्र और शनि नामक ग्रहों की सत्ता है तो पिण्ड मे इन सबके प्रतिनिधि क्रमश –वाणी, ज्ञान, वीर्य (काम चेष्टा) और दु खानुभूति विद्यमान हैं। पर्वत स्थानीय अस्थि, वृक्ष लता गुल्मादि के प्रतीक केश रोम, नदी नदो की भांति नस, नाडी और धमनियो का जाल–गर्ज है कि अण्ड की समस्त वस्तुए पिण्ड मे याथातथ्येन विद्यमान है।

हमारी उपर्युक्त स्थापना को सीधे शब्दो मे यू कहा जा सकता है—'ब्रह्माण्ड' विराट् का शरीर है और 'पिण्ड'—उ ी के अशभूत जीव का शरीर है। हमारी पिण्ड से घनिष्ठता है इसलिये यदि हम थोडा सा परिश्रम करके पिण्ड के सगठन और उसके स्वाभाविक कार्य कलाप का अन्तर्मुख होकर अध्ययन करे तो ब्रह्माण्डवर्ती तत्तद् शक्तियो तथा उनकी विलक्षण सामर्थ्य का बहुत कुछ भेद जान सकते हैं। इसलिये ब्रह्माण्ड को समझने के लिये पिण्ड का मनन करना चाहिये, और पिण्ड की इतिकर्त्तव्यता जानने के लिये ब्रह्माण्ड के सस्थान पर ध्यान देना चाहिये।

'जो अण्ड मे है सो पिण्ड मे' यह हमारी कोरी कल्पना नही है। वेदादि शास्त्रो मे इसके प्रतिपादक अगणित प्रमाण भरे पडे हैं। यथा—

यावान्वा अयं आकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेण समाहिते, उभौ अग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम्। (छान्दोग्य ८ । १ । ३)

अर्थ—यह जितना आकाश है उतना ही अन्दर यह हृदयाकाश है। इस पिण्ड मे द्यौ और पृथ्वी अन्दर समाहित है । अग्नि वायु सूर्य चन्द्रमा विजली नक्षत्र—गर्ज है कि जो कुछ इस ब्रह्माण्ड मे है वह सब कुछ इस पिण्ड मे समाया है। यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा का ३१ वा समस्त अध्याय—'सहस्रशीर्षा,—से लेकर—'सर्वलोक म ईपाण'—पर्यन्त चन्द्रादि समग्र ग्रहोपग्रहो का, तथा पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतो का विराट् के तत्तद् अङ्गो के रूप मे वर्णन करता है। सो जैसे कोई सार्वजनिक धार्मिक स्थान अनेक विभिन्न दानियो द्वारा दी गई—भूमि, ईट, चूना, सीमेट, पत्थर, लोहा, लक्कड, आदि सामग्री से वनाया जाता है, और अन्यान्य दानी उसमे विजली का प्रकाश, पानी का नल घडी, पंखे, विछात, फरनीचर, आदि वस्तुए प्रदान करके उसे आवश्यक सभार सम्पन्न वना देते है, ठीक इसीप्रकार हमारा यह मानव पिण्ड भी गर्भाधान सस्कार के समय माता पिता द्वारा की गई प्रार्थना रूप अपील पर दानो होने के कारण ही 'देवता' कही जाने वाली ब्रह्माण्डे व्याप्त विभिन्न शक्तियो की उदारता से दी गई विभिन्न सामग्री से ही सघटित हुआ है। किस देवता ने कौन वस्तु प्रदान की है इस का विवरण विगत अश से यथाकथञ्चित् समझ मे आ सकता है। एतदर्थ कुछ अन्य प्रमाणो का यहां उल्लेख करना अनावश्यक न समझा जायगा, तद्यथा—

(क) यस्य पृथिवी शरीरम्। यस्य ...आपः... ..अग्निः ... वायुः... . आकाशः शरीरम् । (शत १ । ६।७ । ३)

(ख) सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋक्)

(ग) कालात्मा दिनकृन्मनश्च हिमगुः सत्वं कुजो ज्ञो गिरा।
जीवो ज्ञानमथोसितश्च मदनो दुःखं दिनेशात्मजः ॥
(सूर्य सिद्धान्त)

(घ) अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। (अथर्व)

अर्थात्—(क) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश जिस विराट् का शरीर है। (ख) सूर्य जगम और स्थिर समस्त पदार्थो का आत्मा है। (ग) सूर्य आत्मा है, चन्द्र मन है, भौम सत्त्व= बल किवा रक्त है, बुध वाणि है, बृहस्पति ज्ञान है, शुक्र=वीर्य काम सञ्चार है, शनि दु खानुभृति है । (घ) आधार चक्र से लेकर सहस्रार चक्र पर्यन्त (गुदा से मस्तिष्क तक) आठ चक्र और (दो आख, दो कान, दो नासाछिद्र, मुख, लिंग, और गुदा) इन नव द्वारो—छेदो वाला यह मानव देह काल द्वारा युद्ध मे न जीती जा सकने योग्य देवताओ की नगरी है ।

अस्तु, यह मानव पिण्ड देवताओ की दान दी हुई सामग्री से बना एक पचायती मकान है। पचायती धर्मशाला की सरक्षा के निमित्त जैसे पचायत किसी प्रबन्धक—मैनेजर को नियुक्त करती है, ठीक इसी प्रकार हमारा यह जीव इस देह रूप देव-नगरी का देवताओ की ओर से नियुक्त देखभाल सरक्षा करने वाला प्रबन्धक मात्र है, सर्वाधिकार सम्पन्न स्वामी=वाहिद मालिक नही।

पचायती धर्मशाला का मैनेजर यदि प्रवन्धकसमिति द्वारा निर्धारित नियमो का पालन करता हुआ ठीक ठीक देखभाल सरक्षा करता रहे तो वह निश्चित वेतन के अतिरिक्त उचित पुरस्कार का भी पात्र हो सकता है, परन्तु यदि वह मूर्खतावश स्वय इस पचायती मकान का मालिक बनकर इस पर अनुचित अधिकार करना चाहे और वास्तविक दाता=प्रवन्धक=ट्रस्टियो को धता बताए तो वे सब मिलकर सरकार के सहयोग से इसे कान पकडकर तत्काल निकाल डालेंगे। ठीक इसी प्रकार जब जीव—'कर्ताहमिति मन्यते' के अनुसार अपने आपको ही सब कुछ समझने की मूर्खता का शिकार हो जाता है, तब देवसत्ता के रोष से वह भी इस पिण्ड से निकाल दिया जाता है।

पाठको को इस अण्डपिण्डवाद का खूब मनन करना चाहिये क्योकि आगे चलकर इस ग्रन्थ मे बहुत सी शङ्काओ का निराकरण इसी के आधार पर किया जायगा।

पाप और पुण्यवाद—

(पुण्येन पापमपनुदति)

प्राय सभी सम्प्रदायो मे पाप और पुण्य की भावना का सन्निवेश है। चाहे पाप और पुण्य की परिभाषा और उनकी इतिकर्तव्यता मे आकाश तथा पाताल का अन्तर पाया जाता हो परन्तु—अमुक कार्य हेय है, क्योकि यह पाप है और अमुक कार्य करणीय है, क्योकि यह पुण्य है—इस प्रकार की विधि निषेधात्मक परम्परा सभी सम्प्रदायो मे समान रूप से पाई जाती है। सस्कृत साहित्य मे ही जब पाप और पुण्य शब्द के अनेक पर्याय पाये जाते है तब अन्यान्य देशो और अन्यान्य भाषाओ मे इनके

नामान्तर होना स्वाभाविक ही है। पाप और पुण्य शब्द के पीछे जो भावना एक हिन्दू के हृदय मे बधी है ठीक वही भावना अनार्य म्लेच्छ के हृदय मे 'गुनाह' और 'सवाब' शब्द के साथ सम्बद्ध है।

आज के बहुत से कथित साम्यवादी (कम्युनिष्ट) और कथित समाजवादी (सोशलिस्ट) तथा उनके मानस पुत्र भारतीय काग्रेसी, कहने को चाहे अपने अपने शासनो को धर्म निरपेक्ष राज्य (सैक्यूलर स्टेट) घोषित करने का साहस करे परन्तु वस्तुत जो विधान बनते है और उनमे अमुक २ कार्यों की जो हेयोपादेयता स्थिर की जाती है वह धर्म्माधर्म और पाप पुण्य की प्राकृतिक भावनाका ही धु धला किन्तु सुस्पष्ट चित्र है। जिसे आज की परिभाषा मे कानून और व्यवस्था कहा जाता है, उसका ही प्राचीन नाम धर्म और शास्त्र है। कानून और व्यवस्था को अल्पज्ञ जीवो की कल्पना कोटि से बाहिर निकालकर सर्वथा और सर्वदा सुनिश्चित मानव हित की दृढ चट्टान पर सुस्थिर करने को ही—उसे धर्म और शास्त्र के साचे मे ढाला जाता है। जो हो सो हो! नास्तिक से नास्तिक पुरुप भी लोक व्यवस्था के निमित्त पाप और पुण्य को मानने के लिये वाध्य है फिर भले ही वह पाप को अपराध—अभियोग—जुर्म नाम से याद करे और पुण्य को राजभक्ति-नागरिकता-वफादारी-लायलटी नामो से पुकारे।

यद्यपि पाप और पुण्य की सीधी परिभाषा यह कही जा सकती है कि वेद निषिद्ध हेयकर्म पाप और वेद विहित उपादेय कर्म पुण्य! परन्तु एतावता आज के मानव वर्ग को सतोप नही होता और तत्तत् सम्प्रदायवादी वेद के स्थान मे अपने २ मान्य ग्रन्थ—कुरान-हैदीस अजील, तौरेत आदि के विधान को पाप पुण्य की

कसौटी नियत करने का दुराग्रह करते हैं ऐसी स्थिति मे पाप पुण्य की कोई प्राकृतिक कसौटी नियत करना अनिवार्य हो गया है।

कल्पना कीजिए—एक गाडी चलती है वह वरावर आगे वढना चाहती है, परन्तु जव कभी वह गारे कीचड़ में धसने लगे तो जो व्यक्ति उसे आगे को ढकेलकर सहायता पहुचाता है, गाडीवान् को दृष्टि मे वह वडा उपकारी है वह उसे धन्यवाद देता है। इसके विपरीत यदि कोई रोडे पत्थर लक्कड डालकर गाड़ी की प्रगति को रोकने की चेष्टा करे तो वह व्यक्ति गाड़ीवान् की दृष्टि मे खटकता है वह उसे कोसता है और शक्ति भर दण्ड देना चाहता है। ठीक इसी प्रकार ससार की प्रत्येक वस्तु प्रकृति के नियन्त्रण मे प्रगति शील है। प्रकृति का अविच्छिन्न प्रवाह उसे वरावर आगे वढ़ा रहा है। जव तक वह वस्तु उन्नति की चरम सीमा पर न पहुच जाए तव तक यह प्रवाह निरन्तर जारी रहता है।

मान लीजिए एक वकरी है, वह नित्य आधा सेर दूध देती है, उसने अपने पहिले ही प्रसव मे दो वच्चे जने है अव यदि घास फूस पानी आदि जीवनोपयोगी सामग्री मिलती रहे तो वह अपने जीवन मे सहस्रो सेर दूध देकर और अनेक वच्चे जनकर ससार को समृद्धि मे चार चाद लगा सकती है। जो पुरुष इसके जीवन प्रवाह को प्रचलित रखने के लिये अनुकूल चेष्टाये करता है वह प्रकृति की इस लुढकती हुई गाडी को आगे वढाने मे उचित सहायता करता है, प्रकृति की गाड़ी का अधिष्ठाता—गाडीवान् भगवान्, पुरुष की इस चेष्टा पर अवश्य प्रसन्नता अनुभव करेगा, परन्तु यदि कोई व्यक्ति इसके विपरीत उस वकरी का गला काटकर उसके मास से अपनी या अपने परिवार की चन्द घन्टे के

लिये क्षुधा शात कर लेता है, अथवा क्षणिक जिह्वालौत्य पूरा कर लेता है तो उसने नि सन्देह इस बढते हुए प्रकृति प्रवाह मे रोडे का काम किया है, अब वह बकरी सहस्रो सेर दूध और कई बच्चे जन सकने की स्थिति मे नही रही। प्रकृति की इस गाडी को रोकने का उत्तरदायित्व एकमात्र इस हत्यारे पर है। इसके इस कुकृत्य पर गाड़ीवान् भगवान् अवश्य रुष्ट होगा। वह अप्रतिहत-शक्ति एव कर्तु-अकर्तु-अन्यथा-कर्तु-समर्थ है अत इस कुकृत्य का इस व्यक्ति को दण्ड अवश्य देगा।

उपरोक्त समस्त दृष्टान्त का सार यह है कि प्रकृति के बढते हुए प्रवाह के अनुकूल समस्त क्रियाएं=हलचल 'पुण्य' हैं और प्रकृति प्रवाह मे प्रतिरोध—रुकावट डालने वाली सम्पूर्ण चेष्टाये 'पाप' है। भूखे को अन्न देना और प्यासे को पानी पिलाना इसी लिये पुण्य है कि ये चेष्टाये, अन्न और जल के बिना मृत्यु का ग्रास बन सकने वाले प्राणी के जीवन प्रवाह को अविछिन्न रखने के अन्यतम साधन है। इसीप्रकार किसी की हत्या इसीलिये पाप है कि इस कृत्य से अमुक जीव का जीवन प्रवाह अकाण्ड मे ही परिसमाप्त हो जाता है। पाप पुण्य मे विश्वास रखने वाला कोई भी मनुष्य इससे अच्छी सर्ववादीसम्मत परिभाषा नही बना सकता। इस परिभाषा मे जहा सभी सम्प्रदायो के मान्य ग्रन्थो का मथितार्थ आ जाता है वहा धर्मयुद्ध मे प्राणीवध, नर्मविवाहादि मे अनृतभाषण—और ऋतुकाल मे दारोपगम आदि २ सब अपवाद भी भलीभाति आ सकते हैं।

प्रकृति प्रवाह के अनुकूल हलचल का सुपरिणाम और प्रकृति प्रवाह के प्रतिकूल आचरण करने का कुफल संसार मे भी प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। चलती रेलगाड़ी पर इञ्जन की

ओर मुख करके स्वय भी साथ २ चलते हुए ऊपर चढना और इसी भाति उतरना रेलवे गार्ड के वाये हाथ का काम है, परन्तु इञ्जन को पीठ देकर प्रवाह के प्रतिकूल चढने उतरने की चेष्टा करना मृत्यु को निमन्त्रण देना है। सैकडो देहाती इस भूल से जख्मी होते देखे जाते हैं। आयल इञ्जनो के सचालक—मिस्तरी इञ्जन के घूमते हुए चक्कर पर उसके प्रवाह का अनुगमन करते हुए नित्य पट्टे चढाते ही है परतु तद् विपरीत जरा सा भी सस्पर्श हो जाने पर अंग भङ्ग हो जाने का खतरा खरीद वैठते हैं।

कौन कृत्य प्रकृति प्रवाह की अविच्छिन्न धारा की प्रगति मे सहायक है? और कौन कृत्य उसमे विघातक है? इस प्रश्न का अन्तिम समाधान यद्यपि वेद शास्त्र ही हैं क्योकि परिमित मानव वुद्धि इस इन्द्रियातीत समस्या का 'इदमित्थ' हल नही ढूढ सकती, तथापि कथित वुद्धिवादी अर्धनास्तिक भी अपनी पाप पुण्य विषयिणी जिज्ञासा का यथा कथञ्चित् समाधान कर सके, एतदर्थ यहा 'पाप पुण्यवाद' पर प्रकाश डाला गया है।

भावनावाद—

(भावे हि विद्यते देव.)

श्रद्धा और विश्वास की निरन्तर उपासना का सुपरिणाम 'भावना' है। प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न भावनाओ का ही मूर्तिमान् पुतला है। श्रीमद्भगवद्गीता मे सुस्पष्ट लिखा है कि —

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अर्थात्—यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो जैसी श्रद्धा रखता है वह वैसा ही होता है।

इस नग्न सत्य का अपलाप नही किया जा सकता कि दृढ़भावना

के कारण बहुत सी असम्भव बात प्रत्यक्ष सम्भव देखी जाती है शिव शकर तो भगवान् हो ठहरे परतु उनके भक्त प्रह्लाद मीरा जैसे अनेक व्यक्ति भी सहर्ष कालकूट को घूट गए तथापि उनका बाल बाका नही हुआ। भगवती सीता का अग्नि परीक्षा मे सफल होना पुरानी कहानी कही जा सकती है, प्रह्लाद के विचित्र चरित्र मे भी उसका धधकती होली की गोद मे जीवित रह जाना—पुरातन आख्यान कहकर टाला जा सकता है परतु केवल चन्द शताब्दी पूर्व—पतिव्रता के शाप प्रभाव से भयभीत हुए अग्नि की ज्वाला मे कल्लोल करते हुए स्तनन्धय बालक को देखकर—राजा भोज की 'हुताशनश्चन्दनपकशीतल'—वाली ऐतिहासिक उक्ति की तो अभी तक स्याही भी नही सूख पाई है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्यारम्भ काल तक भी अग्नि परीक्षा के अनेक उदाहरण कर्नल टाड आदि विदेशी इतिहासकारो ने अपने अपने ग्रथो मे लिखे है। कहना न होगा ऐसी सब अघटित घटनाये तादृश भावनाओ का ही सुपरिणाम कही जा सकती है।

उस दिन हमारे ही हरियाणा प्रान्त के एक छोटे से ग्राम मे एक किसान के यहा दही पूर्ण भाड—बिलौनी मे विषधर काला सर्प घुस बैठा और किसान पत्नी ने अनजान मे ब्रह्ममुहूर्त मे ही उसे मथानी से मथ डाला। कुछ बटोही उस विषपूर्ण छाछ को भर पेट पीकर यथास्थान चले गए। तीन दिन तक उनका बाल भी बाका न हुआ। दिन चढे प्रकाश मे बिलौनी मे सर्प का अस्थिपञ्जर देख कर उसे उठा फेंका परतु छाछ पी जाने वाले यात्रियो के जीवन सम्बन्ध मे बहुत चिन्ता हुई, तीन दिन के बाद जब पुन· वे ही बटोही अचानक छाछ पीने आ पहुँचे तो

किसान पत्नी ने उस दिन की सर्प मन्थन वाली सवकी सव घटना उनको कह सुनाई और उनके स्वस्थ रहने पर प्रसन्नता प्रकट की, परंतु फल विपरीत निकला, जिन्हे तीन दिन तक उस अज्ञात विषपान से कुछ भी हानि न पहुची थी अव वे सुनकर सहम गये । एक तो तत्काल वही ढेर हो गया, शेप भी वहुत चिकित्सा के वाद महीनो मे ठीक हो पाए ।

हमारे पड़ोस के एक चरवाहे की वन मे सिह से मुठभेड हो गई । सीधे साधे उस युवक चरवाहे को यह ज्ञान नही था कि यह सिह है, अत उसने केवल अपने पशु हांकने वाले डण्डे से ही वडा परिश्रम करके सिह को मार डाला, रात को घर आया, किसी जानवर से मुठभेड हो जाने की घटना का अन्य साथियो के सामने वर्णन किया। वे सव, जानवर का हुलिया सुनकर तो उसे 'सिह' समझते थे परतु एक व्यक्ति के ड डे मात्र से मारे जाने की वात पर विश्वास नही होता था । आखिर अगले दिन जव सव मिलकर इस घटना का अनुसन्धान करने वन मे गए तो सचमुच मरे हुए शेर को देखकर चकित हुए और एक स्वर से वोल उठे— 'ओहो ! वडा भारी शेर था भई !' वस !यह सुनते ही मारने वाला युवक अतीत खतरे की भय भावना से तत्काल मूर्छित हो गया । कई दिन की चिकित्सा के वाद स्वस्थ हुआ ।

उस दिन होली फाग के दिन वह वूढा दादा मर ही जाता— यदि उसका नाती रग से भरे हुए अपने लोटे के लुढकने की शिकायत करता हुआ घर मे कोहराम न मचाता । कहा जाता है कि होली के दिन रग से खेलते हुए वालक ने सायकाल हो जाने के कारण अपना लाल रग से भरा लोटा आगन मे रख दिया । वूढे दादा प्रातः उठे उसी लोटे को उठा टट्टी चले गए । हाथ धोने पर

टट्टी मे बिखरा लाल रग देखकर उसे खूनी बवासीर के प्रकोप से निकला अपना खून मानकर मूर्छित हो गए । वैद्य डाक्टर चिकित्सा करने लगे परतु असली रोग किसी को विदित नही हुआ। अन्त में जब नाती जगा और उसने अपने रग भरे लोटे को खाली पाया तो वह कोहराम मचाने लगा । जब दादा के कान मे यह भनक पडी तो वह उठ बैठा और सब मामला समझकर अपनी भ्रमपूर्ण भावना पर पश्चात्ताप करने लगा ।

भावना की चमत्कार पूर्ण घटनाओ के सहस्रो प्रत्यक्ष दृष्टान्त दिये जा सकते है । आजकल का 'मैस्मरेजम' दृढ भावना सम्पादन का ही आधुनिक सस्करण है, पाश्चात्य जगत् 'विल पावर' की सत्ता से इन्कार नही कर सकता । ऐसी स्थिति मे ऋषि मुनि और योगियो की प्रसव भूमि भारतवर्ष मे यदि भावनामय जीवन का अधिक उल्लेख मिले तो इसे असम्भव कहकर उपेक्षित करना हृदय-शून्य मूसलचन्दो का ही काम कहा जा सकता है । भावना के बिना सामने खडे भी भगवान् नही सूझ सकते । वस्तुत भाव ही भगवान् है, धनुप तोडने के समय रग-भूमि में खडे एक ही राम भगवान्, और कस विध्वस के लिये अखाडे मे खडे एक ही श्रीकृष्ण, दर्शको को अपनी २ भावना के वैचित्र्य के कारण ही विभिन्न प्रकार के दीख पडते थे—तभी तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस भावनामय ससार का चित्र चित्रण करते हुए अपनी रामायण मे सुस्पष्ट लिखा है, कि—

जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ।।

इसलिये कहना न होगा कि भावना के चमत्कार, कौतुकपूर्ण होते हुए भी ससार मे अपनी विशेष सत्ता रखते है ।

शुचि और अशुचिवाद—

(शौचे यत्नः सदा कार्यः)

अमुक वस्तु स्वच्छ साफ और सुथरी है तथा अमुक वस्तु मलिन और गन्दी है—यह लोक व्यवहार तत्तत् वस्तुओ के केवल वाह्य स्थूल स्वरुप पर निर्भर है परतु शुचिता और अशुचिता का सिद्धान्त केवल वाह्य स्थूलता से सम्वन्व नही रखता किन्तु वह तत्तद् वस्तुओ के अदृष्ट सूक्ष्म तत्त्वो पर अवलम्वित है—आज के युग मे इस पथ्य तथ्य को समझने की वहुत आवश्यकता है ।

एक वस्तु स्वच्छ-साफ-सुथरी हो सकती है परंतु वह शुचि शुद्ध=पवित्र भी हो यह आवश्यक नही । गधा कुत्ता और कौव्वा कितना ही नहलाया धुलाया साफ सुथरा क्यों न हो परतु वह गोवर कीच मे सनी गाय भैस और घोडी के मुकावले में अपवित्र ही माना जायगा । विलायत मे वनी हाड़ चाम की चमकीली चीजे अपने चाकचिक्य से कितना ही चमत्कृत करने वाली क्यो न हो परंतु हैं सव वे सर्वथा अशुद्ध ।

भारतीय संस्कृति मे 'स्वच्छता' को वहुत आवश्यक समझा गया है परतु उसे ही सव कुछ मानकर 'शुचिता' की उपेक्षा नही की गई है । प्रत्येक वस्तु 'स्वच्छ' और 'शुद्ध' होनी चाहिये—यही भारतीय संस्कृति का आदर्श रहा है ।

पाश्चात्य सस्कृति मे 'शुचिता' को कोई स्थान नही वल्कि स्वच्छता के अतिरिक्त शुचिता नाम के किसी पदार्थ का भी अस्तित्व है यह भी उन्हे विदित नही ! यही कारण है कि वे साफ धुले कपड़े पहिने खानसामा द्वारा सजाई प्लेटो को चट कर जाने मे विलम्व नही करते, फिर चाहे खानसामा के हाथ=शरीर, विट् भोजी शूकर

और सिणक, थूक, खकार, खानें वाले कुक्कुट और मत्स्य के अशुचि मांस से ही क्यों न बने हो, और प्लेटो मे भी चाहे इन्ही मल-भक्षक जीवो का मास क्यो न परसा हो ! !

आज भारत मे भी पाश्चात्यो की देन इस मानसिक दासता का बोल बाला है । साफपुथरे धुले कपडे मात्र पहिन कर कोई भो ऐरा गैरा देवस्थानो की मर्यादा बिगाडने का परमिट पा सकता है, उपहार-गृहो, भोजन-शालाओ और प्याऊ के स्थानो पर धडल्ले से सर्वसाधारण को अपनी अशुचिता का प्रसाद (?) बांट सकता है ।

यद्यपि कानून के डण्डे के बल पर फैलाई हुई इस मूर्खता पूर्ण धाधली का प्रत्यक्ष फल —(राजयक्ष्मा, तपेदिक, दन्तरोग-पायोरिया नेत्र रोग आदि) सक्रामक रोगो के बाहुल्य के रूप मे दिनो दिन यत्र तत्र सर्वत्र बढता हुआ देखा जा सकता है परतु—'पीत्वा मोहमयी प्रमादमदिरामुन्मत्तभूत जगत्'—का क्या उपाय बन सकता है ।

हा, तो स्वच्छता और पवित्रता दो विभिन्न तत्त्व है । भारतीय ऋषियो ने वेद शास्त्र की दूरबीन लगाकर इन तत्त्वों को हस्ता-मलक की भाति अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा साक्षात्कार किया है । यद्यपि आज के बहुत से भौतिक विज्ञान वेत्ताओ ने भी ऐसे बहुत से तत्त्वो का स्वय निरोक्षण परीक्षण अनुसन्धान करके भारतीय ऋषियो को खोज की सत्यता को प्रमाणित किया है तथापि अभी दिल्ली दूर है, कल की अवोध बालिका पश्चिमी सायन्स, युग युगो और कल्प कल्पान्तरो की वैदिक खोज के अटल सिद्धान्तो को जानने मे सहस्राब्दियो मे नही तो शताब्दियो मे अवश्य कृतकार्य हो सकेगी ।

अब हम यहा कुछ ऐसे पदार्थो का उदाहरण देना चाहते है—

कि जिन पदार्थो को भारतीय ऋषियो ने भी शुचि-पवित्र माना है और आज के वैज्ञानिक भी इस मान्यता का समर्थन करते है।

गगा जल पवित्र है- यह वात प्रत्येक हिन्दू सदा से मानता आ रहा है। पीने से हीं नही वल्कि स्नान दर्शन ध्यान और नाम स्मरण करने मात्र से भी वह पाप नाशक है—यह वेदादि शास्त्रो का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

काशी में एक वार विशूचिका=हैजे का वडा प्रकोप हुआ वहा के एक पाश्चात्य डाक्टर को—हैजे से मरे शवो को गगा मे फेंका देखकर और सहस्रो पुरुषो को वही गंगा जल पीने पर भी स्वस्थ देख कर वढ़ा आश्चर्य हुआ। अन्त मे जव उसने उन शवो का परीक्षण किया तो मालूम हुआ कि हैजे के कीटाणुओ से परिपूर्ण लाश, गगा जल मे डालने पर उतरोत्तर विशुद्ध होती जा रही है। अर्थात्=गगाजल के संसर्ग से हैजे के कीटाणु वडी तेजी से विनष्ट हो रहे हैं उसी शव को जव अन्य जल मे डाला गया तो विशूचिका के कीटाणु वढने लगे और अन्त मे वह सव जल ही कीटमय हो गया।

गो दुग्ध भी हिन्दू-शास्त्रो मे पवित्र माना गया है, अनेक रोग केवल गोदुग्ध के सेवन मात्र से विनष्ट हो जाते है। गाय का दूध जहा संग्रहणी शोथ आदि अनेक असाध्य रोगो की अचूक औषधि है वहां न केवल कृशता की ही अपितु स्थूलता और मेदोवृद्धि की भी अव्यर्थ महौषधि है। पाश्चात्य विद्वानो ने अनेक परीक्षणो के वाद इस तत्त्व को खूव समझा है, इसलिये अव वे गोदुग्ध के स्थान मे अन्य किसी पशु के दुग्ध का सेवन नही करते। खास-कर भैस के दुग्ध को तो अपने किसी रोगी को पीने के लिए नही वतलाते।

पीपल वृक्ष भी हिन्दू ग्रन्थों में पवित्र माना है यही कारण है कि एक आस्तिक हिन्दू पीपल की रक्षा के लिये अपना शिर कटाने को सहर्ष उद्यत हो जाता है । अब पाश्चात्य वनस्पति-विज्ञान-वेत्ताओ ने बड़े अनुसधान के बाद यह तथ्य प्रकट किया है कि पीपल ही एक मात्र ऐसा वृक्ष है जो अहर्निश प्रभूत मात्रा मे जीवनोपयोगी आक्सीजन का विसर्जन करता है । सहस्रो द्रव्य राशि खर्च करने पर भी एक 'धर्मार्थ औषधालय' मानव समाज का जितना उपकार नही कर पाता उससे कही अधिक उपकार एक अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष अपने ससर्ग मात्रसे कर देता है।

औषधालय तो नियमानुसार दवाई खाने वाले रोगियो के ही उद्भूत रोगो को विनष्ट कर सकता है, परन्तु पीपल के पेड़ से सस्पृष्ट वायु का प्रवाह तो दूर २ तक ससर्ग मे आने वाले लोगो को चुपके २, बीमारी से आक्रान्त हो न होने देने की क्षमता प्रदान करता है, इसलिए दूसरे लोग जहा चोर को मारते है तो हम ऐसी वनस्पति के पूजन सेवन की शिक्षा देकर चोर का मा को ही मार डालते है।

इसी तरह तुलसी-दल, शङ्ख-ध्वनि, सूर्य-साष्टाङ्ग, (सनबाथ) आदि वैदिक-विज्ञान प्रसूत हिन्दू मान्यताए पाश्चात्य वैज्ञानिको ने अनुसन्धानानन्तर लाभप्रद समझकर परिगृहीत की है और करते जा रहे है।

प्रसङ्गोपात्त अब कुछ ऐसी मान्यताओ का भी यहां उल्लेख करना अनावश्यक न होगा कि जो वैदिक सस्कृति मे तो शुचिता और अशुचिता के कारण हेय किंवा उपादेय स्वीकार की गई है परन्तु पाश्चात्य जगत् अभी पूरी तरह उनका तत्त्व नही समझ सका है और अभी तक अन्धेरे मे ही चान्दमारी कर रहा है।

सर्व साधारण मृत जीवो की अस्थि अशुचि हैं, यदि उनसे हाथ भी छू जाए तो सचैल स्नान किया जाता है परन्तु शङ्ख—जो कि एक समुद्र कीट का अस्थिमय कलेवर है—देव मन्दिरो मे मुख से फू का जाता है, हाथीदात सीप और कौडी का अनेक वस्तुओ मे उपयोग होता है , मृगश्रृङ्ग, यज्ञो में यजमान द्वारा अपने शरीर की कण्डु (खुजली) खुजलाने के कार्य मे प्रयुक्त होने के अतिरिक्त श्वास कास आदि अनेक रोगो मे भस्म वनाकर खाने के काम मे भी आता है। यह सव वस्तुए अस्थि होते हुए भी शुचि हैं।

सर्व साधारण मृत जीवो का चमड़ा अशुचि है, किसी भी देव पितृ-कार्य मे वह स्पर्शानर्ह है परन्तु सिंह व्याघ्र और मृग का चर्म यज्ञ पूजन अभिषेक आदि धार्मिक कृत्यो मे उपादेय है। गैण्डे के चर्म का पात्र तो पितृ तर्पण मे प्रशस्ततम है। अत ये सब जात्या, चर्म विशेष होते हुए भी शुचि हैं।

सर्व साधारण जीवो के केश और नख देह से पृथक् होते ही अशुचि हैं—अस्पृश्य हैं, परन्तु चमरी के पुच्छ से निर्मित चवर, ऊन से वने हुए शाल, कम्बल और कालीन केश निर्मित होते हुए भी शुचि हैं। देव पूजा आदि धार्मिक अनुष्ठान मे ग्राह्य हैं।

गोमाता शुचि है, परन्तु उसका मुख अपवित्र है। यदि कासी का वर्तन गाय के मुख से छूजाय तो वह अशुचि हो जायगा उसे घोडी के मुख से स्पर्श करके इक्कीस दिन तक मिट्टी मे दवाने से शुचि माना जायगा। पीपल शुचि है परन्तु उसके पत्तो से वनी पत्तल पर परसा हुआ भोजन अशुचि है जो उसे खायेगा वह चान्द्रायण व्रत करने से शुचि हो सकेगा।

ताम्र-पात्र मे रखा हुआ जल गंगोदक के समान शुचि है,

परन्तु उस पात्र को मुख से उच्छिष्ट करके खाया पीया जाय तो वह अशुचि है, चान्द्रायण व्रत से ही भोक्ता शुचि हो सकेगा।

पत्थर चीनी मिट्टी और कांच के बने बर्तन देखने मे साफ सुथरे अवश्य होते हैं परन्तु एक बार उच्छिष्ट हो जाने पर प्रयोग मे आने योग्य नही रहते। मिट्टी के शिकोरे और कुल्हडो की भाति वह भी फेंकने योग्य ही हो जाते हैं। पाश्चात्य देशो मे पायोरिया आदि दन्त रोगो की अधिकता इन्ही अशुचि पात्रो के प्रयोग से बढ रही है। केवल चुल्लुभर जलमे भूठ मूठ उक्त बर्तनो को धोने का अभिनय करना, होटलो और चाय स्टालो पर तो एक ही बालटी मे सौ बार प्लेटो और प्यालो को स्नान कराने मात्र से साफ मान लेना जनता के स्वास्थ्य को विनाश करने का खुला प्रयास है, परन्तु-अधेर नगरी चौपट राजा ! कौन रोकथाम करे।

यह शुचिता और अशुचितावाद निरा ढकोसला ही हो सो बात नही, आज भले ही दकियानूस दयानन्दी इस वैदिक विज्ञान को पोपलीला कहकर उपहास करते हो परन्तु ज्यो २ वर्तमान भौतिक विज्ञान भी इस दिशा में अनुसन्धान करता है त्यो २ वह इसका सर्वात्मना समर्थन करता है।

सखरा निखरा, चौका चुल्हा और छूआछूत की सब समस्या उक्त वैदिक शुचि और अशुचिवाद पर निर्भर है। हम यथास्थान इन सब पर सप्रमाण प्रकाश डालेंगे। यहा तो केवल इतना समझ लेना आवश्यक है कि केवल बाह्य चाकचिक्य मात्र से ही किसी पदार्थ को साफ सुथरा समझकर ग्राह्य मान लेना खतरे से खाली नही किन्तु बाह्य स्वच्छता के साथ २ उसकी शास्त्रीय शुचिता और अशुचिता का भी विज्ञानपूर्ण विचार सामने रखते हुए ही उसकी हेयोपादेयता का निर्णय करना चाहिये।

भारतीय शुचिता का मूल है तत्तत् पदार्थों मे व्याप्त विद्युत् शक्ति, जो अदृष्ट होती हुई भी वातावरण के निर्माण में विशेष स्थान रखती है। जल से असपृष्ट भुना हुआ चना वहुत दिन तक तथैव वना रहता है, पेडा वर्फी और कलाकन्द आदि उससे कुछ कम समय तक निर्विकार रह सकते है, घृतपक्व मिठाई आदि उससे कम, स्नेह=अन्यान्न तेलो मे तला उससे कम, रोटी उससे कम और भात सवसे कम समय तक निर्विकार रह सकता है यह प्रत्यक्ष है। अर्थात् षड्-भाव विकार की अविच्छिन्न धारा उपर्युक्त पदार्थों पर समान प्रभाव नही डाल सकती किन्तु एक पदार्थ दूसरे का अपेक्षा शुचि या अशुचि माना जाता है। भात और भुने हुए चने के सखरे और निखरेपन की व्यवस्था का यही तार तम्य है। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थो की शुचिता और अशुचिता के रहस्य का भी अनुमान किया जा सकता है। पाठको को इस प्रघट्ट का खूब मनन करना चाहिये।

लोक परलोकवाद--

(आब्रह्मभुवनाल्लोका)

कूपमण्डूक की भांति यह मानकर वैठे रहना कि हमारी इस भूमि के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नही—भयङ्कर मूर्खता है। वेदादि शास्त्रो मे तो स्वर्ग नर्क आदि अनेक लोको का न केवल वर्णन मात्र ही मिलता है अपितु उनका सस्थान, पृथ्वी से दूरी, वहा के निवासी जीवो का शारीरिक सङ्घटन एवं विशिष्ट रहन सहन और शक्ति के अतिरिक्त मानव समाज से उनका सपर्क आदि आदि विचित्र रहस्यो का भी सर्वांगपूर्ण वर्णन आता ही है; परन्तु साम्प्रतिक वैज्ञानिको ने भी मङ्गल आदि ग्रहो और कई नक्षत्रो के

विषय मे बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की है, वहा के निवासी प्राणियो के विषय मे बहुत से तथ्य आए दिन समाचार पत्रो मे छपते रहते है। कहना न होगा कि हमारी पृथ्वी की भाति अन्यान्य अनेक लोक इस ब्रह्माण्ड मे विद्यमान हैं। तत्तत् लोको मे विलक्षण शरीरधारी निवास करते है। हमारी पृथ्वी पर हमारे पार्थिव शरीर है इसलिये हम पृथ्वी पर ही जीवित रहते है, अग्नि मे जल जाते हैं, जल मे डूब जाते है, अन्धड मे घबडा जाते है और निरवलम्ब आकाश में ठहर नही सकते। इसी प्रकार अन्य लोको मे रहने वाले प्राणियो का विलक्षण वर्णन और मनुष्यातिशायिनी शक्तियों का उल्लेख दीख पड़े तो वह बुद्धिमान् पुरुषों के लिये सन्देह का कारण नही हो सकता। आर्यसमाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द जी ने भी 'सत्यार्थ प्रकाश' अष्टम समुल्लास पृष्ठ २४२ मे सूर्य चन्द्र तारो मे विलक्षण शरीरधारी मनुष्यादि का आवास स्वीकार किया है। महर्षि कणाद तो सुस्पष्ट ही 'आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि' कहते हुए लोकान्तर मे जलीय, अग्निमय और वायुभूत शरीरधारी प्राणियो की सत्ता स्वीकार करते है।

देश वैचित्र्यवाद–

(सर्वतीर्थानि पुण्यानि)

काश्मीर के ही परिमित क्षेत्र मे केसर क्यो उत्पन्न होती है? हरियाणे—खासकर नागौर—के ही गाय बैल क्यो उत्तम होते है? सिंध-अरब के घोडे क्यो सर्वश्रेष्ठ समझे जाते है? मीठे जल से भरे नदी नद, समुद्र मे गिरते ही खारे क्यो हो जाते हैं? खारा समुद्र जल, सूर्य किरणों से आकृष्ट होने पर पुन मीठा बनकर क्यो बरसता है? जापान आदि पूर्व प्रदेशो के मनुष्य पीले रङ्ग के,

अफरीका के हवशी काले रग के, युरोप आदि पाश्चात्य देशो के श्वेत वर्ण के और अमेरिका के लाल वर्ण के क्यो होते हैं? भारतीय मनुष्य उक्त (पीला काला श्वेत और लाल) चारो रगो के समिश्रण से वने पक्के रंग के क्यो होते हैं? हिमालय मे वर्फ, मलयागिरि मे चन्दन, जांजीवार में लौंग इसीप्रकार तत्तत् स्थानो मे ही तत्तद् पदार्थ क्यों उत्पन्न होते हैं? इन सब प्रश्नो का एक ही उत्तर हो सकता है कि सब देशो की भूमि, वहां का जलवायु और वहां का वातावरण समान नही होता किन्तु एक दूसरे की अपेक्षा अनेक प्रकार के वैचित्र्य से परिपूर्ण होता है। वस्तुतः सत्व रज. तम इन तीन गुणो के वैषम्य का परिणाम ही ससार है। ज्यो ज्यो यह वैषम्य परिसमाप्त होते होते समता आ जायगी त्यो ही प्रलय हो जायगा, सो प्राकृतिक गुणो का वैषम्य सृष्टि है और साम्यावस्था प्रलय है।

वेद में देश वैचित्र्यवाद-

अथर्ववेद मे ऐसे अनेक प्रमाण विद्यमान हैं जो पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ स्थान के अमुक अमुक प्रदेशो को पवित्र और अमुक अमुक स्थानो को सुस्पष्ट अपवित्र कहते हैं, यथा—

(क) ये पृथिव्यां पुण्यलोकास्तानेव ते नावरुन्द्धे।

(ख) ये अन्तरिक्षे पुण्यलोकाः। ये दिवि पुण्यलोकाः।

(ग) ये पुण्यानां पुण्यलोका य एवापरिमिताः पुण्यलोकाः।

(अथर्व १५। १३। २—१०)

अर्थात्—(क) जो पृथ्वी मे पवित्र लोक=प्रदेश हैं (अतिथि सेवा से) वे प्राप्त होते हैं। (ख) अन्तरिक्ष मे जो पवित्र लोक हैं—

द्यू लोक मे जो पवित्र लोक हैं। (ग) जो पुण्य से पुण्यलोक है और अपरिमित पुण्यलोक है।

पृथ्वी के अमुक अमुक प्रदेश स्वभावत ही पवित्र माने जाते है जिन्हे तीर्थ कहते है, जैसे जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारकाधीश और बदरीनारायण आदि चारो धाम, अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका द्वारिका—यह सातो पुरी और कुरुक्षेत्र पुष्कर आदि अनेक स्थान।

कुछ प्रदेश स्वभावत कीकट=अमेध्य होते हैं जैसे कर्मनाशा नदी, भारत के अङ्ग बङ्ग कलिंग सौराष्ट्र और मगध नामक प्रान्त तथा अन्यान्य म्लेच्छ देश।

जैसे मानव शरीर मे भी नाभि से ऊपर का भाग उत्तरोत्तर मेध्य है और नाभि से अधोभाग उत्तरोत्तर अमेध्य है—यह मन्वादि धर्मशास्त्रो मे कहा गया है, ठीक इसीप्रकार अमुक अमुक भूभाग के मेध्य और अमेध्य होने की व्यवस्था है। महाभारत मे वर्णन आता है कि—

यथा देशाः शरीरस्य केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः।
तथा पृथिव्या देशाश्च केचित्पुण्यतमाः स्मृताः॥
प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥

(महाभारत शान्तिपर्व)

अर्थात्— जैसे मानव शरीर के अमुक अग पवित्र होते हैं इसी प्रकार पृथ्वी के भी अमुक अमुक प्रदेश पवित्र होते हैं। (उनके पवित्र होने मे तीन हेतु है). प्रथम—भूमि का अद्भुत प्रभाव,

दूसरा–वहा के जल का विशेष तेज , और तीसरा–मुनिजनो का वहां रहना, इन्ही तीन कारणो से तीर्थों की पुण्यता है।

सूर्यग्रहणमे कुरुक्षेत्र, चन्द्रग्रहण,मे काशी, कार्तिकी पौर्णिमा पर पुष्कर, कपाल मोचन और गढ़मुक्तेश्वर से लेकर गंगासागर पर्यन्त अनेक गगा घाट––क्यो सेवनीय है ? यह तो यथा स्थान निरूपण किया जायगा, परन्तु इस प्रघट्ट को पढकर तो पाठकों को केवल यह सस्कार दृढ कर लेना चाहिये कि पृथ्वी के सभी देश समान नही होते किन्तु अमुक २ प्रदेशो में कई प्रकार का वैचित्र्य भी होता है।

काल वैचित्र्यवाद–

(भूतानि काल. पचतीति सत्यम्)

देश वैचित्र्य की भाति काल मे भी विचित्रता पाई जाती है। जैसे प्रातःकाल नास्तिक से नास्तिक पुरुष का हृदय भी प्राय अपेक्षाकृत-सत्त्व गुण सम्पन्न रहता है। मध्याह्न मे रजोगुण= काम काज मे तत्परता और रात्रि मे तमोगुण=आलस्य निद्रा तन्द्रा का आधिक्य प्रत्यक्ष देखा जाता है, ठीक इसीप्रकार सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के तादृश होने का सुतरां अनुमान किया जा सकता है।

अमुक काल मे अमुक स्नान, दान, जप और अनुष्ठान करना चाहिये और अमुक मुहूर्त मे ही अमुक कार्य होना चाहिए यह सब शास्त्र व्यवस्थाए काल-वैचित्र्य पर ही अवलम्बित हैं जिसका परिज्ञान ग्रह नक्षत्र और तारा मण्डल की अनुकूल परिस्थिति के वैज्ञानिक आधार पर स्थिर किया गया है। अथर्ववेद के १९ वें काण्ड का ५३वां पूरा का पूरा सूक्त 'काल सूक्त' है जिसमे काल की

लोकोत्तर महिमा का वर्णन करते हुए यहा तक कहा गया है कि काल प्रजापति ब्रह्मा का पिता है, यथा—

कालो हि सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः ।

अर्थात्—निश्चित ही काल समस्त चराचर का नियन्ता है प्रजापति ब्रह्मा का भी पिता है ।

प्रत्यक्ष मे भी किसान अमुक काल मे ही अमुक अन्न बोना आवश्यक समझता है । यदि ऋतु का विचार न करके गेहू, धान, ईख और मकई आदि अन्न बो दिये जाएँ तो वे कभी फलाधायक नही होसकते । मृगशिर नक्षत्र जब पूर्व मे उदित होने लग जाए तो फिर किसान धान का बीज डालना व्यर्थ समझते हैं, इस विषय मे देहाती कृषिशास्त्र की कहावत बहुत प्रसिद्ध है—

हिरणी कढ्ढे कन्ना मूरख बोवे धन्ना ।

प्रात काल यदि किसी चुटीले स्थान पर आक का दूध लगा दिया जाए तो यह तुरन्त ही समस्त शरीर मे व्याप्त हो जाएगा—यह प्रत्यक्ष देखा जाता है परन्तु यदि मध्याह्नोत्तर इसका प्रयोग किया जाए तो विष नही चढता अपितु उस चुटीले स्थान की पीडा को लाभ पहुँचता है ।

अमा पौर्णिमा और अष्टमी को समुद्र मे ज्वार और भाटे का प्रभाव, शिशिर मे पतझड, वसन्त मे लहलही लतिकाओ मे नव किसलयो का प्रादुर्भाव, दिन में कमलिनी और रात मे कुमुदिनी का विकास, सूरजमुखी और रात की रानी का क्रमश दिन और रात मे महकना—ये सब प्राकृतिक चमत्कार 'काल वैचित्र्य' के ही कौतुकपूर्ण निदर्शन हैं । भारतीय ऋषियो ने कालवैचित्र्य के केवल स्थूल प्रभावो का ही नही, बल्कि अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा मन बुद्धि आत्मा पर पड़ने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रभावो का भी मनन किया था ।

आज के सभ्य कहे जाने वाले पाश्चात्य जटिलमैन और उन का अन्धानुकरण करने वाले अपटुडेट भारतीय, प्रात. मल मूत्र त्याग से पूर्व ही लार से सने मुख से विस्तर पर बैठे २ चाय उडाते हैं। यवन म्लेच्छ आदि भोजन के बाद दोपहर मे दातौन करते है तथा सभी पाश्चात्य सभ्यतानुयायी महा रात्रि में शयन से पूर्व स्नान करना आवश्यक समझते है। उनकी यह सव चेष्टाए कालवैचित्र्यजन्य लाभो के न जानने का ही परिणाम है, जिससे वे चित्रकुष्ट, पायोरिया और अनिद्र रोगो के प्राय. शिकार हो जाते है।

इसलिये भारतीयसस्कृति के पुजारियो का परम कर्तव्य है कि वे 'काल वैचित्र्यवाद' को ध्यान मे रखते हुए शास्त्र प्रतिपादित ठीक समय पर ही तत्तद् कर्मो का अनुष्ठान किया करे।

वस्तु वैचित्र्यवाद—

देशकाल की भाति तत्तद् वस्तुओ मे भी वहुत से वैचित्र्य पाए जाते हैं। वस्तु वैचित्र्य के स्थूल प्रभाव को प्राय सभी देशो मे यथा कथञ्चिद् स्वीकार किया गया है। भारतका आयुर्वेद शास्त्र, यूनानियो की हिकमत और श्वेत देशो की एलोपैथिक तथा होम्योपैथिक चिकित्सा पद्धतिये 'वस्तु वैचित्र्यवाद' पर ही अवलम्बित हैं, परन्तु जहा भारत को छोडकर अन्यान्य देशो के वैज्ञानिको ने केवल शरीर पर पडने वाले तत्तद् वस्तुओ के प्रभावो की सीमा तक ही 'वस्तु वैचित्र्यवाद' से लाभ उठाया है; मन वुद्धि और आत्मा पर किस वस्तु का क्या प्रभाव पडता है—यह वात वे अभी तक नही जान पाए हैं, वहा भारतीय ऋषियो ने न केवल 'वस्तु वैचित्र्यवाद' का मनन मात्र ही किया था अपितु अपने

जीवन में भी तत्तद् वस्तुओ का उपयोग करके अनेक प्रकार का लाभ उठाने का भी प्रयत्न किया था।

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासियो का पावो मे लकडी की खूटीदार खडाऊ पहिनना, धार्मिक अनुष्ठानों मे कुशासन का प्रयोग और अनामिका अगुली मे कुशा की पवित्री धारण करना, गले में तुलसी रुद्राक्ष आदि की मालाए पहिनना, एव मस्तक मे मृत्तिका चन्दन, कु कुम, हरिद्रा, किंवा भस्म धारण करना तथा सधवा का ललाट मे बीचो-बीच सिन्दूर, तथा अलङ्कार धारण करना केवल जगलीपन के चिह्न नही है, अपितु 'वस्तु वैचित्र्यवाद' की वैज्ञानिक भित्ति पर स्थिर, अनेक लाभो से परिपूर्ण तथ्य है जिनकी विशद व्याख्या यथा-स्थान की जायेगी। यहा तो केवल इतना मनन कर लेना परमावश्यक है कि तत्तद् वस्तुओ के दर्शन और सेवन से न केवल तत्तद् शारीरिक रोग मात्र की निवृत्ति और प्रवृत्ति नही होती अपितु मन बुद्धि और आत्मा के पतन और उत्थान मे भी इनका बहुत कुछ दखल हैं।

भाग, चरस, अफीम और मद्यपान से केवल नशा मात्र ही नही होता किन्तु शनै' २ बुद्धि का भी दीवाला निकल जाता है। शास्त्र मे स्पष्ट लिखा है कि—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते।

(शाङ्गंधर—४—२१)

अर्थात्—जितनी नशीली चीजे है वे सब बुद्धि का लोप करने वाली है।

तम्बाकू खाने पीने और सू घने से केवल शिर ही नही चकराता अपितु हृदय भी क्षीण होता है। आज के बढते हुए हृद्गति निरोध (हार्टफेल) रोग का मूल यही दुर्व्यसन है।

इसलिये आस्तिको को उचित है कि वे 'वस्तु वैचित्र्यवाद' पर अवलम्बित धर्मशास्त्रो के विधान का सर्वात्मना पालन करते हुए कल्याणभाजन बनें ।

जाति वैचित्र्यवाद—

(अति विचित्र भगवत गति, को जग जानन जोग)

इस प्रघट्ट मे 'जाति' शब्द की परिभाषा 'समानप्रसवात्मिका जाति' अभीष्ट नही अपितु किसी एक ही जाति विशेष मे दीख पड़ने वाली परम्परागत वे विशेषताए हैं जिनको आजकल 'नस्ल' के नाम से याद किया जाता है। पाश्चात्य जगत् आज पशु पक्षी और वृक्षो की नस्लो को सुरक्षित रखना और उनकी अभिवृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करना तो अपना कर्तव्य समझता है परन्तु मनुष्य की भी कोई खास नस्ल होती है और उसकी रक्षा करना भी आवश्यक है,—दुर्भाग्यवश्य यह तथ्य अभी तक इन लोगो की खोपडी मे नही बैठ पाया है।

यह सभी जानते हैं कि कहने मे 'आम' एक साधारण वृक्ष है, परन्तु उसमे कलमी, लगडा, सफेदा, बम्बई, मलगोवा, तोतापरी और सिन्दूरी आदि अनेक जातियें पाई जाती हैं, जिनका रग रूप और स्वाद एक दूसरे से सर्वथा विचित्र होता है, इसी प्रकार प्रयाग मे अमरूद की, नागपुर मे सतरे की, और बम्बई मे केले की जो नस्लें विद्यमान है वे अपने वैचित्र्य के कारण अन्यत्र उपलब्ध नही होती। पशुओ मे खास कर बैलो और घोड़ो की कई विशेष नस्लें पाई जाती है। अग्रेजो ने अपने शासनकाल मे हरियाणे के गोवश की नस्ल की सुरक्षा के लिए एक बड़ी गोशाला स्थापित की थी जो अभी भी सुरक्षित है। अग्रेजो की ओर से युद्धमे दिया जाने वाला सब से बड़ा पदक='विक्टोरिया क्रास'

विगत युद्ध मे भारत के एक बैलको भी प्राप्त हुआ था—यह सभी समाचारपत्र-पाठको को विदित होगा। यह बैल इसी नस्ल का कहा जाता है।

आज कुत्तो की नस्ल को सुरक्षित रखने के लिए अनेक प्रयत्न किये जाते है। 'बुलडाग' और 'पपीडाग' जनने वाली कुतियाको अन्य जाति के कुत्तो के ससर्ग से बचाने के लिये खास प्रबन्ध किये जाते है। रबड के जाघिये तक पहिनाये जाते है परन्तु यह कितने आश्चर्य और शोक का स्थान है कि आज मानव नस्ल की सुरक्षा की न केवल उपेक्षा की जा रही है अपितु जातिगत विशेषताओ की रक्षा के दुर्ग—जन्मना वर्ण व्यवस्था, गोत्र प्रवर विचार, जातियो उप जातियो मे विवाह सम्बन्ध तथा भोजन सम्बन्ध आदि २ वैज्ञानिक विधानो की धज्जिया उड़ाई जा रही है।

भारत ही एक मात्र ऐसा देश है और हिन्दू जाति ही एक मात्र ऐसी जाति है कि जिसने स्व-वर्ण मे ही 'यौन सम्बन्ध' को अभी तक यथातथा तत्परता पूर्वक सुरक्षित रक्खा है। सात सौ वर्षों के मुस्लिम शासन काल मे केवल 'यौन सम्बन्ध' को लेकर राजपूतो ने अनेको युद्ध लडे, अगणित बलिदान दिये, सहस्रो राजपूत रमणियें जौहर व्रत धारण कर सहर्ष चिता पर चढ गई, कालकूट को घूट गई परन्तु अकबर महान् की साम दाम भेद पूर्ण और औरङ्गजेब की दण्ड पूर्ण सारी नीति व्यर्थ सिद्ध हुई, इस के लिए यदि अपने ही घर के राजा मानसिह जैसे वीरो का भी सामाजिक बहिष्कार करना पडा तो वह भी हृदय पर पत्थर रख कर किया परन्तु आर्यललनाओ की विशुद्ध कोख को, गोमांसभक्षक अनार्यों के ससर्ग से दूषित नही होने दिया, फल स्वरूप हिन्दूपति राणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी महाराज, श्री

गुरु गोविन्दसिंह और वीर बन्दा वैरागी जैसो की नस्ल सुरक्षित रह सकी ।

आज भी पाकिस्तान के जन्मकालीन हत्याकाण्ड के समय अनेको देवियें अपने सतीत्व की रक्षा के लिये हसते २ चिताओ पर चढ गईं, पूरे गांव के गांव सती हो गए । इस कष्ट पूर्ण कथाओ ने जहां हमारे हृदयो को भस्म कर डाला वहां इन वलिदानो के प्रकाश मे एक आशा की किरण भी सुस्पष्ट झलक पडी । आस्तिक जगत् को पुनः यह निश्चित समझने का अवसर मिला कि हिन्दू जाति की 'नस्ल' अभी सुरक्षित है । सीता सावित्री और पद्मिनी का परम्परागत रक्त आज भी हिन्दू नारियो मे ठाठें मार रहा है, जव तक हमारी यह नस्ल सुरक्षित है, तव तक हिन्दू जाति का वाल भी वांका नही हो सकता—इस प्रकार के उदात्त विचार एक वार फिर हमारे हृदय में उद्वुद्ध हुए ।

यदि यह नस्ल समाप्त हो गई तो फिर यहां भी जर्मनी के प्रसिद्ध नाजी नेता फील्ड मार्शल कहे जाने वाले गोयरिंग की विधवा पत्नी की भांति वीरगतिप्राप्त पति की लाश पर फिल्मस्टार के रूप में थिरक कर, पति के जानो दुश्मन अग्रेज, अमेरिकन और रसियन सैनिको से "वंस मोर हियर २" की दाद चाहने वाली नटियें देखने मे आयेंगी । मानवता का दीवाला ही निकल जायगा । आज भी हम सभ्य कहे जाने वाली समस्त अहिन्दू जातियो को खुला चैलेञ्ज कर सकते हैं—वे अपनी जाति मे उत्पन्न हुए किसी व्यक्ति का नाम वताए जो राम सा आदर्श शासक, भरत लक्ष्मण सा आदर्श भ्राता, सीता उर्मिला सी धर्मपत्नी, शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र और कर्ण सा दानी, भीम

अर्जुन सा आदर्शवीर और वृहस्पति शुक्र विदुर कामन्दक एव चाणक्य सा राजनीतिज्ञ हुआ हो।

ईसा जगत् केवल ईसा पर अभिमान कर सकता है परन्तु यह भी पूरे तीस वर्ष तक भारतीय वैष्णवो के सम्पर्क मे रहकर और उनकी शिष्यता स्वीकार करके ही 'क्राइस्ट' बगला टोन में 'कृस्टा' और वस्तुत कृष्ण बन पाया था यह रहस्य पाली भाषा मे उपलब्ध एक प्राचीन जीवन चरित्र से सिद्ध हो चुका है। कल तक प्रत्येक पादरी ईसा का तीस वर्ष तक अज्ञातवास तो मानते थे परन्तु वे तीस वर्ष कहा बीते थे यह रहस्य किसी को विदित नही था। अत ईसा भी कलमी आम की भाति भारतो का विशुद्ध नस्ल को मानसिक पेवद का हो परिणाम है।

मुस्लिम ससार भी हजरत मोहम्मद पर तभी तक अभिमान कर सकता है जब तक कि उसे यह विदित न हो कि वह भारत के शैव मतानुयायी सन्यासियो की शिक्षा दीक्षा मे रहकर ही 'उम्मी'=ओमी अर्थात् ओकारोपासक बन पाया था। मक्के मे प्रतिष्ठापित 'सगे असबद' नाम का काला शिवलिग और पञ्च-कोण तारे वाला अर्धचन्द्र=त्रिपुण्ड अभी तक मुस्लिम जगत् का आदरणीय चिह्न बना हुआ है।

कहना न होगा कि भारतीय ऋषियो ने जाति गत विशेष गुणो के सरक्षण और उनके सवर्द्धन के निमित वैदिक विज्ञान के आधार पर जो व्यवस्थाए सुस्थिर की थी यह उनका ही प्रत्यक्ष फल था कि अर्बो वर्ष पुरानो हिन्दू जाति अभी तक ससार में अपनी सत्ता को रख सकी है। अन्यथा इससे पीछे उत्पन्न हुई सिथियन, हून, बैवोलियन, शक, और ग्रीक आदि अनेक जातिया केवल इतिहास के पृष्ठो मे ही ढूंढो जा सकती है। अब ससार मे उनका अस्तित्व भी शेष नही रह सका है।

दो विभिन्न असमान जातियो के सांकर्य का परिणाम विनाश ही होता है। घोड़े और गधे के साकर्य से उत्पन्न खच्चर आगे वश नही बढ़ा सकता। कलमी आम के गुठ्ठल से कभी आगे आम पैदा नही हो सकता। यथास्थान इन सब बातो पर विशेष प्रकाश डाला जायगा। यहा तो केवल यह तथ्य मस्तिष्क मे बैठा लेना चाहिये कि 'जातिगत वैचित्र्य' का भी संसार को समृद्धि मे विशिष्ट स्थान है। जो जाति इस तथ्य को हठात् मिटाना चाहेगी उसका अस्तित्व भी सहस्राब्दियो से अधिक ससार मे सुस्थिर नही रह सकेगा।

इस प्रकार हम इस अध्याय मे समस्त 'क्यो ?' समूह का शास्त्रीय एव वैज्ञानिक उत्तर दे सकने मे काम आने वाले मूल भूत सिद्धान्तो का दिग्दर्शन कराते हुए पाठको से साग्रह अनुरोध करेंगे कि वे इस अध्याय का एक २ अक्षर भली प्रकार मनन करके सभी वादो को हृदयङ्गम करले क्योकि 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' के अनुसार न शास्त्र निर्दिष्ट विधि निषेधो की कोई इयत्ता है और नाही तद् विषयक जिज्ञासाओ की ही कोई गणना है। इस लिये एक २ करके यदि जीवन भर मे भी हम इन समस्त जिज्ञासाओ का समाधान करने चलें तो पार पाना कठिन है। जो पाठक हमारे इस अध्याय पर विशेष ध्यान देंगे वे न केवल इस ग्रन्थ मे लिखी मात्र 'क्यो ?' को जानने मे कृतकार्य हो सकेंगे, अपितु अनुक्त क्योओ का भी उपर्युक्त वादों के अनुसार समाधान करने मे समर्थ हो सकेगे।

शास्त्र सागर है अमित अपार, विविधशंका-तरग आगार।
मिले सिद्धात पोत से पार, यही अध्याय प्रथम का सार॥

प्रथम अध्याय समाप्त

अहोरात्र-चर्याऽध्यायः

(दूसरा अध्याय)

—※—

वर्णानां सान्तरालानां, या हि दैनन्दिनी क्रिया।
शास्त्रोक्ता हेतुवहुला, सुतरां सात्र कथ्यते ॥

प्रस्तुत अध्याय मे हम प्रात जागरण से लेकर शयन पर्यन्त तक की शास्त्र निर्दिष्ट समस्त क्रियाओ की वैज्ञानिकता पर विचार करेगे और बतलायेगे कि भारतीय ऋषियो ने जीवन के प्रत्येक क्षण को अमूल्य समझते हुए मानव जगत् के सन्मुख जो दैनिक कार्यक्रम रक्खा है उसके पालन से पुरुष न केवल शतायु होकर सुखपूर्वक जीवन यात्रा निर्वाह कर सकता है, वल्कि इससे भी अधिक 'सहस्रायु. सुकृतश्चरेयम्' का पात्र भी बन सकता है।

नियमित दिनचर्या क्यों ?

हमारी दिनचर्या नियमित है। प्रात जागरण से लेकर शयन तक की समस्त क्रियाओ के लिए शास्त्रकारो ने अपने दीर्घकालीन अनुभव से ऐसे नियमो का निर्माण किया है जिनका अनुसरण करके मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकता है।

अन्यान्य मत मतान्तरो का केवल विचारो से ही सम्वन्ध है, आचार से नही। इसीलिये वे अपने सदस्यों के स्वेच्छाचार पर

कोई नियन्त्रण नहीं रखते परन्तु विचार का थोड़ा-सा भी स्वातन्त्र्य उनके यहाँ अक्षम्य अपराध समझा जाता है। जैसे एक मुसलमान—स्त्री हत्या, बाल हत्या, सामूहिक हत्या, सुरापान, खुदा के नूर का सफाया आदि कुकृत्य करता हुआ भी—पक्का मोमिन कहला सकता है, बशर्ते कि वह पैगम्बर और कुरान पर यकीन रखता हो। उदाहरण के लिए नादिर, चंगेज, मुहम्मद बिन कासिम, औरङ्गजेब और अकबर आदि का नाम लिया जा सकता है। इतिहास साक्षी है कि इनमें से अकबर को छोड़कर बाकी पूर्वोक्त सभी लोग कितने अत्याचारी शासक हुए हैं। अकबर का दाढ़ी मुंडा चित्र इस्लाम के अपमान का जीता जागता प्रमाण है। यवन शासन में 'सुराही' और 'पैमाना' तो हुक्के की तरह बादशाहत का एक अनिवार्य अंग समझा जाता था, तभी तो मुगलिया खानदान के अधिकांश बादशाहों के तत्कालीन चित्रों में ये तीन वस्तुएँ प्रायः साथ २ अंकित रहती हैं। यह सब कुछ होते हुए भी मुस्लिम सम्प्रदाय में उक्त सभी लोग इस्लाम की नाक समझे जाते हैं, परन्तु परम विद्वान्, उपनिषदों को अर्बी फारसी में अनूदित कराने वाला दाराशिकोह, सदाचारी मुराद और वेदान्तनिष्ठ मस्त अब्रेज आदि सज्जन स्वतन्त्र विचारों के कारण कत्ल करा दिये गये और इस्लामी इतिहासकारों की दृष्टि में वे आज तक 'काफिर' समझे जाते हैं।

यही बात न्यूनाधिक अन्यान्य सभी पन्थों में पाई जाती है, परन्तु सनातन धर्म में इसके सर्वथा विपरीत, विचारों पर इस प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं है। एकेश्वरवादी समाधिनिष्ठ योगी से लेकर—'भूतानि यान्ति भूतेज्या'—के अनुसार भूतपूजा में विश्वास रखने वाला व्यक्ति तक—सभी अपने अपने स्वतन्त्र

विचार रखते हुए भी निर्विशेष सनातन धर्मी माने जाते हैं। परन्तु हम 'आचार स्वतन्त्र्य' अर्थात्—स्वेच्छाचार के लिए अपने सदस्य को कभी आज्ञा नही देते क्योकि हमारा धर्म केवल विचारो से ही सम्बद्ध नही है किन्तु हमारा छोटा-बड़ा सभी प्रकार का आचार सर्वथा और सर्वदा धर्म से सुसबद्ध है। सीधे शब्दो मे बल्कि यू कह सकते हैं कि **'आचारः प्रथमो धर्मः'** अर्थात्—आचार ही मुख्य धर्म है। सो सनातन धर्म ऐसा कोई पदार्थ नही है जो कि केवल मृत्यु के बाद ही उपयोग मे आता हो परन्तु सनातन धर्म तो वह तत्त्व है जिसका कि हमारे खान-पान रहन-सहन जीवन और मरण—गर्ज है कि प्रत्येक आच-रण से साक्षात् सम्बन्ध है।

कुछ लोग हम पर आक्षेप करते हुए कहा करते हैं कि—'इन लोगो ने धर्म को ऐसा कच्चे सूत का धागा बना रक्खा है कि जिसके जरा-जरा सी बात पर टूट जाने का खतरा रहता है।' इन आक्षेपकर्ताओ की दृष्टि मे मानो धर्म ऐसी फौलादी चट्टान है कि उस पर चाहे कुछ भी अनाप-शनाप दुराचार अनाचार अत्या-चार और व्यभिचार किया जाय परन्तु वह तथैव दृढ बनी रहती है। शायद यह आक्षेप करते हुए वे भूल जाते है कि जङ्क्शन स्टेशन पर रेलवे लाइन जब एक दूसरे से पृथक् होती हैं तो काटा बदलने के स्थान पर पहिले पहल केवल सुई की नोक के बराबर ही अन्तर पडता है परन्तु अन्त मे एक दूसरी से इतनी पृथक् हो जाती है, कि एक कलकत्ता पहुँचती है तो दूसरी पेशा-वर। गाजियाबाद रेलवे स्टेशन पर एक ही लाइन पर पूर्वाभि-मुख खडी फ्रांटियर मेल और कलकत्ता मेल को देखकर यह दृष्टान्त खूब समझा जा सकता है। सो सनातन धर्म जहा तक आचार से सम्बन्ध है वह नि सन्देह कच्चे सूत के धागे से भी

अत्यधिक नाजुक और शिरीष के पुष्प की पंखड़ियों के समान अतीव कोमलतम है। इसलिये अनाचार की वायु मात्र के स्पर्श से भी उसको ठेस पहुंचती है। उसके सर्वथा विखर जाने का पूरा-पूरा खतरा है। वाली ने भगवान् राम को 'मारेउ मोहिं व्याध की नाईं' कहते हुए केवल मुख से ही 'व्याध' कहा था, परिणामस्वरूप पुनर्जन्म मे स्वयं 'जरा' नामक व्याध ही वनना पड़ा था। इसलिये यह निश्चित हुआ कि सनातन धर्म की प्रत्येक क्रिया का धर्म से सम्बन्ध है, अर्थात्—हमारे यहां खाना-पीना सोना जागना, रोना धोना जीना और मरना आदि सभी वातो की इतिकर्तव्यता की विधि विद्यमान है। यदि अमुक काम उसे विधि के अनुसार किया जाय तो वह 'धर्म' कहा जाता है और विधिविहीन मनमाने ढंग से किया जाय, तो उसे ही पाप कहा जाता है।

यथा विधि करने से क्या लाभ?

यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि अमुक पुरुष विष खाने से मर गया और कदाचित् उपचार करने पर, न भी मरा तव भी शास्त्र-दृष्टि से वह पापी है और अदालत मे भी आत्महत्या करने के उद्योग के अपराध मे उसे उचित दण्ड दिया जाता है। कदाचित् उस विषकाण्ड मे यह सिद्ध हो जाय कि विष अमुक ने खिलाया था और अमुक से खरीदा गया था तव वे सव व्यक्ति भी 'आत्म-हत्या' मे सहायक होने के कारण दण्ड भागी होगे। इस प्रकार लोक और शास्त्र दोनो मे ही विष का खाना और खिलाना अक्षम्य अपराध माना जाता है, परन्तु सभी चिकित्सक नित्य प्रति अपने रोगियो को नानाविध विष खिलाते हैं और रोगी वरावर खाते है तथापि वे गिरफ्तार नही किये जाते, किन्तु इसके विपरीत वैद्यो को वेतन शुल्क और अनेकविध पुरस्कार

मिलते हैं, और रोगी भी स्वास्थ्य प्राप्त करके दीर्घजीवी बनते हैं। कहना न होगा कि इस उदाहरण मे प्रथम विष-काण्ड से सम्बद्ध सब व्यक्ति अपराधी क्यो समझे गये ? और द्वितीय विष-काण्ड के सब व्यक्ति पुरस्कारार्ह क्यो माने गए ? इन दोनो प्रश्नो का सही उत्तर यही हो सकता है कि प्रथम काण्ड मे एक व्यक्ति मरने के लिये मनमाने ढग से विष भक्षण करता था और अन्य सब सबद्ध व्यक्ति उसकी मृत्यु मे सहायक बने थे अत वे अपराधी थे, दण्ड के योग्य थे। परन्तु द्वितीय काण्ड मे रोगी मनुष्य, जीवन-वृद्धि के लिए—विषशोधन की शिक्षा मे निष्णात वैद्य की व्यवस्था के अनुसार यथाविधि विष खाता है, अत वह विष मृत्यु का कारण न बनकर **'विषस्य विषमौषधम्'** के अनुसार शरीरस्थ अनेक विषो को दूर करने के लिये 'अमृत' का कार्य करता है अत उसे पुरस्कारार्ह समझना स्वाभाविक है।

ठीक, इसीप्रकार ससार के सब विषयोपभोग हालाहल विष तुल्य हैं। जो व्यक्ति मनमाने ढग से इनका सेवन करता है वह अनेक बार मरता है, परन्तु यदि उन्ही विषय रूप विष-समूह को शास्त्र निष्णात गुरु रूप वैद्य की धर्म व्यवस्था के अनुसार यथा-विधि सेवन किया जायगा तो (पुनर्जन्म का सिलसिला ही समाप्त हो जाने के कारण बार-बार) मरना न पडेगा। इसलिये मनुष्य को अपने समस्त कार्य शास्त्रविधि के अनुसार करने चाहिये।

क्या विधि-विधान व्यर्थ ढकोंसला है ?

रोटी के खाने से पेट भरता है यही रोटी खाने का उद्देश्य है, फिर उसमे—'यू खाओ, यूँ न खाओ' का अडङ्गा लगाना व्यर्थ है। क्या तथाकथित विधि के अनुसार खाने से डबल पेट

भर जाता है ? इसीप्रकार अन्यान्य वातो मे भी विधि-विधान का पचड़ा लगाना क्या कोरी पोपलीला नही है ?

ऐसी आशङ्का करने वाले व्यक्ति शायद यह भूल जाते हैं कि मनुष्यो और पशु-पक्षियो मे आार निद्रा भय मैथुन खाना पीना सोना सन्तान उत्पन्न करना—आदि चेष्टाएँ तो समान ही हैं; दोनो ही पेट भरते हैं, दोनो ही सोते हैं और दोनो ही सन्तान उत्पन्न करते है, परन्तु इस प्रत्यक्ष का अपलाप नही किया जा सकता कि पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च, मनुप्य की अपेक्षा जल्दी मर जाते है। वैल और भैंसा, मनुष्य की अपेक्षा कई गुना अधिक खाता है, उसका शरीर भी मनुष्य की अपेक्षा वहुत ही सुसगठित एवं दृढ होता है। तदनुसार वल भी अपेक्षाकृत वहुत अधिक होता है। परन्तु यह सव कुछ होते हुए भी वह आयुप्य मे मनुप्यो से वहुत कम जीता है। प्रकृति का यह नियम है कि जो पिण्ड जितने काल मे सर्वांगपूर्ण उन्नत होगा वह उससे चार पाँच गुणा अधिक काल तक जी सकेगा।

जैसे मनुष्य शरीर वीस वर्ष की आयु मे सर्वांगपूर्ण उन्नत हो जाता है, अर्थात् आयुर्वेद के—'वाल्यं वृद्धिर्द्युति प्रज्ञा त्वग् दृष्टिः शुक्रविक्रमौ' के अनुसार क्रमग. प्रथम दश वर्ष तक वालकपन रहता है इससे आगे नही रहता। अगले दग वर्पो तक वृद्धि =अगो का वढना चालू रहता है इससे आगे नही। इसी प्रकार अगली दगाब्दियो मे कान्ति वुद्धि त्वचा दृष्टि वीर्य और पराक्रम समझ लेने चाहिये। यही मानव शरीर के विकास का कच्चा चिट्ठा है। सो, वीस वर्ष मे युवा होने वाला मनुष्य साधारणतया सौ वर्ष तक जी सकता है। इसीप्रकार कुत्ता दूसरे वर्ष मे युवा हो जाता है और अन्यून आठ वर्ष जीता है। वैल और घोडा प्राय तीन वर्ष के वाद पूर्णाङ्ग हो जाता है तदनुसार उसकी पूर्णायु

भी बारह चौदह वर्ष होती है। ऊँट ६ वर्ष का युवा होता है तो वह पच्चीस तीस वर्ष जी सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हाथी घोडा ऊट सभी तिर्यञ्च जीव, मनुष्य की अपेक्षा अन्य सब बातो मे उन्नत होते हुए भी आयु के उपभोग मे उससे पिछड़ जाते हैं। इसका क्या कारण है ?

यदि विचारपूर्वक इस समस्या का मनन किया जाय तो एक मात्र यही समाधान समझ मे आ सकता है कि उक्त जीव खाते-पीते सोते और सन्तान अवश्य उत्पन्न करते है परन्तु वे पशु होने के कारण उक्त सब कृत्यो की विधि नही जानते। मनमाने ढंग से स्वेच्छावश जब जो चाहा खाया, जब जहा चाहा मल-मूत्र का त्याग किया। जब जैसे चाहा सोते रहे और जब जहाँ चाहा सन्तान उत्पन्न करने को प्रवृत्त हो गए। हम नित्य प्रत्यक्ष देखते है कि बैल भैंसा जब जिस तालाब मे जल पीता है तब उसी तालाब मे साथ ही साथ मूत्र का त्याग करता है, उसे यह ज्ञान नही कि इस तरह यह मूत्र लौटकर मेरे ही पेट मे आ जायगा। वे कितनी बार खाते है और कितनी बार गोबर करते है इसका कुछ नियम नही। दिन भर ही दोनो कृत्य चलते रहते है। सन्तान उत्पन्न करते समय मा बहन जो भी सामने आ गई तत्काल वही व्यवाय मे प्रवृत्त हो गए। बस, यह कामाचार और कामभक्षता की प्रवृत्ति ही तिर्यञ्चो की सद्यः मृत्यु का कारण है।

लोक मे यह प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि यदि दश साल की गारन्टी वाली घडी खरीदकर कोई अनजान व्यक्ति उसमे उल्टी चाबी भरने लगे तो वह तत्काल ही बेकार हो जाएगी ! 'गारटी' का अर्थ तो यही हो सकता है कि यदि उस वस्तु को विधिवत् बर्ता जाय तो वह नियत काल तक काम दे सकती है। अपने हाथो हथोडो से तोड़ते समय गारन्टी-पत्र उसकी रक्षा नही कर

सकता। ठीक इसी प्रकार मानव-पिण्ड की जीवन गारन्टी—'शतं जीवेम" के अनुसार साधारणतया अन्यून सौ वर्ष है, परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि मनुष्य को जीवनचर्य्या शास्त्रविधि पर अधिष्ठित हो। इसलिये शास्त्रविधि को ढकोसला और पोप-लीला बताकर कामाचार कामभक्ष प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना मानो, मानव समाज को 'साक्षात्पशु. पुच्छविषाणहीन.' बनने के लिये प्रोत्साहित करना है।

प्रातः जागरण

हमारी दैनिक चर्या का आरम्भ प्रातः ब्रह्म मुहूर्त मे जागरण से होता है। शास्त्रो की आज्ञा है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत।

अर्थात्—प्रात काल ब्रह्ममुहूर्त मे उठना चाहिये। ब्रह्म मुहूर्त को व्याख्या करते हुए बतलाया गया है—

रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयकः।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः स प्रबोधने॥

अर्थात्—रात्रि के अन्तिम प्रहर का जो तीसरा भाग है उसको ब्रह्म मुहूर्त कहते है। निद्रा त्याग के लिए यही समय शास्त्र विहित है।

प्रात जागरण का यह नियम हमारी दैनिक चर्या का अत्यंत महत्वपूर्ण नियम है। समस्त दैनिक क्रियाओं की सफलता या असफलता बहुत कुछ इसी पर निर्भर है, क्योकि प्रत्येक प्रभात हमारे नये जीवन का प्रारम्भ काल है। उसमे नवजीवन के निर्माण का स्फूर्तिप्रद सन्देश निहित है। यदि हम उस समय प्रमाद और आलस्य मे सोते रहकर उस सन्देश को न सुन पाये तो हम

जीवन मे पिछडे ही समझो। जो जीवन के आरम्भ मे ही अपने साथियो से पीछे रह गया हो भविष्य मे उस के आगे बढने की क्या आशा ? वस्तुत देखा जाय तो ज्ञात होगा कि हमारा प्रत्येक दैनिक जीवन हमारे पचास सौ वर्ष के बृहत्तर जीवन का ही नही, किन्तु अर्बों खर्बों वर्षों के सृष्टि जीवन का सक्षिप्त सस्करण है। विशाल सृष्टि और प्रलय की एक हल्की सी झाकी हम अपने दैनिक जीवन मे प्रतिदिन अच्छी तरह देख सकते है। जिस प्रकार प्रलय काल मे समस्त सृष्टि, कर्म-विरत एव चेतना-शून्य होकर निश्चेष्ट भाव से, तमोमयी कालरात्रि की गोद मे समा जाती है और समय आने पर प्रकृति की प्रेरणा से उद्बुद्ध होने लगती है, उसी भाति दैनिक जीवन मे भी दिन भर के परिश्रम से थके मादे प्राणी चेतना शून्य हो कर रात्रि की गोद मे विश्राम लेते है और प्रात. होने पर प्रकृति की प्रेरणा से पुन प्रबुद्ध हो जाते है। यह कितनी बडी विडम्बना है, कि इस प्रेरणा को, उच्छृङ्खल मानव सुन कर भी नही सुन पाता, जब कि प्रकृति के नियन्त्रण मे रहने वाले चराचर के समस्त जीव उसके समान्य से इगित पर अपने आप जाग जाते है।

कभी सूक्ष्म दृष्टि से इस समय का अध्ययन कीजिए फिर आप देखेगे, कि उस समय का प्राकृतिक वातावरण कितना मधुर और निराला होता है। प्रात काल होते ही कमल खिल उठते हैं भ्रमरावली गुञ्जार करने लग जाती है, पक्षी अपने कलरव से उपवनों और उद्यानो को मुखरित कर देते हैं, शीतल मन्द समीर अपने आवरण मे मकरन्द की मादक गन्ध लिये डोलने लग जाता है, सचमुच ही समस्त सृष्टि एक नवीन जीवन की अनुभूति से खिल उठती है। और तो और, विट्भक्षी कुक्कुट सा अधम जीव भी प्रात होने के साथ ही तार-स्वर मे बाग देकर अपने जग जाने का प्रमाण देना प्रारम्भ कर देता है। और तब,—मानव-

अपने को सर्वश्रेष्ठ समझनेवाला आज का मानव !—प्रकृति को धता वता, प्रात जागरण के वैदिक उपदेश को चन्द व्यक्तियो के लिये ही आचरणीय उपदेश समझ, सूर्य चढे तक विस्तर पर करवटे लेता नही अघाता। उसका प्रात काल तो तव होता है जव ८ वजे रेडियो के मधुर स्वरो से—

जागा सव ससार उठो अव भोर भई !

की सुरीली आवाज, उसको प्रात काल हो जाने की सूचना देने लगती है।

प्रातः जागरण क्यों ?

यद्यपि उपरोक्त प्रश्न का वास्तविक उत्तर तो इसका आचरण करने पर ही मिल सकता है, क्योकि किसी भी शंका का समाधान उसके उत्तर मे प्रतिपादित तथ्यों की अनुभूति से ही सम्भव है, तथापि इतना जान लेना चाहिये कि यह समय शारीरिक-स्वास्थ्य, वुद्धि, आत्मा, मन आदि सभी की दृष्टि से निद्रा छोड़-कर जग जाने के लिए परम उपयुक्त है। इस समय प्रकृति मुक्तहस्त से स्वास्थ्य, वुद्धि, मेधा प्रसन्नता और सौन्दर्य की अपार राशि लुटाती है, इस समय वहने वाली वायु के एक एक कण मे सजीवनी शक्ति का अपूर्व समिश्रण रहता है। यह वायु रात्रि मे चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी पर वरसाये हुये अमृत विन्दुओ को अपने साथ लेकर वहती है। इसीलिये शास्त्रो मे इसे वीरवायु के नाम से स्मरण किया है। जो व्यक्ति इस समय निद्रा त्याग कर तथा चैतन्य होकर इस वायु का सेवन करते हैं उनका स्वास्थ्य सौंदर्य और आयुष्य वृद्धि को प्राप्त होता है। मन प्रफुल्लित हो जाता है एव आत्मा मे नई चेतनता का अनुभव होता है। आयुर्वेद कहता है—

वर्णं कीर्ति मतिं लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विदन्ति ।
ब्राह्मे मुहूर्ते संजाग्रच्छ्रियं वा पंकजं यथा ॥ (भै० सार-६३)

अर्थात्—ब्रह्म मुहूर्त में उठने से पुरुष को सौन्दर्य, लक्ष्मी, बुद्धि, स्वास्थ्य, आयु आदि की प्राप्ति होती है। उसका शरीर कमल के सदृश सुन्दर हो जाता है।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण रात्री के पश्चात् प्रात जब भगवान् सूर्य उदय होने वाले होते हैं तो उनका चैतन्यमय तेज आकाश मार्ग द्वारा विस्तृत होने लगता है। यदि मनुष्य सजग होकर स्नानादि से निवृत्त हो, उपस्थान एव जप द्वारा उन प्राणाधिदेव भगवान् सूर्य की किरणो से अपने प्राणो मे अतुल तेज का आह्वान करे, तो वह पुरुष दीर्घजीवी हो जाता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड मे व्याप्त वायु का विभाग साधारणतया निम्नक्रम से किया जाता है।

आक्सीजन	(प्राणप्रदवायु)	२१ प्रतिशत
कारवन डाईओक्साइड	(दूषित वायु)	६ प्रतिशत
नाईट्रोजन	(नद्रजन)	७३ प्रतिशत
		१००

विज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण दिन वायु का यही प्रवहण क्रम रहता है किन्तु प्रात और साय जब सन्धि काल होता है इस क्रम मे कुछ परिवर्तन हो जाता है। सायकाल जगत्प्राणप्रेरक भगवान् सूर्य के अस्त हो जाने से आक्सीजन (प्राणप्रद वायु) अपने स्वाभाविक स्तर से मन्द पड़ जाती है और मनुष्यो की प्राणशक्ति भी क्षीण हो जाती है उन्हे विश्राम की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। इसी प्रकार प्रात काल के सूर्योदय के साथ ही उस वायु के स्तर मे वृद्धि होना स्वाभाविक है। इसलिये यदि इस समय निद्रामुक्त हो कर मनुष्य उस वायु का सेवन करे

तो उस का स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो जाएगा—यह बतलाने की विशेष आवश्यकता ही नही है। वास्तव में दीर्घजीवन का एक ही मूल मन्त्र है—जल्दी सोओ जल्दी उठो। Early to go bed early to rise, make a man healthy wealthy and wise अर्थात्—जल्दी सोना और जल्दी उठना मनुष्य को स्वस्थ, धनवान् और बुद्धिमान् बना देता है" की अंग्रेजी कहावत सर्वांश मे सत्य ही है।

प्रातः जागरण और महानता का पारस्परिक योग है। सभी महान् व्यक्ति प्रात. ब्रह्म मुहूर्त मे ही उठते हैं, और इस समय नियम-पूर्वक प्रतिदिन उठने वाले प्रत्येक व्यक्ति का जीवन, शारीरिक और बौद्धिक उन्नति से विलक्षण हो जाता है इस मे किंचित् भी सन्देह नही। विश्ववद्य महात्मा गाधी प्रतिदिन इसी ब्रह्म मुहूर्त मे उठ कर अपनी दैनिक चर्या मे लग जाया करते थे। आगत पत्रो के उत्तर, समाचार पत्रो के लिए लेख तथा सन्देशादि वे इसी समय तैय्यार करते थे। लिखने पढने के लिये तो वास्तव मे इससे उपयुक्त समय हो ही नही सकता। एकात और सर्वथा शान्त वायुमण्डल मे जब कि मस्तिस्क बिलकुल उर्वर होता है, ज्ञानतन्तु रात्री विश्राम के बाद नव-शक्ति-युत होते हैं—मनुष्य को बौद्धिक कार्य करने मे विशेप श्रम नहीं करना पड़ता।

इसलिये हमे प्रकृति के इस अमूल्य वरदान से लाभ उठाना चाहिये और ऐसा अभ्यास डाल लेना चाहिये कि बिना किसी की सहायता के प्रतिदिन उठ जावे। इस के लिये एक छोटा सा उपाय कार्य मे लाया जा सकता है। रात्री में सोते समय यदि व्यक्ति अपनी आत्मा से प्रात अमुक समय पर उठाने का संकल्प व्यक्त करदे तो निश्चय ही उसी समय पर नीद खुल जायगी

और यदि उस समय हमने आलस्य का आश्रय नही लिया तो फिर कुछ दिनो मे बिना किसी की सहायता के स्वय उठने लगेगे।

प्रातः स्मरण—

(ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थं चानुचिन्तयेत्—मनु)

धर्मशास्त्रों ने निद्रा त्याग के उपरान्त मनुष्य-मात्र का प्रथम कर्तव्य उस कोटि २ ब्रह्माण्ड-नायक, सच्चिदानन्द-स्वरूप प्यारे प्रभु का स्मरण करना बतलाया है—जिस की असीम कृपा से अत्यत दुर्लभ मानव देह प्राप्त हुई है, जो समस्त सृष्टि के कण-कण मे ओतप्रोत है, सत्य है, शिव है, सुन्दर है। जिसकी कृपा-कोर से मनुष्य सब प्रकार के भयो से मुक्त होकर—'अह ब्रह्मास्मि' के उच्च लक्ष्य पर पहुँच कर तन्मय हो जाता है। दैनिक जीवन के प्रारम्भ मे उस के स्मरण से हमारे हृदय मे आत्मविश्वास और दृढता की भावना ही उत्पन्न नही होगी अपितु सम्पूर्ण दिन मंगलमय वातावरण मे व्यतीत होगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने २ विश्वास और भावना के अनुसार भगवत्स्मरण करने की पूरी स्वतन्त्रता है। जो व्यक्ति विशेष कुछ नही जानते वे यदि श्रद्धापूर्वक राम नाम (महामन्त्र का ही स्मरण करे तो भी कल्याण भाजन हो सकते हैं।

उक्त विषय का विस्तार तो आह्निक सूत्रावली आदि दिन-चर्या विधायक ग्रन्थो मे द्रष्टव्य है। हम यहाँ विशेष वक्तव्य योग्य एक पद्य ही उद्धृत करते है यथा —

प्रातः स्मरामि भवभीतिमहार्तिशान्त्यै,
नारायणं गरुडवाहनमब्जनाभम्।
ग्राहाभिभूतवरवारणमुक्तिहेतुं,
चक्रायुधं तरुणवारिज-पत्र-नेत्रम् ॥

प्रात:स्मरणीय शिष्टाञ्जलि और उसका महत्व—

भगवत्स्मरण सम्वन्धी कतिपय पद्यो के अतिरिक्त हिन्दुओ के दैनिक पाठ मे शिष्टाञ्जलि नामक कुछ पद्यो का सन्निवेश और होता है जिसको कि प्रतिदिन प्रात काल नियमपूर्वक पढा जाता है। इस अञ्जलि का अपना विशेष महत्व है। धार्मिक और राष्ट्रीय दोनो ही दृष्टि से इसका पठन प्रत्येक भारतीय के लिये अत्युपयोगी है। इस की सहायता से हम अपने इस पवित्र देश मे उत्पन्न हुए, उन महापुरुषो की उज्ज्वल स्मृति को अक्षुण्ण रखते हैं जिन्होने अपने शुभ कार्यो, अनथक प्रयत्नो और अनुपम बलिदानो द्वारा हमारे इस राष्ट्र को उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाया, जिन महापुरुषो के चरित्र मानव-मात्र के लिये आदर्श रहे हैं और जिन पर आज भी हम गर्व कर सकते है। इस अञ्जलि मे हमे अपने देश की उन पुण्य सरिताओ एव स्थानो की आभारपूर्ण स्मृति मिलती है—जो धार्मिक और ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व पूर्ण हैं। यह स्थान प्राचीन समय मे भारतीय राजनीति, सास्कृतिक-विकास एवं धार्मिक परम्पराओ के केन्द्र रहे हैं, हमारा पूर्व का सम्पूर्ण इतिहास इन से सम्बद्ध है। पवित्र-सलिला गगा यमुना आदि सरिताए—जहाँ वैज्ञानिक दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखती है, वहाँ भारत वसुधा को लाखो वर्षो मे आज तक—'सुजला सुफला शस्य-श्यामला' और समृद्ध बनाने मे उन का कितना उपयोग हो रहा है यह किसी भी भारतीय से छिपा नही है।

भौगोलिक एव ऐतिहासिक प्रेरणा भी इस अञ्जलि की अपनी विशेषता है। आज इतिहास एव भूगोल, स्कूली विषय बन गए है पुस्तको के शब्द-जाल मे जकड कर इन रोचक विषयो

को ऐसा दुरूह बना दिया है कि वे बच्चों के लिये हौव्वा बन गये है। इतिहास के पन्नो को रटते २ बेचारो का दिमाग खाली हो जाता है, इस पर तुर्रा यह है, कि आज के नव शिक्षित युवक से आप उस के पूर्वजो, ऋषि महर्षियो, पराक्रमी राजाओ और भारतीय इतिहास के अन्य प्रमुख पात्रो के विपय मे कुछ पूछिये तो वह इन के ज्ञान से सर्वथा शून्य ही होगा। उसे इगलैण्ड के इतिहास के हैनरी सेविन्थ, ऐलिजावैथ आदि, भारतीय इतिहास के अकबर, जहागीर वगैरह का तो ज्ञान होगा किन्तु आदि-सम्राट् मनु, न्याय-परायण शिवि, भारत की नीव डालने वाले भरत आदि के नाम से वह सर्वथा अपरिचित होगा।

प्राचीन समय मे इतिहास भूगोल घरेलू विषय होते थे। प्रात कालीन इन वन्दनाओ से ले कर समय २ पर होने वाली कथा वार्ता प्रवचन आदि द्वारा अपढ से अपढ व्यक्ति को भी दुरूह ऐतिहासिक घटनाएँ चुटकियो मे याद हो जाती थी। इस 'अञ्जलि' मे भारतीय इतिहास के जिन उज्ज्वल नर रत्नो और जिन ऐतिहासिक स्थानो नदियो आदि का वर्णन है—प्रतिदिन इन श्लोको के पाठ करने वाले व्यक्ति का, इन के विषय मे विशेष ज्ञान के लिये उत्कठित होना स्वाभाविक है। प्रतिदिन 'पुण्यश्लोको नलो राजा' बोलने वाले व्यक्ति के हृदय मे क्या यह भाव उत्पन्न न होगा कि आखिर यह नल राजा है कौन ? इसी जिज्ञासा पूर्ति के रूप मे इतिहास का जन्म होता है। घर मे रहने वाले बूढे बाबा, दादी, बालक को राजा नल और दमयन्ती की कथा सुना कर उसे बिस्तर पर पडे २ इतिहास का पाठ पढाते है। 'पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः' के प्रश्न पर उसे महाभारत के इतिहास का पाठ पढाया जाता है। 'अयोध्या मथुरा माया' पाठी बालक के 'दादा ! अयोध्या कहा है ?' जैसे भोले प्रश्न के

उत्तर मे दादा उसे अयोध्याका भौगोलिक परिचय देते हैं। इस प्रकार क्रान्तदर्शी महर्षियो ने खेल २ मे ही बालको के हृदय में भौगोलिक और ऐतिहासिक जिज्ञासा, उत्कण्ठा और रुचि उत्पन्न करने का यह कितना सुन्दर क्रम स्थिर किया था—इसे हम आज भूल गये हैं। इस प्रकार से हम अपनी सास्कृतिक परम्पराओ को अक्षुण्ण बनाये रखने मे कितने सहायक होते है इस का भी विचार हम कभी नही करते।

इधर कुछ दिनो से राष्ट्रीय-स्वय-सेवक संघ के सचालको ने इस की महत्ता को अनुभव किया है और अपने कार्यक्रम मे इस को स्थान देकर पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया—यह हर्ष का विषय है। यद्यपि इस मे भाग लेने वाले स्वय-सेवको मे सस्कृतानभिज्ञो की सख्या ही अधिक है और ऐसी दशा मे इस अञ्जलि का अर्थ भी उन की समझ मे न आएगा किन्तु यह निश्चित है कि निरन्तर किसी एक ही शब्द के उच्चारण से उस का अर्थबोध होने लगता है। इस लिये इस से सभी स्वय सेवको को महान् लाभ ही होगा इस मे कोई सन्देह नही।

यह है इस 'शिष्टाञ्जलि' के नित्यपाठ की 'क्यो' का संक्षिप्त समाधान। आशा है इतने से ही एतद्विषयक जिज्ञासा की शान्ति हो सकेगी और हम नियम पूर्वक प्रात काल इसका पठन अवश्य करेंगे।

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः॥
अहिल्या द्रौपदी सीता तारा मन्दोदरी तथा।
पञ्चकं ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्॥

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक,-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्,
पुण्यानिमान् परमभागवतान्नमामि ॥
धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन,
पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन ।
शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन,
माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः ॥
अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥
मनुं स्मराम्यादिगुरुं प्रजानाम्,
भागीरथं धीरमुदग्रयत्नम् ।
भूपं हरिश्चन्द्रमभंगवाचम्,
श्रीरामचन्द्रं रघुवंशसूर्यम् ॥

स्थानाभाव से हम यहा कतिपय पद्यो का ही समावेश कर सके हैं । आह्निकसूत्रावली आदि ग्रन्थो मे इसे पूर्ण रूप से देखा जा सकता है ।

कर दर्शन—

भगवत्स्मरणानन्तर शास्त्रीय विधान, कर दर्शन का है ।

कराग्रे वसते लक्ष्मी करमध्ये सरस्वती ।
करमूले तु गोविन्दः प्रभाते करदर्शनम् ॥

अर्थात्—हाथ के अग्रभाग मे लक्ष्मी का निवास है, हाथ के मध्य भाग मे सरस्वती रहती है और हाथ के मूलभाग मे गोविंद भगवान् रहते हैं इसलिए प्रात काल कर का दर्शन करना चाहिए।

उपर्युक्त श्लोक बोलते हुए अपने हाथो को देखना चाहिए। यह शास्त्रीय विधान बडा ही अर्थपूर्ण है। इससे मनुष्य के हृदय मे आत्म-निर्भरता और स्वावलम्ब की भावना का उदय होता है। वह जीवन के प्रत्येक कार्य मे दूसरो की तरफ न देखकर, अन्य लोगो के भरोसे न रहकर-अपने हाथो की तरफ ही देखने का अभ्यासी बन जाता है। ससार मे मनुष्य, जो कुछ भी भला या बुरा कार्य करता है, हाथ से ही करता है। यह हाथ ही—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की कुंजी है। मूल श्लोक मे बतलाया गया है कि मानव जीवन की सफलता के लिए ससार मे तीन वस्तुओ की आवश्यकता है, धन, ज्ञान, ईश्वर। इनमे से एक के बिना भी जीवन अधूरा है। यह तीनो लक्ष्यभूत वस्तुएं, हमारे हाथ, जो कि कर्म का प्रतीक है, मे निवास करती है, अर्थात् अपने हाथो द्वारा शुभाशुभ कार्य करके हम इन वस्तुओ को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए करतल अवलोकन करते हुए श्लोक पठित भावना को आत्मसात् करना चाहिए और अनुभव करना चाहिये कि मै अपने जीवन मे सफल व्यक्ति हूँगा, मैं किसी के सहारे न रहकर अपने हाथो के ऊपर निर्भर रहूँगा, इनसे परिश्रम करके मै दरिद्रता व मूर्खता को परास्त करूगा, और अन्त मे गोविन्द को प्राप्त कर जीवन्मुक्त हूँगा।

भारत माता की वन्दना—

मातृ-भूमि वन्दना भी प्रात कालीन कृत्यो मे से आवश्यक कृत्य है। कर दर्शन के अनन्तर शास्त्रकारो ने मातृ-वन्दना का

विधान किया है। निम्नलिखित प्रार्थना के साथ पृथ्वी को स्पर्श करते हुए यह वन्दना की जाती है।

समुद्रवसने देवि ! पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ।।

अर्थात्—हे समुद्ररूपी वस्त्रो वाली, पर्वत-रूपी स्तनो से विभूषित, विष्णु-पत्नि ! मैं तुझे प्रणाम करता हूँ, मेरे पादस्पर्श को क्षमा करना।

भारतमाता के आधुनिक पुजारियों से दो-दो बातें

उपर्युक्त श्लोक मे कितने सरल और सक्षिप्त शब्दो मे रूपक द्वारा मातृ-भूमि का चित्र प्रस्तुत किया गया है—यह सहज ही जाना जा सकता है। कुछ लोगो का विचार है कि देश-प्रेम तथा मातृ-भूमि-प्रेम आदि भावनाये पश्चिम की देन हैं और विदेशी सम्पर्क से ही भारत मे इनका प्रचार एव प्रसार हुआ है। उनका कहना है कि कांग्रेस द्वारा, पराधीनता के विरुद्ध उठाए गए जन-आन्दोलन से पूर्व, मातृभूमि या भारत माता की कोई कल्पना भारतीयो के सामने थी ही नही, यह बात सत्य से कोसो दूर तो है ही, किन्तु विदेशी प्रभुओ द्वारा प्रसारित उस शरारत पूर्ण घृणित प्रचार का भी अच्छा खासा नमूना है जो वे लोग भारतीय सस्कृति को बदनाम करने के लिए समय २ पर किया करते थे। वन्देमातरम् का राग आलापने वाले आधुनिक देशभक्त तो खास-खास समारोहो पर भारत माता की वन्दना करके फूले नही समाते, किन्तु देश मे करोडो की सख्या मे बसने वाले और प्रतिदिन प्रात काल नियमपूर्वक भारत माता की वन्दना

करने वाले भारत माँ के सच्चे भक्तो की मूक वना को कितने व्यक्ति जान पाते हैं ? सहस्रो वर्ष पूर्व प्र लत, सनातनधर्मियो के धार्मिक नित्य कृत्यो मे भारतमाता वन्दना का यह विधान, उन लोगो के लिए एक खुली चुनौती है जो मातृभूमि प्रेम को आधुनिक युग की देन वतलाते हैं।

राष्ट्रीय चेतना का मूल मंत्र—

इस पद्य मे मातृभूमि के उन सव गुणो का—जो कि एक माता मे होने चाहिये—वर्णन वडे ही सुन्दर ढग से किया गया है। ३२ अक्षर के छोटे से अनुष्टुब् वृत्त मे इतनी सरलता से इतने गम्भीर अर्थों का समावेश ही इस वन्दना की विशेपता है। प्रथम पाद मे भारतमां को 'समुद्र वसने' कहा गया है। इसका तात्पर्य जहा भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा—समुद्र से घिरी हुई–निर्देश करना है, वहां भारत मा की लज्जा-शीलता को भी वतलाना है। सभी पुत्र अपनी माता को वहुमूल्य वस्त्राभरणो से अलकृत देखकर प्रसन्नता अनुभव करते हैं, यह भी हम सव की हार्दिक कामना होती है कि जननी जैसे गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कोई भी स्त्री सभी आदर्श गुणो से युक्त होनी चाहिए। उसमे स्त्री सुलभ शालीनता अवश्य हो। वस्त्रो की चर्चा करते हुए कवि ने इस वन्दना मे लक्षणा द्वारा भारत मा की शालीनता को भली प्रकार प्रकट कर दिया है। भारतवर्ष मे दूर-दूर तक फैले हुए हरे-भरे वनो उपवनो को वस्त्र न कहकर 'समुद्र' को ही भारत मां के वस्त्र से उपमित करना भी रहस्य से खाली नही है। वहुत प्रचीन समय से ही समुद्र, विदेशी व्यापार की कुन्जी रहा है। आज भी जिन राष्ट्रो का समुद्र पर अधिकार है वे थैलीशाह वने वैठे है। इस 'वन्दना' की रचना के समय, समुद्र, भारत के अधिकार मे थे, समुद्रो से

होने वाले व्यापार पर उसका पूर्ण अधिकार था, फलत. भारत मा इन समुद्रो का उपयोग उतने ही प्रेम, सावधानी और चाव से करती थी जितना कि आज भी स्त्रिये अपने बहुमूल्य वस्त्रो का करती है। इन वस्त्रो से उसकी लोकोत्तर शोभा होती थी जिसको देखकर विदेशी ईर्ष्या किया करते थे। हम अभागे भारतीयो ने मा के इन बहुमूल्य वस्त्रो का मूल्य न समझा जिसका परिणाम हमे भोगना पडा।

'समुद्र वसने' सम्बोधन से भारत माता को जहा सम्भ्रान्त महिला की भान्ति लज्जा गुण से युक्त प्रकट किया गया है वहाँ राष्ट्रीय दृष्टि कोण से, रत्नाकर महोदधि आदि-आज भी 'इण्डियन ओसन' या हिन्द महा सागर नाम से पुकारे जाने वाले-महा समुद्रो को भारत माता के सुतरा सरक्षणीय उपकरण प्रकट किया गया है। आज से अन्यून नौ लाख वर्ष पूर्व दिदेशी रावण ने सीता माता की साड़ी को छू डाला था जिसका बदला चुकाने के लिये मानव समाज की कौन कहे, भारत के अर्ध-सभ्य कहे जाने वाले रीछ, बानर और गीध जैसे पशु पक्षियो मे तहलका मच गया था, शतयोजन समुद्र का पुल बाधकर सोने की लका धूल मे मिलादी गई थी, इसी प्रकार पाच सहस्र वर्ष पूर्व दुर्मार्गी दु शासन ने द्रौपदी की साडी को छूने का दु साहस कर डाला था फलस्वरूप कुरुक्षेत्र के मैदान मे छत्तीस लाख योधाओ के मड कट गए थे।

काश! दो सौ वर्ष पूर्व, जब विदेशी लुटेरे भारत मा की समुद्र रूपी साडी को अपने स्टीमरो से रोदते हुए इस देश मे घुस आए थे, तब यदि उसके लाडले बेटे जान पाते कि-'उनकी माता की लाज खतरे मे है! विदेशी उसे नग्न करना चाहता है!'-तो उन्हें इतने दिन पराधीनता न भोगनी पड़ती।

श्लोक का दूसरा चरण 'पर्वत-स्तनमण्डले' है। माता, चाहे कितनी भी लज्जाशीला तथा कुलीना हो, किन्तु यदि वह अपने बालक का पोषण नही कर सकती, यदि उसके स्तनो में बालक के पोषण के लिए पर्याप्त दुग्ध न हो, तो पुत्र के लिये उस माता का होना न होना बराबर है ! वह पुत्र प्रथम तो जीवित ही नही रह सकता, कदाचित् रह भी जाय तो सदा निर्बल ही रहेगा। इस पाद मे बतलाया गया है कि भारत माता जहा लज्जाशीला है, वहा हिमालयादि पर्वत-रूपी उन सुन्दर स्तनो वाली है जिन स्तनो से निकलने वाली गगा यमुना गोदावरी आदि सहस्रो क्षीर-धारायें देश के चवालीस करोड़ बालको का पालन पोषण कर रही हैं। इसके बालक, जीवन निर्वाह के लिये अन्य राष्ट्रो की तरह किसी दूसरी धाय की खुराक पर निर्भर नही। सभी वस्तुओ मे वे स्वाश्रित हैं। यद्यपि विदेशी शासकों की कृपा से पिछले कुछ वर्षों से भारत को विदेशों से अन्न मगाकर अपनी आवश्यकता को पूरा करना पड़ रहा है, किन्तु इसका कारण, लाखों वर्ग मील कृषि योग्य भूमि का बन्जर पड़ा रहना है, जिसे दूर करने के लिये देश की जनता सतत प्रयत्न शील है। आशा है इस कमी के दूर होते ही अन्न के लिए भी हम पर-निर्भर न रहेगे।

इसके अतिरिक्त उक्त विशेषण द्वारा यहा यह भी व्यक्त किया गया है कि यदि कभी ससार व्यापी महा-युद्ध के समय शत्रु देशो द्वारा नाका बन्दी का नाजुक अवसर आ पडे तो अन्यान्य देशो की तुलना मे भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जो अपने देशवासियों की सभी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है ' अमेरिका मे रूई, कनाडा और आस्ट्रेलिया में गेहूँ, मिश्र और बरमा मे मिट्टी का तेल आदि एक दो पदार्थ चाहे कितनी ही मात्रा मे क्यो

न उत्पन्न होते हो, परन्तु अन्यान्य वस्तुओ के लिये उन्हे दूसरे देशो पर निर्भर रहना पडता है। भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जो सब ऋतुओ के अस्तित्व के कारण अपने देशवासियो को खाने को अन्न, पहिरने को वस्त्र और जीवनोपयोगी अन्यान्य सभी पदार्थ प्रभूत-मात्रा मे प्रदान कर सकता है। आलकारिक शब्दो मे भारत माता के हिमालय, गौरी शिखर, कचन जघा, धवल गिरी, कैलाश आदि ऊचे स्तन रूप पर्वतो से बहने वाली गगा, यमुना, सिन्ध और ब्रह्मपुत्र जैसी समुद्र गामिनी पयस्विनी धाराये प्रिय पुत्रो के पोषण करने मे सर्वथा समर्थ है।

श्लोक के तृतीय चरण मे भारत मा को 'विष्णुपत्नि' शब्द से सम्बोधित किया गया है। भारत-माता का जो काल्पनिक चित्र आज हमारे सामने उपस्थित किया गया है यदि गहन दृष्टि से देखा जाय तो वह अधूरा है। आज हम, सभी राष्ट्रीय कार्यो के प्रारम्भ मे—

वन्दे मातरम्।
सुजलां सुफलां शस्यश्यामलाम् ॥

आदि गीत द्वारा भारत माता की वन्दना तो करते है, किन्तु इस बात को कभी स्मरण नही करते कि 'हमारा पिता कौन है?' आखिर जब हमारी माता है तो कोई पिता भी तो होना ही चाहिए। पश्चिम के नास्तिक देशो मे चूकि 'अनीश्वरवाद' की प्रधानता है इसलिए वे, शूकर कूकरादिं पशुओ की भाति माता मात्र का हो परिचय रखते हैं। ससार मे मनुष्य का सब व्यवहार पिता के नाम के साथ ही होता है। स्कूल, कचहरी, नौकरी, चाकरी, गर्ज है—कि जन्म कालीन उल्लेख से लेकर मृत्यु-कालीन खाते पर्यन्त सर्वत्र पिता का नाम ही अनिवार्य रूप से लिखा जाता है। केवल नाने के घर मे मातामह की गोद मे

बैठे वालक को देखकर किसी के यह पूछने पर कि यह वालक किसका है ?, नाना महाशय अपनी लडकी का नाम लेते हुए वालक का परिचय दिया करते है। तो क्या परमपिता ईश्वर से पराङ्मुख भारत माता के पुत्र होने का दम भरने वाले ये आधुनिक छोकरे भारतको अपना पितृगृह नही समझते है ? क्या वे अपने आपको नाना के घर का मेहमान मानते हैं ?

उस दिन विद्यालय मे प्रविष्ट होने वाले सभी कुलीन छात्रो ने अपना प्रवेश-पत्र भरते हुए वड़े गर्व के साथ पितृ-नाम का उल्लेख किया, परन्तु जव मुन्नीजान के लडके से पूछा गया तो वह लज्जानम्रमुख होकर पृथ्वी ताकने लगा। आखिर वाजारु औरत का लड़का पिता का परिचय दे ही क्या सकता है ?

यही हाल मातृ-भूमि के उन लाडले पुजारियो का है, जो पिता को नजरन्दाज करते हुए मा के ही गुण गा २ कर दुनिया की नजरो मे सपूत वनना चाहते है। पिता के विषय मे अनजान होना वालक की मूर्खता का द्योतक तो है ही, किन्तु मां के चरित्र पर एक अपरिमार्जनीय लाञ्छन भी है। विदेशी छाया से तैयार हुई हमारी इस काल्पनिक मातृ-वन्दना मे भी, न केवल भारत अपितु समस्त विश्व के पिता—ईश्वर—का कोई ध्यान नही रक्खा गया है। इस लिये 'वन्दे मातरम्' का यह गान नितान्त अधूरा है।

इसके विपरीत उपर्युक्त पद्य मे 'विष्णु-पत्नि !' कहकर जहा भारत माता को सौभाग्यवती वनाकर वन्दना की गई है, वहा आध्यात्मिक दृष्टि से हमारा, ईश्वर के साथ कितना घनिष्ठ सम्वन्ध है—यह भी भली भाति दर्शाया गया है। इसके अति-रिक्त वन्दना पूर्वक भूमि स्पर्श करते हुए हम एक सत्पुत्र की भाति अपने हृदय मे विद्यमान मातृ-प्रेम को प्रकट करके अपने कर्त्तव्य

का पालन भी करते हैं। इसलिये प्रत्येक भारतीय को, जो कि भारत भू को हृदय से मातृभूमि समझता है, अवश्य ही वन्दना करनी चाहिए।

शय्या परित्याग के बाद शौच स्नानादि नित्य कृत्य करने चाहिये। इस विषय मे प्रसगवश यह भी लिख देना उचित होगा कि प्रात काल सर्वप्रथम जिन पदार्थों पर हमारी दृष्टि पडे वे ऐसे न होने चाहिये कि उनको देखने से हमारे हृदय मे ग्लानि क्रोध, विषाद आदि भावो का उदय हो।

धर्मशास्त्रकारो ने उपर्युक्त भाव को हृदय मे रखकर प्रभात काल मे दर्शनीय तथा अदर्शनीय पदार्थों का वर्गीकरण किया है जो कि सर्वथा मनोविज्ञान की भावनाओ पर अवलम्बित है। मनोविज्ञान बतलाता है कि मन की निश्चल एव शान्त अवस्था मे जो वस्तु उसके सम्पर्क मे आयेगी उसका मन पर अधिक से अधिक प्रभावोत्पादक सस्कार पड़ेगा और वह सस्कार चिरस्थायी रहेगा। प्रभात काल मे जब हम अपनी खोई हुई शक्ति को पुन: प्राप्त करके उठते हैं, उस समय मन एव मस्तिष्क दोनो, अपेक्षाकृत हल्के स्वस्थ एव शान्त होते है। मन का कार्य है मनन करना —आभ्यन्तरिक विचार सृष्टि की रचना करना। प्रात काल उठने के बाद जो वस्तु सबसे पहिले उसे दिखाई दी, उसने उसी के बारे मे मनन प्रारम्भ किया। फलत. हमारा आभ्यन्तर वातावरण उस मनन से प्रभावित होगा और दिन भर उससे मुक्त न हो सकेंगे। यदि वह वस्तु भली हुई=कल्याण कारक हुई–तो विचारो की उत्तमता अनिवार्य है यदि वह अच्छी न हुई–हृदय पर उसका अच्छा प्रभाव न पड़ा–तो या तो तत्सम्बन्धी विचारो मे मन सकुचित हो जायगा या उसकी प्रवृत्ति बुरे ही कार्यों मे

होगा । इसलिए लोग कहा करते हैं कि—आज तो ऐसे का मुह देखा कि रोटी भी नसीव न हुई । यह धारणा भ्रान्त नही, किन्तु वेदमूलक है और सर्वथा मनोविज्ञान पर आश्रित है ।

छान्दोग्य परिशिष्ट मे इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

श्रोत्रियं सुभगां गाञ्च अग्निमग्निचितं तथा ।
प्रातरुत्थाय यः पश्येदापद्भ्यः स विमुच्यते ।।

अर्थात्—जो पुरुष प्रात उठकर वेदपाठी विद्वान् पुरुष, सौभाग्यवती स्त्री, गौ, अग्नि तथा याज्ञिक का दर्शन करता है वह आपत्तियों से विमुक्त हो जाता है । इसके विपरीत—

पापिष्ठं दुर्भगां मद्यं नग्नमुत्कृत्तनासिकम् ।
प्रातरुत्थाय यः पश्येत्तत्कलेरुपलक्षणम् ।।

अर्थात्—प्रात काल उठकर इन वस्तुओ का दर्शन साक्षात्कलियुग का दर्शन है—पापी पुरुष, दुराचारिणी स्त्री, शराव, नगा और नकटा पुरुष ।

इन दोनो श्लोको का सामञ्जस्य करने पर पाठक स्वय जान सकेगे कि यह धारणा विज्ञान समत है या नही । हमे अधिक लिखने की आवश्यकता प्रतीत नही होती ।

मल विसर्जन

कहा जा सकता है कि विना इस पुस्तक को पढे भी मनुष्य प्रतिदिन मलत्याग करते ही हैं, और—मनुष्यो की वात छोड दीजिए, पशु-पक्षी भी विना किसी रुकावट के इस प्राकृतिक आवश्यकता को पूरा कर लेते हैं फिर ऐसे घिनौने विषय पर व्यर्थ ही पृष्ठ काले करके समय का दुरुपयोग क्यो ? किन्तु वास्तव मे ऐसा विचार करना भूल है । दैनिक-चर्या का जो सर्वाङ्गीण विधान

शास्त्रकारो ने बतलाया है उसके ज्ञान के बिना की जाने वाली समस्त क्रियाएँ अधूरी रहती है और लाभप्रद सिद्ध होने की अपेक्षा हानिकारक सिद्ध होती है। इस विषय की ओर समुचित ध्यान न देने के कारण ही तीन चौथाई मनुष्य नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक व्यथाओ से पीडित रहते है। इसलिये यह आवश्यक है, कि ऐसे घिनौने किन्तु अनिवार्य और आवश्यक विषय पर भी चन्द पक्तियें अवश्य लिखी जायँ।

प्रत्येक मनुष्य को दिन मे दो बार शौच अवश्य जाना चाहिए। प्रात भगवत्स्मरण के अनन्तर, शय्या से उठते ही शौच जाना चाहिए और सायकाल करीब ४ या ५ बजे। आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से हवादार खुले मैदानो मे शौच जाना, जन-स्वास्थ्य के लिए अधिक लाभकारी है, क्योकि इससे मल के विषाक्त कीटाणु शरीर मे प्रविष्ट होकर हानि नही पहुँचा सकते और खुली वायु मे श्वास लेने से शौच भी सुखपूर्वक होता है। इसके विपरीत शहरो मे लोग प्राय. पाखानो मे शौच जाते हैं जो कि तङ्ग और सीलदार कोठरियो मे बने हुए होते हैं। घर के सभी पुरुष उसी गन्दे पाखाने मे शौच जाने को बाध्य होते हैं, वहा हवा के साथ कीटाणु उडते रहते हैं जो श्वास के रास्ते भीतर जाकर मनुष्य के स्वास्थ्य को नष्ट कर डालते है। एक ही पाखाने मे जाने वाले मनुष्यो की प्रकृति प्राय. भिन्न-भिन्न होती है, उनमे बहुत से रोगी हो सकते है। उनके रोग के कीटाणु दूसरे व्यक्तियो मे सक्रामक रोगो को फैला देते है। इस दुर-वस्था मे आज सुधार की बडी आवश्यकता है। सफाई की ओर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए तभी देश के गिरते हुए स्वास्थ्य को सुधारा जा सकता है। सबसे प्रथम प्रयत्न तो

यह होना चाहिए कि जो लोग शहर से वाहर शौचार्थ जा सकते हैं वे अवश्य वाहर ही जाया करे। शेप लोगो के लिए भी जो प्रबन्ध हो वह उत्तम होना चाहिए।

आप चाहे खुले मैदानो मे शौच जायं या पाखानो मे, किन्तु इस विपय के स्वास्थ्यसम्मत कुछ शास्त्रीय नियमो का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। आयुर्वेद मे लिखा है—

शौचे च सुखमासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः।
शिरः प्रावृत्य कर्णौ च मुक्तकच्छशिखोऽपि वा॥

अर्थात्—मनुष्य को चाहिए कि मल त्याग के समय शिर तथा कानो पर वस्त्र लपेटकर, शिखा तथा वस्त्रग्रन्थी खोलकर पूर्व अथवा उत्तर दिशाभिमुख होकर सुखपूर्वक समभूमि मे बैठे। इस श्लोक मे तीन बातो को ओर विशेष वल दिया गया है। (१) शिर तथा कान वस्त्र से ढके हो, वस्त्रग्रन्थी तथा शिखा खुली हो। (२) पूर्व या उत्तर की ओर मुख हो। (३) सुखपूर्वक स्थिति। उपरोक्त तीन बातो का एक ही उद्देश्य है और वह है सुगमतापूर्वक मल-विसर्जन। शिर तथा कानो पर वस्त्र लपेट लेने से रक्त का दवाव ऊर्ध्वाभिमुख न रहकर अधोमुखी वन जाता है। शिर तथा कर्ण स्थानीय उन स्नायुवो मे–जिनका सीधा सम्बन्ध मलाशय के साथ है–इस प्रकार की क्रिया द्वारा उष्णता और उत्तेजना उत्पन्न होती है जिसका प्रभाव यह होता है कि मल विलकुल साफ हो जाता है और कोष्ठवद्धता नही होती। आजकल के शास्त्रपराङ्मुख अपटुडेट जन्टिलमैन तथा अन्य शिक्षाशून्य मजदूर आदि, मलाशय मे उष्णता तथा उत्तेजना पहुँचाने की गरज से घन्टो पाखानो मे बैठे सिगरेट और बीड़ी के दम लगाया करते हैं, ऊपर से मुख का व्यापार तथा नीचे से गुदा का व्यापार चलाते २ भी वेचारो को कोष्ठवद्धता से पिंड

नही छूट पाता । इधर कभी आप को लार्ड मैकाले के मानस-पूत काले साहबों के यहाँ जाने का अवसर मिल जाये तो आप देखेंगे वे भी ....

"प्रातरुत्थाय मञ्चस्थो लालाक्लिन्नमुखः पुमान् ।
'टी' 'काफी' 'बिस्कुटं' 'केकं' सेवयेन्नित्यमेव हि ॥"

—टुडेस्मृति के इस आदेशानुसार गरम २ चाय पी कर मलाशय को हीट देते हुए शौच जाना पसन्द करते है । यह सब विचित्र लीला इस साधारण सी क्रिया को न जानने, तथा जान कर भी पुराने बनाम 'डर्टी' रिवाजो मे परिगणित होने से त्याज्य समझने के कारण है ।

पूर्व या उत्तराभिमुख व्यवस्था का भी अभिप्राय स्पष्ट है । प्रात काल और सायकाल, प्राय वायु का प्रवाह पूर्व या उत्तर से पश्चिम तथा दक्षिणाभिमुख रहता है, पूर्व एवं उत्तर की ओर मुख करके बैठने वाले व्यक्ति को मल के दूषित कीटाणुओ का श्वास के साथ शरीर मे प्रविष्ट हो जाने का भय नही रहता और न इस से मल दुर्गन्धि का कष्ट ही सहन करना पडता है, क्योकि सामने से आने वाला वायु दुर्गन्धी को पीछे से पीछे बहा ले जाता है । अनुकूल वायु के कारण श्वासक्रम भी सुगमता पूर्वक चलता है और मल विसर्जन मे कोई कष्ट नही होता ।

सुख पूर्वक स्थिति, शौच क्रिया मे सब से आवश्यक है । शहरो मे अधिक व्यक्ति इसलिये बीमार होते हैं और डाक्टरो की शरण लेते है कि उन्हे जिन पाखानो मे जाना पडता है वे सुविधाजनक नही होते । शील तथा सडाद के कारण मनुष्यो का वहाँ बैठते ही दम घुटने लग जाता है और शका पूरी हुए बिना ही उठ

खड़े होते हैं, इसका परिणाम होना है—कब्जी (कोष्ठवद्धता) तथा पेट की अन्य वीमारियें। ऐसा करने से अवशिष्ट मल कडा होकर वड़ी अन्तडी के वाजुओ मे चिपट जाता है। कुछ दिन यही क्रम जारी रहने पर मल निरन्तर चिपटता जाता है और मल द्वार छोटा पड जाता है जिससे मनुष्य को ववासीर, भगन्दर जैसे भयङ्कर रोगो का सामना करना पडता है। संसार मे अधिकांश मृत्यु कब्ज के कारण ही होती हैं। लोग इसे मामूली वीमारी समझते हैं और देखने मे यह है भी मामूली ही, परन्तु वडे वडे रोगो का मूल कारण होने के कारण, इसे सवसे भयङ्कर रोग कहा जा सकता है।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध डाक्टर टर्नर ने अपने हस्पताल मे मृत्यु को प्राप्त हुए २८४ मनुष्यो की मृत्यु का कारण वतलाते हुए लिखा है कि "उनमे से २८ मनुष्यो को छोडकर वाकी सव कब्ज की वीमारी से मरे। उनकी वड़ी अन्तडिया फाडकर देखी गईं तो मालूम हुआ कि वे पत्थर की तरह कठिन हो गई हैं और उनमे सूखा काला मल भरा हुआ है।"

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समझदार व्यक्ति को ऐसा कोई कारण उपस्थित न होने देना चाहिये जिससे कि उसे कोष्ठबद्धता जैसे भयङ्कर रोग का शिकार वनना पडे। '**शौचे च सुखमासीन.**' भी अनुभवी महर्षियो द्वारा इसी रोग के विरुद्ध वतलाया गया एक उपाय है जिस पर पूरा ध्यान न दे सकने के कारण लोग कष्ट भोगते है।

बोले क्यों नहीं—

शौच लघुशंका आदि के समय मौन, एक सनातनी प्रथा मात्र नही किन्तु धर्मशास्त्रानुमोदित एव विज्ञान समर्थित शिष्टाचार है।

प्राय: अशिक्षित, या उच्चशिक्षित होते हुए भी भारतीय संस्कारों से शून्य व्यक्तियो मे इस शिष्टाचार की भी अवहेलना देखी जाती है। लघुशङ्का करते-करते बाते करना, शौच बैठे-बैठे अखबार पढना तो नई पीढी के बडे लोगो के फैशन की चीज है लेकिन दूसरे अशिक्षित व्यक्ति भी बैठे २ खासना, थूकना आदि क्रियाएँ करते रहते है। यह सब आदते जहाँ शिष्टजन विगर्हित हैं वहा स्वास्थ्य पर भी बहुत बुरा प्रभाव डालती हैं।

यह स्वाभाविक बात है कि जब हमारा शरीरस्थ वायु 'अपान' रूप धारण करके मलाशय तथा गुदा के शोधन कार्य मे लगा हुआ होता है उस समय उसका 'प्राण, समान, उदान' आदि रूपो मे किया जाने वाला व्यापार मन्द पड जाता है। हमारा कर्तव्य है कि उस समय शान्त बैठे रहकर उस वायु को अपना कार्य करने मे सहायता दे। इसके विपरीत, उस समय यदि हम किसी अन्य व्यापार मे लगेगे तो परिणाम यह होगा कि वह शोधन कार्य तो मन्द पड जाएगा और वायु की शक्ति अन्य रूपो मे विभक्त हो जाएगी। बोलने, खासने, हापने आदि से मल के दूषित कीटाणु तो अन्दर प्रविष्ट होगे ही साथ ही मलाशय शोधन के प्राकृतिक काम मे अडचन भी पड जाएगी जो स्वास्थ्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। इसलिए धर्म-शास्त्रकारो ने कहा है —

उच्चारे मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने।
श्राद्धे भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत्॥

अर्थात्—मूत्र पुरीषोत्सर्ग काल मे, मैथुन मे, रक्तादि के प्रस्राव मे, दातुन करते समय, श्राद्धकाल मे और भोजन के समय मौनावलम्बन करना चाहिए। इस श्लोक मे वर्जित सभी समयो

मे मौन का जो महत्त्व है उसे तत्तत् स्थलो पर वतलाया जाएगा। यहा तो इतना ही समझ लेना चाहिए कि शौच और लघुशंकादि के समय अवश्य ही मौन रक्खा जाय।

पशुता की ओर

तिष्ठन्न मूत्रपुरीषे कुर्यात् (पारस्कर गृह्य सूत्र)

अर्थात्—खड़े २ मूत्र पुरीषोत्सर्ग न करे।

डर्विन साहव की पशु से मनुष्य वन जाने को विकासवाद की थ्यूरी मे अगर कोई सचाई हो सकती है तो वह यही की आज भी मनुष्य अपनी आदतो और हरकतो मे पशुओ के समान है। इतना ही नही, शिक्षा सभ्यता सम्पन्न आज के—बीसवी सदी के—मानव को देखकर तो यह भ्रम होने लगता है कि कही अव वह विकासवाद अपनी पूर्णता की सीमा पर पहुँचकर पुन प्रत्यावर्तन के चक्कर मे तो नही पड़ गया है और दो हाथ, दो पाव मन मस्तिष्क बुद्धि वाला मानव, कही फिर सीग पूछ वाला पशु वनने तो नही जा रहा है ?

पशुओ को भी मात करने वाले आज के मानव के मर्यादा-शून्य भक्ष्या-भक्ष्य के विपय मे हम आगे के पृष्ठो मे प्रकाश डालेगे, यहा उसकी मलमूत्रोत्सर्ग की हास्यापद, पशु चेष्टाओ का दिग्दर्शन कराना चाहते है। आज स्कूलो मे प्रविष्ट होते ही मानो विद्यार्थी को पहिला पाठ यह पढाया जाता है कि वह गधे, घोडे, वैल आदि पशुओ की भाति खडे खड़े ही पेशाब किया करे, यही कारण है कि आज छोटे छोटे बच्चो मे भी इस बुरी आदत का सूत्रपात हो गया है और अपने शिक्षित (?) माता पिताओ तथा आचार्यो के इस स्वभाव के अनुकरण मे वे कभी पीछे नही रहते

ऐसा करते हुए भले ही उनके वस्त्र तथा पावो पर छीटें पडे परन्तु इसके विपरीत करके वे अपनो स्कूली शिक्षा का अपमान नही कर सकते ! यह बुरी आदत, शास्त्रीय नियमो की प्रत्यक्ष अवहेलना तो है ही, किन्तु सभ्यता के भी नितात प्रतिकूल है। रास्ते बरास्ते की कोई चिन्ता न करते हुए 'या बेशर्मी तेरा आसरा' का सहारा लेकर ऐसे मार्गों पर—जहा से दो चार भले आदमी, सभ्रात महिलाएँ गुजरती हों खडे खडे पेशाब करने लग जाना न सभ्यतानुकूल है और न मानवोचित ही।

एक दूसरा इससे भी बढा चढा सम्प्रदाय है, जो शौच जाकर पानी लेने की आवश्यकता ही महसूस नही करता। वह तो टुडे-स्मृति के—

द्वित्रिभिः कर्गलैः पश्चाद् गुदं संशोधयेद् बुधः ।
न करेण स्पृशेन्नीरं यदीच्छेच्छुभमात्मनः ।।

—शुद्धि विधानानुसार दो तीन कागज के टुकडो द्वारा गुदा को पोछ डालना मात्र ही आवश्यक समझना है। जिस मल शोधन के लिए भारतीय चिकित्सा-शास्त्रियो ने गुदा को मिट्टी और पानी द्वारा साफ करने का विधान किया हो, उसको कागज के दो छोटे २ टुकडे कितना साफ कर पाते होगे यह तो वही जानें ! यह सब पशुता के लक्षण नही तो क्या है ? अभी तक तो सभ्यता तथा शिक्षा की डीग हाकने वाले यूरोपियनो को ही हम कहते थे कि आज के समुन्नत युग मे भी वे बिलकुल जगली हैं। पेशाब और टट्टी जाने का सलीका भी उन्हे नही आता। जानवरो की तरह खडे २ पेशाब टट्टी किया करते हैं। हाथ धोने की तो उन्हे कतई तमीज ही नही, अन्न का उपयोग भी नही जानते, किसी तरह कच्चा-पक्का मास खाकर अपना पेट पालते हैं आदि २

किन्तु आज यहा क्या हो रहा है। अच्छे खासे बने बनाये मनुष्य फिर पशु बनते जा रहे हैं-यह कम शोक की बात नही है। भगवान् ऐसे लोगो को सुबुद्धि दे कि वे यदि मनुष्य से उन्नति करके देवता नही बन सकते तो कम से कम मनुष्य तो बने रहे।

मार्ग में क्यों नहीं ?

मार्ग मे शौच या लघुशङ्का करना केवल सभ्यता प्रतिकूल ही नही धर्मशास्त्र विरुद्ध होने से पाप भी है। भगवान् मनु ने लिखा है—

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे।
न फालकृष्टे, न जले, न चित्यां न च पर्वते ॥
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन।

अर्थात्—मनुष्य को—मार्ग मे, राख के ढेर मे, गोशाला मे, हल से जोते हुए खेत मे, पानी मे, चिता मे, पर्वत पर, पुराने मन्दिर और बावी में लघुशङ्का शौचादि क्रिया न करनी चाहिए।

यह नियम नागरिक स्वास्थ्य, स्थानो की पवित्रता तथा जन-सुरक्षा की दृष्टि से बनाया गया है। मार्ग मे पेशाब करने से दुर्गन्धी के अतिरिक्त उसके कीटाणु तरह २ की बीमारियें फैला कर जनता के स्वास्थ्य को खराब कर देते है—यह प्राय सभी को भली प्रकार विदित है। इसलिए आज भी सभी सभ्य सरकारो के यहा ऐसा करना जुर्म समझा जाता है और जो व्यक्ति सड़को पर तथा निषिद्ध स्थानो मे पेशाब करते पाए जाते हैं उनका चालान होता है। गोशाला, जल, चिता आदि को पवित्रता की दृष्टि से निषिद्ध ठहराया गया है जबकि बावी, पुराने मन्दिर,

या भवनादि को जन-सुरक्षा की दृष्टि से, क्योकि ऐसे स्थानो पर साप बिच्छु आदि विषैले जन्तुओ का होना सर्वथा सुसम्भव है जिससे मनुष्य का जीवन खतरे मे पड सकता है।

मिट्टी या साबुन ?

शौचानन्तर विशुद्ध मिट्टी द्वारा हाथ तथा पात्र को माजकर शुद्ध करना चाहिए। स्मृतिकारो ने लिखा है—

द्वे लिङ्गे मृतिके देये गुदे पञ्च करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या विट्शौचे मृतिकाः स्मृताः॥

अर्थात्—शौच के अनन्तर, २ बार लिंग पर, ५ बार गुदा पर दस बार बाये हाथ मे दोनो हाथो मे सात बार मिट्टी लगानी चाहिए।

शारीरिक शुद्धि मे मिट्टी का उपयोग, भारतीय ऋषियो की गौरव पूर्ण देन है जो सर्वसुलभ होते हुए भी अत्यन्त गुणकारी है। विना कानी कौडी खर्च किये प्राप्त होने वाली इस साधारण सी वस्तु मे इतने उपयोगी गुण हो सकते है इसका हम विचार भी नही कर सक्ते। क्षार की विद्यमानता के कारण मिट्टी सब प्रकार के मल को दूर करने मे समर्थ तो है ही, किन्तु वानस्पतिक तत्त्वो के समिश्रण से उसमे रोगो को दूर करने की जो अद्भुत क्षमता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी गुण के कारण उसे प्राकृतिक चिकित्सा मे मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है और अनेक प्रकार के प्रयोगानुभव करके चिकित्सको द्वारा 'मिट्टी' पर लिखी हुई वहुत सी पुस्तके प्रकाश मे आ चुकी है। विश्ववद्य महात्मा गांधी तो इसकी खूवियो के इतने कायल थे कि वह प्राय सभी

प्रकार के रोगो मे मिट्टी की पट्टी तथा उसके लेप का प्रयोग किया करते थे। ऐसी दशा मे जब कि आभ्यन्तरिक शुद्धि के लिए मिट्टी का सफल प्रयोग सिद्ध हो चुका है तब बाह्य शारीरिक शुद्धि के लिए उससे अधिक उपयुक्त अन्य कोई वस्तु हो सकती है—यह कहना नितात कठिन है।

आज हम काम काज की जल्दी मे, या शास्त्रीय वचनो पर अश्रद्धा के कारण स्मृतिकारो की उर्प्युक्त व्यवस्था पर ध्यान नही देते। मिट्टी द्वारा लिंग गुदा शोधन की तो कौन कहे, हाथो पर भी जैसे तैसे एक दो बार मिट्टी लगाई, दो चार कुल्ले किये कि छूमन्तर मे ही शुद्धि हो गई। देहात मे रहने वाले अनपढ भाइयो की तो बात छोड़ दीजिए, वे तो शारीरिक सफाई के महत्त्व से नितांत अपरिचित ठहरे, शहर मे रहने वाले उन पढे लिखे बाबुओ का—जिन्होने कि स्कूल मे न जाने सफाई के बारे मे कितनी पुस्तके पढ़ २ कर फाड डाली हैं और न जाने कितने 'सफाई सप्ताह' मनाये हैं—भी यही हाल है।

सुजाक गर्मी बवासीर भगन्दर आदि भयङ्कर बीमारियो मे कराहना, डाक्टरो की जेब भरना और अन्त मे अकाल मे ही कालग्रसित हो जाना तो लोग अच्छा समझते हैं किन्तु स्मृतिकारो का यह लिंग गुदा हस्त आदि का शोधन विधान उनके लिये गिरदर्द बन जाता है। यदि वे प्रति दिन दो चार मिनट के लिए इस ओर ध्यान दे लिया करे तो शारीरिक यन्त्र के इन पुर्जो की समुचित सफाई हो जाने से उपरोक्त बीमारियो का कोई डर ही न रहे। हाथो की सफाई के प्रोग्राम मे तो पांच-सात मिनट का समय अवश्य दिया जाना चाहिए, क्योकि सभी लोग इस बात से अच्छी तरह परिचित है कि वही हाथ शौचालय की परिधि से बाहर निकल कर कुछ देर बाद सभी खाद्य वस्तुओ को स्पर्श

करते है। दुर्भाग्य से यदि उनकी भलीभाति सफाई न हो तो वह मल, उस खाद्यसामग्री के साथ हमारे शरीर मे जाकर, कितने ही रोगो की उत्पत्ति का कारण बन सकता है।

इस विषय मे हमे प्रत्यक्षवाद का ही आश्रय नही लेना चाहिये क्योकि प्रत्यक्ष मे तो, यदि बिना मिट्टी के साधारण जल से हाथ धो लिए जाएँ, तो भी वे उतने ही साफ दिखाई देगे जितने मिट्टी से साफ करने पर। मल के उन दूषित कीटाणुओ को, हम सूक्ष्म दर्शक यन्त्र (दुरबीन) की सहायता से ही भलीभाति देख सकते हैं, अन्यथा नही। तब उनके अस्तित्व के प्रमाणित होने की दशा मे, क्या हमारा यह कर्तव्य नही कि उनसे बचने के लिए हम भारतीय शारीरिक वैज्ञानिको द्वारा निर्धारित नियमो का आदर के साथ पालन करे।

इधर कुछ दिनो से धार्मिक विधानो के विरुद्ध पश्चिम की ओर से जो क्राति की प्रबल बाढ आई है, उसमे अन्य वस्तुओ के साथ बेचारी मिट्टी भी बह गई और उसके स्थान मे बाबू लोगो के हाथो मे साबुन नजर आने लगी है। अब तक तो उसका प्रयोग नहाने कपडे धोने वगैरह के काम मे होता था अब शौच के हाथ धोने मे भी उसका प्रयोग होने लगा है। नव प्रयोग की इस दौड मे सबसे आगे वे लोग है जो भारत भूमि से अनन्य प्रेम रखने का दावा करते है किन्तु जिन्हे यहा की प्राय प्रत्येक वस्तु से—यहा तक की मिट्टी से भी—सख्त नफरत है। वे मिट्टी से हाथ धोना शान और सभ्यता के प्रतिकूल समझते है। इसे हम उन लोगो की भूल के सिवाय और क्या कह सकते है ?

विशुद्धि करण के विषय मे यदि साबुन और मिट्टी की तुलना की जाय तो आप देखेगे कि सर्व सुलभ तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म मलीय अश का शोधन करने मे समर्थ होने के कारण मिट्टी का जो महत्त्व

हो सकता है वह साबुन का नही। मिट्टी, क्षार और रूक्ष होती है, साबुन क्षार और स्निग्ध। विशुद्धि करण मे सर्वदा विजातीय पदार्थ का ही प्रयोग लाभप्रद होता है। पित्त की प्रधानता के कारण मल के अन्दर एक प्रकार का लेस=चिकनाई का अश होता है। पानी द्वारा हाथ धो लेने पर भी उस चिकनाई का सूक्ष्माश हाथ मे लगा ही रह जाता है। उस लेस को दूर करने के लिये मिट्टी जैसी क्षार और रूक्ष तत्त्व वाली वस्तु का ही प्रयोग होना चाहिए। साबुन मे क्षार=मैल को उखाड़ने की सामर्थ्य—तो है किन्तु वह, तेल आदि चिकनी वस्तुओ के साथ मिला हुआ है। फलत वह सजातीय होने के कारण हाथ मे लगे हुए स्निग्ध मलाश को साफ करने मे कैसे समर्थ हो सकता है? आपने देखा होगा कि यदि कपडे पर तेल का दाग पड जाता है तो वह साबुन से नही उतरता किन्तु छानस वगैरह से साफ किया जाता है। इसलिए मिट्टी से परहेज करने वाले साबुन से हाथ धोये और शौक से धोये, परन्तु वह इस भुलैय्या मे न रहे कि आज के कथित उन्नत युग ने मिट्टी के मुकाबले मे वस्तुशोधन के लिए कोई नवीन आविष्कार किया है।

कौन मिट्टी न ली जाय?—

मिट्टी का प्रयोग करने वाले सज्जन भी इतना ध्यान अवश्य रक्खे कि वह मिट्टी कहा से ली जाय। सभी स्थानो की मिट्टी शोधनकारक हो, ऐसी बात नहीं है। अपवित्र और गन्दे स्थान की मिट्टी लाभ पहुँचाने की अपेक्षा हानिकारक होती है। भला जो मिट्टी सूखे हुए मल से ही बनी हो वह हाथो को क्या पवित्र करेगी? इसलिये महर्षियो ने इसकी भी व्यवस्था की है, यथा-

अन्तर्जलाद् देवगृहाद्वाल्मीकान्मूषकगृहात् ।
कृतशौचस्थलाच्चैव न ग्राह्याः पञ्चमृत्तिकाः ।।

अर्थात्—जल के अन्दर से, मन्दिर मे से, बाबी एव चूहे के बिल मे से और शौच लघुशङ्का आदि के अपवित्र स्थान से मिट्टी न लेनी चाहिये ।

यह सभी व्यवस्था साभिप्राय है । पानी मे पत्थर ककर काटा आदि न जाने क्या २ पडा रहता है, विविध प्रकार के कीटादि भी होते हैं इसलिए वहा से मिट्टी निकालना खतरे से खाली नही । सभी दर्शनार्थी यदि मन्दिर मे से ही मिट्टी खोद २ कर उससे पात्र स्वच्छ करके शिवजी पर जल चढाने लग जाय तो समझ लीजिए वह शिवालय तो चन्द दिनो मे खण्डहर ही बन जाएगा । पहिले मिट्टी जायगी, फिर ईटे उखडेंगी और अन्त में ...... । बाम्बियो और बिलो मे प्राय सर्पादि भयङ्कर जन्तु रहा करते है सो वहा से मिट्टी लेना कभी बहुत महगा पड़ सकता है, मिट्टी लेते हुए यदि एक बार भी अगुली मे नाग देवता ने फूक मारदी तो फिर आप भी मिट्टी ही बन जाएँगे । शौचस्थलादि के बारे मे तो ऊपर पर्याप्त लिखा जा चुका है । आशा है इतने से इस सम्बन्ध को शङ्काओ का यथेष्ट समाधान हो सकेगा और हम शास्त्रनिर्दिष्ट विधि के पालन द्वारा स्वास्थ्य लाभ कर सकेगे ।

मलमूत्र त्याग और शुद्धि के विशेष नियम—

मलमूत्र त्याग और शुद्धि के सम्बन्ध मे शास्त्र मे कुछ विशेष नियम भी लिखे हैं आस्तिक जनता उन अतीव उपयोगी नियमो का पालन करके अपने स्वास्थ्य को सुस्थिर रख सके एतदर्थ हम उन्हे भी यहा लिखते है, तद्यथा—

(क) न सोपानत्को मूत्रपुरीषे कुर्य्यात् (आचारादर्श)

(ख) न गच्छन्नापि च स्थितः (मनु)

(ग) नानन्तवासा कुर्य्यात् (शखलिखित)

(घ) यथासुखमुखः कुर्य्यात् (मनु)

(ङ) यावत्साध्विति मन्येत तावच्छौचं विधीयते ।
प्रमाणं द्रव्यसंख्या वा न शिष्टैरुपदिश्यते ।(देवल)

अर्थात्—(क) जुर्राब, डोरे वन्धा फुल वूट, पहिनकर मल-मूत्र का त्याग नही करना चाहिए । (ख) चलते चलते और गुदा के सहारे वैठकर या खडे २ (ग) वहुत से कपडो से लदे हुए मल-मूत्र का त्याग नही करना चाहिये । (घ) वायु की गति और स्थान की वनावट के कारण जिस दिशा की ओर मुख करके वैठने मे सुविधा हो वैसे वैठकर मलमूत्र का त्याग करे (ङ) जव तक मन ठीक २ न माने तव तक जल मृत्तिका आदि के प्रयोग से शुद्धि करनी चाहिए । कितनी मिट्टी, कितना जल और कितनी वार ? यह नाप तोल शिष्ट सम्मत नही ।

उपर्युक्त नियमो के लाभ स्वयं व्यक्त हैं, जुर्राव और सभ्य समाज मे निरन्तर पहिने जाने योग्य जूते पहिने मलमूत्र का त्याग करने से अवश्य ही मलमूत्र और जल की छीटो से उनके सन जाने का अनिवार्य अवसर है इसलिए प्राय. घिसे टूटे पुराने छीतर केवल टट्टी के लिए नियत रहते है । चलते फिरते और खडे होकर किवा गुदा के वल वैठकर मलमूत्र का त्याग भली प्रकार हो ही नही सकता । योरपीन ढग की ऊँची उठी टट्टियो

(कमोड) का प्रसार और खडे २ पेशाब छोडने की आदत मिस्टर कुतुबुद्दीन के चेले चाटो को ही शोभा देती है। बहुत से कपडो से लदे २ टट्टी मे तशरीफ ले जाना निस्सन्देह मकडी की भाँति अपने तने जाल मे स्वय उलझे रहने के बराबर है। खुले जगलों मे वायु की प्रगति के विचार से अमुक दिशा की ओर मुख करने का नियम पालनीय और उपादेय है परन्तु शहरो की टटिटयो मे अगत्या सुविधानुसार 'यथा-सुख-मुख' बैठना ही स्वाभाविक है। खोवा, खीर और मैदे के बने पदार्थ खाने से कभी २ कोष्ठबद्धता के कारण अपच मल, गुदा और हाथ से ऐसा सश्लिष्ट होता है कि जिसे दूर करने के लिए अधिक बार जल मिट्टी का प्रयोग करने की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, सो शुद्ध हो जाने की कसौटी तुले नपे जल मिट्टी को उतनी बार लगाना नही— किन्तु (मनस्तोष) की अवधि ही नियत की जा सकती है।

(क) वसाशुक्रमसृङ् मज्जा मूत्रविट्कर्णविण्णखाः।
श्लेष्माश्रुदूशिकास्वेदा द्वादशैते मला नृणाम् ॥

(ख) आददीत मृदोपश्च षटसु पूर्वेषु शुद्धये।
उत्तरेषु च षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुद्धयति (बौधायन)

अर्थात्—(क) (१) चर्बी, (२) वीर्य, (३) रुधिर, (४) मज्जा, (५) मूत्र, (६) विष्ठा,—(७) कान का मैल, (८) नाखून, (९) कफ, (१०) आसू (११) आख की ढीढ और (१२) पसीना ये बारह मल मनुष्य के होते है। (ख) इनमे पहिले ६ मलो को साफ करने के लिए जल मिट्टी दोनो का प्रयोग आवश्यक है। अन्तिम छः मल केवल जल के द्वारा ही शुद्ध हो जाते हैं।

अरण्येऽनुदके रात्रौ चौरव्याघ्राकुले पथि।
कृत्वा मूत्रपुरीषं च द्रव्यहस्तो न दुष्यति (वृहस्पति)

अर्थात्—जगल मे, जल रहित मरुभूमि मे, रात्रि के समय चोर और बनेले हिंसक पशुओ के खतरे वाले मार्ग मे, हाथ मे सामान सँभाले २ मलमूत्र का त्याग करने पर किंवा बिना धुले हाथो उठाई हुई वस्तु अशुद्ध नही होती। ऐसे आपद्धर्म काल मे केवल सूखी मिट्टी मलने से ही, हाथ शुद्ध समझने चाहिये और अपने स्थान पर पहुँचकर शुद्धि कर लेनी चाहिए।

दन्त धावन

औदुम्बरेण दन्तान् धावेत्। (पारस्कर गृह्यसूत्र)

अर्थात्—गूलर की दातुन से दातो को स्वच्छ करना चाहिए।

दन्त धावन हमारी दैनिक चर्या का अग है। प्रतिदिन प्रात-काल शास्त्रोक्त वनस्पतियो मे से किसी भी वनस्पति की हरी ताजी दातुन से दातो को स्वच्छ तथा निर्मल बनाना प्रत्येक स्वास्थ्याभिलाषी पुरुष का आवश्यक कर्तव्य है। सभी लोग इस बात को अच्छी तरह जानते है, कि दांतो का शरीर मे विशेष महत्त्व है। जिस आहार से प्राणिमात्र के शरीर की रचना तथा पोषण होता है उसको पीसकर आमाशय के योग्य बनाना दातो का ही कार्य है। चूकि मनुष्य के लिये, आहार की आवश्यकता जीवन के अन्तिम क्षण तक है, इसलिए दातो की आवश्यकता भी उस क्षण तक समझनी चाहिए। इस दृष्टि स यदि इन्हे जीवन का आधार कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नही। शरीर रूपी दुर्ग के मुख्य द्वार के यह सचेत प्रहरी यदि जरा भी असावधानी करें तो मनुष्य

जोवन किसी भो क्षण घोर सकट मे पड सकना है। इन्हो विश्वस्त प्रहरियो के भरोसे मनुष्य कच्ची पक्की, सूखी हरी, नम कठोर, खाद्य अखाद्य सभी प्रकार की वस्तुए खा बैठता है और यह उनको पीसकर जीवनोपयोगी बना डालते है।

दातों के इस सब महत्त्व से परिचित होते हुए भी आज, जनसाधारण इनकी रक्षा और पोषण के लिए कितना प्रयत्न करते हैं इसका दिग्दर्शन—२० वर्ष की अवस्था मे ही डैटिस्टो की शरण लेकर नए दात चढवाने वाले आधुनिक युवको को देखकर भली-भाँति किया जा सकता है। पहिले जहाँ अस्सी-नब्बे वर्ष के बूढे दातो से चने चबा लिया करते थे, वहाँ आज बीस-तीस वर्ष की अवस्था मे ही दातो मे पायोरिया की बीमारियें लग जाती है। दातो से खून आने लग जाता है और देखने मे अच्छे-भले नवयुवक, दातो की खराबी के कारण अन्य अनेक बीमारियो के शिकार हो जाते हैं। वहुत थोडे लोग इस बात को समझते हैं कि दातो के खराब हो जाने का तात्पर्य है—मृत्यु की ओर एक कदम ! क्योकि दातो के गिर जाने के बाद फिर मनुष्य का आहार बिना चबाया या कम चबाया ही पेट मे पहुँचता है, जिसे रसरूप मे परिणत करने के लिये आमाशय को अत्यधिक परिश्रम करना पडता है। परिणाम यह होता है कि कुछ दिनो बाद उसकी शक्ति मन्द पड जाती है और मनुष्य रोगी बन जाता है।

दातो को बलिष्ठ और अच्छी दशा मे रखना कुछ कठिन नही है। शास्त्रीय आदेशानुसार यदि हम प्रतिदिन नियत समय पर दन्तधावन करे तो १०० वर्ष तक भी दातो के हिलने या गिरने का कोई सवाल ही पैदा न हो, लेकिन शर्त यही है कि वह दन्तधावन क्रिया की जाय शस्त्रीय पद्धति से ही। आज की

मनमानी विधि से नही, कि प्रात वाहर टहलने निकले, वही से दातुन तोडी और करते २ घर का रास्ता पकडा। रास्ते में यार दोस्तो से गप्पे भी चल रही हैं, दातुन भी हो रही है और टहलना भी! एक पथ तीन काज!! तीन काज के वजाय यहा चार काज कहदें तो ज्यादा अच्छा रहे, क्योकि दातुन करते समय दातो से उतरने वाला मल, पानी के कुल्ले के अभाव मे वातो के स्वाद के साथ धीरे २ पेट मे भी तो उतरता जाता है, जो वहा जाकर पुन फुन्सी फोडे, खुजली दाद वगैरह के सुन्दर सलोने रूप मे वाहर आकर दर्शन देता है, या पेट मे कीड़े उत्पन्न करके भले चगे स्वस्थ व्यक्ति को चारपाई का आश्रय लेने को विवश कर देता है।

दुर्भाग्य से हमारे देशमे एक दल और है जो दातोकी सफाई का महत्त्व तो खूब समझता है किन्तु उसके मत से इस कार्य के लिये उपयुक्त समय प्रात.काल नही, किन्तु भोजनानन्तर मध्याह्नकाल है। भोजनोपरान्त दातुन करना शायद इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, कि उस समय जीभ की सफाई, हलकौवा आदि करने से सब खाया पीया वमन होकर दांतो के साथ २ पेट की भी सफाई हो जाती है! या वार वार थूकने से अग्निमाद्य होकर इस असार ससार से जल्दी ही विदा हो जाने में सहायता मिलती है! इस प्रकार की सभी चेष्टाये लाभकारक तो कदापि सिद्ध नही होती यह निर्विवाद है। इसलिये ऊपर कहा गया है कि दन्तधावन क्रिया, तभी वास्तविक लाभकारी हो सकती है जवकि इसका आचरण शास्त्रीय विधि से हो। 'वह कव की जाय कव नही, कैसे की जाय? दातुन किस वृक्ष की हो?' इत्यादि वातो को जाने विना हम यदि उसका प्रयोग भी करते है तो उससे लाभ के स्थान पर हानि की अधिक सम्भावना रखनी चाहिये।

अमुक काष्ठ से अमुक लाभ--

दातुन का प्रयोग केवल दातो की सफाई के लिये ही होता हो ऐसी बात नही है। आयुर्वेद प्रणेता चरक एव सुश्रुत आदि महर्षियो ने दातो की सफाई के साथ २ दातुन का प्रयोग चिकित्सा पद्धति के तौर पर अनेक रोगो की निवृत्ति के लिये भी किया है। आज जब हम उन क्रान्तदर्शी महर्षियो द्वारा निर्दिष्ट प्रयोगो की शत प्रतिशत सफलता देखते हैं तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उदाहरणतया पाठको के दिग्दर्शनार्थ हम आयुर्वेदोक्त कुछ प्रयोगो का निदर्शन नीचे कराते है जिससे सभी सज्जन यथेष्ट लाभ उठा सकते है यथा—

(क) वदर्या मधुरः स्वरः। (ख) उदुम्बरे च वाक्सिद्धिः।
(ग) अपमार्गे स्मृतिर्मेधा। (घ) निम्बश्च तिलके श्रेष्ठः।

अर्थात्—(क) यदि दातो की सफाई के साथ गले मे माधुर्य भी लाना हो तो बेर की दातुन करनी चाहिए। (ख) यदि जीभ लडखडाती हो—हकलापन हो तो नियमपूर्वक गूलर को दातुन करने से वह रोग दूर होकर वाणी सिद्ध (ठीक) हो सकती है। (ग) स्मरण शक्ति की निर्बलता या बुद्धिमाद्य के लिए अपामार्ग की दातुन का प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद है। (घ) मुख की दुर्गन्ध दूर करने के लिये—पायोरिया जैसे रोगो मे नीव की दातुन श्रेष्ठ है।

दातुन किस वृक्ष की और कैसे ?--

जडी बूटियो एव वनस्पतियो के गुणावगुणो की खूब छानबीन तथा उनका प्रयोगात्मक अध्ययन करके ही प्राचीन शास्त्रकारो

ने दातुन के व्यवहार मे आने योग्य वृक्षो का निर्धारण किया है। निम्नलिखित वनस्पतिये इसके लिये प्रशस्त समझी जाती हैं, यथा—

करञ्जोदुम्बरौ चूतः कदम्बो लोध्रचम्पकौ ।
वदरीति द्रुमाश्चेते प्रशस्ता दन्तधावने ॥

अर्थात्—करञ्ज, गूलर, आम, कदम्व, चम्पक और वेर यह वृक्ष दन्तधावन के लिये प्रशस्त हैं। इनके अतिरिक्त कीकर, नीव आदि का प्रयोग सुलभ तथा लाभकारी भी है। खदिर (खैर) का तो नाम ही कोषकारो ने 'खदिरो दन्तधावन' कहकर दातुन के लिये उसकी उपयुक्तता का समर्थन किया है।

इनमे से किसी भी वृक्ष की दातुन प्रतिदिन नियम पूर्वक प्रात. काल अवश्य करनी चाहिए। दन्तधावन के समय जल का पात्र समीप मे होना चाहिये। यदि किसी नदी या तालाव का किनारा हो तो सवसे अच्छा किन्तु जल स्वच्छ तथा निर्मल हो। वीच २ मे कुल्ला अवश्य करते रहना चाहिये जिससे दातो से उतरने वाला मल साफ होता रहे और अन्त मे ठण्डे जल से मुख तथा नेत्रो को खूव धोना चाहिये। ऐसा करने से आँखो की गर्मी शान्त हो जाती है, दृष्टि मन्द नही होती और न कोई नेत्र रोग ही होता है। यदि साधारण जल की अपेक्षा आवले या भिल्ल से मिश्रित कषाय जल का उपयोग किया जाय तो वह और भी लाभकारी हो सकता है, जैसा कि 'चर्यामजरी' मे वत-लाया गया है—

भिल्लोदककषायेण तथैवामलकस्य वा ।
प्रक्षालयेन्मुखं नेत्रे स्वस्थं शीतोदकेन वा ॥

दातुन बनाम टूथपेस्ट ?

विदेशी लोगो की देखा देखी आज भारत मे भी टूथपेस्ट का अधिकाधिक प्रचार हो रहा है। ऐसा ज्ञात होता है, मानो विदेशी प्रभु अन्य वपौतियो के साथ २ यह घृणित वस्तु भी काले साहबो को उत्तराधिकार मे सौप गये हैं और इसकी रक्षा तथा प्रचार उनका परम कर्त्तव्य है। विशुद्ध हरी ताजी बनस्पति को छोडकर एक ऐसी वस्तु को—जिसके विषय मे हम कुछ भी नही जानते कि उसका निर्माण किन-किन वस्तुओ से और कब हुआ है—बिना सोचे समझे मुह मे डाल लेना कहा की बुद्धिमत्ता है ? फिर वह बुरुश जिससे रोज दात साफ किये जाते है, मैल को अपने अन्दर जज्ब करके इतना दूषित हो जाता है कि वह दातो को ऊपर से साफ करता हुआ भी उनके अन्दर पायरिया के जर्म्स छोड़ देता है और थोडे ही समय मे दातो की जड से सफाई हो जाती है। जहा, परिवार के सभी व्यक्ति उस एक बुरुश से ही दातो की सफाई करते हो, वहाँ तो समझिये उन लोगो के विनाश में अधिक समय नही। भिन्न-भिन्न प्रकृति के पाच व्यक्ति—जिनमें कई शारीरिक व्याधि ग्रस्त भी हो सकते हैं, एक ही चीज को बारी २ से मुह मे डालने के बाद स्वास्थ्य की कामना कर तो इससे अधिक आश्चर्य की बात क्या हो सकती है ?

टूथपेस्ट जैसी अपवित्र और महगी वस्तु का प्रयोग यूरोप अमेरिका जैसे धनी देशो मे ही शोभा दे सकता है और उन ही व्यक्तियो के लिये लाभकारी भी हो सकता है जो हर सप्ताह के बाद बुरुश को बदल डाले। हमारे इस गरीब देश मे ऐसी प्रथा का पनपना, देश का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है। जहाँ ७५

प्रतिशत जनता दोनों जून भरपेट भोजन भी न प्राप्त कर सकती हो वहा विना मूल्य प्राप्त होने वाली वस्तु के स्थान मे,—एक ऐसी वस्तु के प्रचलन का प्रचार करना—जिसके लिये कि कीमत चुकानी पडे, कहा तक न्याय्य हो सकता है ?

यह कहा जा सकता है कि आज के सकुल देश काल मे दातुन सव समय मे सुलभ नही है और विशेषकर शहरो मे रहने वाली जनता–जो कि करोडो की सख्या मे है—यदि टूथपेस्ट या पाउडर का प्रयोग न करे तो काम नही चल सकता, परन्तु हमे यह भली-भाति समझ लेना चाहिये कि ऐसी दशा मे हमारे सामने दो ही मार्ग हैं—या तो हम स्वय अपने हाथो से तैयार किये हुए मजन पाउडर वगैरह का प्रयोग करे, या फिर नमक और तेल का प्रयोग किया जाय। चुटकी भर नमक मे दो वूद सरसो का तेल डालकर उससे दातो को साफ करना, सौ टूथपेस्ट या पाउडरो के मुकावले मे अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। यह योग दांतो की सभी खरावियो के लिये अनुभूत चिकित्सा के तौर पर सम्पूर्ण देश मे प्रयोग किया जाता रहा है। टूथपेस्ट का प्रयोग करने वाले सज्जन इसे अपनाकर व्यर्थ व्यय से वच सकते हैं। नमक और तेल दोनो ही हमारे खाद्य है यदि उनका कुछ अश अन्दर चला भी जाय तो कम से कम किसी हानि की सम्भावना तो नही है, जवकि टूथपेस्ट मे पडने वाली वस्तुओ के विषय मे ऐसी कोई गारन्टी नहीं दी जा सकती। पवित्रता तथा अपवित्रता के दृष्टि-कोण से हमने इस प्रश्न को विल्कुल स्पर्श नही किया है, क्योकि हम समझते हैं कि जिसने किसी वस्तु को असली रूप मे जाने विना ही उसे मुह मे डाल लिया है उसका पवित्रता सम्वन्धी विचार तो पहिले ही समाप्त हो चुका है इसलिये हमने स्थूल दृष्टिकोण से ही इस प्रश्न को परखा है।

कब न करें ?—

दातो का सम्बन्ध चूकि समस्त शरीर के साथ है इसलिये बहुत सी शारीरिक व्याधियो की दशा मे दातुन नही करनी चाहिये। ऐसा करने से वह शारीरिक व्याधि बढ जाती है और करने वाले को लाभ की बजाय हानि उठानी पडती है। आयुर्वेद मे बतलाया गया है कि—

मुखस्य पाके शोथे च कर्णरोगे नवज्वरे।
शिरोरुजार्दिते श्रान्ते नेत्ररोगे मदात्यये।
तृषिते चार्दिते कण्ठे रोगे ताल्वोष्ठजे गदे ॥
जिह्वामये दन्तरोगे श्वासकासावमीषु च।
पानात्यये तथा जीर्णे मूर्च्छायां दुर्बले तथा।
हिक्कारोगार्दिते जन्तौ नेष्यते दन्तधावनम् ॥

अर्थ—मुख मे छाले पडे हुए हो या सूजन हो, कानो मे पीडा हो, नया बुखार, शिर दर्द, नेत्र रोग, प्यास आदि के समय, गला, तालु ओष्ठ जिह्वा आदि की बीमारी मे, दन्त रोग मे, खासी और अजीर्ण के समय, शारीरिक दुर्बलता मे, मृगी मे, और हिक्का रोग मे मनुष्य को दातुन नही करनी चाहिये।

व्यायाम—

दिनचर्या मे व्यायाम का वही महत्त्व है जो भोजन का। जैसे शरीर को जीवित रखने के लिये प्रतिदिन भोजन की आवश्यकता है इसी प्रकार उस खाये हुए भोजन को पचाने के लिये

व्यायाम भी अनिवार्य है। एक सनातनधर्मी के हृदय मे स्नान सध्या भगवदुपासना के लिए जितनी श्रद्धा और प्रेम है उतना ही व्यायाम के लिये भी होना चाहिये, क्योकि—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।

अर्थात्—शरीर ही धर्माचरण का मूल साधन है। यदि शरीर ही अस्वस्थ हुआ तो किसका स्नान और कैसी सध्या ? आयुर्वेद शास्त्र मे लिखा है कि—

व्यायामदृढगात्रस्य व्याधिर्नास्ति कदाचन ।
विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते ॥१॥
भवन्ति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलतादयः ।
न चैनं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति ॥२॥
न चास्ति सदृशं तेन किंचित्स्थौल्यापकर्षणम् ।
स सदा गुणमाधत्ते बलिनां स्निग्धभोजिनाम् ॥३॥

(भाव प्रकाश)

अर्थात्—व्यायाम द्वारा दृडाङ्ग हुए मनुष्य पर रोगो का सहसा आक्रमण नही होता। देश कालादि के विरुद्ध किंवा कच्चा पक्का खाया हुआ आहार शीघ्र पच जाता है। व्यायामशाली पुरुप का देह मे शैथिल्य आलस्य आदि दुर्गुण नही होते और उसे बुढापा जल्दी नही दबा सकता। मोटापे को दूर करने को व्यायाम परमौषधि है, बलिष्ठ पुरुप स्निग्ध पदार्थ खाता हुआ यदि व्यायाम करे तो उसे सदैव लाभ ही लाभ होता है।

व्यायाम क्यों ?—

व्यायाम, धर्मसाधनभूत इसी देह को स्वस्थ रखने की कुञ्जी है।

नियम पूर्वक व्यायाम—अगो के परिचालन—से सभी शारीरिक अगो को समान बल की प्राप्ति होती है और वे सुन्दर सुडौल तथा सुदृढ बन जाते है। हृदय को स्फूर्ति प्राप्त होती है और उसमे एक ऐसा नवीन ओज भर जाता है, जिसके कारण मनुष्य कठिन से कठिन परिश्रम करने से भी नही हिचकिचाता। वह, प्रत्येक कार्य उत्साह पूर्वक प्रारम्भ करता है तथा उसे सफलता तक पहुँचाकर ही विश्राम लेता है। मानव का सबसे बडा शत्रु आलस्य, ऐसे व्यक्ति की ओर झाकता भी नही। यह सब हमारी कोरी कल्पना नही किन्तु आयुर्वेद प्रणेता महर्षि चरक के दीर्घ जीवन के अनुभवो का सार है। व्यायाम की आवश्यकता पर जोर देते हुए उन्होने उसके अमित लाभो का वर्णन किया है, यथा—

शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा॥
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यञ्चापि परमं व्यायामादुपजायते॥

अर्थ—व्यायाम से मनुष्य के सम्पूर्ण अगो की वृद्धि होकर शारीरिक सौन्दर्य उत्पन्न होता है। अग, सुन्दर तथा सुडौल बन जाते है। पाचन शक्ति की वृद्धि होती है, आलस्य, पास नही आता। शरीर मे स्फूर्ति तथा चतन्यता का अनुभव होता है। भूख प्यास धूप गर्मी कठोर परिश्रम, थकान आदि को सहने का अभ्यास हो जाता है और सबसे मुख्य बात यह है कि शरीर मे कोई रोग उत्पन्न नही होता, यह तो हुआ व्यायाम सम्बन्धी 'क्यो' का शाब्दिक विवेचन। इसका वास्तविक अनुभव तो

आचरण पर ही निर्भर है, आये दिन बड़े २ पहलवानो को हम देखते ही हैं और यदि अपने ऊपर अनुभव करना चाहे तो महर्षि चरक के इन शब्दो की यथार्थता का अनुभव थोड़े दिनो के व्यायाम से हमे भी हो सकता है।

भारतीय व्यायामपद्धति—

हमारा यह पुण्य देश अपनी ज्ञानगरिमा के कारण जहा सब देशो का सिरमौर और 'विश्वगुरु' कहलाता रहा है, वहा बल एव शक्ति मे भी वह कभी किसी से पीछे नही रहा। शक्तिशाली चक्रवर्ती सम्राटो के अतिरिक्त भारतीय इतिहास के देदीप्यमान रत्न श्री रामभक्त हनुमान् अपनी शूर वीरता मे विश्व इतिहास के एक ही व्यक्ति हैं, जिनके नाम पर भारतीय सेना का सर्वश्रेष्ठ पदक 'महावीर चक्र' चल रहा है। प्राचीन इतिहास के ब्रह्मचारी भीष्म और महाबलशाली भीमार्जुन आदि की गाथाये तो विश्वविश्रुत हैं ही, किन्तु इसी सदी के सुप्रसिद्ध भारतीय पहलवान 'राममूर्ति' के लोकोत्तर चमत्कार पूर्ण शारीरिक प्रदर्शन तो कल ही की वस्तु हैं जिन्हे देखकर विदेशियो को भी दांतो तले अगुली दबानी पडी थी। अस्तु,

प्राचीन भारत मे, न बलशाली पुरुषो की कमी थी और न बल के साधन व्यायामो की। व्यायाम को लोग धार्मिक कृत्य समझते थे। बडी पुण्यभावना से उस मे भाग लेते थे। सार्वजनिक व्यायाम शालाएँ होती थी और समय समय पर अन्त-प्रातीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मल्ल-प्रतियोगिता होती थी जिसमे देश विदेशो के पहलवान उपस्थित होकर अपने शारीरिक बल का परिचय दिया करते थे। ऐसी ही एक मल्ल प्रतियोगिता के निमन्त्रण पर भगवान् कृष्ण ने मथुरा पहुंचकर कस का वध किया था, तथा

ऐसी ही एक मल्ल प्रतियोगिता मे जरासध की मृत्यु हुई थी। कुश्तियो के अलावा दण्ड बैठक, मुग्दर परिचालन, कबड्डी, दौड, आसन और सूर्य प्रणामादि वे भारतीय व्यायाम विधि है जिनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ करके यावज्जीवन नीरोग रह सकता है।

हमारे देश मे प्राचीन काल मे जिन व्यायाम पद्धतियो का विकास हुआ उनमे योग का प्रमुख स्थान है। भारतीय वाड्मय मे योग एक ऐसी अद्भुत विद्या है जो-शरीर और आत्मा, सासारिक सुख और कैवल्य आनन्द, इहलोक और परलोक—दोनो का समान समन्वय करके मानव को ब्रह्म मे लीन कर देती है। योग की क्रियाये दुहरी मार करती है। एक ओर वे शरीर को स्वस्थ बलशालो और रोगविहीन बनाती है दूसरी ओर मनुष्य की आत्मा को उन्नत करके उसे ब्रह्म की सायुज्य मुक्ति का अधिकारी बना देती हैं। योग का स्थान व्यायाम पद्धति मे भी है और ब्रह्मविद्या मे भी। आज के इस गये गुजरे जमाने मे जब कि योगविद्या बिलकुल लुप्तप्राय है कभी २ हमे योगासनो और और यौगिक व्यायाम के चमत्कार देखने का अवसर मिल जाता है और उस समय हमारे आश्चर्य का पारावार नही रहता जब हम देखते हैं कि शरीर के वे असाध्य से असाध्य रोग जो हजारो रुपये खर्च करने पर भी दूर न होते थे एक साधारण से आसन के अभ्यास से कुछ ही समय मे बिल्कुल निःशेष हो गये।

तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारत मे व्यायाम के लिए भिन्न भिन्न विधिये काम मे आती थी। विभिन्नता के बावजूद भी इनमे हमे एकरूपता भी देखने को मिलती है और वह है—सर्व सुलभता। क्या अमीर क्या गरीब, सभी लोग बिना किसी प्रकार

के खर्च के इन साधनों से यथेष्ठ लाभ उठा सकते थे। आज के व्यायाम के साधन–हाकी फुटवाल, क्रिकेट, टैनिस इत्यादि सभी व्यय साध्य हैं, प्रतिमास शुल्कादि देकर ही लोग इन खेलो को चालू रख सकते हैं किन्तु भारतीय व्यायाम पद्धति में इस प्रकार के किसी व्यय की आवश्यकता नही थी। केवल खुली हवा और खुला मैदान चाहिये, वस। इन विधियो मे आसन और सूर्यप्रणाम आदि की विधि व्यायाम के लिये इतनी उपयुक्त है, कि यदि मनुष्य नियमपूर्वक इनका अभ्यास करे तो उसे न केवल रोगो से छुटकारा मिल जाय, अपितु उसके शरीर मे रोग उत्पन्न ही न हो।

सूर्यप्रणाम

यह व्यायाम प्रात सूर्य-वन्दनापूर्वक प्रारम्भ होता है और अष्टविध अभ्यास द्वारा पूर्ण किया जाता है। यो समझ लीजिये कि आठ प्रकार से भगवान् सूर्य को प्रणाम किया जाता है और प्रत्येक अभ्यास मे, शिर कमर भुजा छाती फेफडे पेट और दोनो पांवों को समान रूप से इतना परिश्रम करना पडता है कि जिस से यह सव अङ्ग बरावर पुष्ट तथा वलशाली हो जाते हैं। आधा घण्टा तक इस अभ्यास के करने से शरीर श्रान्त हो जाता है, तव इसे छोड़ देना चाहिये और वायु मे इधर-उधर टहलना चाहिये। प्राचीन भारत के ऋषि आश्रमो मे जहा कि आज के समान हाकी फुटवाल आदि का प्रचार नही था, व्यायाम की यही विधि वहा से निकलने वाले ब्रह्मचारियो को 'कपाटवक्षा परिणद्धकन्धरः' बनाती थी, इसकी सहायता से वे समय पडने पर लव और कुश की भांति चक्रवर्ती से भी युद्ध ठानने मे पीछे न हटते थे। जिगर तिल्ली सग्रहणी आदि की सम्पूर्ण वीमारियो

के लिये कविराज जी का बहुमूल्य दवाओ का बक्सा एक तरफ और सूर्यप्रणाम सा सरल किन्तु निःशुल्क प्रयोग दूसरी तरफ। यह अब आपको इच्छा पर निर्भर है कि आप किसे अपनाते है।

आज की दयनीय दशा

स्वास्थ्य की दृष्टि से आज हमारा देश बहुत पिछड़ा हुआ है। उस भारत मे जहा कि——'**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**'—का घन गम्भीर वेदघोष देशवासियो को शारीरिक तथा आत्मिक बल सम्पादन की प्रेरणा देता था, जिस देश मे पुरुष, पूर्णायु प्राप्त करने से पहिले मृत्यु को नही प्राप्त होते थे और देश मे मृत्यु, अज्ञात एव अनिवार्य दैवीशक्ति न होकर ईश्वरीय नियम के अधीन उचित समय पर होने वाली घटनामात्र थी। आज, धन्वन्तरि चरक और सुश्रुत के उस देश मे ५० प्रतिशत नौनिहाल बालक जन्मते ही १० दिन के अन्दर प्रकाश मे ही काल के गाल मे समा जाते है। ५ वर्ष की अवस्था तक मरने वालो की संख्या ६० प्रतिशत है और शेष जो रहते हैं वह इतने निर्बल होते हैं कि उन्हे सदा डाक्टरो की शरण लेनी पड़ती है।

इस अभागे देश में प्रतिवर्ष १० लाख व्यक्ति क्षय के ग्रास बन जाते है और जीवित पुरुषो मे भी ९० प्रतिशत स्त्री पुरुष, धातु सम्बन्धी रोगो मे फसे रहते हैं। '**जीवेम शरदः शतम्**' की प्रार्थना करने वाले भारतीय की औसतन आयु, आज केवल २३ वर्ष की है। आज, उसे जवानी के प्रारम्भ मे ही बुढापा आ घेरता है, उसे ज्ञात भी नहीं होता कि कब यौवन आया और चला गया। २०, २५ वर्ष की अवस्था मे, जब वह होश सभालता है तो अपने को, जर्जर शरीर, गाल अन्दर को धसे हुए,

आखो पर चश्मा चढ़ाये, शिर के श्वेत बालो से सुशोभित, थोडे से ही परिश्रम से हाफ जाने वाले 'वृद्ध' के रूप मे ही पाता है।

हमारी स्वास्थ्य सम्बन्धी इस दुर्दशा मे अन्य बहुत से कारण तो है ही, किन्तु व्यायाम का अभाव भी एक कारण है। यह क्या कम दुख का विषय है कि हमे दुनिया के अन्य सब कामो को करने का तो अवकाश है, किन्तु व्यायाम के लिये आध घण्टे का समय नही दे सकते। आज प्रत्येक व्यक्ति—चाहे वह बूढा हो या जवान—के सम्मुख यह प्रश्न है कि दिनानुदिन ह्रास को प्राप्त होती हुई अपनी मानव पीढी को क्या इसी प्रकार विनाश की ओर बढने दिया जाय ? यदि भारतीय जनता दूसरा मार्ग अपनाना चाहती है तो उसे पीछे लौटना होगा। उसे एक बार फिर चरक की पाठशाला मे बैठकर पढ़ना होगा—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।

अर्थात्—आरोग्य—अच्छा स्वास्थ्य ही धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारो का मूल है।

हमे हर्ष है कि राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के शुभ प्रयत्नो से भारतीय जनता मे पुनर्जागरण की भावना उत्पन्न हो रही है। उसके सदस्य दैनिक चर्या के नियमानुसार प्रात. ब्रह्म मुहूर्त मे उठकर मातृ वन्दना पूर्वक सामूहिक व्यायाम मे भाग लेते हैं और भारतीय व्यायाम पद्धति से व्यायाम करते हैं यह शुभ चिह्न है। लोगो को चाहिये यदि वे घर पर नियम पूर्वक व्यायाम नही कर सकते तो ऐसी सस्था मे भाग लेकर ही अपनी स्वास्थ्य सम्पत्ति की रक्षा करे।

तैल मर्दन—

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा ।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुः स्वप्नसुत्वक्त्व-दार्ढ्यकृत् ।
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ।

(वाग्भट-सूत्र स्थान अध्याय २)

अर्थात्—प्रतिदिन तेल मालिश करनी चाहिये इससे बुढापा थकावट और वातजन्य रोगो का नाश होता है। दृष्टि बढती है शरीर पुष्ट होता है। आयु बढती है नीद खूब आती है, त्वचा सुन्दर और दृढ हो जाती है। शिर कान और पावो की तली मे विशेषतया मालिश करनी चाहिये।

यदि आप अणुवीक्षण यन्त्र (खुर्दबीन) की सहायता से अपने शरीर को देखे तो आपको यह जानकर बडा आश्चर्य होगा कि प्रकृति ने इसे जालीदार वस्त्र की तरह इतना झीना बुना है कि आप इसमे कठिनता से सुई की नोक के बराबर भी इतना स्थान नही प्राप्त कर सकते जहाँ छिद्र न हो। हमारे शरीर मे असख्य छिद्र हैं जिन्हे रोम कहा जाता है। यह एक प्रकार की छोटी-छोटी नालियाँ है जो प्रतिक्षण शरीर की दूषित वायु और मल को प्रस्वेद तथा गैस के रूप मे बाहर फेककर और विशुद्ध वायु को अन्दर पहुँचाकर शरीर को जीवित रखने मे सहायक सिद्ध होती हैं।

शारीरिक विज्ञान मे बतलाया गया है कि हमारे रक्त मे (१) लाल (२) श्वेत और (३) सूक्ष्म, तीन प्रकार के रक्त कण या जीवित रक्त कीट होते हैं जिनके ऊपर हमारा जीवन निर्भर है। इन्हे जीवित रहने के लिये विशुद्ध जल वायु और उपयुक्त

भोजन सामग्री की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि हमे। प्रकृति इस आवश्यकता की पूर्ति इन रोमो द्वारा करती है। नाक द्वारा हम इतना वायु अन्दर नही फॅक सकते जितना कि इन रक्त कीटो को जीवित रखने के लिये अपेक्षित है। यह कार्य इन रोमों द्वारा होता है। यदि किसी मनुष्य के शरीर पर तारकोल या राल आदि अन्य किसी ऐसी वस्तु का लेपकर दिया जाय जिससे यह रोम वन्द हो जायें तो आप देखेगे वह व्यक्ति थोडी देर मे छटपटाने लग जाएगा और यदि वह लेप न उतारा जाय तो उसका मर जाना भी असम्भव नही होगा।

अभ्यङ्ग अथवा तैल मर्दन त्वचा के इन्ही रोमो को स्वच्छ एव कार्यक्षम करने का ऐसा प्राकृतिक साधन है जिसका आविष्कार हजारों वर्ष पूर्व शारीरिक विज्ञान प्रणेता भारतीय महर्षियो ने किया और जन-स्वास्थ्य को दृष्टि मे रखते हुए उसे दैनिक-चर्या का एक अङ्ग माना। स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य के लिये तो अभ्यङ्ग का प्रयोग है ही किन्तु रोग चिकित्सा के तौर पर भी तैल मालिश के सफल प्रयोग हुए हैं और आज भी भारत के अपठित देहातो मे, गुम चोट, विविध प्रकार के दर्दो, त्वचा के रोगो और सूजन आदि पर इसका अचूक प्रयोग किया जाता है। यूरोप के लिये अवश्य यह एक नई चीज है, आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व हैनृकलिङ्ग (स्वीडन) तथा डा० मेजर (हालैंड) आदि चिकित्सको के अनुसन्धान से ही वहाँ के निवासियो को इसकी महत्ता का पता चला और वे इस का प्रयोग करने लगे। अस्तु,

तैल मर्दन क्यों ?—

आयुर्वेद की दृष्टि से तैल की उपयोगिता घृत से कुछ कम

नही है जो शक्तिशाली पौष्टिक तत्त्व घृत मे पाए जाते हैं अन्यून वे ही सब तेल मे भी यथेष्ट मात्रा मे मिलते है। यही नही किन्तु महर्षि चरक ने तो—'घृतादष्टगुण तैल मर्दने न तु भक्षणे'–लिख कर तैल मे घृत से आठ गुणा ज्यादा शक्ति को स्वीकार किया है। अन्तर केवल यही है कि घृत, जहा खाया जाने के उपरान्त गुणकारी होता है वहा, तेल, मालिश करने से। आज के इस कगाल युग मे जबकि विशुद्ध घृत, दुग्धादि का सर्वथा अभाव है, चिकनाई (फैट्स) की इस कमी को यदि तेल मदन द्वारा दूर किया जाय तो लोगो का स्वास्थ्य पर्याप्त उन्नत दशा को प्राप्त कर सकता है और खुजली दाद फोडे फुन्सी एक्जीमा आदि त्वचा सम्बन्धी बीमारिये—जो कि खुश्की और गर्मी के कारण उत्पन्न होती है—सर्वथा शान्त हो सकती है। तैलमर्दन का वास्तविक रहस्य तो त्वचा को कोमल, नसो को स्फूर्तियुक्त और रक्त को गतिशील बनाने मे है। त्वचा के रोम जितने स्वच्छ होगे वे उतनी ही तत्परता से वायु के आदान-प्रदान के कार्य को करने मे समर्थ हो सकेगे। यो तो सर्वदा ही वायु मे प्राणशक्ति अन्तर्निहित है किन्तु प्रात काल की वायु मे—सूर्योदय कालीन प्राणशक्ति और चन्द्रमा द्वारा बरसाया हुआ अमृत का अश भी सम्मिश्रित होता है, इसलिए यदि उस समय नियमपूर्वक तेल मर्दन किया जाय तो शरीर के आरोग्य युक्त होने के अतिरिक्त मनुष्य का दीर्घजीवी होना भी स्वत सिद्ध है, इसलिए महर्षि चरक ने लिखा है—

स्पर्शने चाधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम् ।
त्वचश्च परमोऽभ्यंगः तस्मात्तं शीलयेन्नरः ॥

अर्थात्—चूकि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए वायु की प्रमुख

आवश्यकता है, वायु का ग्रहण त्वचा के ऊपर निर्भर है और त्वचा का दारोमदार मालिश पर है इसलिए प्रतिदिन तेल मर्दन अवश्य करना चाहिए।

मालिश के लिए अन्य तेलो की अपेक्षा विशुद्ध सरसो का तेल सबसे अधिक लाभप्रद है। प्रत्येक अंग पर तेल लगाकर उसे खूब मलना चाहिए। यदि शिर मे प्रतिदिन अच्छी तरह तेल मर्दन किया जाय तो सिरदर्द, बालो का गिरना, मस्तिष्क की निर्बलता आदि सभी व्याधियें अपने आप शान्त हो जाती हैं। मालिश करते समय दूसरे तीसरे दिन कानो मे भी तेल की बूंद टपका लेनी चाहिए। ऐसा करने से—

न कर्णरोगा वातोत्था न बात्या हनुसंग्रहाः।
नौच्चैःश्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात् ॥

अर्थात्—कानो मे वातज रोग नही होते, फोडे फुन्सी और जबड़ा संघातका भय नहीं रहता। ऊँचा सुनने और बहरेपनकी व्याधि नही होती। कानो के नीचे के हिस्से पर अगूठे से धीरे धीरे मालिश करनी चाहिए, क्योकि स्नायुवो का सन्धि स्थान होने के कारण इसके मर्दन का प्रभाव सारे वात सस्थान के ऊपर पड़ता है। पैरो के तलुओ के नीचे धीरे २ मालिश, पांवो की बीमारियो के साथ २ नेत्र रोगो की भी अद्वितीय महौषध है। ऐसा करने वालो की दृष्टि कभी कमजोर नही होती।

रवि मंगल आदि वारों को क्यों नहीं?—

पर, यह स्मरण रखिए कि आप तेल मर्दन का वास्तविक लाभ तभी उठा सकते है जब इसका आचरण धर्मशास्त्रानुसार करे। बिना समझे बूझे यदि आप अन्धाधुन्ध तेल रगड़ने बैठ जाय, तो उसका परिणाम खुजली आदि रोगो से भी भयकर रोगो मे फसना

हो सकता है। उदाहरण के तौर पर यू समझिये। धर्मशास्त्र-कारो ने—

तैलाभ्यङ्गे रवौ तापः सोमे शोभा कुजे मृतिः ।

अर्थात्—रविवार को तेल मर्दन से ताप (गर्मी सबंधी रोग) सोम को शारीरिक सौन्दर्य, मगल को मृत्यु, बुध को धनप्राप्ति, गुरु को हानि, शुक्र को दु ख और शनि को सुख होता है।

—इस श्लोक मे रवि मगल आदि वारो को तेलमर्दन का निषेध किया है। इस निषेध की वैज्ञानिकता को न समझते हुए जन साधारण या तो इसे व्यर्थ का ढोंग बतलाने लग जाते है या इस की नितान्त उपेक्षा करते हैं। लेकिन किसी बात को न मानने या जान बूझकर उसकी उपेक्षा करने से उस वस्तु के गुणावगुण और प्रभाव तो नष्ट नही हो सकता। धतूरा विष होता है, उस के खा लेने पर व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है। एक बालक ने उसे बिना जाने खा लिया और दूसरे अल्हड युवक ने जानते हुए भी अविश्वास के कारण खा लिया। क्या इन दशाओ मे धतूरे की मारण शक्ति कुण्ठित हो जाएगी ? कदापि नही उसका प्रभाव अवश्य होगा। यही नियम धार्मिक विधानो के विषय मे लागू है। यदि किसी नियम की यथार्थता को न समझ, हम उस का पालन करना छोड दे तो इससे उसका प्रभाव तो हुवे बिना न रहेगा।

ससार मे 'रविवार' को सब जगह सूर्य-सम्बन्धित वार ही कहा जाता है। उसको किसी व्यक्ति विशेष के नाम से न पुकार पृथ्वो से करोडो वर्गमील की दूरी पर विद्यमान अग्नि गोले—सूर्य के नाम पर ही पुकारा जाता है। हिन्दुस्तान तो ग्रहपूजक देश है, यहा की बात छोड़िये, सुदूर यूरोपीय प्रदेशो में भी इसे Sunday अर्थात् सूर्य का दिन कहा जाता है। यही बात सोम

मगलादि सभी वारो के विषय मे भी है। प्रश्न होता है, कि क्या वास्तव मे इन आकाशग्रहो का अमुक अमुक दिन पर कोई प्रभाव है ? क्यो—ससार के समस्त देश इस विषय मे एक मत है। कहना न होगा कि अवश्य ही सभी देशो के प्राचीन अनुसन्धायको ने इस प्रभाव को अनुभव किया है तभी सब एक ही परिणाम पर पहुँचे हैं। इन दिनो का अमुक २ ग्रह के साथ कैसे सम्बन्ध हुवा और क्यो ये उनके नाम से पुकारे जाने लगे ? यह इस प्रकरण से वाहर की वात है। अन्यत्र प्रसगानुसार इस का विवेचन किया गया है। यहा तो केवल इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि अमुक-अमुक ग्रहो का अमुक अमुक दिनो के साथ सम्बन्ध है। इस विषय मे पूर्व और पश्चिम दोनो देशो के विचारक एक मत है और वास्तव मे अमुक २ ग्रह का उस २ दिन पर निश्चय ही प्रभाव पड़ता है।

इस सामान्य सी वात को समझ लेने पर यह समझने मे आपको कोई कठिनता नही होगी, कि अमुक अमुक दिन तेल-मालिश क्यो नही करनी चाहिए। रविवार को ही लीजिए। यह दिन उस ग्रह से सम्बद्ध है, जो ससार भर की तेज शक्ति का एकमात्र केन्द्र है, गर्मी का भण्डार है, आग की एक ऐसी दहकती हुई भट्टी है, जिसकी गर्मी करोड़ों दर्गमील की दूरी पर रहने वाले हम लोगो को भी असह्य आच पहुचाये विना नही छोड़ती। वास्तव मे यह गर्मी या उष्णता ही जीवन है। शरीर मे जव तक पित्त (गर्मी) विद्यमान है वह उस समय तक जीवित है, ठण्डा हुआ कि मरा। पित्त (गर्मी) का इतना महत्त्व होते हुए भी उसका परिणाम निश्चित है। वह जव तक शरीर मे निश्चित मात्रा मे रहेगा शरीर निरोग होगा। अपनी मात्रा से वढा, कि अनेक गर्मी सम्बन्धी रोग तुरन्त उत्पन्न हो जाते है।

रविवार को सम्पूर्ण दिन का वातावरण अन्य दिनो की अपेक्षा अधिक गर्म होगा ही, जिसके प्रभाव से हमारे शरीर मे भी पित्त अन्य दिनो की अपेक्षा बढा हुआ होगा। इधर आपने तेल की बोतल उठाई और लगे शरीर पर रगड़ा लगाने। रविवार की गर्मी, तत्प्रभाव जन्य पित्त की गर्मी, और आपके मर्दन से उत्पन्न हुई गर्मी। आखिर इतनी गर्मी समाएगी कहा ? शरीर मे विद्यमान पित्त मे उबाल आ जाएगा और परिणाम होगा—**"रवौ ताप"**।

इसी प्रकार मगल ग्रह को ही लीजिए। यह पृथ्वी का पुत्र (हमारी भूमि का ही एक टुकडा है) लाल रग का अत्युष्ण ग्रह है और इसका प्रभाव हमारे रक्त पर पडता है। मगल के दिन रक्त मे दबाव तो पहिले से ही विद्यमान है तब मालिश के द्वारा उस दवाव मे और वृद्धि होगी जो कि अपस्मार मृगी खुजली फोडे फुन्सी आदि अनेक रोगो के रूप में प्रगट होकर शीघ्र मृत्यु का कारण बन सकती है। यह बात शुक्र-जो कि मनुष्य शरीरान्तवर्ती शुक्र (वीर्य) का स्वामी है-के विजय मे समझनी चाहिए। शुक्र को तेल मर्दन से वीर्य मे उष्णता की अभिवृद्धि होने के कारण उसका दूषित होना और मनुष्य को अनेक कष्टो मे डाल देना स्वाभाविक है। चूकि वृहस्पति का सम्बन्ध हमारी बुद्धि से है इसलिये वह दिन बौद्धिक कार्यों के लिये जितना उपयुक्त हो सकता है उतना शारीरिक कार्यों के लिए नही।

इन सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्यो के भुला देने से ही हम लोग अनेक प्रकार के कष्ट उठाते है। डाक्टर और वैद्य रोगो का निदान अन्य बातो मे ढूढते है, उनको क्या पता कि रोगी ने यह बीमारी प्रकृति के नियमो का उल्लघन करके प्राप्त की है।

महर्षियो ने तैल मर्दन के इस निपेधात्मक वचन के परिहार के लिये भी एक व्यवस्था की है जो उनकी सूक्ष्मदर्शिनी वुद्धि का ज्वलन्त उदाहरण तो है ही, किन्तु वनस्पति के ज्ञान पर आश्रित होने के कारण अमोघ भी है।

रवौ पुष्पं गुरौ दूर्वा, भौमवारे च मृत्तिका।
गोमयं शुक्रवारे च तैलाभ्यंगे न दोषभाक् ॥

अर्थात्—यदि रविवार को पुष्प, गुरुवार को दूर्वा, मगल को मिट्टी और शुक्र को जरा सा गोमय डाल लिया जाय तो तेलमर्दन मे कोई दोष नही।

उपर्युक्त श्लोक मे वर्णित सभी वस्तुएँ उन ७ दोषो की उपशमक हैं। सभी जानते है, कि गुलाव आदि के फूल ठण्डे होते है, उन्हे ठण्डाई आदि मे डालकर पिया भी जाता है, उन्हे तेल मे डालकर मालिश करने से तेल के सुगन्धित होने के अतिरिक्त इसकी उष्णता शात हो जाती है और गर्मी वढाने वाला न होकर पित्त को शात करने वाला वन जाता है। हरी दूर्वा स्मृतिशक्ति के लिए अत्युपयोगी, नेत्रो को ज्योति प्रदान करती है। प्रात. काल उस पर घूमने से मस्तिष्क निर्मल हो जाता है। तेल मे सयुक्त होने से उसके गुण तेल मे आ जाते हैं और वह शरीर मे ज्ञानशक्ति की अभिवृद्ध करती है। विवाहादि के अवसर पर इसीलिए उसको तेल मे डुवा २ कर वर का उससे अभिषेक किया जाता है।

मगल भूमिपुत्र है। हमारा रक्त भी पार्थिव वस्तुओ से ही वनता है। जरा सी मिट्टी मिला देने से तेल की उग्र उष्ण शक्ति हो जाती है निष्प्रभ, और वह रक्त के लिए हानिकारक नही रहता।

गोमय और गोमूत्र जैसी वीर्यशोधक औषधी कोई नही। शोधन की जो प्रवल शक्ति इन दोनो वस्तुओ मे है, वह अन्यत्र

नही मिल सकती । तेल के साथ गोमय को मिलाकर मलने से उसका वीर्य पर पडने वाला दुष्प्रभाव दूर हो जाता है। वह हानिकारक होने की बजाय त्वचा सम्बन्धी रोगो के लिए औषध बन जाता है ।

तेल मर्दन के सम्बन्ध मे यहा इतना और अधिक समझ लेना चाहिए, कि अमुक वार को तेल मर्दन न करने की, और आवश्यक दशा मे उसमे अमुक वस्तु के समिश्रण की जो बात हमने लिखी है, वह वस्तुत. सबकी सब व्यवस्था तिल नि.सृत स्नेह के सम्बन्ध मे ही लागू होती है, क्योकि सस्कृत व्याकरणानुसार तिलो से निकाली हुई चिकनाई का नाम ही 'तैल' है। आजकल सरसो, गिरी, मूँगफली आदि सभी वस्तुओ से निकलने वाली चिकनाई को 'तेल' कह देने की जो परिपाटी पड़ गई है वह वस्तुत. हिन्दी उर्दू आदि भाषाओ के अधूरेपन का ही परिणाम है। सस्कृत साहित्य मे सरसो से निकलने वाले स्नेह=चिकनाई को 'सार्षप' कहते है, इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुओ के नाम के अनुसार ही उनसे तद्धित प्रत्यय लगाने पर तादृश नाम सिद्ध होते है, इसीलिए शास्त्र मे सुस्पष्ट रूप से सदैव लगा सकने योग्य तेल का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

सार्षपं गन्धतैलं च यत्तैलं पुष्पवासितम् ।
अन्यद्रव्ययुतं तैलं न दुष्यति कदाचन ॥

अर्थात्—सरसो का तेल, सुगन्धयुत तेल, फूलो से वासित तेल और अन्य द्रव्य जिसमे मिलाया गया हो ऐसे सब तेल सब दिन लगाये जा सकते है ।

आशा है, इस विवेचन से हमारे पाठको को इन शास्त्रीय श्लोको की यथार्थता समझने मे कुछ २ सहायता अवश्य मिलेगी ।

स्नान—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् (मनु)

अर्थात्—प्रतिदिन प्रात स्नान करके शुचि होकर सन्ध्या-वन्दन तथा देवर्षि तर्पणादि नित्य कर्म करे।

हिन्दु जाति के सभी धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यो मे 'स्नान' एक अनिवार्य और आवश्यक कृत्य है। सध्या वन्दनादि साधारण दैनिक कृत्यो से लेकर वडे से वडे अश्वमेव यज्ञ पर्यन्त सभी कर्मों का प्रारम्भ स्नान से ही होता है। यही क्यो, एक हिन्दू के जीवन का प्रारम्भ भी स्नान ही से होता है और पर्यवसान भी स्नान मे ही। वालक, जन्म लेकर ज्योही जीवन रक्षा के लिए आकुल वाणी मे पुकारना आरम्भ करता है—चिरवन्धन से विमुक्त हो ज्योही वह मुक्तवायु मे प्रथम उच्छ्वास ग्रहण करता है, तभी कुशल धात्री सर्व प्रथम उसके शरीर को स्वच्छ करके स्नान कराती है। इसी प्रकार जीवन के पर्यवसान मे, जव कि उसकी आत्मा शरीर को छोड़कर अनन्त मे लीन हो जाती है, तव भी हिन्दू के शरीर को चितारोहण से पूर्व एक वार पुन स्नान कराया जाता है और अन्त मे जव सव कुछ 'भस्मान्तं शरीरम्' वन जाता है उस समय उस भस्म मे से चुनी हुई हिन्दू की वह अस्थिये भी पतित पावनी जाह्नवी मे अनन्त स्नान के लिए विसर्जित की जाती हैं। इससे अधिक स्नान का महत्त्व किस देश और किस जाति मे देखने को मिल सकता है? हिन्दुओ के हरिद्वार काशी प्रयाग कुरुक्षेत्र उज्जैन पुष्कर आदि सभी तीर्थ-स्थानो की महिमा स्नान पर ही निर्भर है। इन स्थानो पर विना किसी विशेष प्रोपेगण्डे के तत्तत् समय मे स्नान मे लिए उमड़

पडने वाले जन-समुद्र को देखकर हिन्दुओ की स्नानप्रियता का अनुमान करना कुछ कठिन नही है ।

वेदादि शास्त्रो मे स्नान गरिमा के सूक्त के सूक्त भरे पडे हैं।

गंगे ! त्वद्दर्शनान्मुक्तिर्न जाने स्नानजं फलम् ।

—आदि अनेक शास्त्रीय वचनो मे स्नान का अवर्णनीय महत्त्व प्रतिपादित किया है । उसके आगे मुक्ति जैसा पदार्थ भी अत्यत तुच्छ माना गया है । यह स्नान (अभिषेक) ही है जो कलके एक सामान्य जन को दूसरे दिन सार्वभौम सम्राट् के महान् पद पर प्रतिष्ठित कर देता है ।

स्नान क्रिया का तात्पर्य शारीरिक शुद्धि से है । 'ष्णा शौचे' धातु से निष्पन्न होने वाले इस शब्द का अर्थ ही शुचिता सम्पादन है । हम पीछे बतला आये है कि हमारी त्वचा मे असख्य छोटे २ रन्ध्र होते हैं । इन्ही छिद्रो से भीतर का मल स्वेद के रूप मे बाहर निकला करता है । वायु के लगने से पसीने का द्रव भाग तो वाष्प बनकर उड जाता है, किन्तु अद्रव मैल इन रन्ध्रो मे जम जाता है । यदि इस मल को रोज साफ न किया जाय तो कुछ दिनो बाद मैल की मोटी तह इकट्ठी होकर इन रन्ध्रो को बिलकुल बन्द कर देगी जिससे अन्दर का मल और दूषित वायु बाहर न आकर अन्दर ही अन्दर सड जाएगी । शरीर से दुर्गन्धी आने लगेगी, अनेक प्रकार के रोग पैदा होगे और जीवन दूभर हो जायेगा । इसलिए प्रतिदिन स्नान करके त्वचा को बिल्कुल स्वच्छ कर लेना चाहिए । इस मल की सफाई ही स्नान का प्रथम उद्देश्य है ।

स्नान का दूसरा उद्देश्य शरीर मे अपेक्षित जलीय अश की पूर्ति और प्राण शक्ति का सतर्पण है । आप जानते ही है, कि हमारे इस शरीरका निर्माण पृथ्वी अप तेज आदि पञ्च महा-

भूतो से हुआ है और उन्ही के द्वारा यह जीवित भी है। हमारे शरीर मे प्रत्येक भूताश क्षण २ मे क्षीण होता रहता है, जिसकी पूर्ति हम प्रकृति मण्डल मे विस्तृत पञ्च महाभूतो से भोजन, जल, वायु आदि को ग्रहण करके करते रहते हैं। जब हमारे शरीर मे विद्यमान जल, शारीरिक ऊष्मा से सूख जाता है, तो शरीर मे बेचैनी अनुभव होने लगती है। आमाशय और उसके समीपवर्ती प्रदेश मे उत्पन्न होने वाले ताप को तो जल पीकर शात कर लिया जाता है, किन्तु शरीर के रोम २ से फूट पड़ने वाली जलाभावजन्य ऊष्मा को शान्त करने के लिए तो स्नान के अतिरिक्त चारा ही कुछ नही। गर्मी के दिनो मे पाठको ने इसे भली प्रकार अनुभव किया होगा, जबकि मनुष्य ग्रीष्म से सतप्त होकर जल की शरण मे शाति अनुभव करते हैं।

जल के कण २ मे प्राणशक्ति निहित है। श्रुति मे—

आपो वै प्राणाः

—कहकर उसे प्राणशक्ति का नैसर्गिक स्रोत स्वीकार किया है। स्नान से हमारे प्राणो की तृप्ति होती है। शरीर मे स्फूर्ति तथा चैतन्यता का उदय हो जाता है। आलस्य पास नही रहता और मन प्रफुल्लित हो जाता है।

पश्चिमी देशो मे तो जल के महत्त्व का पता लोगो को अब इतने दिन बाद लगा है और वे उसकी आरोग्यता विधायिनी शक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये हैं, किन्तु तपोपूत महर्षियो ने लाखो वर्ष पूर्व जल की इस अमित शक्ति का अनुभव करके ही उसे देवत्व के पद पर अभिषिक्त किया था। प्रत्येक कार्य के आरम्भ मे जल स्नान, जल आचमन और जल पूजन की प्रणाली प्रचलित करके उन्होने इसे धार्मिक परम्परा का अविछिन्न अग ही बना

दिया जिससे सर्व साधारण मे स्नान आदि के प्रति पर्याप्त रुचि उत्पन्न हो ।

स्नान विधि—

नदी सरोवर या किसी बहते हुए पानी मे स्नान करना सर्वोत्तम कहा जा सकता है। इसलिये सनातन धर्म मे गगा यमुना गोदावरी आदि नदियो का महत्त्व पूर्ण स्थान है। स्नान के लिये यह आवश्यक है, कि शरीर का प्रत्येक भाग अच्छी तरह आर्द्र हो जाए। नदी तालाब मे यह सर्वथा सुसम्भव है। वहा शरीर के मल और दूषित वायु से गन्दा हुआ जल अति शीघ्र बह जाता है और उसकी जगह लाखो गैलन ताजा जल फिर उपस्थित हो जाता है। इसलिये जहाँ तक सम्भव हो बहते हुए पानी मे स्नान करना चाहिये।

शहरो मे जहा नदी तालाब आदि का प्रबन्ध नही है, या श्रम-साध्य है, वहा नलगगा या कूए की ही शरण लेनी पडती है। ऐसे स्थान पर अधिकाश व्यक्ति जल्दी मे दो चार लोटे डालकर हस्ती-स्नान करके इस आवश्यक कृत्य को निबटा देते है। ऐसे स्नान से वस्तुत कोई लाभ नही। धर्म की दृष्टि से प्रतिदिन स्नान करने वाले हमारे आस्तिक समाज को यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि स्नान स्वत कोई धर्म नही है, किन्तु धर्मसाधनभूत इस देह को धर्माचरणक्षम रखने के कारण ही वह धार्मिक कृत्य है। यदि आप स्नान का वास्तविक तात्पर्य समझे बिना दो चार लोटे डालकर अपना कर्तव्य तो पूरा कर लेते है, किन्तु फिर भी आपका शरीर रोगी ही रहता है, तो इसके कारण दयालु ईश्वर को दोष देने की आवश्यकता नही। मन मे कभी यह विचार न कीजिये, कि उसने आपके जैसे नित्य-स्नायी भक्त को उसकी भक्ति का कितना अच्छा (?) पुरस्कार

दिया है। ऐसा विचार आपकी भ्रान्ति है। कमी तो आपके कर्तव्य मे है। आपने यह समझा ही नही कि स्नान का तात्पर्य क्या है और वह कैसे किया जाता है ?

स्नान चाहे कूए पर किया जाय या नल पर, इसी विधि से करना चाहिये। स्नान के समय शरीर पर साधारण वस्त्र होना चाहिये, एक लङ्गोट और अङ्गोछा काफी है। उसे लपेट कर जाइये। पास मे एक लोटा और पानी से भरी वाल्टी रख लीजिए। लोटे मे जल लेकर सर्वप्रथम शिर को भिगोइये, इसके अनन्तर हाथ और पाँव धोने चाहिये। प्रथम शिर का भिगोना इसलिये आवश्यक है, कि शिर मे जल पडने पर वहाँ वढी हुई गर्मी पावो के रास्ते निकलकर शान्त हो जाती है। यदि ऐसा न करके पहिले पाँव भिगोये जांय तो पाँवो की गर्मी शिर मे समा जाती है, जिससे कुछ दिनों मे मस्तिष्क मे विकार उत्पन्न होकर पागलपन शुरू हो जाता है। अस्तु,

शिर, हाथ, पाँव धोने के उपरान्त पानी डाल २ कर शरीर को अच्छी तरह भिगो डालिये और उसे खद्दर के अगोछे या खुरदरे तोलिये से मलना शुरू कीजिए। लगभग दश पन्द्रह मिनट शरीर को इसी प्रकार मलना चाहिये जिससे रन्ध्रो मे घुसा हुआ मल फूल कर विलकुल साफ हो जाय। इसके बाद ५ मिनट तक शरीर पर वरावर पानी डालते रहिये। यह पानी इन रोमो के रास्ते अन्दर जाकर अपेक्षित जलीय अंश की पूर्ति कर देगा। अन्त मे शरीर को तौलिये से पोछ डालिये और वस्त्र पहन लीजिये। यह आपका स्नान हो गया।

यह स्नान का निरा लौकिकस्वरूप है। इसके आध्यात्मिक रूप मे कुछ भावनाओ का सन्निवेश और होता है। शास्त्रीय

विधि के अनुसार हमे स्नान से पूर्व जल की अधिष्ठात्री शक्ति 'वरुण' की अभ्यर्थना करनी चाहिये। इस उपासना का रहस्य हम विगत अध्याय के 'देवतावाद' मे प्रतिपादित कर आये है। स्नान समय पठनीय सभी धर्मशास्त्रोक्त मन्त्रो मे जल की दिव्य शक्ति का वर्णन करके लोगो को उससे पूरा २ लाभ उठाने की शिक्षा का ही प्राधान्य है। स्नान करते हुए आस्तिक पुरुषो के मुख से—

गंगे ! च यमुने ! चैव गोदावरि ! सरस्वति !
नर्मदे ! सिन्धु ! काबेरि !, जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥

यह श्लोक प्राय सभी ने सुना होगा। गगा गोदावरी से हजारो वर्ग मील दूर साधारण तालाब मे स्नान करते हुए भी एक सनातनधर्मी प्रतिदिन स्नान के समय, शरीर से नही तो कम से कम मन से ही अपने भावना साम्राज्य मे कैसे गगा गोदावरी का पवित्र सान्निध्य प्राप्त कर लेता है और इनके प्रति अपनी श्रद्धा के पुष्प चढाता है—यह बात इस श्लोक को देखकर भली प्रकार जानी जा सकती है। स्नान के समय सर्वदा किसी स्तोत्र का पाठ करना चाहिये। स्तोत्र चाहे किसी भी देवी देवता का हो यह आपकी श्रद्धा पर निर्भर है। स्तोत्र पाठ इसलिये आवश्यक है कि जल का स्पर्श पाते ही वाणी अपने आप प्रस्फुटित हो उठती है। और उस समय फिर जो भी कुछ जबान पर आजाय मनुष्य वही बोलने लगता है।

हमने देहात मे अपनी भोली भाली अपठित माताओ को देखा है। वे श्रद्धा परिपूत हृदय से जब स्नान करने लगती हैं तो और कुछ नही तो—'बिल्ली के बच्चे बचाए, द्रौपदी की लाज रखी'—यह दोनो वाक्य ही उनके लिये स्तोत्र रूप बन जाते है।

यहा तक तो गनीमत है कि इन देवियो के पास कम से कम श्रद्धा परिपूत हृदय तो है । ये देहाती देविये मेरे उन पड़ोसी बाबुओ से तो हजार दर्जे अच्छी है जो प्रतिदिन प्रात काल स्नान के समय जल का स्पर्श पाते ही तार स्वर से—

'या इलाही मिट न जाए दर्दे गम'

—फिल्मी धुन की ही निरन्तर रट लगाते चले जाते हैं । अस्तु, तात्पर्य यह है कि भगवन्नामात्मक सस्कृत या हिन्दी के कुछ पद्य स्तोत्र रूप मे कण्ठस्थ अवश्य कर लेने चाहिये और स्नान के समय उन्हे बोलते रहना चाहिए इससे शारीरिक शुद्धि के साथ मन और वाणी की भी शुद्धि हो जाएगी ।

बिना स्नान, खायें क्यों नहीं ?—

यद्यपि आज का सभ्य शिक्षित समुदाय तो, स्नान की कौन कहे, शौच जाने से पूर्व ही बिस्तर पर पडे २ चाय केक का भोग लगाकर प्राकृतिक नियमो की प्रत्यक्ष अवहेलना कर रहा है और विविध रोगो के रूप मे उसका दुष्परिणाम भी भोग रहा है, किन्तु हमारे यहा किसी समय अनुल्लघनीय नियम था, कि बिना स्नान किये कुछ न खाया जाय । इस नियम के धार्मिक पहलू को एक तरफ रख इसके शारीरिक विज्ञान सम्मत पहलू पर ही इन पक्तियो मे कुछ लिखेगे ।

हम पीछे बतला चुके हैं कि स्नान द्वारा शरीर के प्रत्येक भाग को नया रस और नया जीवन प्राप्त होता है । शरीर मे पिछले २४ घण्टे मे इकट्ठा हुआ सभी प्रकार का मल, स्नान और उससे पूर्ववर्ती क्रियाओ द्वारा साफ हो जाता है और उसमे सभी विषयो को ग्रहण करने की एक नई योग्यता आजाती है । यह प्रभाव अन्य

अगो के साथ मनुष्य के पाचक यत्रो पर भी पडता है, जिससे उनमे भी अन्न ग्रहण की नई इच्छा जागृत होती है, इसी का नाम भूख है। यह इच्छा स्नान करने से जितने तीव्र रूप मे जागृत होती है उतनी और किसी तरह नही। अतएव स्नान करके जब स्वाभाविक क्षुधा अच्छीतरह जागृत हो जाय तभी भोजन करना चाहिए। स्नान से पूर्व खाने मे न वह अभिरुचि न आनन्द। मनुष्य खा अवश्य लेता है और अग्नि उसे पचाती भी है, किन्तु ऐसे भोजन से बना हुआ प्रभावहीन रस शरीर के लिए पूर्ण लाभकारी नही होता।

इसके अतिरिक्त स्नान से पूर्व, जब हम कोई वस्तु खा लेते है, तो जाठराग्नि उसे पचाने के कार्य मे लग जाती है। उसके बाद यदि आप स्नान करने लग जाये तो शरीर के शीतल हो जाने के कारण उदर मे नानाविध रोग उत्पन्न होगे और शरीर को कष्ट भोगना पडेगा। इसलिए प्राचीन आचार्यो ने यह व्यवस्था की है, कि बिना स्नान कुछ खाया न जाय।

कुछ वस्तुएँ ऐसी भी है जिन्हे आवश्यकता पडने पर स्नान से पूर्व भी खा लेना हानिकारक नही और न दोषावह ही, ऐसी वस्तुओ की गणना करते हुए स्मृतिकारो ने लिखा है—

इक्षुरापः पयोमूलं फलं ताम्बूलमौषधम्।
भुक्त्वा पीत्वापि कर्तव्या स्नानदानादिकाः क्रियाः॥

अर्थात्—गन्ने का रस, पानी, दूध, फल, मूल, पान और दवाई इन चीजो की खा पीकर भी स्नान दानादि क्रिया की जा सकती है। इस श्लोक मे प्रतिपादित सभी वस्तुएँ अल्पकाल मे ही पचने योग्य और जल प्राचुर्य से परिपूर्ण होने के कारण ही स्नान से पूर्व ग्रहण की जाने पर भी स्नान विघातक नही होती।

आसन-विज्ञान

प्रत्येक धार्मिक कार्य के अनुष्ठान मे कर्ता के लिए अमुक २ आसन पर बैठना भी, शास्त्र मे आवश्यक माना गया है। यथा—

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) कृष्णाजिनमखण्डम् । (दयानन्दीय सं० विधि पृष्ठ १६)

(ख) आसीनासो अरुणीनामुपस्थे । (अथर्व १८ । ३ । ४३)

(ग) शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ६ । ११)

(घ) काम्यार्थं कम्बलं चैव श्रेष्ठं च रक्तकम्बलम् ।
कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिर्मोक्षश्रीर्व्याघ्रचर्म्मणि ।
कुशासने मन्त्रसिद्धिर्नात्रकार्य्या विचारणा ॥

(ङ) धरण्यां दुःखसम्भूतिर्दौर्भाग्यं दारुजासने ।
वंशासने दरिद्रः स्यात् पाषाणे व्याधिपीडनम् ॥
तृणासने यशोहानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः ।
जपध्यानतपोहानिं वस्त्रासनं करोति हि ॥
(ब्रह्माण्ड-पुराणे तन्त्रसारे च)

(च) भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते ।
(अमृतनादोपनिषद् १८)

अर्थात्—(क) अखण्डित काला मृगचर्म्म [बिछाना चाहिए।]

(ख) ऊर्णा निर्म्मित आसन पर बैठे हुए (ग) पवित्र स्थान मे स्थिर आसन जमाना चाहिये, जो न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, और रेशमी, मृगचर्म्म और कुशासन उत्तरोत्तर बिछाये जाएं। (घ) काम्यकर्म्म मे कम्बल का आसन—वह भी लाल हो तो श्रेष्ठ है। काले मृगचर्म पर ज्ञान सिद्धि प्राप्त होती है। व्याघ्रचर्म पर मोक्ष श्री प्राप्त होती है। कुशासन पर सब मन्त्रो की सिद्धि प्राप्त होती है इसमे कुछ भी सन्देह की आवश्यकता नही। (ङ) खाली भूमि पर निरासन बैठने से दु ख, लकडी के आसन पर दौर्भाग्य, वास के आसन पर दरिद्रता, पत्थर पर बैठने से रोग, घास-फूंस के आसन से अपयश, पत्तो के आसन से चित्त मे भ्रम और कपडे के आसन से जाप ध्यान तथा तप की हानि होती है। (च) भूमि मे दर्भ का आसन बिछाकर धर्म्मानुष्ठान करना सब दोष रहित है।

अन्यत्र ऐसे भी अनेक प्रमाण उपलब्ध होते है, कि जिनमे आसन के बिना अमुक धार्मिक अनुष्ठान करना सर्वथा निषिद्ध किया गया है। मुसलमानो की नमाजी चटाई और ईसाइयो की प्रार्थना कुर्सी तो सभी जानते है, अन्यान्य पन्थवालो मे भी कुछ न कुछ बिछाने की परिपाटी पाई जाती है।

वैज्ञानिक विवेचन

आसन, केवल कपडे मैले होने से बचाने मात्र के लिये ही बिछाया जाता है—अहिन्दु लोगो मे यह धारणा भले ही बद्धमूल हो, परन्तु हिन्दु लोग तो इस कृत्य को भी धार्मिक अनुष्ठान का अनिवार्य अङ्ग समझते है, क्योकि शास्त्र मे—'अमुक तरह का आसन होना चाहिए और अमुक तरह का नही–ऐसी व्यवस्था

देखने मे आती है, तथा आसन के न होने पर कर्मविघात का भी उल्लेख मिलता है, सो यह विधान सुस्पष्ट आसन की धार्मिकता को सिद्ध करता है। अस्तु,

धार्मिक कृत्यो मे आसन क्यो विछाया जाता है। इसलिये कि पृथ्वी अपने गुरुत्वाकर्षण के अनुसार समस्त पार्थिव पदार्थों को अपनी ओर खीचती है, इसी कारण से ऊपर से गिरी प्रत्येक वस्तु धम्मसे पृथ्वी पर आ पडती है। कहा जाता है पाश्चात्य वैज्ञानिक न्यूटन ने ईसा की चौदहवी शताब्दी मे, एक सेव वृक्ष से टूटकर नीचे गिरता देखा तो उसे पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का ज्ञान हुआ, परन्तु भारतीय ऋषि तो अरवो वर्षो से इससे परिचित थे—यह वात हमारी आसन व्यवस्था से भलो भाति सिद्ध होती है। हां, तो पृथ्वी मे रहने वाला आकर्षण भजन पूजा पाठ आदि धार्मिक अनुष्ठान करते हुए मनुष्य को प्रभावित न कर सके, एतदर्थ पृथ्वी और अनुष्ठाता दोनो के मध्य मे ऐसे पदार्थो का होना आवश्यक है, जो कि पार्थिव विद्युत् के सक्रमण को मानव पिण्ड की विद्युत् के साथ सयुक्त न होने दे।

वडे २ नगरो मे जहां विजली का प्रवन्ध होता है वहा सभी ने कई वार यह देखा या सुना होगा, कि अमुक व्यक्ति विजली का तार छूने से मर गया। नि सन्देह यदि कोई व्यक्ति विजली के खुले तार को पकड ले तो वह मृत्यु का ग्रास वन जाता है, परन्तु विजली को फिट करने वाले व्यक्ति रात दिन उन तारो को छूते हैं तव भी उनका वाल वाका नही होता। क्या आप जानते हैं इसका कारण क्या है ? कारण यह है, कि ससार मे दो प्रकार के पदार्थ होते हैं, एक वे जिनमे विद्युत् प्रवाह प्रवेश कर जाता है। जैसे—लोहा, पीतल आदि धातुएं और जल मनुष्य पशु पक्षी आदि जीव। दूसरे ऐसे है जिन पर विद्युत् का

कुछ भी प्रभाव नही होता, जैसे लकडी चीनी, मिट्टी, रबड आदि २ वस्तुएँ। जिन पदार्थों मे विद्युत् प्रवाह सक्रान्त नही होता उन पहली श्रेणी के पदार्थों को वैदिक विज्ञान मे अशुचि, और दूसरी श्रेणी के पदार्थों को 'शुचि' कहते है। पाश्चात्य भाषा मे उन्हे कैन्डैक्टर=सक्रामक और नान कन्डैक्टर=असक्रामक कहा जाता है।

सो, यदि लडकी आदि 'शुचि' पदार्थों पर खडे होकर कोई बिजली के तार को छूए तो उसको कुछ भी हानि नही हो सकती। इसके विपरीत यदि पृथ्वी आदि 'अशुचि' वस्तुओ पर खड़ा कोई मनुष्य बिजली से छू जाए तो बिजली का करन्ट मानवपिण्ड मे प्रविष्ट होकर पृथ्वी पिण्ड मे प्रवाहित होने लगेगा। इस तरह 'पावरहाऊस' और पृथ्वी के बीच मे मानव पिण्ड माध्यम की दशा मे आजाएगा, जिससे मानव पिण्ड का रक्त प्रवाह बिजली के करन्ट से प्रभावित होकर आवश्यकता से अधिक उद्वेलित हो जाएगा। जहा एक सौ छ. डिगरो से अधिक मानव पिण्ड का तापमान हुआ कि वह मरा। परन्तु लकडी पर खडे होकर तार छूने की दशा मे विद्युत्प्रवाह मानव पिण्ड मे प्रवेश करके लकडी के असक्रामक होने के कारण पृथ्वी पिण्ड मे नही जा पाता—किन्तु वापिस लौट जाता है, इसलिए मानवपिण्ड पर कुछ भी प्रभाव नही पडता।

इसी वैज्ञानिक हेतु से भारतोय ऋषियो ने पूजा-पाठ के समय गोबर का चौंका, काठ का पटडा, कुशाका आसन, मृगचर्म, और अमुक २ अनुष्ठान मे सिंह व्याघ्र के चर्म, ऊर्णानिर्मित आसन आदि जितने भी आसन वताए है, वे सब ही आज की भापा मे सक्रमणशून्य=नान कन्डैक्टर कहे जा सकते है। इस प्रकार पार्थिव विद्युत्प्रवाह अनुष्ठाता पुरुष के पावो के मार्ग से उसके

पिण्ड पर कुछ भी प्रभाव न डाल सके, यही आसनो का वैज्ञानिक महत्व है।

बिजली के तारो को मिट्टी के बने आधार वोटो पर बांधना, या लकडी की फट्टियो के सम्पुटो मे बन्द रखना, किंवा रबड के खोल मे लपेटना इसी आशय से अनिवार्य है, कि ये पदार्थ नानकन्डैक्टर होने के कारण विद्युत् करन्ट को लोहे के स्तम्भो मे, मकान की दीवारो मे प्रविष्ट नही होने देते।

मृग, व्याघ्र सिंह चर्म ग्राह्य क्यों ?

(शास्त्रीय स्वरूप और विज्ञान)

मृगचर्म के आसन की पवित्रता का वर्णन वेद सहिता भाग मे आता है। वेद मे लिखा है कि—

कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः। (यजुर्वेद)

अर्थात् – काला मृग चर्म सब पुण्यो का जनक है। 'वस्तु वैचित्र्यवाद' के अनुसार स्वभावत ही मृगचर्म शुचि पदार्थो मे अन्यतम है। हम 'शुचि अशुचिवाद' मे भी इसकी चर्चा कर आये हैं। मृगचर्म मे ऐसी विद्युत् पाई जाती है कि जिसके सम्पर्क से बैठने वाले की कामेन्द्रिय शान्त रहती है। इस लिये सत्त्व गुण का उपार्जन करने वाले ब्रह्मचारी योगी यति और महात्मा लोग इस पर बैठते हैं। साथ ही यह प्रत्यक्ष देखने मे आता है, कि अधिक बैठने वाले सेठ साहूकार और मुनीम, अर्श, भगन्दर कोष्ठ-बद्धता, कोशवृद्धि आदि अनेक रोगो मे से किसी न किसी के शिकार अवश्य हो जाते हैं, आयुर्वेद शास्त्र मे मृगचर्म पर बैठने से अर्श (बवासीर) और भगन्दर का शान्त हो जाना लिखा है। यदि

साधक पहिले से ही इस आसन पर नित्य बैठना आरम्भ कर देगा तो अर्श आदि रोग उत्पन्न ही न होगे। यह भी उक्त आसनका एक लाभ है।

मृगचर्म जहा सात्विक विद्युत् से परिपूर्ण है—व्याघ्र और सिहचर्म वहाँ राजस विद्युत् से परिपूर्ण है। उस पर बैठने से ओज बल पराक्रम बढता है, इसीलिए भारतीय राजा लोग अभिषेक के समय से लेकर सदैव सिहचर्म निर्मित आसन= 'सिंहासन' पर आसीन रहते थे। प्रत्यक्ष भी देखने मे आता है कि खूब 'ट ट' बोलते हुए मृदङ्ग तबले ढोल या नगारे पर सिह, व्याघ्र चर्म को छुआ दिया जाय तो वे पसीज कर ढम-ढम बोलने लग जाएँगे, अर्थात्—जैसे जीवनकाल मे वीर सिंह की दहाड से उक्त भीरू जीवो का हृदय विदीर्ण हो जाता था, मरने पर भी चर्मो ने अपने २ स्वभाव का परित्याग नही किया। व्याघ्र और सिंह के आसन के निकट मच्छर, डास विषैले-कीडे, बिच्छू सर्प आदि जीव भी नही आ सकते, यह हमने स्वय अनुभव किया है। इसलिए उक्त आसनो पर बैठकर समाधि लगाने मे किसी विषैले जीव के निकट आने की आशका नही रहती।

मृत्यु हो जाने पर भी स्वभाव न बदलने की बड़ी विचित्र विचित्र घटनाएँ लोक मे देखने को मिलती है। कई मछली-भोजी सज्जनो ने हमे बतलाया कि मछली के मास मे एक काटा रहता है, जो वहुत पकाने पर भो कँडा ही रहता है, अत उसका गले मे चुभ जाने का भी खतरा रहता है। उसके ठीक परिपाक के लिए मत्स्यभोजी उस हडिया मे एक बगुले की अस्थि डाल देते हैं, जिससे काटे वाटे सब मिनटो मे पसीज जाते है, इसका तात्पर्य यह हुआ, कि अस्थि सहित मछली को खा जाने वाले बगुले की मृत अस्थि मे भी यह क्षमता बनी रहती है, कि

वह मछली के काटे को पका डाले। उल्लू की आख का अञ्जन रात मे भी दीखने की शक्ति का उत्पादक है, रतौन्धा के रोग मे इसका उपयोग होता है। कच्छप की चर्वी मे 'अकरकरा' मिलाकर लेप करने से अग्नि, बाधा नही पहुँचाती, बहुत से पाखण्डी पावो के नीचे लगा आग पर चलते हैं और अपनी सिद्धि की डीग हाका करते हैं।

उपर्युक्त विवेचना के अनुसार यह निश्चित हुआ, कि मृग व्याघ्र और सिहचर्म के आसन जहा साधको को ब्रह्मचर्य की सरक्षा मे सहायक सिद्ध होते हैं, यहाँ अनेक शारीरिक रोगो से बचाने की भी सुनिश्चित गारन्टी करते हैं।

कपड़ा कुर्सी पत्थर की शिला, वर्जित क्यों ?–

धार्मिक अनुष्ठानो के समय कपडा, कुर्सी और पत्थर की शिला का आसन की भाति उपयोग करना निषिद्ध है। कुर्सी ऊची और यथेष्ट चौड़ी न होने के कारण जहा सिद्धासन सुखासन और पद्मासन आदि बैठने के धार्मिक ढङ्गो के अनुकूल नही, वहां हवन आदि कृत्य के समय तो केवल वायुशुद्धि के निमित्त सामग्री झोकने के काम को छोडकर देव पूजन आदि किसी काम मे आ ही नही सकती, क्योकि ऐसा करने से देव शक्ति का अपमान भी होता है। वस्त्र का आसन बनाने वाले की दरिद्रता भरी पञ्चायत मे प्रकट हो जाती है। जिसके यहा कुशा का चार पैसे का आसन भी न हो, किन्तु जिस कपडे को ओढता पहिनता हो उसी धोती अगोछे कमीज को नीचे बिछाना स्वयं अपनी दरिद्रता का ढोल पीटना है, इसलिए कपडे के आसन से दारिद्र्यफल का शास्त्रीय उल्लेख सुस्पष्ट ही है। शिलाखण्ड पर बैठने से रोग होजाना लिखा है, सो प्रत्यक्ष ही है, पत्थर गर्मी

मे बहुत गरम हो जाता है और सर्दी मे बहुत ठिठुर जाता है। पत्थर का कडापन तो मूढ भी जानते है। सो यदि पूजा-पाठ मे घण्टो कोई ऐसे आसन पर निरन्तर बैठेगा, तो निश्चित ही वह गुदा सम्बन्धी किसी रोग का शिकार बन जाएगा, साथ ही कपडा और पत्थर, पार्थिव विद्युत् से मानव पिण्ड को पृथक् करने की क्षमता भी नही रखते क्योकि ये दोनो ही वस्तु (शुचि) = नान-कन्डैक्टर पदार्थ नही है अत इनसे आसन के उद्देश्य की पूर्ति नही हो सकती।

—o—

अमुक दिशा को ही मुख क्यों ?

प्रात सध्या पूर्वाभिमुख होकर और साय सन्ध्या पश्चिमाभिमुख होकर करनी चाहिये, तथा देवकर्म्म पूर्व दिशा को, ऋषिकर्म्म उत्तर दिशा को और पितृकर्म्म दक्षिण दिशा को मुख करके करना चाहिए—ऐसी शास्त्रोमे विधि पाई जाती है यथा—

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) प्राची दिगग्निरधिपतिः, दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः, उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः। (अथर्व ३। २७। १४)

(ख) देवानामेषा दिग् या प्राची पितृणामेषा दिग् या दक्षिणा।

(ग) प्राचीं·····दम्पती संश्रयेथाम्। दक्षिणां यमः पितृभिः। प्रतीचीं···श्रयेथां सुकृतः··· । दिशामुदीचीं···कृणवन्नो अग्रम्। (अथर्व १२। ३। ७-१०)

(घ) उत्तराभिमुखो भूत्वा···योगाभ्यासं स्थितश्चरन् ।

(त्रिशिखी ब्राह्मणोपनिषद् १८-१६)

अर्थात्—(क) पूर्व दिशा का अधिपति अग्नि है, दक्षिण का इन्द्र, पश्चिम का वरुण और उत्तर का सोम हैं। (ख) पूर्व दिशा देवताओ की और दक्षिण दिशा पितरो की है। (ग) [विवाहादि कृत्यो मे] जाया और पति पूर्व दिशा का आश्रय लें। यम और पितरों के कर्म मे दक्षिण दिशा। [सायकालीन सन्ध्या आदि] सुकृत उपार्जन मे पश्चिम दिशा। और उच्चतम आदर्श स्वाध्यायादि ऋषि कर्म्म मे उत्तर दिशा प्रशस्त है (घ) उत्तर दिशा को मुख करके योगाभ्यास करे।

वैज्ञानिक विवेचन

अमुक दिशा की ओर मुख करके धार्मिक अनुष्ठान करने की व्यवस्था केवल सनातन धर्मी हिन्दुओं में ही नही है, अपितु इसका कुछ न कुछ आभास आर्यसमाज और अन्यान्य अहिन्दु पन्थो में भी प्राय. पाया जाता है। आर्यसमाज की 'सस्कार विधि' मे प्राय प्रत्येक सस्कार के प्रारम्भ मे पूर्वाभिमुख बैठने का उल्लेख विद्यमान है। यथा—

(क) [जातकर्म्म संस्कार के समय] बालक का पिता, पूर्वाभिमुख बैठे। (सस्कार विधि पृष्ठ ५७)

(ख) [वेदारम्भ संस्कार के दिन] कार्यकर्ता पूर्वाभिमुख बैठे। (स० वि० पृ० ८७)

(ग) [समावर्तन में] पूर्वाभिमुख आचार्य बैठे।

(सं० वि० पृ० ११२)

(घ) [विवाह संस्कार में] कन्या वर, पूर्वाभिमुख बैठें।

(स० वि० पृ० १३०)

मुसलमान काबा की ओर मुख करके ही अपनी मजहबी रसूमात अदा करना अनिवार्य समझते है, उनकी कबरें और मस्जिदें भी ठीक एक ही दिशा मे बनाई जाती है, चाद भी वह केवल शुक्ला दूज का ही पूज्य समझते हैं, क्योंकि वह पश्चिम दिशा मे उदित होता है। पूर्व मे उदित हुआ पूर्ण चन्द्रमा भी उन्हे मान्य नही, यहाँ भी कट्टरता की पराकाष्ठा प्रकट करते है। ईसाइयो के गिरजाघरो का भी पूर्व दिशा मे ही द्वार रहता है। जैन बौद्ध और पारसी भी प्राय ऐसा ही मानते हैं।

यद्यपि अहिन्दू पन्थ अपनी मान्यता का कोई वैज्ञानिक हेतु बतलाने मे असमर्थ हैं, क्योकि उनके यहाँ तो केवल परम्परा= रूढि ही इसका प्रधान हेतु कहा जा सकता है, परन्तु हमारे ऋषियो का मुसलमानो की भाँति किसी एक ही दिशा का निरर्थक आग्रह नही है, बल्कि उन्होने तो वैदिक विज्ञान के अनुसार जो कार्य जिस दिशा मे मुख करने से अनुकूल जान पडा उस कार्य मे उसी दिशा का विधान किया, यथा—

प्रात.कालीन सध्या-वन्दन आदि कृत्यो मे और सस्कार आदि धार्मिक अनुष्ठानो मे पूर्व को मुख करने को इसलिये विधि है, कि ब्रह्ममुहूर्त से लेकर मध्याह्न तक सूर्य का आकर्षण सामने रहने से मानव पिण्ड के ज्ञान-तन्तु अधिक से अधिक स्फूर्तिसम्पन्न रहेगे जिससे दैवी गुणो के विकास के कारण हमारे ये धार्मिक अनुष्ठान प्रभावशाली सिद्ध होगे।

पठन पाठन स्वाध्याय आदि ऋषिकर्म्मो मे उत्तर दिशा को मुख करने का प्रधान हेतु यह है, कि आध्यात्मिक जगत् का एक

मात्र विश्वविद्यालय 'हिमालय' धर्म्म प्रधान भारतवर्ष से उत्तर दिशा मे विराजमान है। मानसरोवर और जमनोत्तरी से ऊपर का भाग तथा गौरी शिखर आदि हिमालय को ऊँची चोटिये इस अनेक साधन सम्पन्न विज्ञान युग मे भी मानव स्पर्श से अभी तक सर्वथा अस्पृष्ट बनी हुई हैं और बनी रहेगी। कवि कालीदास के शब्दो मे यह पवित्र पर्वत केवल पत्थरो का बेडोल ऊँचा टीला मात्र नही है, अपितु दैवी गुणो की प्रसव भूमि होने के कारण स्वय भी 'देवात्मा' कहा जाता है। इसलिये तादृश आर्ष कर्म्मों के समय उसके सम्मुख रहने से मनोविज्ञान सिद्धांत के अनुसार अनुष्ठाता के सामने भी ऋषियों के उच्चतम आदर्श उपस्थित रहते हैं। अथ च चतुर्दश विद्याधिपति भगवान् महेश्वर भी उत्तर मे ही कैलाश पर्वत पर विराजते हैं। 'विद्याकामस्तु गिरिशं' इस श्रुति के अनुसार शंकर की आराधना पूर्वक विद्या ग्रहण करने के लिये विद्याधीश्वर महेश्वर के सान्निध्य मे उत्तराभिमुख बैठकर ही तो सफल स्वाध्याय हो सकता है। 'विद्या. समस्तास्तव देवि भेदा'—के अनुसार समस्त विद्याओ की अधिष्ठात्री भगवती जगदम्बिका का निवास भी उत्तर मे ही है, अत पठन पाठन स्वाध्याय के लिये उत्तर दिशाभिमुख होना सर्वथा सुसगत है।

पितृकर्म्म मे दक्षिण दिशा मे मुख करने का अभिप्राय भी स्पष्ट है। वेदादि शास्त्रो मे दक्षिण दिशा मे चन्द्रमा से ऊपर की कक्षा मे पितृलोक की अवस्थिति मानी है, तदनुसार पितृकर्म का अनुष्ठान दक्षिण मे मुख करके करना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त पूर्व मे मुख करने से सूर्य का प्रबल आकर्षण आहूत पितरो की आत्माओ के आगमन मे अवरोधकारक हो सकता है, इससे पितृकर्म्म मे पूर्व मे मुख करना प्रतिकूल

पडता है। उत्तर दिशा मे मुख करने से—दक्षिण दिशा की ओर से पधारने वाले पितरो की ओर पीठ फेरकर बैठना वैसा ही अपमान जनक है, जैसा कि किसी समागत प्रतिष्ठित सम्बन्धी को आते देखकर पीठ फेर लेना माना जा सकता है। साथ ही 'ग्रहचक्र' और 'शिशुमार चक्र' की प्रगति पूर्व और पश्चिम दिशा के बीचो बीच रहती है, इसका भी, आहूत पितरो की सूक्ष्म आत्माओ पर प्रभाव पडता है। इसी हेतु से श्राद्ध के लिए कुतप='अपराह्न' काल—श्रेष्ठ माना है, क्योकि उस समय सूर्य रश्मिये अर्वाचीन हो जाती है। श्राद्ध मे सन्यासी आदि ज्ञान-प्रधान चतुर्थाश्रमियो का भो इसी आशय से निषेध है, क्योकि उनके पिण्डो मे आहूत पितरो की आत्माएँ प्रविष्ट होती हुई संकोच करती है। इन सब कारणो से पितृकर्म्म के लिये दक्षिण दिशा को मुख करने की विधि है।

स्वामी दयानन्द जी ने अपनी 'सस्कार विधि' के समावर्तन सस्कार मे समावृत ब्रह्मचारी द्वारा दक्षिण दिशा मे मुख करके **'ओ पितर शुन्धध्वम्'** यह मन्त्र बोलकर जल की भरी अञ्जलि भूमि पर छोडनी लिखी है—इस इतिकर्तव्यता की कथित जीवित पितरो के श्राद्ध से कुछ भी सगति नही बैठ सकती, अत. यह विधि नि सन्देह मृत पितरो के तर्पण के उद्देश्य से ही यहाँ अङ्कित हुई है, सो यहाँ भी दक्षिण दिशा का विधान सुस्पष्ट है।

साय सन्ध्या के समय सूर्य, पश्चिम दिशा मे अस्त होने को होता है, अत· उस समय पश्चिम को मुख करना भी उन सब लाभो का हेतु होता है जो लाभ प्रात.कालीन सन्ध्या के समय पूर्व को मुख करने से प्राप्त होते थे। इस प्रकार हमारे यहाँ अमुक दिशा को मुख करने का विधान निर्हेतुक नही किंतु अनेक अटल कारणो से भरपूर है।

तिलक धारण क्यों ?

शास्त्रो मे तिलक धारण भी एक आवश्यक धार्मिक कृत्य माना गया है यथा—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा धार्य्यं, भस्मना तु त्रिपुण्ड्रकम् ।
उभयं चन्दनेनैव, ह्यभ्यङ्गोत्सवरात्रिषु ।।

(ख) शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन् न मृतत्वमेति,
विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।।
(कठोपनिषत् २ । ६ । १६)

(ग) स्नानं दानं तपो होमो देवतापितृकर्म्मं च ।
तत्सर्वं निष्फलं याति ललाटे तिलकं विना ।।
ब्राह्मणस्तिलकं कृत्वा कुर्य्यात्संध्याञ्च तर्पणम् ।।
(ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मा २६)

अर्थात्—(क) ऊर्ध्वपुण्ड तिलक मृत्तिका से धारण करना चाहिये, भस्म का त्रिपुण्ड्र और चन्दन का दोनो प्रकार का तिलक, अभ्यंग और उत्सव रात्री मे धारण करना चाहिये । (ख) हृदय की एक सौ एक नाड़ी हैं उनमे से सुषुम्णा नाम की नाड़ी मस्तक प्रदेश के सामने से निकलती है, उसके द्वारा ऊँचे को प्रस्थान करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है, शेष सवका प्राणोत्सर्ग के समय चारो ओर से उपयोग होता है । (ग) स्नान, दान, तप,

होम, देव और पितृकर्म्म सब निष्फल होता है यदि मस्तक में तिलक धारण न किया हो। ब्राह्मण को चाहिए कि वह तिलक धारण करके पश्चात् सन्ध्या तर्पण आदि कृत्य करे।

वैज्ञानिक-विवेचन

यद्यपि चन्दन, गोपी चन्दन, सिन्दूर, कुकुम और भस्म आदि द्रव्यो का भी तिलक लगाया जाता है परन्तु मुख्य तिलक तीर्थों की पवित्र मृत्तिका को स्वच्छ करके जो तैयार किया जाता है- वह सात्विक और अनेक वैज्ञानिक लाभो से परिपूर्ण है, इसीलिए उपर्युक्त शास्त्र प्रमाण मे भी उसे ही सर्व प्राथम्य दिया गया है। शुद्ध मृत्तिका मे सर्वविध सक्रामक कीटाणुओ के विनाश की अद्भुत शक्ति सभी भौतिक विज्ञानवादी स्वीकार करते है, तत्तत् पदार्थों की पूतिगन्ध नामक सडाद को दूर करने का एक मात्र साधन='गन्ध गुण' केवल पृथ्वी मे ही विद्यमान है।

साबुन, इतर, फिनैल आदि पदार्थ-अपनी उग्रगन्ध के कारण तत्तत् वस्तुओ मे क्षणिक स्वच्छता का आभास चाहे प्रकट कर दे, परन्तु वास्तव मे यदि सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र की सहायता से उन पदार्थों का निरीक्षण किया जाए तो वे मलिन-कीटाणुओ से तथैव क्लिन्न रहते है। इसलिए अब तो बहुत से पाश्चात्य विचारक भी यह घोषित करने लगे है, कि 'काच और चीनी का प्याला यदि एक बार भी ओठो से 'टच' हो तो मनुष्य के थूक से सहस्रो कीटाणु उस पर जम जाते हैं' पानी से धोने पर या साबुन का प्रयोग करने पर भी वे नही मरते, मिट्टी और राख ही उनका समूल नाश करने के लिये सबसे सस्ता और सुलभ पदार्थ है। सो मृत्तिका के अधिक गुण वर्णन न करके हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं, कि लेपन द्रव्यो मे यह सर्वोत्तम द्रव्य

है, फिर यदि वह तीर्थस्थानो की हो तब तो कहना ही क्या ? 'देश वैचित्र्यवाद' के अनुसार तत्तत् तीर्थों की मृत्तिका का सम्मिलित पिण्ड मानो अनेकविध शुचितामय परमाणुओं का पुञ्जीभूत सघात है। उसे विशाल भाल मे धारण करने का अर्थ है—मानो हम अपने मस्तिष्क को पुनीत रखने के लिये एक सुदृढ़ प्राचीर तैयार कर रहे हैं। उपनिषद् के पूर्वोक्त प्रमाण मे लिखा है कि सुषुम्णा नाडी हृदय से सीधी मस्तक के सामने ब्रह्मरन्ध्र मे पहुँचती है, ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक मानो ऊर्ध्वगति का सकेत चिंह्न है।

यहां यह कहने की आवश्यकता नही, कि हमारे मन मे जो सकल्प उठता है, वह सर्वप्रथम मस्तिष्क की धमनियो मे ही प्रकम्पन करता है। मस्तिष्क के प्रकम्पन के अनन्तर ही वह तत्तत् इन्द्रियों को कार्यानुकूल होने को सज्जित करता है। सो हमारा मस्तिष्क जितना विकाररहित होगा, उतना ही हम प्रत्येक बात की वास्तविकता का शुद्ध परिशीलन कर पायेंगे। हमारे ज्ञान-तन्तुओ का विचारक केन्द्र भृकुटी और ललाट का मध्यभाग है। यह प्राय सभी ने कई बार अनुभव किया होगा, कि जब कभी आवश्यकता से अधिक विचार करने का अवसर पड़ता है तो इसी केन्द्र मे वेदना अनुभव होने लगती है। अत. हमारे महर्षियों ने ज्ञान तन्तुओ के केन्द्र-स्थान मे ही तिलक धारण करने का विधान किया है। तिलक की महिमा के अविश्वासी लोग भी जब मस्तिष्क वेदना से पीडित होते हैं तब वे भी चन्दन उशीर आदि शीतल द्रव्यो का कलल मत्थे पर पोतने के लिये विवश होते हैं। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि यों तो शुक्र नामक धातु समस्त शरीर मे ही परिव्याप्त है परन्तु उसका उरोज और मस्तक के स्थान से विशेष सम्बन्ध

है। इसीलिये युवापन को प्राप्त होने वाले बालकों के स्तनो मे ग्रन्थी और मुखमण्डल पर विस्फोटक फुनसिये नवयौवन की प्रथम निशानी समझी जाती है। सो वीर्यसरक्षा के निमित्त भी भाल-प्रदेशमे शुचितम मृत्तिकाको धारण करना परमावश्यक है।

जयहिन्द

सौभाग्यवश आज 'वन्दे मातरम्' और 'जयहिन्द' का पवित्र घोष आबाल वृद्ध भारतीय की जिह्वा पर विद्यमान है, परन्तु अभी तक भारत के कुछ सपूतो को यह ज्ञान नही है, कि जिस भारत या हिन्द की हम वन्दना और जय मना रहे है, वह भारत माता एक निर्विशेष मृण्मय पिण्ड ही तो है। फिर यदि हम नित्य उस माता की पवित्र रज अपने भाल पर धारण करके उसके गौरव के सामने नतमस्तक हो तो हमारा यह कृत्य मातृ-पूजा का ही तो एक सफल प्रदर्शन होगा। खेद का विषय है कि आज के स्कूल और कालिजो के विद्यार्थी एक ओर तो 'वन्दे मातरम्' और 'जयहिन्द' का घोष करते है और दूसरी ओर उसी भारत माता की रज को सम्मान देने वाले व्यक्तियो को देखते ही 'ओल्डफैशन' कहकर नाक-भौं सिकोडने लगते हैं। हमे प्रसन्नता है कि मद्रास प्रान्त के सज्जन बडे-से-बड़े पदो पर अधिष्ठित होते हुये भी बडे गौरव के साथ तिलक धारण करके केन्द्रीय धारा सभा के अधिवेशनो मे जाते हैं, इससे उनका गौरव बढता ही है। क्या हम आशा करे कि अन्य प्रान्त के सज्जन भी मद्रास के इन सस्कृति सरक्षको का अनुकरण करके भारत के गौरव को चार चाद लगायेगे।

मृत्तिका के बाद दूसरा स्थान यज्ञ भस्म का है, कुछ लोग जैसी-तैसी भस्म ही पोत लेते है—यह ठीक नही, क्योकि स्मृति-ग्रन्थो मे ऐसे अनेक प्रमाण विद्यमान हैं जो कि सर्वसाधारण

भस्म को निन्द्य सिद्ध करते हैं। अत. यज्ञ भस्म ही लगानी चाहिए।

चन्दन के गुण तो हकीम साहिव से ही पूछ लीजिए ! सर-दर्द मे वे आपको सन्दल के लेप करने का ही परामर्श देंगे। यह ठीक है, कि सन्दल का घिसना भी सरदर्द ही है परन्तु 'विषस्य विषमौषधम्'—सरदर्दी को दूर करने के लिए डवल सरदर्दी और खरीद लीजिए, सरदर्द शर्तिया दूर हो जायगा।

कुकुम, हल्दी का ही चूर्ण होता है—जो नीबू के रस मे भावित करने से लाल हो जाता है। हल्दी, सयोजक और त्वाच शोधन के लिए सर्वोत्तम पदार्थ है। आयुर्वेद मे इसके अनेक गुण लिखे हैं। दाल-साग मे इसे इसलिये नही डाला जाता, कि अमुक भक्ष्य भोज्य पीले रङ्ग का वन जाए, क्योकि दूध, रवडी, खीर, घेवर, वर्फी, पेड़ा आदि अनेक भक्ष्य भोज्य श्वेत रङ्ग के ही उपयोग मे आते है। सव्जी आदि मे हल्दी का उपयोग उसके संयोजक गुण के कारण ही होता है। अतएव तिलक में कुकुम के उपयोग से त्वचा शुद्धि और मस्तिष्क स्नायुवो का सयोजन नैसर्गिक कहा जा सकता है।

मांग में सिंदूर क्यों ?

सधवा स्त्रियो को कुकुम के अतिरिक्त खासकर सीमन्त (माग) मे सिन्दूर लगाना चाहिए। विवाह-सस्कार के समय ही वर वधू के मस्तक मे सिन्दूर लगाता है—यह शास्त्रीय प्रथा प्राय सब देशो में प्रचलित है।

श्री हनुमान् जी सिन्दूरी चोले मे क्यों ?

अद्भुत रामायण मे एक कथा प्रसिद्ध है, कि—श्री हनुमान् जी ने जगज्जननी श्री जानकी के सीमन्त में सिन्दूर लगा देखकर आश्चर्यपूर्वक पूछा—'माता ! आपने यह लाल द्रव्य मस्तक मे

क्यों लगाया है ?' श्री जानकी जी ने ब्रह्मचारी हनुमान् की इस सीधीसाधी बात पर प्रसन्न होकर कहा–'पुत्र ! इसके लगाने से मेरे स्वामी की दीर्घायु होती है।' श्रीहनुमान् जी ने यह सुना तो बहुत प्रसन्न हुये, और विचारा, कि जब अगुली भर सिन्दूर लगाने से आयुष्य वृद्धि होती है तो फिर क्यो न सारे शरीर पर इसे पोतकर अपने स्वामी को अजर अमर ही बनादू । वैसा ही किया। सब शरीर पर सिन्दूर पोतकर सभा मे पहूँचे, तो भगवान् उन्हे देखकर इतने हसे जितने कि शायद कभी न हसे होगे।

श्रीहनुमान् जी को माता जानकी के वचनो मे इससे और भी अधिक विश्वास हुआ। कहा जाता है कि उस दिन से हनुमान् जी की इस उदात्त स्वामी-भक्ति के स्मरण मे उनके शरीर पर सिन्दूर का चोला चढाया जाने लगा। इस कथानक से यह सहज मे ही समझ मे आ जाता है कि त्रेतायुग मे भी स्त्रियो के सीमन्त मे सिन्दूर लगाने का शास्त्रीय विधान प्रचलित था। इसका क्या हेतु है ? प्रसङ्गवश यहाँ यह रहस्य प्रकट करना अनावश्यक न होगा।

(१) माग मे जिस स्थान पर सिन्दूर लगाया जाता है वह स्थान ब्रह्मरन्ध्र और अधिप नामक मर्म के ठीक ऊपर का भाग है ! स्त्री के शरीर मे यह भाग चूकि पुरुष की अपेक्षा विशेष कोमल होता है अत उसकी सरक्षा के लिये शास्त्रकारो ने सिन्दूर का विधान किया है। सिन्दूर मे पारा जैसी अलभ्य धातु बहुत मात्रा मे होती है। वह स्त्री शरीरस्थ वैद्युतिक उत्तेजना को ही कन्ट्रोल मे नही रखता, बल्कि मर्मस्थान को बाह्य दुष्प्रभाव से बचाता भी है।

(२) सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार यदि स्त्रियो के सीमन्त मे अथवा भृकुटी केन्द्र मे 'नागिन' रेखा पडी हो तो वे दुर्भगा रहती

है। कई वाल विधवाओ के सीमन्त स्थल मे वालो की भवरी=(आवर्त) प्रत्यक्ष देखी जाती है। सो इस दोष की निवृत्ति के लिये सिन्दूर द्वारा उसे आच्छादन करना वताया गया है।

(३) काम-काज और वच्चो की सभाल मे नित्य शिर न धो सकने वाली स्त्रियो के वालो मे प्राय जू लीख आदि जीव भी पड़ जाया करते हैं, इनके हटाने की अमोघ औषधि भी पारद है सो सीमन्त मे सिन्दूर रहते उक्त जीवो का कुछ भी खतरा नही रहता।

(४) स्त्रियों के भाल प्रदेश मे सिन्दूर की विन्दु जहा सौभाग्य का प्रधान लक्षण समझा जाता है वहां इससे सौन्दर्य भी वढ जाता है। स्वामी दयानन्द ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' मे अपनी आदत से विवश होकर तिलक का भरपेट खण्डन किया है और जितनी लचर दलीलें हो सकती थी वे सवकी सव वहां दे डाली, परन्तु नगरकीर्तन के समय युक्तप्रान्त के समाजी पुरुष और सदैव सव प्रांतो की आर्य समाजिन स्त्रिये आज भी अपने भाल को सनातनधर्म्म की इस छाप से उन्मुक्त न कर सकी। पिछले कुछ दिनो से तो गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास और वगाल आदि देशो की स्त्रियो के मस्तक मे निरन्तर भालविन्दु सजा देखकर पंजाव, पश्चिमी युक्त प्रांत और देहली तथा मारवाड प्रांत की स्त्रियो ने भी मस्तक मे नित्य बिंदी लगाना अनिवार्य बना लिया है। सिनेमा की नटिये तक भी सौन्दर्य के इस चिह्न के अपनाने मे अपनी लालसा का सवरण न कर सकी।

तिलक की सार्वभौम विजय

जेल जाते समय तो वडे २ कांग्रेसी लीडरो को--फिर चाहे वे मौलाना आजाद या स्वामी श्रद्धानद ही क्यो न हो--बड़ी सज-धज के साथ तिलक से विभूषित किया गया। महात्मा गाधी का

एक लाल बिन्दी से विभूपित चित्र बाजार में सर्वत्र बिकता है। महामना मालवीय जी का तो शून्य मस्तक चित्र ढूँढना सर्वथा असम्भव ही है। क्या हम अपने र' ष्ट्र के कर्णधारो से पूछ सकते है कि यदि जेल के लिए प्रस्थान करते समय तिलक धारण गौरव की वस्तु है, तो फिर उसे यदि नित्य धारण किया जाय तो उसमे क्या आपत्ति है ? समाचार पत्रो वाले भी तिलक लगाने की जेलकालीन घटनाओं को तो मोटे २ शीर्षक देकर छापते थे, परन्तु अब माधवाचार्य को सतलिक देखकर 'चेमे गोइये' करने लगते हैं, इस 'दुरगी' का क्या कारण है ?

तिलक केवल भिखमगे कहे जाने वाले ब्राह्मणो का ही चिह्न नही है अपितु भारत मे तब तक कोई महाराजा ही नही बन पाता था, जब तक कि कोई तिलकधारी पुरोहित राज्याभिषक्त सम्राट् को तिलक न चढादे। हिन्दू शास्त्रो में तो इस तिलक प्रथा को इतना महत्व दिया गया है, कि राज्याभिषेक समारोह का नाम ही 'राज्य तिलक' पड गया।

यवनकालीन विप्लव के समय जितने बलिदान शिखा सूत्र और तिलक की रक्षा के लिए हुए है, इतने अन्य किसी उद्देश्य के लिए नही। श्रीगुरु गोविन्द सिंह के पिता का अमर बलिदान तिलक यज्ञोपवीत की रक्षा के लिए ही हुआ था यह बात गुरु गोविन्दसिंह जी ने अपने 'विचित्र नाटक' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ मे स्वय लिखी है। यथा—

तिलक जयूं राखा प्रभु ताका, कीन्हा बड़ा कलू में साका।

कहा जाता है कि अत्याचारी यवन लोग हिन्दुओ के जनेऊ को दातो से काट डालते थे और मस्तक पर लगा तिलक चाट लेते थे, इसकी रोक थाम के निमित्त करारा जवाब देने के लिए

पजाब मे गुरु रामराय के समय मे 'सुथरा' नामक सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। ये लोग सूवर की तात का जनेऊ पहिनकर और विष्ठा का तिलक लगाकर यवनो के सामने उन्हे चिडाने के लिए खूब घूमते थे। वे सूवर को अपने मजहब के अनुसार 'हराम' और 'वद' समझकर निकट नही आते थे इस प्रकार यवनो के अत्याचार को रोका गया।

शिखा बन्धन क्यों ?

समस्त धार्मिक अनुष्ठानो के आरम्भ मे ग्रथी लगाना भी सर्वथा आवश्यक माना गया है यथा—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) यशसे श्रियै शिखा। (यजु.)

(ख) सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।

(ग) गायत्रीमन्त्रेण शिखां बद्ध्वा।

अर्थात्—(क) यश और लक्ष्मी=शोभा के निमित्त शिखा धारण करे। (ख) सदैव [द्विज] यज्ञोपवीत धारण करे, और [अन्य हिन्दू] शिखा बाँधी रक्खे। (ग) [यथाधिकार] गायत्री मन्त्र से शिखा बाधकर धार्मिक कृत्य करे।

वैज्ञानिक-विवेचन

शिखा के सम्बन्ध मे इस ग्रंथ मे अन्यत्र विस्तारपूर्वक लिखा गया है। यहा तो केवल इतना ही प्रसग है कि सध्यावन्दन यज्ञानुष्ठान आदि प्रत्येक धार्मिक कृत्य मे आरम्भ मे सर्वप्रथम शिखा

मे ग्रन्थी लगानेकी अनिवार्य विधि है, यह क्यो ?—इसलिये कि-

आसन माला विवेचन के अनुसार पाँवो हाथो की भाँति, वातावरण से प्रभावित होने वाला मानव पिण्ड का पाँचवाँ अग मस्तक है। देखने मे तो यह गोल मटोल है परन्तु आँख, नाक, कान आदि छेदो की भाति शिर मे भी एक गुप्त द्वार है—जिसे 'दशम द्वार' भी कहते है। यजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षाध्याय (१ । ६ । १) मे वर्णन आता है कि—

(क) अन्तरेण तालुके य एषः स्तन इव अवलम्बते स इन्द्रयोनिः। अत्र असौ केशान्तो विवर्तते, व्यपोह्य-शीर्षकपाले।

**(ख) आन्तरो मस्तकस्योर्ध्वं शिरासन्धिसमागमः।
रोमावर्तोऽधिपो नाम मर्मः सद्यो हरत्यसून् ॥**

(अष्टाङ्गहृदय शरीरस्थान)

अर्थात्—(क) तालू के अन्दर जो स्तन सा लटकता दीख पडता है इसका नाम इन्द्रयोनि है, इसके ठीक समान सूत्र मे कपाल स्थान पर जो रोम राशि है वह मर्म रक्षक है। (ख) मस्तक के ऊँचे अभ्यन्तर स्थान मे जहाँ शरीर की समस्त शिराओ का समागम होता है उस स्थान के रोमो के आवर्त का नाम 'अधिप' है, जो बहुत मर्मस्थल है, जिसके उपद्रुत होने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

सो उक्त गुप्त छिद्र=दशम द्वार की सरक्षा के लिये वैदिक विज्ञान के अनुसार यहाँ शिखा रखी जाती है, धर्म्मानुष्ठान के समय इस मार्ग से वातावरण, उपार्जित आध्यात्मिक शक्ति का विनाश न कर सके—एतदर्थ द्वार बन्द करने की भाति शिखा को

गांठ लगानी आवश्यक है। विद्युत् शास्त्र का यह अटल सिद्धांत है कि नोकीले पदार्थ विद्युत् शक्ति का भेदन कर देते है। उनमे वह झटिति प्रविष्ट हो जाती है, वर्तुलाकार घेरेदार किंवा आवद्ध पदार्थो पर वह सहसा सक्रान्त नहीं होती। सो शिखामे गांठ लगाना, समाधि के समय अंगुष्ठ और तर्जनी के मेल से वर्तुल वनाना, किंवा मुट्ठी वांधना ये सव क्रियायें पूर्वोक्त विद्युत् सिद्धांत पर आधारित है।

ऊँचे २ हिन्दू मन्दिरों के शिखरो पर नोकीली लोहशलाका लगाना भी आकाश से गिरने वाली विजली के वेध को रोकने के अभिप्राय से ही है। भारतीय ऋषियो ने मन्दिरो के शिखरो पर चक्र, त्रिशूल और कलश की आकृतिये वनाकर वर्तुल वेध सिद्धान्त से वहुत लाभ उठाया है। इसलिये हमारा कोई प्राचीन मन्दिर विजली के पात से भूमिसात् हुआ हो ऐसा इतिहास मे कोई प्रमाण नही मिलता। पाश्चात्य विज्ञानवेत्ताओ ने जव ऊँचे मीनारों पर विद्युत् पात की आशङ्का समझी तो उन पर हमारे मन्दिरों की भाँति लोहशलाका लगाकर उसका पृथ्वी पिण्ड से सम्वन्ध जोड दिया। यह वात किसी भी ऊँची इमारत पर लगी सींख और ऊपर से पृथ्वी तक लगी पत्ती मे जानी जा सकती है। अस्तु,

शिखा वन्धन का हेतु—गुप्तद्वार, दशमद्वार, इन्द्रयोनि अधिप और मस्तुलिंग आदि अनेक नामो से पुकारे जाने वाले उस स्थान की रक्षा करना है जो कि मानव पिण्ड मे सर्वाधिक मर्म स्थान माना जाता है। हमारे इस शिखावन्धन का ही यह प्रत्यक्ष फल है कि भारतीय ऋषियो के लिखे हुये 'दर्शन शास्त्र' आज भी उनके सही मस्तिष्क होने की साक्षी देते हैं।

कुशा धारण क्यों ?

सन्ध्या में बाये हाथ में दर्भ मुष्टि रखने का, अन्यान्य धार्मिक अनुष्ठानो मे अगुलियों में कुशनिर्मित पवित्री पहिनने का तथा जप मे माला फेरने का और समाधि के समय तर्जनी और अंगुष्ठ की कुण्डलाकृति किंवा मुष्टिकाकृति बनाने का शास्त्र में उल्लेख मिलता है, माला आदि विषयों पर तो यथास्थान विचार किया जाएगा यहाँ कुशा के विषय मे विचार किया जाता है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) दर्भो य उग्र औषधिस्तं ते बध्नामि आयुषे ।

(ख) नास्य केशान् प्रवपन्ति नोरसि ताडमाघ्नते
यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म्म यच्छति ।।

(ग) दर्भेण देवजातेन दिविष्टम्भेन ।

(घ) दर्भः परिपातु विश्वतः । (अथर्व १६ । ३२ । १-१०)

(ङ) द्वौ दर्भौ दक्षिणे हस्ते वामे त्रीन् आसने सकृत् ।
उपवीते शिखायाञ्च पादमूले सकृत् सकृत् ।।
(देवी भागवत ११।२०)

(च) अग्निस्सूर्य्यश्चन्द्रमा भूमिरापो, द्यौरन्तरिक्षं
प्रदिशो दिशश्च । आर्तवा ऋतुभिः संविदाना
अनेन मा त्रिवृताः पारयन्तु ।। (अथर्व ५।२८।२)

अर्थात्—(क) कुशा=दर्भ तत्काल फल देने वाली महौषधि है ।

उसे आयुवृद्धि के निमित्त धारण करना चाहिए। (ख) जो मनुष्य अछिन्नपर्णा दर्भ पहिनकर कल्याणान्वित होता है उसके वाल नही झडते और नांही छाती मे आघान पहुँचता है। (ग) कुशा दैवी गुणो से उत्पन्न हुई है और यह दैवी वातावरण की रोक-थाम की सावन है। (घ) दर्भ चारो ओर फैले वातावरण =ऐटमास्फीयर=से सुरक्षित रखता है। (ड) दायें हाथ की अनामिका मे दो कुशाओ से निर्म्मित पवित्री पहिननी चाहिये, और वांयें हाथ मे तीन कुशा से वनी। एक कुशा यज्ञोपवीत मे, एक शिखा मे और दोनों पावो के नीचे एक रक्खे। (च) अग्नि, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, द्यौ, अन्तरिक्ष, दिशा, विदिशा ऋतुवे और उनसे होने होने वाले गर्मी-सर्दी आदि प्रभाव रूप= वातावरण से [पांव हाथ मस्तक] तीनो स्थानो की रक्षा के उपायो द्वारा मुझे पार कीजिए।

वैज्ञानिक-विवेचन

कुशा की पवित्री हाथो मे इसलिए पहिनी जाती हैं, कि जैसे पार्थिव विद्युत्-प्रवाह पावों के मार्ग से मानव पिण्ड की सञ्चित आध्यात्मिक शक्ति को खेचकर विनष्ट कर देता है और उसकी रोक थाम के लिये पांवो के नीचे आसन विछाना अनिवार्य है, ठीक इसीप्रकार अतरिक्ष व्याप्त विद्युत्प्रवाह-जिसे आज की वैज्ञानिक भाषा मे 'ईथर' कहते हैं—भी मानव पिण्ड को चारो और से निरन्तर घेरे रहता है। हमारे शरीर के पाच स्थानो द्वारा ही वह हमे प्रभावित कर सकता है-दोनो पाव, दोनो हाथ और मस्तक। क्योंकि हमारे शरीर के यही पांच अङ्ग अन्तिम भाग हैं। सो, प्रत्येक धार्मिक कृत्य में सिद्ध, पद्म, सुख जिसभी आसन से वैठने का विधान है, उसमे दोनो पाव घुटने के नीचे दव जाते हैं।

पांव फैलाकर या टांग पर टांग रखकर बैठना हमारे यहां अनुचित समझा जाता है, गुरु सन्निधि मे और शिष्ट समाज में कोई भी सभ्य हिन्दू उपर्युक्त रीति से नही बैठेगा। जिस प्रकार आसन के प्रभाव से और पांव की अगुलिया छुपाकर पांवो के मार्ग से हम अवाञ्छित बाह्य वातावरण से अपनी रक्षा कर लेते है, ठीक इसी प्रकार हाथो के मार्ग से भी वह वातावरण हमे प्रभावित न कर पाए—अर्थात्—धर्मानुष्ठान द्वारा सञ्चित हमारा आध्यात्मिक बल अपक्षीण न हो एतदर्थ कुश=घास निर्मित पवित्रिये हाथो में धारण की जाती हैं।

हम पीछे कह आये हैं, कि दर्भ भी 'शुचि'=नान कन्डैक्टर पदार्थ है, वह भी विद्युत्प्रवाह के सक्रमण मे बाधक है। पूर्वोक्त वेद प्रमाणों मे कुश धारण के तीन प्रधान लाभ आए है। (१) कुश धारण से शिर के बाल नही गिरते (२) छाती मे आघात नही होता और (३) वातावरण का प्रभाव नही पडता। इससे सहज ही मे यह अनुमान किया जा सकता है, कि जप, पूजा, पाठ और अनुष्ठान के समय यदि हाथो द्वारा शरीर मे प्रविष्ट होने वाले 'ईथर' से आत्म-रक्षा न की जाय, तो इसका मस्तिष्क और हृदय पर बुरा प्रभाव पडता है। दिल और दिमाग की विकृति निश्चित ही मृत्यु का मुख्य कारण है। इसी लिए कुश धारण का मुख्यफल आयुष्य वृद्धि वेद ने बतलाया है।

वातावरण नई खोज में—

यहा यह समझ लेना भी आवश्यक होगा, कि आज के युग मे वातावरण का अस्तित्व और उसका अनिवार्य प्रभाव सभी वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। थियासोफीकल सोसाइटी का यह प्रधान सिद्धान्त है, कि—हर समय अनेक बुरी और भली

मृतात्माएँ मनुष्य को चारो ओर से घेरे रहती है, जब हम भली आत्माओं से प्रभावित होते हैं तो अच्छी २ बाते सोचते है और जब बुरी आत्माओ से आक्रान्त हो जाते हैं तब बुरे-बुरे विचार करने लगते है ।

पिछले दिनों अमेरिका के एक वैज्ञानिक ने अपने अनेक वर्षों के अनुभव के बाद यह तथ्य प्रकट किया है, कि यदि ईश्वर-प्रार्थना-स्थान या भले विचार जहा किए गए हो ऐसे स्थान के वातावरण का चित्र लिया जाय तो वहां गाय, हाथी, घोड़ा, कमल, सूर्य, चाद आदि शोभन वस्तुओ के चित्र अङ्कित होंगे। और यदि शराब-खाने, वध्यशाला, द्यूत भवन और चोर डाकुओ की बैठको का चित्र लिया जाय तो वहा कुत्ता, गधा, सूअर, कबर, शूलो, छुरे और कव्वे तथा गीधो से मिलती-जुलती शक्ले बनेगी। ये महोदय अपने इस विषय में इतने सिद्धहस्त हैं, कि वे किसी भी खाली हाल का चित्र लेकर अपने यन्त्र की सहायता से यह बता सकते हैं, कि इस हाल मे अभी बुरी या भली कैसी टोली बैठी थी और वह कैसी चर्चा कर रही थी।

ससार मे सभी मतमतान्तरवादी अपने-अपने पन्थ के महात्माओ के दर्शन करने जाया करते हैं, इसका यही अभिप्राय होता है, कि एक आध्यात्मिक-शक्ति-सम्पन्न महात्मा के निवास स्थान का वातावरण भी इतना पवित्र हो जाता है, कि उसमे पहुँचने पर कोई भी ससार सन्तप्त मनुष्य शान्ति अनुभव करने लगता है। भारतीय ऋषियो के आश्रमो का वर्णन करते हुए यह बात सभी कवियो ने प्रकट की है कि वहा रहने वाले सहज-वैरी जीव—सिंह मृग, नकुल सर्प, आदि भी वैर त्याग कर देते

है। योग दर्शन मे महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधाने सर्व-वैरत्यागः।

अर्थात्—जो अहिंसा का सच्चा उपासक होता है उसके निकट सम्पर्क में रहने वाले सभी प्राणी वैर का परित्याग कर देते है।

इतिहास-मे ऐसे बहुत दृष्टान्त उपलब्ध होते है, कि अमुक पुरुष अमुक महात्मा को कामवश अपना शत्रु मानकर मारने चला, परन्तु वहाँ जाने पर वातावरण के प्रभाव से अपने ऐसे कुविचार पर बहुत पश्चात्ताप किया और महात्मा का सेवक बन गया। वाल्मीकि रामायण मे वर्णन आता है, कि वशिष्ठ को मारने के पक्के इरादे से वशिष्ठाश्रम मे पहुँचे विश्वामित्र, सेवक बनकर लौटे।

इतने पर भी मूर्ख लोग यदि वातावरण,—जिसे यवनादिक 'कुर्रेहवाई' और आंगल भाषा वाले 'एटमास्फीयर' कहते है—को न समझ सके, तो उन्हे यह तो समझ लेना ही चाहिये, कि आखिर रेडियो पर ये दूर २ देशो के सवाद और गाने विना किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कैसे सुने जाते है?—सात समुद्र पार इगलैंड, जर्मन और अमेरिका मे भाषण-ब्राडकास्ट करता हुआ व्यक्ति तत्काल ज्यो का त्यो बोलता कैसे सुना जाता है? शायद इस प्रत्यक्ष दैनन्दिनो घटना के अस्तित्व मे तो किसी बज्रमूर्ख को भी, आज के युग मे सन्देह न हो, फिर ऐसा क्यो होता है—इसका प्रधान कारण यह समझ लेना चाहिये कि आँखो से न दीखने वाला एक 'ईथर' नाम का सूक्ष्म तत्त्व है, जो ससार मे सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है।

जैसे जलपूर्ण तालाब के उस किनारे से हिलाया हुआ पानी

तरगित होता २ परले किनारे तक जाता है, ठीक इसी प्रकार ईथर के किसी भी स्थल में किया हुआ शब्द समस्त विश्व मे व्याप्त हो जाता है। जहाँ जहा उसे पकड़ने वाले रेडियो नामक विद्युत् यन्त्र होगे वहा वहां ही वह प्रतिध्वनित हो उठेगा। यह 'ईथर' नामक पदार्थ कोई आधुनिक विज्ञान की नई खोज नही। भारतीय ऋषियो ने तो—वायु और आकाश तत्त्व के जिस संमिश्रण को आज 'ईथर' कहा जाता है उसके उत्पादक—'अहं तत्व' और उसके भी उत्पादक 'महत्तत्त्व' की भी परम्परा को केवल जाना ही नही वल्कि उससे ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग भी परिष्कृत कर दिया था।

वात वहुत वढ गई अत हम पुन. मुख्य वात पर आते हैं, सो वातावरण के प्रभाव से वचने के लिए हाथ में कुश निर्मित पवित्रिये धारण की जाती हैं।

धर्मानुष्ठान में ही वाधक क्यों ?—

कदाचित् यहाँ यह आशका की जाए कि जिस वातावरण से वचने के लिए इतनी रस्साकशी की जा रही है वह पूजा पाठ के समय ही हम से द्वन्द्वयुद्ध करने के लिये क्यो प्रस्तुत रहता है ? अन्य समय मे क्यों नही ? कहना न होगा कि भजन पूजा पाठ धर्मानुष्ठान का तात्पर्य है—कि उस समय हम एक आध्यात्मिक शक्ति का सञ्चय करने चले हैं, परन्तु जैसे विद्युत् उत्पादक यन्त्र (डैनुमा) के सघर्ष से इधर विजली उत्पन्न हो और उधर पृथ्वी आदि किसी सक्रमण शील पदार्थ के सम्पर्क से साथ ही साथ नष्ट होती रहे तो दिनभर यन्त्र चलने पर भी सायकाल एक भी वत्ती न जल पाएगी; ठीक इसीतरह यदि हम आसन आदि उपासना के अनिवार्य अगो की उपेक्षा करके आयु भर भी माला घिसा करे तो—कवीर जी के शब्दो मे—

माला फेरत जग मुंवा फिरा न मन का फेर ।
कर का मनका छोड़ कर मन का मनका फेर ॥

—अन्धेरे मे डले ढोते व्यर्थ समय की हत्या के अपराधी बनेगे । अन्य समय भी चौबीसो घण्टे वातावरण से हमारा सघर्ष बदस्तूर चालू रहता है और उसके ही प्रभावभूत—भूख, प्यास, निद्रा आदि शस्त्रो को हम, अन्न जल और शयन की ढाल से विफल करते रहते है—यह तो हुआ स्थूल शारीरिक प्रभाव , मन. बुद्धि अन्त करण पर पड़ने वाले उसके प्रभाव को विफल बनाने के साधन हैं जप पूजा पाठ धर्मानुष्ठान । यदि वे साधन ही हम भली प्रकार न जुटा सके तो फिर हमारा त्राण कैसे होगा ? इसलिये हाथो के मार्ग से मानव पिण्ड पर पड़ने वाले प्रभाव को रोकने के लिए कुश धारण का उपयोग है ।

—o—

संध्या

द्विजाति मात्र को प्रतिदिन सध्या करनी चाहिए । स्त्री शूद्र आदि अन्यान्य सभी मनुष्यो को भी अपने २ अधिकार के अनुसार भगवदुपासना करनी चाहिए । वेदादि शास्त्रो मे सध्या को नित्य कर्म माना है इसलिए उसके न करने पर प्रत्यवाय होना स्वाभाविक है । शास्त्र कहता है—

(क) अहरह सन्ध्यामुपासीत (वेद)

(ख) नोपतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमास् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्म्मणः ॥

(मनुः २ । १०६)

(ग) उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रातःसंध्या त्रिधा स्मृता ॥
(घ) उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसंध्या त्रिधा स्मृता ॥

अर्थात्—(क) प्रतिदिन सन्ध्योपासन करना चाहिये। (ख) जो द्विज प्रातः और सायं सन्ध्योपासन नही करता वह शूद्र की भांति समस्त द्विज कर्मो से वहिष्कार करने योग्य है। (ग) प्रात-काल की सन्ध्या तारागण के अस्त होने से पूर्व की जाए तो उत्तम है, सूर्य निकलते समय मध्यम और सूर्य के चढ़ जाने पर कनिष्ठ मानी जाती है। (घ) साय सन्ध्या सूर्य रहते २ की जाए तो उत्तम सूर्य डूबने पर मध्यम और तारे निकल आने पर कनिष्ठ समझनी चाहिये।

सन्ध्या से श्वास क्रिया का नियमन

सन्ध्या हमारी अहोरात्रचर्या का मुख्य अग है। 'विप्रो वृक्ष-स्तस्य मूलञ्च सन्ध्या' कहते हुये शास्त्रकारों ने उसे द्विजाति के लिए 'जीवन का मूल' स्वीकार किया है। उसमे लौकिक और पारमार्थिक श्रेय की ऐसी प्रक्रियाओं का सम्मिश्रण है कि यदि उसे स्वास्थ्य, शक्ति, मेधा और दीर्घ जीवन की कुञ्जी कह दें तो अनुपयुक्त न होगा। इससे भी अधिक सन्ध्या का प्रमुख उद्देश्य हमारी उस श्वास प्रक्रिया का नियमन है जो हमारे जीवन का वास्तविक मूल है।

शास्त्र मे जैसे भोजनादि की विधि लिखी है, वैसे ही श्वास लेने का भी विधान अंकित है। भगवान् ने सर्वाङ्गपूर्ण मानवपिंड

मे न तो अनावश्यक कोई अग अधिक लगाया है और नाही न्यून होने दिया है। जिस प्रकार घड़ी की प्रत्येक कील परमावश्यक है, इसी प्रकार मानव-पिण्ड का एक-एक रोम भी परमावश्यक है। यही कारण है कि एक रोम के भी समूल नष्ट हो जाने पर बालतोड जैसी भयकर व्याधि उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशा मे विचारणीय होगा कि मनुष्य की नाक मे दो छेद क्यो है ? अर्थात्—नासिका के मध्य मे दीवार सी खड़ी करके उसे दो भागो मे क्यो बांटा गया है ? क्या एक ही छेद रहने की हालत में श्वास वायु का गमनागमन सम्भव नही था ? कहना न होगा कि इसमे कुछ रहस्य अवश्य है।

प्राकृतिक रीति से मनुष्य को एक अहोरात्र मे २१६०० श्वास लेने चाहिये, और वे भी गरमी और सरदी की ऋतु के अनुसार दाएँ वा बाएँ अमुक छेद से अमुक-अमुक व्यवस्था के अनुसार। शास्त्र मे लिखा है कि—

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यात्मकं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

(योग चूड़ामणि उपनिषद् ३४।६३)

अर्थात्—एक अहोरात्र मे जीव इक्कीस हजार छः सौ बार 'सोऽहम्' मन्त्र का जाप करता है।

स्वरशास्त्र मे नाक के दाये छेद का नाम सूर्य और बाये छेद का नाम 'चन्द्रमा' कहा गया है। ये दोनो छेद 'यथा नाम तथा-गुण' के अनुसार क्रमश. गर्मी और ठण्डक पहुँचाने के साधन है। आज के मानव समाज को यह मालूम भी नही कि कब किस नासाछिद्र से श्वास लेना चाहिए। परन्तु हमारे पूर्वज दिन-रात

मे तीन बार श्वास प्रश्वास क्रिया को ठीक किया करते थे। श्वास प्रश्वास प्रक्रिया की साधना का ही धार्मिक नाम 'सन्ध्या' है। यद्यपि सन्ध्या मे आचमन सूर्योपस्थान भगवत्स्मरण आदि आदि अन्यान्य भी कई लाभप्रद अनुष्ठान किये जाते हैं परन्तु सन्ध्या का मुख्य तत्त्व प्राणायाम है। अन्यान्य सब विधियें इसी एक मुख्य तत्त्व की पोषक विधिये है।

सन्ध्या से आयुष्य वृद्धि

शास्त्रो मे यह बात डिण्डिम घोष के साथ व्यक्त की गई है कि

'ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः' (मनु)

अर्थात्—दीर्घकाल नक सन्ध्या=प्राणायाम के अनुष्ठान से ऋषि लोगो ने दीर्घ आयु को प्राप्त किया।

हम पीछे कह चुके हैं, कि एक स्वस्थ मनुष्य को अहोरात्र मे इक्कीस हजार छ सौ श्वास आने चाहिएँ। यदि कोई इससे अधिक श्वास लेता है तो समझो उसी आधिक्य के अनुमान से वह अपनी आयु को क्षीण कर रहा है। किन २ चेष्टाओ से श्वासो की मात्रा अधिक होतो है ? अनुभवी योगियो ने इसका भी एक मापदण्ड निश्चित किया है।

स्थितस्य द्वादशश्वासाश्चलतोऽष्टादशः स्मृताः।
चतुर्विशति सुप्तस्य, त्रिंशद् ग्राम्य-रतस्य च ॥

अर्थात्—बैठे बारह, चलत अठारह, सोते जाएं चौबीस।
मद्य मांस मैथुन सेवन मे, श्वास निकलते तीस ॥

यहां सभी सज्जनो को यह जिज्ञासा हो सकती है, कि कोई भी मनुष्य सर्वथा और सर्वदा बैठा ही रहे यह बात कभी सम्भव

नही—अन्य रोजगार धन्धे के लिये न सही, कम से कम शरीर यात्रा के लिए आवश्यक-शौच स्नानादि के निमित्त तो दौड़धूप करनी ही होगी, ऐसी दशा मे आयु. क्षीण हो जाने के भय से पाषाण प्रतिमा की भाति निरे निठल्ले पड़े रहने से तो कार्य करते मर जाना कही अच्छा है। कहना न होगा कि शास्त्रो ने इस समस्या पर भी पूरा २ विचार किया है। अवश्य ही मनुष्य को शरीर यात्रा के लिए आवश्यक दौड़-धूप करनी चाहिये और नियमानुसार सोना तथा विधिवत् सन्तान भी उत्पन्न करनी चाहिए। निश्चित ही यह सब काम करते हुये श्वासो की मात्रा अधिक होगी परतु सर्वसाधारण के लिए यह सब अनिवार्य है। ऐसी दशा मे श्वासो के आधिक्य के कारण होने वाली आयुष्य की उस क्षति को पूरा करने का अमोघ उपाय महर्षियो ने सन्ध्या=प्राणायाम ढूढ निकाला था। शरीर यात्रा के निमित्त की जाने वाली अनिवार्य दौड-धूप जन्य आयुः-क्षीणता की पूर्ति मनुष्य सन्ध्या द्वारा कर सकता है। अर्थात्—अनिवार्य लोक-यात्रा मे जितने अधिक श्वास प्रश्वास चलेगे उतने ही त्रिकाल सन्ध्या मे प्राणो का नियमन करने के कारण पूरे हो जायेगे—इस तरह साधारण जीवन बिताने वाले व्यक्ति का भी का आयु:-स्तर सौ वर्ष से कम न हो सकेगा। जो व्यक्ति अष्टाङ्गयोग=समाधि का अभ्यास करेगे वे तो अपने परिश्रम के अनुसार सहस्रायु' किंवा यथेच्छ चिरञ्जीवी, स्वच्छन्दमृत्यु अथ च अजर अमर तक हो सकेंगे। जैसा कि हमने अपने अन्य ग्रथ 'पुराण दिग्दर्शन' के आयुनिर्णय प्रकरण मे सिद्ध किया है। इसलिये सन्ध्योपासन दीर्घायुष्य प्राप्ति का प्रथम सोपान है।

सन्ध्या से पारलौकिक लाभ

पूर्वोक्त विवेचना के अनुसार सन्ध्या से जहाँ अनेक रोगो की

निवृत्ति, पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति और दीर्घायु का लाभ होता है, वहां विधिवत् प्राण त्याग कर सकने की योग्यता प्राप्त हो जाने के कारण पुण्य लोकों की प्राप्ति अथ च मोक्ष पद तक की भी प्राप्ति हो सकती है।

शास्त्रो का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है, कि मानव पिण्ड मे जो प्रत्यक्ष नौ छिद्र हैं उनमे उत्तरोत्तर ज्यो-ज्यो ऊपर-ऊपर के छिद्र से मृत्यु के समय प्राण जायेंगे त्यो-त्यों उत्तम लोक की प्राप्ति होगी। शास्त्रवेत्ता पुरुष मुमूर्षु व्यक्ति के अन्तिम प्रयाण को देखकर एक हद तक यह जान सकता है, कि यह प्राणी दुर्गति को प्राप्त होगा या सुगति को ? यदि मृत्यु के समय मुमूर्षु का महामल गिर गया है–जिसकी दुर्गन्ध से सब स्थान ही भर गया है—तो समझ लेना चाहिए कि प्राण गुदा के मार्ग से निकले हैं अतः यह अधोगति को प्राप्त होगा। इसी प्रकार मूत्र निकलने से मूत्रेन्द्रिय द्वारा महा प्रयाण का अनुमान किया जा सकता है, इसे दूसरी कोटि की अपमृत्यु कह सकते हैं। इसी प्रकार मुख खुला रहने से तीसरी कोटि की, नाक से प्राण जाने पर चौथी कोटि की और नेत्र खुले रहने से पाचवी कोटि की आदि-आदि मृत्यु समझनी चाहिये।

शास्त्रों मे कपाल-स्थानीय 'ब्रह्मरन्ध्र' नामक स्थान को दशम द्वार=गुप्त दर्वाजा बताया है, यदि इससे प्राण निकलें तो वह जीव 'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते' के अनुसार मोक्षपद को प्राप्त हो जाता है। इस तत्त्व को एक लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझना चाहिये। जैसे कोई राजा सुदृढ दुर्ग बनवाता है, उसमे अनेक बडे-बडे द्वार होते है, परन्तु एक गुप्त द्वार= सुरंग भी होती है। कभी कोई शत्रु आक्रमण करे, तो दुर्ग मे बैठा हुआ राजा शत्रु के प्रहारो को अनेक उपायो से विफल करता

हुआ आत्मरक्षा करता है, परन्तु कभी शत्रु का बल अधिक हो जाय और वह दुर्ग को घेरकर छिन्न भिन्न कर डाले और उसमें आग लगा दे, तो दुर्गस्थ राजा किले की रक्षा असम्भव समझकर उसके व्यामोह को छोडकर सुरंग के गुप्त द्वार से निकल भागता है। यदि मूर्खतावश वह ऐसा न कर सकेगा तो फिर किले के विनाश के साथ उसे स्वय भी शत्रु द्वारा पकडा जानेपर अनेक निगड यातनाओं का भाजन वनना होगा।

ठीक इसी प्रकार जीवात्मा रूप राजा, देह रूप सुदृढ दुर्ग मे रहता है। मृत्यु रूप शत्रु अनादि काल से इसके पीछे पड़ा है। वह क्षुधा पिपासा रोग आदि अनेक महास्त्रो का प्रयोग करता हुआ इस शरीर रूप दुर्ग को विनष्ट करना चाहता है, परन्तु जीव रूप राजा,-अन्न, जल, औषधि रूप महास्त्रो के प्रयोग से शत्रु के आक्रमण को विफल करता हुआ आत्मरक्षा करता रहता है। अवसर पाकर जब कभी रोग आदि मृत्यु के दूत देह रूप किले को बेतरह घेरकर काबू कर लेते हैं और १०५ डिग्री ज्वर रूप अग्नि किले को भस्मसात् किये डालती है तब यदि जीव रूप राजा देह रूप किले के व्यामोह को छोडकर दशमद्वार=सुरगद्वार—कपाल मार्ग से भाग निकले—महाप्रयाण करे—तो फिर वह मृत्यु रूप शत्रु का कैदी न बनकर मुक्त हो जाएगा—जन्म मरण रूप अनेक जेल यातनाओ का भाजन नही बनेगा। दुर्भाग्यवश कदाचित् जीव रूप राजा दशम द्वार से आने जाने का अभ्यासी न हो अथवा समय पर चौंकडी चूक जाए तो फिर समझ लेना चाहिए, कि सुर दुर्लभ मानव शरीर पाकर भी यह हतभाग्य जीव—**पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्**' के वक्र चक्र मे पड गया है।

अव पाठको को स्वभावत. यह जिज्ञासा हो सकती है कि—

'दशम द्वार से प्राण जाएँ'—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें क्या करना चाहिये ?—इस प्रश्न का विस्तृत समाधान तो प्रसङ्गानुसार श्राद्ध विवेचन प्रघट्ट मे किया जाएगा, परन्तु यहाँ उक्त-उद्देश्य की पूर्ति के अन्यतम प्रमुख साधन प्राणायाम का कुछ परिचय करा देना निरवकाश न होगा। वस्तुत सन्ध्या=प्राणायाम वह दैनिक अभ्यास है, जो कि महा प्रस्थान के समय प्राणों का निरोध करके उन्हे ऊर्ध्व गति बनाने मे काम आता है। जैसे सैनिक लोग युद्ध न होने के दिनो मे भी नित्य चक्रमण=कवायद—परेड=चांदमारी करते रहते हैं और अभ्यास बढाने के लिये समय-समय पर कृत्रिम युद्ध भी करते हैं—तभी वे युद्ध के मोर्चे पर शत्रु से लोहा लेने मे समर्थ होते हैं। यदि वे नित्य निरन्तर ऐसा अभ्यास न करे तो वास्तविक समय पर कभी सफलता प्राप्त न कर सकेंगे। ठीक इसी प्रकार सन्ध्या=प्राणायाम को भी शास्त्रकारो ने न केवल नित्य कर्म्म कोटि में परिगणित करके इसे अनिवार्य अनुष्ठेय कृत्य ही घोषित किया है, अपितु इसको एक दिन भी न करने से 'प्रत्यवाय' भी माना है। जैसे परेड मे अनुपस्थित सिपाही दण्डनीय समझा जाता है, इसी प्रकार मन्वादि स्मृतियो मे सन्ध्या विहीन द्विज भी 'शूद्रवद् वहिष्कार्य' कहा गया है।

सन्ध्या के मुख्य कर्म

यदि हम सन्ध्या के समस्त अनुष्ठेय कर्म्मों और उनकी 'क्यो ?' लिखने लगे तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन जाए, इसलिये केवल मुख्य-मुख्य अनुष्ठेय कर्म और उनके तादृश होने के कतिपय हेतु ही यहाँ प्रकट किये जाते है,—सन्ध्या के मुख्य कृत्यो का संग्रह श्लोक है कि—

संकल्प आसनविशोधनमम्बुपानं,
प्राणावरोधनमघक्षयताऽभिषेकः ।
सौत्रामणीसवनसावभृथार्घ्यदानं
सन्ध्याविधिर्निगदितो मुनिभिः पुराणैः ॥

अर्थात्—सकल्प, आसन शोधन, आचमन, प्राणायाम, नित्य कृत पापक्षयार्थ अपामुपस्पर्श, अवभृथ, अघमर्षण, सूर्यार्घ्य और सूर्योपस्थान ये-सब सन्ध्याकी विधियें पुरातन मुनियो ने कही हैं।

संकल्प क्यों ?–

प्रत्येक धर्मानुष्ठान के आरम्भ मे सकल्प परमावश्यक है—यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। मनुस्मृति (२।३) मे लिखा है कि—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रता नियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥

अर्थात्—समस्त कामनाएँ सकल्प मूलक ही हैं। सब यज्ञ सङ्कल्प के अनन्तर ही सम्पन्न होते है, व्रत उपवास और सन्ध्या आदि समस्त धर्म्मानुष्ठान सकल्प जन्य है।

हम सिद्धान्ताध्याय के 'भावनावाद' प्रघट्ट में यह सिद्ध कर चुके है, कि मानव जीवन पर भावनाओ का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है। सङ्कल्प भी अनुष्ठेय कर्म्म की साधना के प्रति साधक की भावना का ही मूर्त रूप है, जिसके अनुष्ठान से साधक अपने क्रियमाण कर्म्म के प्रति सर्वतोभावेन कटिबद्ध हो जाता है। आज के जडवादी जगत् मे भी सभी देशों की

राष्ट्रीय संसदों के पदाधिकारी पद ग्रहण करने से पूर्व अपने किसी भी श्रद्धास्पद तत्त्वका नाम उच्चारण करते हुये 'शपथ' लेते हैं। कहना न होगा कि प्रकारान्तर से यह भी सङ्कल्प प्रणाली की परम्परा का ही निर्वाह है।

हमारे यहाँ 'शपथ' उठाना वहुत जोखो भरा काम समझा जाता है। इसलिये उसे प्राणो पर आ वनने की दशा मे ही यथा कथञ्चित् कोई अगत्या उठाने को विवश हो सकता है। सर्व साधारण तो वडी से वड़ी हानि उठाकर भी—झूठे की कौन कहे—सच्चा नेम करने को भी उद्यत नही होता। और यदि अमुक कारण वश एक वार शपथ उठाली तो फिर—'रघुकुल रीति सदा चली आई। प्राण जाएँ पर वचन न जाही।'—के आदर्शानुसार अवसर पड़ने पर स्वय हँसते २ प्राणों पर खेल गये। महाराजा दशरथ इसका सुप्रसिद्ध निदर्शन हैं परन्तु आज लोगों ने शपथ ग्रहण को भी एक रस्मी कार्य्यवाही मात्र समझ रक्खा है। देश धर्म्म और अपने मतदाताओं के प्रति वफादारी की शपथ उठाने वाले वे राष्ट्रीय संसदो के सदस्य जनमत की अवहेलना कर जनविरोधी कानून की सृष्टि करने मे विलकुल नही हिचकते।

इसलिये हमारे यहाँ मानव सुलभ निर्वलताओ को ध्यान मे रखते हुए 'शपथ' जैसी अवश्य पालनीय प्रथा के लिए किसी भी 'ऐरे गैरे' को अवसर नही दिया जाता। किन्तु शपथ के वजाए प्रतिज्ञा को कार्य्यान्वित करने की निर्दुष्ट प्रणाली—सकल्प प्रथा का ही विधान किया गया है। शपथ उठाना एक अपमान सूचक प्रथा है उसे वही व्यक्ति उठाता है, जिसकी कि ईमानदारी में सर्व साधारण को सन्देह हो। और वह इस कठिनतम व्यापार द्वारा विश्वास दिलाना चाहता हो। परन्तु सङ्कल्प प्रथा शपथ प्रणाली के सर्वथा विपरीत वह अनुष्ठान है कि जिसमे साधक

अमुक अनुष्ठेय कर्म्म के प्रति अपनी दृढ़निष्ठा और आत्म-विश्वास की भावना से ताजा दम होकर कर्तव्य पालन मे संलग्न हो जाता है ।

सङ्कल्प की सबसे बडी विशेषता है–आर्य जाति के इतिहास की परम्परा की सुरक्षा । वैदिक काल से सङ्कल्प का इसी प्रकार प्रयोग हो रहा है और उसमे प्रतिदिन हमारे जीवन की एक कड़ी और जुड जाती है । आप जानते हैं हमारी जीवन शृंखला कितनी लम्बी बन चुकी है ? आप प्रतिदिन प्रत्येक कार्य के आरम्भ मे सङ्कल्प को दोहराते अवश्य है, परन्तु आप मे से बहुत कम व्यक्ति ऐसे है—जिन्होने उसके अर्थ गाम्भीर्य पर ध्यान दिया है । जब जल हाथ मे लेकर आप कहते हैं—

ॐ तत्सदद्य ब्रह्मणोऽह्नि द्वितीये परार्द्धे श्रीश्वेतवाराह-कल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथम-चरणे अष्टादशोत्तरद्विसहस्रतमे वैक्रमाब्दे·····आदि २ ।

इसका सीधा तात्पर्य हुआ कि आप अपनी उस चिरन्तन सत्ताका स्मरण करते है, जिसका कि प्रादुर्भाव इस धरातल पर आज से १ अरब ९७ करोड २९ हजार ६२ वर्ष पूर्व हुआ था । यह आर्य जाति की ही विशेषता है, कि वह इतने लम्बे समय से अपनी सांस्कृतिक विशेषताओ के साथ जीवित है । इस विस्तृत धरातल पर इतने समय मे सहस्रो जातियाँ उत्पन्न हुई और विनष्ट हो गई, आज भी जो जीवित है उनकी सत्ता दो तीन हजार वर्ष से अधिक की नही है । क्या ईसाई, क्या मुसलमान, पारसी, यहूदी, ग्रीक और रोमन, सभी का प्रारम्भ तो अधिक से अधिक ३ हजार वर्ष पूर्व हुआ है । किन्तु हमे गौरव है कि हमारे पूर्वजो ने आज से करोड़ो वर्ष पूर्व सांस्कृतिक जीवन की जिस परम्परा

को प्रारम्भ किया वह आज भी अक्षुण्ण है। सन्ध्या वन्दनादि सभी धार्मिक कृत्यो के समय सकल्प को बोलकर हम उसी परम्परा के इतिहास को दोहराते है।

इसके अतिरिक्त ,सृष्टि को बने हुए कितने वर्ष हुए'-यह प्रश्न आज, जब कि दुनिया के वैज्ञानिको और विचारको के लिए उलझी हुई पहेली बना हुआ है और वे इसके बारे मे तरह तरह की अटकल लगाकर दिमागपच्ची कर रहे है, तब सन्ध्यावन्दन करने वाले एक साधारण हिन्दू के पास सकल्प के रूप मे इस प्रश्न का नितान्त स्पष्ट और सच्चा रिकार्ड विद्यमान है—यह कम आश्चर्य की बात नही है।

संकल्प में जल ग्रहण क्यों ?

वेदादि शास्त्रो मे जल उपस्पर्श पूर्वक ही सकल्प करने का विधान इसलिये है क्योंकि जल मे वरुण देव का आवास है और उसके साक्ष्य में जो प्रतिज्ञा की जाएगी उपका निर्वाह न करने पर वरुणदेव प्रतिज्ञा पालन न करने वाले को को दण्ड देंगे। वेद कहता है कि—

(क) अप्सु वै वरुणः। (तैत्तिरीय १।६।५।६)

(ख) अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति।

(तैत्तिरीय १।७।२।६)

इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक दृष्टि से जैसे हमारा मन भुक्त अन्न का परिणाम है इसी प्रकार—'आपोमया प्राण.' इस वेद प्रमाण के अनुसार प्राण शक्ति भी पीये हुए जल का ही अन्तिम परिणाम है। सो प्रत्येक कर्म्म के अनुष्ठान मे प्राणशक्ति के प्राबल्य की अनिवार्य

आवश्यकता है, इसीलिये कर्म्म से विरक्त हुवे अकर्म्मण्य भीरु मनुष्य को कहा जाता हैं, कि 'इसके प्राण सूख गये'। सो प्राण-शक्ति के जनक जल का उपस्पर्श करके साधक अपने आपको महाप्राण अनुभव करता हुआ अनुष्ठेय कर्म्म की साधना मे सुतरा प्रवृत्त होता है। साथ ही सन्ध्या, तर्पण, यज्ञ, हवन, तप आदि सभी धर्म्मानुष्ठानो मे जल की नितान्त आवश्यकता होती है। हमारे यहा मुसलमान ईसाई आदि आधुनिक मत वालो की भाति सूखी–जलशून्य उपासना नही होती। आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी कल्पित सन्ध्या मे सङ्कल्प और विनियोग आदि वैदिक विधियो का तो परित्याग कर दिया था, परन्तु आचमन और अङ्ग प्रोक्षण मे तो जल की अनिवार्यता लिखो थी, परतु दयानन्दानुयायी समाजी तो नमाजियो की भाति जलशून्य सूखी सन्ध्या का सूखा शख फूंकते हुए रही-सही वैदिक मर्यादा को भी तिलाञ्जलि देने लगे हैं। सो उपर्युक्त कारणावली का मनन करते हुए आस्तिक जनो को अपने समस्त धार्मिक अनुष्ठान जलोपस्पर्शपूर्वक सङ्कल्प से ही आरम्भ करने चाहिये, जिससे सकल्प के निमित्त प्रथम ही जल को विद्यमानता हो जाने पर आगे का समस्त क्रिया-कलाप सुचारु रूप से चलता रहे।

तीन आचमन क्यों?

प्राय प्रत्येक धर्म्मानुष्ठान के आरम्भ मे और खासकर सन्ध्योपासन मे बीच-बीच मे कई वार तीन आचमन करने का शास्त्रीय विधान है, यथा—

त्रिराचमेदपः पूर्वम् (मनु —२६०)

अर्थात्—सर्व प्रथम तीन आचमन करने चाहिये। आचमन करने से जहा कायिक मानसिक और वाचिक त्रिविध पापो की निवृत्ति रूप अदृष्ट फल प्राप्त होता है, वहाँ कण्ठशोषण दूर होने से और कफ निवृत्ति हो जाने के कारण श्वास प्रश्वास क्रिया मे और मन्त्रादि के शुद्ध उच्चारण मे भी अपेक्षित सौकर्य्य प्राप्त हो जाता है। प्राणायाम के अनन्तर अनुपद आचमन के विधान का लाभ तो प्राणायाम करने वाला कोई भी सज्जन स्वय ही तत्काल जान सकता है, क्योकि प्राणनिरोध के कारण स्वभावत शरीर मे ऊष्मा बढ जाती है, कभी-कभी तो ऋतु के तारतम्य से तालू सूख जाने के कारण हिचकी तक आने लग जाती हैं। इसलिये आमचन करते ही सब ठीक ठाक हो जाते हैं। ध्यान रहे, शास्त्र रीति के अनुसार आचमन मे चुल्लुओ जल नही पिया जाता, किन्तु उतने ही प्रमाण मे जल ग्रहण करने की विधि है जितना कि कण्ठ तालू को स्पर्श करता हुआ हृदय चक्र की सीमा तक ही समाप्त हो जाए।

—०—

प्राणायाम

हमने पीछे कहा है कि सन्ध्या का मुख्य तत्त्व प्राणायाम है। प्राणायाम का तात्पर्य साधारणतया तो प्राणो का व्यायाम है, किन्तु इसका वास्तविक तात्पर्य है प्राणशक्ति पर विजय। शास्त्र-कारो ने लिखा है—

प्राणास्तु द्विविधा ज्ञेयाः स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः।
यया जयः स्यात्प्राणानां प्राणायामः स चोच्यते॥

अर्थात्—स्थूल और सूक्ष्म भेदसे प्राण दो प्रकारका होता है

और जिस क्रिया के द्वारा दोनो प्रकार के प्राणो पर विजय प्राप्त की जाय उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणो का व्यायाम प्राणायाम की प्रथम कक्षा कही जा सकती है और प्राण विजय अन्तिम। निरन्तर अभ्यास से प्राणशक्ति पर विजय प्राप्त कर मनुष्य ऐसी दशा मे पहुँच जाता है, कि वह समस्त ससार मे व्याप्त प्राणशक्ति को जैसे चाहे प्रभावित कर सके और उससे अपने मनोनुकूल कार्य करवा सके।

प्राणशक्ति समस्त ससार मे व्याप्त है। कही वह स्थूल रूप मे है और कही सूक्ष्म। मनुष्य पशु पक्षी आदि जीवो मे प्राणशक्ति का श्वास प्रश्वास मय स्थूल रूप भली भाँति देखने को मिल ही जाता है, किन्तु वृक्ष लता गुल्म पाषाणादि जड वस्तुओ मे भी सूक्ष्म प्राणशक्ति निहित है—इस विषय मे आज के वैज्ञानिक युग मे किसी को सन्देह करने की गुन्जाइश नही रही है। वृक्षादि जड वस्तुओ मे ही क्यो, पृथ्वी का प्रत्येक परमाणु सूक्ष्म प्राणशक्ति से भरपूर है। यह जल मे भी व्याप्त है, तेज वायु आकाश आदि मे भी। समस्त ससार के प्राणी, भुवन मण्डल मे बिखरे हुए प्राण शक्ति के भण्डार से ही स्वानुकूल शक्ति को ग्रहण कर बढते और जीवित रहते है।

ऐसी दशा मे प्राणायाम की अन्तिम कक्षा मे पहुँचा हुआ साधक यदि अपनी भुवन प्राण विजयिनी शक्ति के प्रभाव से किसी जड़ वस्तु मे विद्यमान अविकसित प्राणशक्ति को उद्वेलित कर उससे कोई कार्य ले, तो वह असम्भव नही कहा जा सकता। प्राणायाम-साधना-शून्य आज का जगत्, प्राणविजयी योगियो के इस प्रकार के यदा कदा दीख पड़ने वाले चमत्कारो पर विश्वास करे या न करे किन्तु यह निर्विवाद है—कि उनके लिये

इस प्रकार के कार्य साधारण हैं। परन्तु इस प्रकार के प्राण-विजयी योगी हमारे इस अनुच्छेद का विषय नही हैं, इसलिये विस्तार मे न जाते हुए हम प्राणायाम के प्रथम अर्थ पर विचार करेंगे।

प्राणायाम क्यों ?

हाँ, तो प्राणायाम का अर्थ है—प्राणो का व्यायाम। भारतीय महर्षियो ने जहाँ शरीर को चिरकाल तक स्वस्थ एव कार्य-क्षम रखने के लिये व्यायाम पद्धति को दिनचर्या का अग बनाया वहाँ मनुष्य के प्राण हृदय मन आदि आभ्यन्तरिक अवयवो को दृढ एव पुष्ट बनाने के लिये प्राणायाम का भी आविष्कार किया। श्वास प्रश्वास साधना की यह ऐसी अद्भुत प्रणाली है, कि यदि मनुष्य निरन्तर इसका अभ्यास करे तो कुछ ही दिनो मे उसे अनुभव होगा कि उसकी तो काया ही पलट गई। शरीर मे प्रसुप्त सभी शक्तिये जाग उठेगी और एक ऐसा ओज एव तेज हिलोरे लेने लगेगा, कि किसी प्रकार की चिन्ता कष्ट निराशा आदि उसके समीप भी न आ सकेगे।

प्राणायाम के अगणित आध्यात्मिक महालाभो का यहाँ विशेष उल्लेख न करके हम उसके शारीरिक व्यायाम और श्वास प्रश्वास साधनात्मक पहलू का उल्लेख क्यो कर रहे हैं, इसका एक मात्र कारण यह है कि इन्द्रियातीत आध्यात्मिक लाभो में आज के जड-जगत् की आस्था नही है। वह तो सब जगह तात्कालिक प्रत्यक्ष लाभ ढूढता है। यदि वस्तुत ऐसा कोई लाभ जंचे—तभी वे उसे कर्तव्य कोटि मे परिगणित कर सकने की धारणा रखते है। इसलिये हमने जान बूझकर प्राणायाम का प्रधान उद्देश्य यहाँ व्यायाम तथा श्वास साधना ही प्रकट किया है।

प्राणायाम का अभ्यास जितनी कम अवस्था से प्रारम्भ होगा वह उतना ही लाभप्रद होगा। प्राचीन भारत मे दस बारह वर्ष के उपनीत बालक को सन्ध्या के साथ यह व्यायाम कराया जाता था। बाल्यावस्था में शरीर के समस्त अगो मे बर्द्धनोन्मुखी प्रवृत्ति रहती है और उन्हे जितना सुअवसर मिले वे विकसित हो सकते है। उस समय शारीरिक मांसपेशियो, ग्रन्थियो एव सौत्रतन्तुओ मे स्थितिस्थापक गुण भी पर्याप्त मात्रा मे होता है इसलिये बालकों को इस व्यायाम से बहुत अधिक लाभ होता है। ज्यों-ज्यो अवस्था बीतती जाती है त्यो-त्यो हम इस प्रक्रिया के अमूल्य लाभो से वञ्चित होते जाते हैं।

आजकल प्रायः मनुष्य जब घरबार के धन्धे से बेकार हो जाते है और शरीर वृद्ध हो जाता है तब धर्मोन्मुख होते हैं। तब ही, एक धार्मिक विधान के नाते उनका प्राणायाम से परिचय होता है और वे उसका अभ्यास प्रारम्भ करते हैं। इस अवस्था मे प्राणायाम से उन्हे जब कोई विशेष लाभ नजर नही आता तब केवल उसे छोड ही नही बैठते बल्कि उसे व्यर्थ का ढकोसला या दु साध्य हठयोग की क्रिया मान बैठते हैं।

बात वास्तव मे ऐसी नही है। वृद्धावस्था मे निरन्तर अभ्यास से प्राणायाम लाभ पहुँचाएगा, किन्तु एक सीमा तक। यह एक प्रकार से ऐसी ही चेष्टा है जैसे किसी वृद्ध मनुष्य को खूब घी दूध खिलाकर और दण्ड कसरत कराकर पहलवान बनाने की चेष्टा। जिस तरह उस समय सेवन किए हुए घृत दुग्धादि पदार्थ केवल उसकी गिरती हुई जीवनशक्ति को यथासभव बचा सकने मात्र मे ही काम आते है, इसी प्रकार उस समय किया हुआ प्राणायाम उसके परिपक्व शरीर और प्राणो के लिये सीमित लाभप्रद ही सिद्ध होता है। इसलिये बाल्यावस्था से ही सध्या वन्दनादि का

अभ्यास डालना चाहिए। पाठको को कम-से-कम अपने ... को ऐसे महत्त्वपूर्ण अभ्यास से वञ्चित न रखना चाहिए।

प्राणायाम के पांच रहस्य

(१) शारीरिक विकास—

यद्यपि प्रणायाम का सम्बन्ध मानव जीवन के विभिन्न उपादानों के साथ है। मानव शरीर के विकास से प्रारम्भ करके मनुष्य को अमर बना देने की समस्या के हल तक उसकी पहुँच है, तथापि प्राणायाम का फल—जिसे सब लोग स्वय अनुभव कर सकते हैं—पूर्ण शारीरिक विकास है।

यह सर्वविदित बात है कि मानव जीवन के लिए तीन वस्तु सर्वाधिक अत्यावश्यक हैं—अन्न, जल और वायु। उन तीनो मे भी उत्तरोत्तर एक-दूसरे की अपेक्षा अत्यधिक आवश्यक हैं। अन्न अहोरात्र में एक वार भी मिल जाए, तो मनुष्य जी सकता है और पानी की एक से अधिक वार आवश्यकता रहती है, परतु इन दोनो की अपेक्षा वायु की तो प्रति श्वास अनिवार्य आवश्यकता रहती है। यों तो सम्पूर्ण शरीर की वृद्धि ही विशुद्ध वायु पर निर्भर है, यदि ओषजन (Oxygen) वायु फेफडो में जाकर मैले रक्त को शुद्ध न बनाये तो हमारा शरीर जीवित ही न रहे, तथापि फुफ्फुस, (फेफड़े) छाती, हृदय आदि प्रधान-प्रधान अवयवों का विस्तार एवं कार्यक्षम होना तो सर्वथा वायु पर आश्रित है। इसे समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम श्वासक्रिया और उससे संबंधित अंगो का कुछ परिचय प्राप्त करलें।

प्रत्येक प्राणी के शरीर में श्वास मार्ग का प्रारम्भ नाक के छिद्रो से होता है। नाक मे हवा की पेचदार नली है जिसमे से

क्यों ?—
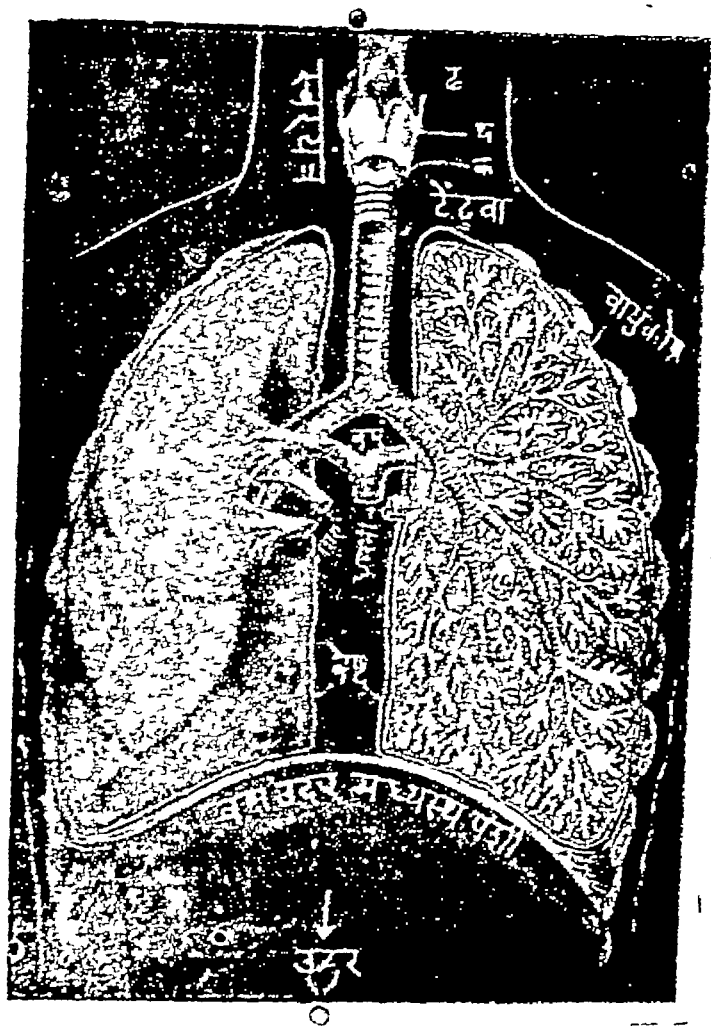
ह = स्वरयन्त्रछद थ = चुल्लो क = मुद्रा वप्र = वायुप्रणाली

[पृ० २३३]

गुजरती हुई हवा रक्त की गर्मी से गरम होकर श्वास नली द्वारा फेफडों में प्रवेश करती है। वायु मे मिले हुये धूल-कणों, अदृश्य अणुकीटों आदि को रोकने के लिये प्रकृति ने नाक मे बालो की छलनी लगाई है जो अनावश्यक वस्तुओ को बाहर ही रोक देती है। चूंकि मुंह मे न तो वायु छानने का कोई साधन ही प्रकृति ने लगाया है और न हवा को गरम करने का, इसलिए मुह द्वारा कभी सांस न लेना चाहिए। यह सर्वथा हानिकारक है।

प्रस्तुत चित्र को ध्यान से देखने से आपको मालूम होगा कि हमारे गले मे दो नलियाँ हैं—(१) श्वास नली, (२) अन्न नली। नीचे जाकर श्वास नली के दो भाग हो गये है, एक दाहिने फेफड़े में जाती है दूसरी बाये मे। इन नलियो के फेफड़ो मे पहुँचने पर उनसे और भी छोटी २ नलियां निकलती है, फिर इनसे भी छोटी और और भी छोटी, यहा तक कि फेफडो मे इन श्वास-नलिकाओ की सख्या अन्यून साठ करोड हो जाती है। यह नलिएँ वायु-मन्दिरो मे प्रविष्ट होती है। आगे अर्ध गोलाकार वायुकोष्ठों का विस्तृत जाल फैला हुआ है, जो जीवन को गति देने के लिये ओषजन वायु के विस्तृत भण्डार को सुरक्षित रखने एव शारीरिक-गैस-सम्पृक्त कार्बन द्विओषित को बाहर निकालने के काम आता है।

यही हमारे फेफड़े है। फेफडे इतने बडे होते हैं कि यदि उनके सौत्र जाल को फैलाया जा सके—जैसा कि असम्भव है—तो उन्हें दो बीघा भूमि पर बिछाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वे इतने हलके होते हैं कि यदि फेफड़े के रोग से अनाक्रांत किसी व्यक्ति के फेफड़ो को पानीपर छोड़ा जाए तो वे तैरेंगे, डूबेगे नही।

फेफडो का कार्य है-कूडे कचरे एव मैल को दूर करके शारीरिक यन्त्रों को कार्यक्षम रखना। यह कार्य वे वायु की सहायता

से करते हैं। अनेक प्रकार की रासायनिक क्रियाओ, सैलों के टूटने एव शारीरिक यन्त्रो के काम मे आने से शरीर मे कूड़ा-करकट अनेक प्रकार की गैस आदि इकट्ठी होती रहती है। अभिसरण करता हुआ रक्त इनमे से वहुत से अश को अपने साथ लेकर और दूषित होकर पहले हृदय के दाहिने कोष्ठक में आता है वहां से शुद्ध होने के लिए फेफड़ो मे। श्वास के साथ गई हुई ओषजन (Oxygen) उसमे से मैल के अंश को ग्रहण कर लेती है, और कर्वन द्विओपित वनी हुई वह वायु, वक्षोदर मध्यस्थ पेशी की स्थिति-स्थापक क्रिया द्वारा उच्छ्वास के रूप में वाहर फेंक दी जाती है। शुद्ध हुआ रक्त अभिसरण के लिये वापिस हृदय के वाम प्रकोष्ठ मे चला जाता है।

इस प्रकार हमने देखा मानव शरीर मे वायु महत्त्वपूर्ण कार्य करती है और वायु ग्रहण करने के लिये प्रकृति ने शरीर में अनेक अवयवो का निर्माण किया है। किन्तु यह कार्य ठीक-ठीक रूप से तभी सम्पन्न हो सकते है जवकि विशुद्ध वायु का ग्रहण पर्याप्त रूप मे हो। साधारण श्वास मे हम जितनी वायु ग्रहण करते हैं वह इतनी नही होती कि फेफड़े की प्रत्येक कोठरी मे पहुँचे सके। परिणाम यह होता है कि फेफड़ो की हजारो कोठरियां काम मे न आने के कारण विकसित होने से तो वंचित रह ही जाती हैं, साथ ही निरन्तर वेकार पडी रहने से इतनी कमजोर हो जाती हैं, कि रोग के क्षणिक आक्रमण को भी नही सह सकती।

कहना न होगा कि जिस श्वासयन्त्र से हमे दिन-रात काम लेना है, उसकी कभी सफाई भी तो आवश्यक है। संसार मे ऐसी मशीन कितने दिन स्थिर रह सकेगी जिसको कि लगातार चौवीसो घन्टे वेतहासा पेला जाए, परन्तु कभी झाड-पोंछकर

साफ करने का नाम न लिया जाए। आज सन्ध्या न करने का हो यह प्रत्यक्ष कुफल है, कि ससार मे श्वास नलिका और श्वास-प्रश्वास के मुख्य साधन फुफ्फुस (फेफडो) की बीमारी उत्तरोत्तर बढती जा रही है।

आज कलकारखानो के विषाक्त धूए से परिपूर्ण एव संकीर्ण वातावरण मे रहने वाली जनता, विशुद्ध वायु और प्राणायाम के अभाव के कारण द्रुत गति से विनाश की ओर अग्रसर हैं। पहिले समय मे 'यक्ष्मा' आदि असाध्य रोगो को 'राजरोग' के नाम से स्मरण किया जाता था इसीलिये इस नामुराद बीमारी का नाम ही राजयक्ष्मा पड़ गया था। प्राय विषयासक्त और भोग-रत राजा लोग ही इसके शिकार होते थे, परन्तु अब तो किसान मजदूर और सडक पर बैठे भिखमगे तक भी तपेदिक T. B. के मरीज दीख पडते है, यह सब अनियमित श्वास लेने का ही दुष्परिणाम है। इसलिये आयुष्य वृद्धि की कामना रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उचित है, कि वह नित्य विधिवत् सन्ध्यो-पासना करते हुए प्राणायाम द्वारा अपनी श्वास नलिका और फुफ्फुसो (फेफड़ो) को सदैव बलशाली बनाने का प्रयत्न करे।

प्राणायाम में पूरक विधि द्वारा बहुत सी विशुद्ध वायु को फेफड़ो मे फेका जाता है। कुम्भक विधि मे जब वायु को कुछ क्षण के लिये रोका जाता है तो वह फेफड़ो की सम्पूर्ण कोठरियो मे प्रवेश करती है। उन्हे फैलाती है और वायु के साथ इन कोठरियो मे रक्त भी जाता है। इससे फेफड़े बलवान्, वक्षस्थल चौड़ा, हृदय नवरक्तयुत तो बन ही जाता है, साथ ही रुका हुआ वायु, रक्त से अधिक-से-अधिक कर्वनद्विओषित (Carbandioxide) गैस और मलीय अश को लेकर बाहर आता है। रेचक विधि

से जब सब वायु बाहर आ जाता है तो फेफड़ों को विश्राम मिलता है और वे तरोताजा हो जाते हैं।

प्राणायाम द्वारा शारीरिक विकास को परखने के लिये एक सीधे-साधे परीक्षण का प्रयोग किया जा सकता है। यदि किसी बकरे के ताजे फेफड़ों—जिनमे श्वासनलिका जुड़ी हुई हो—मे साइकिल के पम्प से हवा भरना प्रारम्भ करे तो आप देखेंगे कि वे धीरे-धीरे फूलने लगेंगे। हवा भरते जाइये यहाँ तक कि वे साधारण दशा से दुगने-तिगुने फूल जाएगे। यह फुलावट कुछ समय तक रखी जा सकती है और हवा निकाल देने पर वे फिर पिचक जाते हैं। यह परीक्षण इस बात का प्रत्यक्ष निदर्शन है है कि यदि महर्षि निर्दिष्ट विधि से प्रतिदिन सन्ध्या प्राणायाम किया जाय और साधारण दशा मे भी गहरा श्वास ग्रहण करने का अभ्यास डाला जाय तो शरीरका परिपूर्ण विकास निश्चित है।

(२) श्वास-साधना—

प्राणायाम का दूसरा उद्देश्य 'श्वास साधना' कहा जा सकता है। ससार मे अभ्यास द्वारा सभी कुछ सम्भव हो सकता है, इसलिये निरतर अभ्यास से वायु को चिरकाल तक फेफड़ो में ही रोक रखने की सामर्थ्य कोई आश्चर्य की बात नही है। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि आप सामने घड़ी रखकर प्राणा-याम प्रारम्भ कीजिए और प्राणावरोध के सैकिन्डो को नोट कर लीजिए। प्रतिदिन ऐसा ही करते जाइये। एक मास बाद आप देखेंगे कि आपकी अवरोध शक्ति मे पहले दिन से बहुत काफी अन्तर पड़ गया है। यह अन्तर सैकिन्डो से प्रारम्भ होकर मिनटो और घण्टों तक पहुँच सकता है। यही नही, यदि साधक निरतर इस अभ्यास को बढाये तो दिनो महीनो और वर्षो के लिये

श्वासावरोध की शक्ति उत्पन्न हो जाना असम्भव न होगा। नि·सन्देह यह स्थिति योगियो की होगी और उस समय समझना चाहिए कि साधक ने प्राणो पर विजय प्राप्त कर ली है।

(३) मानसिक विकास—

मानसिक विकास भी प्राणायाम का एक उद्देश्य है। यह एक ऐसी अद्भुत व्यायाम पद्धति है जो शरीर के साथ मन का भी पूर्ण व्यायाम कराती है। प्राणायाम की पूरक, कुम्भक, रेचक, तीनो अवस्थाओ मे, इधर उधर भागते हुए चञ्चल मन को पकड पकड कर ध्यानकेन्द्र मे लाया जाता है। उसे कहा जाता है कि वह त्रिविध दशाओ मे क्रमश नाभिकमल मे चतुर्भुज श्याम स्वरूप विष्णु का, हृदय मे कमलासन रक्तवर्ण ब्रह्मा का और ललाट मे श्वेतवर्ण त्रिनेत्र रुद्र का ध्यान करे। यथा—

पूरके विष्णुसायुज्यं कुम्भके ब्रह्मणोन्तिकम्।
रेचकेन तृतीयन्तु प्राप्नुयादेश्वरं पदम् ॥

(प्रयोगपारिजात)

मन चञ्चल है वह नहीं मानता। आता है और बीच मे से ही भाग खडा होता है। साधक फिर उसे पकडता है और ध्यान केन्द्र की ओर लाता है। निरतर अभ्यास होने पर धीरे-धीरे मन, ध्यानकेन्द्र पर ठहरने लग जाता है और अन्त मे वह ऐसा साधक की मुट्ठी मे आ जाता है, कि वह चाहे उसका कैसे ही प्रयोग करे। प्राणायाम के इस चमत्कार का भी अनुभव कुछ ही काल के अभ्यास से किया जा सकता है।

(४) क्या मनुष्य अमर हो सकता है ?—

हमारे शरीर की रचना विभिन्न प्रकार के अणुओ द्वारा हुई है

जिन्हे सैल्स (Cells) कहा जाता है। इन सैल्सो मे बढ़ने तथा बढकर दो दो हो जाने की शक्ति होती है, इसी का नाम जीवन है और सैल्स की पूर्ण अव्यवस्था एव पूर्वोक्त शक्ति का नष्ट हो जाना ही मृत्यु है। ऐसी दशा मे आज के वैज्ञानिक-जगत् के सन्मुख यह प्रश्न उपस्थित है, कि क्या मनुष्य के सारे सैल्सो को जीवित रखकर उसे अमर बनाया जा सकता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार और परीक्षण कर रहे है। एक फासी लगे हुए अपराधी का दिल उसकी मृत्यु के ११ घण्टे बाद निकालकर उसे पुनर्जीवित किया जा चुका है। प्रो० केरल ने इस दशा मे कुछ नव परीक्षण किये है और परीक्षण द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि यदि शरीर के किसी पृथक् सैल को उचित खुराक मिलती रहे तो वह अपना कार्य करता चला जायगा। कहते हैं कि उनकी मुर्गी के दिल का टुकडा ३० साल से जीवित है, उसे रासायनिक द्रव्यो से ही खुराक प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार अन्य वैज्ञानिक भी इस दिशा मे प्रयत्नशील हैं परन्तु अभी तक ऐसा कोई हल नही निकाल सके है।

प्रो० केरल का कहना है कि अमरत्व न सही, किन्तु सैल्स के जीवन को लम्बा करना दो प्रकार से पूर्ण सम्भावित है। (१) सैल्स को समुचित खुराक मिलती रहे और उनसे निकला हुआ मल (Dirty matter)—जो कि जहरीला होने से सैल्सो को हानि पहुँचाने वाला है—उनके पास इकट्ठा न होने दिया जाय। (२) सैल्स के जीवित होते हुए भी उनके सब कार्यो को रोक दिया जाय जिससे उन्हे खुराक की आवश्यकता न रहे।

प्रो० केरल के यह दोनो उपाय और उनके विचार पाश्चात्यो के लिए चाहे कितने भी नवीन और खोजपूर्ण हो किन्तु प्रति-

दिन सन्ध्या प्राणायाम परायण भारतीय के लिए इनका महत्व बिलकुल नही के बराबर है। इन विचारो मे यही तथ्य प्रतिपादन किया गया है जिसे लाखो वर्ष पूर्व भारतीय महर्षियो ने न केवल ससार के समक्ष रक्खा, अपितु प्रत्यक्ष करके दिखाया। इसी प्राणायाम के ऊँचे अभ्यास से वे लोग अपने शरीर के सैल्स के ऐसे सब कार्यो को बन्द कर देते थे और घण्टो, दिनो, महीनो और वर्षों समाधि लगाकर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते थे कि उनके सैल्स को किसी प्रकार की खुराक की आवश्यकता न होती थी।

प्रो० केरल का यह कथन बिलकुल ठीक है, कि मनुष्य-शरीर के कार्यो को शताब्दियो तक रोकने के बाद फिर चलाया जा सकता है। इस तरह जितने समय तक पुरुष निश्चेष्ट रहेगा उतने समय की गणना उसकी शारीरिक आयु के साथ न होगी; क्योकि उसके लिए तो समझ लीजिए, जीवन क्या ससार की प्रत्येक वस्तु–यहाँ तक कि समय भी ठहर गया। २५ वर्ष का युवक यदि सौ वर्ष की समाधि मे बैठे तो उठने के बाद उसके शारीरिक अग प्रत्यग २५ वर्ष के युवक के ही होगे। उसने यदि ससार मे १०० वर्ष जीना है तो समाधि से उठने के बाद वह ७५ वर्ष और जीयेगा। इस बात को आप साधारण से दृष्टान्त से अच्छी तरह समझ सकते है। घडियो के कारखाने मे घड़ी के तैयार हो जाने के उपरान्त कारखाने वाले उसकी चलने की अवधि या गारन्टी का निर्धारण करते हैं। मान लीजिए एक घड़ी सन् ५० मे बनी है और दश वर्ष की उसकी गारटी की गई है। हम सन् ६१ मे उसे खरीदते है, तो क्या हम समझ ले कि उस घडी की उम्र जो दश वर्ष की नियत की गई थी–समाप्त हो चुकी है और अब वह काम न देगी। ऐसा नही है, उसका जीवन तो सन् ६१ से आरम्भ हुआ समझिये। दो साल

चलाकर यदि बीच मे आप उसे तीन वर्ष के लिए बन्द करदें तो फिर चलाने पर वह ८ वर्ष और काम देगी। यही बात समाधिस्थ शरीर पर भी लागू होती है।

साराश यह है कि आज के वैज्ञानिको के पास भी प्राणायाम ही एक ऐसा हल है जिससे वे मनुष्य को अमर बना देने की समस्या को सुलझाने मे सलग्न हैं। यह भारतीयो का दुर्भाग्य ही है कि विदेशी वैज्ञानिक जिन विचारो तथा सिद्धांतो का पता बड़ी खोज के बाद लगाते हैं, वे उन्हे ऋषि परम्परा से विरासत मे मिले है किन्तु वे उनसे लाभ नही उठा पाते।

(५) प्राणायाम की पूर्णता—

प्राणायाम के सम्बन्ध मे इस अन्तिम अनुच्छेद को लिखे बिना न केवल विषय ही अधूरा रहेगा, बलिक ऐसा करना उन जिज्ञासु पाठको के प्रति अन्याय भी होगा जो इस ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर प्राणायाम के अभ्यास मे तत्पर हो और इन अवश्य-ज्ञातव्य बातो के अभाव मे उसके पूरे लाभ से वञ्चित रह जायं। अस्तु, यो तो शास्त्रकारों ने प्राणायाम के—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भकाः ॥

—सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली—यह आठ प्रकार बतलाए हैं जो अमुक अमुक दशा को प्राप्त हुये अधिकारियो के लिए लाभप्रद होते हैं, परन्तु इनमे सर्व प्रथम भेद 'सहित', अथवा—अनुलोम विलोम क्रम -ही सर्व साधारण के लिए उपयुक्त होता है। सभी प्राणायाम तीन विधियो मे सम्पन्न होते हैं—पूरक, कुम्भक, रेचक। पूरक का अर्थ है श्वास का आकर्षण, कुम्भक=श्वास वायु का धारण और रेचक का

तात्पर्य है उस रुकी वायु का निःसरण। यह तीनों क्रियाएँ विधिवत् की जानी चाहिएँ।

प्राणायाम प्रारम्भ करने से पूर्व पांव की एडी को गुदा के समीप सीवन पर लगा लेना चाहिये। इससे गुदनलिका का आकुञ्चन होकर अपानवायु ऊर्ध्वगामी बन जायगा और प्राणो के शोधन मे बडी सरलता पडेगी। अब पहिले चन्द्र स्वर अर्थात् नाक के बाये छिद्र से धीरे-धीरे वायु को ऊपर खेंचिये। साधारण अवस्था मे वायु के खेंचने मे १६ मात्रा=लगभग ८ सैकिड का समय लगाना चाहिए। यथा—

इडयाकर्षयेद्वायुं बाह्यं षोडशमात्रया। (देवी गीता)

अर्थात्—सोलह बार ॐकार या अन्य किसी स्वर का उच्चारण करने मे जितना समय लगता है उतने समय मे वायु को खेचना चाहिये।

जब पूर्णरूप से वायु आकर्षित हो जाय तब उसका निरोध करना चाहिये। इसे कुम्भक विधि कहा जाता है। यह निरोध क्रिया करते हुए कण्ठ की नली को पीछे की ओर सिकुडाकर ठोडी को हृदय पर स्थापित कीजिए। इस क्रिया से फेफडो मे निरुद्ध वायु मे चञ्चलता न आ सकेगी और सग्रहीत वायु से उत्पन्न प्राणशक्ति का अपव्यय न होगा। वायु का यह निरोध सामान्यतया ६४ मात्रा काल=अन्यून ३० सेकिण्ड तक होना चाहिए। यथा—

धारयेत्पूरितं योगी चतुष्षष्ट्या तु मात्रया।

अर्थात्—चौसठ बार किसी वर्ण के उच्चारण समय तक वायु को धारण करना चाहिए।

उपरोक्त काल तक अथवा यथाशक्ति वायु का निरोध करने-

के अनन्तर रेचक प्रारम्भ होता है। इसमे सूर्य स्वर अर्थात् नाक के दायें छिद्र से वायु को धीरे-धीरे निकालिये। रेचक क्रिया के समय पेट तथा पेड़ू को पीठ की ओर आकर्षित कीजिए; इससे वायु पूरित फेफड़ों को नीचे आधार मिल जाता है। वायु के आघात से उन्हें किसी प्रकार की हानि नही पहुँचती और रेचन क्रिया सुगमता से हो जाती है। रेचन क्रिया बिलकुल धीरे-धीरे हो और उसमें पूरक की अपेक्षा दुगना=अन्यून १६ सेकिन्ड समय तो लगना ही चाहिए। यथा—

——द्वा त्रिंशन्मात्रया शनैः।
नाड्या पिंगलया चैवारेचयेद्योगवित्तमः॥

प्राणायाम की पूरकादि तीनो विधियों के साथ उपरोक्त क्रियाओं का गहन सम्बन्ध है। इन पर यथेष्ट ध्यान न देने से प्राणायाम तो अपूर्ण रहेगा ही, किन्तु उससे हानि भी सम्भव है। योगशास्त्रो में इन क्रियाओ को क्रमश. मूलबन्ध, जलन्धर बन्ध और उड्डियान बन्ध के नाम से स्मरण किया गया है एव प्रणायाम की पूर्णता के लिए इन्हें आवश्यक माना है।

सूर्योपस्थान क्यों ?

सध्या का उपसंहारात्मक अन्तिम अनुष्ठान सूर्योपस्थान है। साधक सूर्याभिमुख खडे होकर सूर्य भगवान् को जल की तीन अजलि प्रदान करता है और दोनो हाथ उत्तान रूप मे फैलाकर सविता देव की स्तुति करता है। वेद मे लिखा है कि—

अथ सन्ध्यायां यदपः प्रयुंक्ते ता विप्रुषो वज्री-भूत्वा असुरानपाघ्नन्ति (षड्विंश ४ । ५)

क्यों ?—
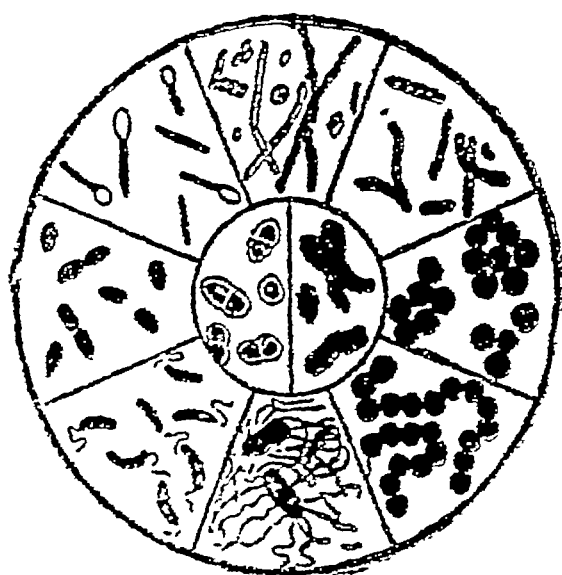
गरम जल मे खूब उबालने पर भी नष्ट न होने वाले हैजा चेचक निमोनिया तपेदिक फिरग रोग आदि के घातक कीटाणु, जो प्रातःकालीन सूर्य की जल मे प्रतिफलित हुई अल्ट्रावायलेट किरणों मे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। पृष्ठ—२४३]

अर्थात्—सन्ध्या मे जो जल का प्रयोग किया जाता है, वे जलकण वज्र बनकर असुरो का विनाश करते है।

इस बुद्धिवाद के युग मे सूर्यकिरणो द्वारा असुर नामक किसी जाति विशेष के प्राणियो का, अथवा आध्यात्मिक रूप मे बाह्य वातावरण मे फैले हुये असुरो, तथा हृदय मे आसुरीभाव-रूप असुरो का विनाश, आप चाहे माने या न माने, किन्तु मानवजाति के लिए असुरो से भी अधिक अहितकारी प्रस्तुत चित्र मे प्रदर्शित—टाइफाइड राजयक्ष्मा फिरग निमोनिया के जीवाणुरूप असुरो के विनाश के लिये सूर्य किरणो की दिव्य सामर्थ्य तो बाध्य होकर माननी ही पडेगी। आप यह जानकर आश्वर्यचकित होगे कि इनमे से कतिपय जीवाणुओ के लिए सूर्य-प्रकाश सी अमोघ और अव्यर्थ महौषधि कोई है ही नही। इसका निदर्शन डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा B S C., M.B B S. चीफ मैडिकल आफिसर काशी विद्यालय के शब्दो मे सुनिये। डा० साहिब अपने 'सक्षिप्त शल्य विज्ञान' मे लिखते है—

"सूर्यप्रकाश का जीवाणुओ पर बहुत प्रभाव पडता है। एन्थ्रेक्स के स्पोर जो कई वर्षों के शुष्कीकरण से नही मरते सूर्य प्रकाश से डेढ घण्टे मे मर जाते है। आन्त्रिक ज्वर (टायफायड) के जीवाणु भी डेढ घण्टे तक सूर्य प्रकाश मे रहने से नष्ट हो जाते हैं, किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक जीवाणु पर किरणे पडे। राजयक्ष्मा के जीवाणु का भी यही हाल है। सूर्य प्रकाश उसका सबसे बडा बैरी है। प्रयोगो से मालूम हुआ है कि सूर्य-प्रकाश के हरे बैंगनी और अल्ट्रावायलेट भाग मे जीवाणुओ के नाश करने की विशेष शक्ति है"। अस्तु,

जो नास्तिक लोग कल तक इस विज्ञानपूर्ण वैदिक विधान को कोरा पोपलीला कहकर मखौल उडाया करते थे, स्वास्थ्य-

विज्ञान की नई खोज ने कान पकडकर आज उन्ही लोगो को नामान्तर और रूपान्तर मे यही क्रिया करने के लिए बाध्य कर दिया है। पाश्चात्य जगत् और उसका अन्धानुकरण करने वाले भारतीय अब अनेक शारीरिक रोगो के लिए 'सन बाथ' (Sun Bath) अर्थात् खुले बदन सूर्य किरणो मे स्नान करने लगे हैं। अमेरिका मे तो गर्मी-सर्दी सहन करने के लिए सदैव दिगम्बर रहने वाला एक सम्प्रदाय-सा ही चल पडा है, जिसके अनुयायी सहस्रों प्रतिष्ठित व्यक्ति अपने देश के कानून को तोड कर—नाना प्रकार का दण्ड भुगतते हुए भी अपनी टेक को नही छोडते।

अमुक रग की बोतल मे केवल फिल्टर किया पानी भरकर सूर्य की खुली धूप मे रख देना, फिर नियत समय के बाद उस जल को ही अमुक-अमुक रोग मे रग के तारतम्य के अनुसार बीमार को औषध रूप मे पिलाना आजकल एक यह भी नई चिकित्सा-प्रणाली निकली है, विश्वास किया जाता है कि सूर्य किरणो से सस्पृष्ट यह जल बोतल के काँच के रंग की विशेषता के अनुसार अमुक-अमुक रोगों को दूर करने मे अमोघ औषध सिद्ध होता है।

हम सिद्धान्ताध्याय' के प्रत्यक्ष परोक्षवाद प्रघट्ट मे यह सिद्ध कर चुके हैं कि वैदिक विज्ञान के अनुसार समस्त रगो का मूल स्रोत एकमात्र सूर्य की किरणे ही हैं,—सो यदि हम सूर्योपस्थान विधान के प्रकाश मे वर्तमान समय के उपर्युक्त सूर्य किरण स्नान (Chrowopathy) और सौर जलाभिमर्षण का विश्लेषणात्मक अध्ययन करे, तो यह विदित हो जाएगा कि आज का पाश्चात्य-जगत् अपने जिन उपर्युक्त आविष्कारो को अभूतपूर्व और बेजोड समझकर फूला नही समाता वस्तुत वे दोनो आविष्कार हमारे अनन्त सहस्राब्दियो से चले आने वाले

नित्य कर्म=सूर्योपस्थान की छाया मात्र है। इन दोनो मे यदि कोई अन्तर है तो केवल यही है कि जहाँ सूर्योपस्थान असुरभूत, अनेक शारीरिक रोगो के दूर करने का वज्र के समान अव्यर्थ साधन होते हुए अदृष्टफन—पुण्याधायक धार्मिक अनुष्ठान भी है वहाँ सूर्य-किरण-स्नान और सौरजलाभिमर्षण चिकित्सा-पद्धतिये अपूर्ण, एकदेशी एवं 'अन्धेरे मे चांद मारी' के बराबर है।

सूर्यार्घ्य मे साधक, जलपूरित अञ्जलि लेकर—सूर्याभिमुख खडा होकर जब जल को भूमि पर गिराता है तो नवोदित सूर्य की सीधी पड़ती हुई—किरणो से अनुविद्ध वह जलराशि, मस्तक से लेकर पॉव पर्यन्त साधक के शरीर के समान सूत्र मे गिरती हुई, सूर्य किरणो से उपात्त रगो के प्रभाव को ऊपर से नीचे तक समस्त शरीर मे प्रवाहित कर देती है। इसलिये वेद शास्त्रानुसार प्रात पूर्वाभिमुख, उगते हुए सूर्य के सामने और साय पश्चिमाभिमुख छुपते हुए सूर्य के सामने खड़े होकर सूर्य्यार्घ्य देने का विधान है।

सूर्योपस्थान मे सूर्यस्नानचिकित्सा विधि की तरह, तीनो समय सूर्य की ओर लम्बे हाथ फैलाकर साधक अगुलियों के अग्र भाग मे वैद्युत चुम्बक स्विचों की भाति प्रकृति देवी द्वारा निहित नखो की मार्फत सप्तविध रगो से परिपूरित सौर प्रवाह को अपने शरीर मे धारण करता है। इसीलिये शास्त्र मे सन्ध्या का विधान है, आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी की निर्मूल आशङ्का के अनुसार आधी रात के समय सूर्य सामने न होने के कारण चौथी सन्ध्या की कल्पना व्यर्थ है।

कहना न होगा हमारे इस वैदिक अनुष्ठान मे आधुनिक सूर्य किरण-स्नान और सौर-जलाभिमर्षण क्रियाओ के समस्त लाभ

तो आ जाते हैं परन्तु असमय में ललाटतप सूर्य की धूप सेकने से और बोतलो मे बन्द—कई दिन तक रक्खे हुये विकृत पानी के पीने से होने वाली अपने अप्रत्याशित हानियों का खतरा नही होता—यही सूर्योपस्थान के सक्षिप्त लाभो का दिग्दर्शन है।

वैदिक सन्ध्या बनाम आर्यसमाज!

यहां प्रसङ्ग वश पाठको को यह बता देना भी अनुचित न होगा, कि सन् १८७५ से प्रादुर्भूत हुये, नये वैदिकधर्मी आर्य-समाजी महाशयों की भी एक छपी हुई सन्ध्या केवल एक पैसा कीमत में यत्र-तत्र विकती है। इस पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर न केवल 'सन्ध्या' अपितु 'वैदिक-सन्ध्या' छपा रहता है। बहुत से अपरिचित आस्तिक लोग, वेदों में अगध श्रद्धा रखने के कारण इस पर मोटे टाइप से छपा 'वैदिक' शब्द देखकर और सस्ती कीमत देखकर इसे ही असली सन्ध्या समझकर खरीद लेते हैं।

जब पहिले पहिल यह ट्रैक्ट हमारे हाथ मे आया तो हमारे मन मे नाना प्रकार के तर्क उठने लगे। सर्व प्रथम तो सन्ध्या के वैदिक विशेषण पर ही विचार चला।—क्या कोई 'अवैदिक' सन्ध्या भी विद्यमान है?—जिससे पृथक् करने के लिये यह 'वैदिक' विशेषण लगाना आवश्यक हुआ!—फिर जबकि 'ब्राह्मण' मात्र कहने से अमुक व्यक्ति का द्विजत्व सिद्ध हो सकता है तो किसी को 'द्विज ब्राह्मण' कहना व्यर्थ ही है। ऐसा प्रयत्न वही किया जाता है जहां कि किसी अद्विज को ठोक पीट कर बलात् द्विज घड़ा गया हो! तभी इस मिथ्या प्रयास पर परदा डालने के लिए ऐसी दुश्चेष्टा सहैतुकी कही जा सकती है। क्या इसीप्रकार इस सध्या मे भी कोई गड़बड़ घुटाला तो नही है? जिसे 'वैदिक'

विशेषण की आड़ मे छुपाने का प्रयत्न किया गया हो, इत्यादि इत्यादि अनेक तर्क-वितर्क उठने लगे।

अन्त मे यही निर्णय हुआ कि जिस परम्परागत सन्ध्या के आधार पर आज तक हम सन्ध्योपासन करते रहे हैं वह तो करते ही रहे हैं, आज इस नई 'वैदिक सन्ध्या' के आधार पर भी सन्ध्योपासना करनी चाहिए। फिर तुलनात्मक दृष्टि से दोनो सन्ध्याओ मे से किसके आधार पर की गई उपासना मे अधिक मानसिक शान्ति प्राप्त होती है—यह अनुभव करना परमावश्यक है। कदाचित् इस नई सन्ध्या से लाभ हो तो फिर इसके अपनाने मे क्या हानि ?

इस प्रकार पूरे श्रद्धालु बनकर एक दिन हमने 'वैदिक-सन्ध्या' के आधार पर अक्षरश: उपासना करनी आरम्भ की। 'शन्नो देवी' मन्त्र पढ़कर आचमन कर डाला, अब 'इन्द्रियस्पर्शमन्त्रा' इस शीर्षक के नीचे लिखे मन्त्रो को पढ़-पढकर इन्द्रियो को छूने लगे। **'ओं वाक् वाक्, चक्षु. चक्षु, प्राणाः प्राणाः'** कहते हुए क्रमशः मुख, नेत्र और नासिका का स्पर्श किया, परन्तु जब **'ओं-नाभि'** कह कर नाभि को छूने का अवसर आया तो मनीराम ने तर्क का तीर दे मारा। सोचने लगा क्या 'नाभि' भी कोई इन्द्रिय है ?—शास्त्र मे घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र ये पाच ज्ञानेन्द्रिये और हाथ, पाव, गुदा, लिग और जिह्वा ये पाँच कर्मेन्द्रिये प्रसिद्ध है, कही कही इस गणना में मन को भी गिना जाता है, इस प्रकार दश या एकादश ही इन्द्रिये है, परन्तु 'नाभि' तो कोई इन्द्रिय नही है ? सो या तो ऊपर लिखा 'इन्द्रियस्पर्शमन्त्रा' यह शीर्षक अशुद्ध छपा है अथवा कोई और रहस्य है !

जब हमने अपने एक साहित्य शास्त्री मित्र के सामने यह आशंका रक्खी तो वे काशी परीक्षा मे रटी हुई 'काव्य प्रकाश' की तोता रटन्त की बौछाड़ करते हुए बोले कि—'जो है शो है यहाँ 'गंगायां घोष' की भांति अभिधार्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिए, जैसे गंगा-प्रवाह मे घोष=आभीर पल्ली=गामडे का बसना असम्भव है—तो मुख्य अर्थ का बाघ हो जाने के कारण गंगा शब्द का लाक्षणिक अर्थ गंगातट माना जाता है, इसी प्रकार—जो है शो है—साक्षात्कार कर-करकरके यहाँ भी नाभि का इन्द्रियत्व बाधित हो जाने के कारण तन्निकटवर्ती लिंगेंद्रिय को स्पर्श करना ही लक्षणा मे समझना चाहिए। जैसे अति-शीतत्व पावनत्व आदि गुण द्योतन करने के प्रयोजन से—'गगातटे घोषः' न कहकर 'गगाया घोष.' कहना सहेतुक है, वैसे ही अश्लील ग्राम्यत्व आदि दोषो की उपस्थिति के परिहार के लिए उक्त वैदिक सन्ध्या मे भी सीधे-सीधे 'लिंगम्' ऐसा न कहकर 'नाभि' कहा गया है। साथ ही आर्यसमाज के मन्तव्यानुसार स्त्रियो को भी यही सन्ध्या ज्यों की त्यों करने का विधान है। ऐसी स्थिति मे लिंग शब्द का प्रयोग स्त्रीपक्ष मे फिट नही बैठ सकता था, जो है शो है इस विप्रतिपत्ति के परिहार के लिए भी स्त्री-पुरुष दोनो को अपने मूत्रेन्द्रिय स्पर्श का बोध हो सके और अश्लीलता के बिना एक ही शब्द से यह काम चल जाय इत्यादि अनेक हेतुओ से 'नाभि' शब्द लिखा गया है।'

यह विवेचना सुनकर अपने राम तो दग रह गए, अन्त मे 'वाक् वाक्' आदि इस मन्त्र समूह को वेद में देखकर भाष्यो द्वारा इसका वास्तविक अर्थ जानने की उत्कण्ठा हुई। उपलब्ध समस्त संहिताएँ, फिर ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद कई बार खोज डाले परन्तु उक्त मन्त्रो का कहीं अस्तित्व न मिला।

तब तो बड़ी निराशा हुई। रह-रहकर 'वैदिक-सन्ध्या' के लेखक पर क्रोध आया, कि जिसने सनातनकाल से प्रचलित और वैदिक विज्ञान से परिपूर्ण अनादि सन्ध्या को छोड़कर अपनी कपोल-कल्पित तुकबन्दी पर वैदिक शब्द का लेबिल लगाकर लाखो श्रद्धालु हिन्दुओ को पथभ्रष्ट किया। मनुस्मृति के 'वाङ्मूला नियताः सर्वा.' के अनुसार ससार के सभी व्यवहार वाणी पर आश्रित हैं, सो जो व्यक्ति उसकी चोरी करता ह अर्थात्—वेद के नाम पर विश्वास दिलाकर अवैदिक भावो का प्रसार करता है नि'सन्देह वह मनुष्य—'यश्च तां स्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नर.' के अनुसार सब कुछ चुराने वाला समझा जाना चाहिए। कहा सन्ध्या सदृश पुनीत अनुष्ठान और कहा उसके नाम पर मूत्रेन्द्रियो के हाथो से पलोटने का व्यवहार ? प्रभो ! ऐसे दुराग्रह पूर्ण अनर्थों से हिन्दू जाति की रक्षा कीजिए !

माला आवश्यक क्यों ?

शास्त्र मे लिखा है कि—

विना दर्भैश्च यत्कृत्यं यच्च दानं विनोदकम् ।
असङ्ख्यया तु यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥

(अङ्गिरा स्मृति)

अर्थात्—बिना कुशा के जो तत्तद् धर्मानुष्ठान, और बिना जल संस्पर्श के जो दान, तथा बिना माला से सख्याहीन जो जप, वे सब निष्फल होते हैं। नामधारी सिक्ख ऊनकी ग्रन्थिल माला, निहग सिक्ख लोहे की माला तथा मुसलमान ईसाई भी 'तसबी' रखते है। यह क्यों ?—इसलिये कि (१) प्रथम तो मालाके

फेरने से कितना जप हुआ इस बात का ठीक पता चल जाता है और अपने-अपने निश्चित नियम के अनुसार पुरुष अपने समय का नियन्त्रण कर सकता है। (३) दूसरे—माला भी प्रायः 'शुचि' संज्ञक वस्तुओं से ही बनाई जाती है। अत. कुशा की भांति इससे भी वही सब लाभ होगे। (३) तीसरे-अंगुष्ठ और अगुली के सघर्ष से एक विलक्षण विद्युत् उत्पन्न होगी, जो धमनी के तार द्वारा सीधो हृदय चक्र को प्रभावित करेगी, इधर-उधर डोलता हुआ मन इससे निश्चल हो जाएगा।

मध्यमांगुली से ही क्यों ?

जाप मे माला घुमाते समय तर्जनी अंगुली का उपयोग नही होता यह क्यो ?—इसलिए कि—

(क) हृदि तिष्ठद्दशांगुलम् (यजुर्वेद ३१) और

(ख) ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (गीता)

अर्थात्—भगवान् का मुख्य निवास स्थान प्राणी का हृदय प्रदेश है। इन प्रमाणो के अनुसार हृदय को प्रभावित करने के लिए ही जाप होता है सो मध्यागुली की धमनी का ही हृत्प्रदेश से सीधा सम्बन्ध है अत जाप मे उसी का उपयोग होता है। यवनादि इस रहस्य को नही जानते वे तो केवल विद्यालय के प्रथम श्रेणी के बालको की भांति केवल गोलियें गिनकर ही अभी एक-दो गिनना सीखने के अभ्यासी हैं।

तुलसी रुद्राक्ष आदि की क्यों ?

श्री वैष्णव तुलसी शङ्ख और कमलाक्ष की माला, शैव रुद्राक्ष

और भद्राक्ष की माला, गाणपत्य हरिद्रा की, अमुक मन्त्र के जाप मे जीयापोता या विद्रुम=मूंगे की और मारण आदि आभिचारिक कृत्यो मे सर्पास्थि तक की मालाओ का विधान शास्त्र मे विद्यमान है।

शास्त्रीय-स्वरूप

पद्माक्षैर्विहिता माला शत्रूणां नाशिनी मता।
कुशग्रन्थिमयी माला, सर्वपापप्रणाशिनी ॥१॥
पुत्रजीवफलैः क्लृप्ता कुरुते पुत्रसम्पदम्।
प्रवालैर्विहिता माला प्रयच्छेत्पुष्कलं धनम् ॥२॥

(तन्त्रसार)

अर्थात्—कमलाक्ष की माला शत्रु नाश करती है, कुश ग्रंथि से बनी पाप दूर करती है। जीयपोते के फल की पुत्र और सन्तान देती है। प्रवाल 'मूंगे' की माला धन देती है।

पूर्व कथनानुसार अगुष्ठ मध्यागुली के सघर्ष से जो विद्युत् उत्पन्न होगी, वह सात्विक, राजस, तामस किस प्रकार की अपेक्षित है इसी विचार तारतम्य से विभिन्न मालाओ की व्यवस्था है। यदि केवल भगवत् पुष्टि के लिए किंवा मुक्ति के लिये जाप हो रहा हो तो इसके लिए सात्विक विद्युत् उत्पादक तुलसी आदि की सात्विक द्रव्य निर्मित माला चाहिये। कदाचित् '**त्र्यम्बकं यजामहे**' आदि आयुष्यवर्द्धक रजोगुणात्मक मन्त्र जपने की आवश्यकता है तो रुद्राक्ष उपयुक्त होगा। पुत्र प्राप्ति के लिए सन्तान गोपाल आदि मन्त्रो के जाप मे 'जीया पोता' (जीव पुत्र) की माला। इसी प्रकार विघ्ननिवृत्त्यर्थ हरिद्रा की और मारण मत्रो मे तामसी हड्डी आदि क्रूर पदार्थ से बनी ठीक रहेगी।

यह अनेकविध व्यवस्था इसलिये भी है कि साधक, अन्तरिक्ष मे व्याप्त विद्युत् को अमुक २ शक्तियो मे से यथेष्ट किसी को भी उद्वेलित कर उनसे मनचाही सिद्धि प्राप्त कर सके।

आज के वैज्ञानिको ने केवल भौतिक विद्युत् के ही अढाई गुण अभी तक समझे है अर्थात्—बिजली से प्रकाश होता है, यन्त्र चलता है तथा किसी वस्तु को फैलाया जा सकता है–आदि, परतु हमारे महर्षियो ने विद्युत् शक्ति के विभिन्न ४६ स्वरूपो का पता लगाया था, जिन्हे हिन्दू शास्त्रो मे ४६ मरुत् के नाम से स्मरण किया गया है। यह प्रसग विस्तारपूर्वक हमने 'पुराण दिग्दर्शन' मे प्रकट किया है।

कहना न होगा कि हमारे यहाँ केवल मन्त्र सख्या जानने मात्र के लिये ही माला की व्यवस्था नही है। कदाचित् ऐसा होता तो फिर तत्तत् कार्यो मे विभिन्न मालाओ का विधान न होता, मालाओ का अनेकविध्य ही इस बात का प्रबल प्रमाण है, कि यह व्यवस्था सुतरा दार्शनिक एव मनोवैज्ञानिक सिद्धात पर आधारित है।

माला कण्ठी गले में क्यों ?

प्रसग-वश यहा यह भी प्रकट कर देना अनावश्यक न होगा, कि गले मे माला कण्ठी बांधने की भी शास्त्र मे व्यवस्था मिलती है यह क्यो ? इसलिये कि—

(१) अधिक जाप करने वाले व्यक्ति को—खासकर जो उपांशु=चुपचाप ओष्ठ और जिह्वा को हिलाये विना—जिसका कि शास्त्र में अधिक माहात्म्य वर्णित है—जाप करता हो उसकी कण्ठ धमनियो को अधिक परिश्रम करना पडता है, इसलिये भय है

कही वह साधक गलगण्ड, कण्ठमाला आदि रोगो से पीड़ित न हो जाय, इस खतरे से बचने के लिये तुलसी रुद्राक्ष आदि दिव्य वृक्षो से बनी कण्ठी माला धारण की जाती हैं, ये वृक्ष उक्त रोगों को दूर करने की अव्यर्थ औषधि हैं ।

बच्चो को दॉत और दाढ उत्पन्न होने के समय बडा कष्ट होता है, एतदर्थ बहुत से गृहस्थ इस कष्ट से मुक्ति पाने के लिये विदेशी लुटेरो द्वारा तैयार किया कथित बिजली का फीता खरीद कर बच्चो के गले मे बाधते है, यद्यपि इस फीते में केवल ताबे और जस्ते का एक दो तार काले कपडे मे सिला रहता है, परतु मूर्खलोग इसी दो आने की वस्तु को रुपयो की खरीदकर देश का लाखो रुपया विदेशियो की भेट चढाते है। हमने स्वय अनुभव करके देखा है कि यदि बच्चो के गले मे तुलसी रुद्राक्ष को माला कण्ठी पहिनाई जाए तो दातो के उद्गम के कष्ट के अतिरिक्त गलगण्ड कण्ठमाला आदि रोगों की भी निवृत्ति हो जाती है । उक्त बिजली का फीता कहे जाने वाली विदेशी वस्तु से तो हमारे अपने देश की कौडियो, छोटे शखो, शिरस के बीजो से बनी कण्ठी सस्ती और अधिक लाभप्रद सिद्ध होती है, प्राय. देहातो मे इसका प्रयोग भी होता है अब कुछ विलायती चाकचिक्य के भक्त उक्त देशी साधनो को छोडकर विदेश की ओर ताकने में ही अपनी शिष्टता समझते हैं, परन्तु वस्तुत: कपर्दिका आदि वस्तुएं हैं बहुत लाभप्रद । यदि व्याघ्रनख, चादी और सोने का भी उक्त कण्ठी मे सन्निवेश हो तो फिर बहुत सी सक्रामक बीमारियो से भी बच्चा सुरक्षित रह सकता है ।

(२) धार्मिक दृष्टि से यज्ञोपवीत की भाति कण्ठी माला भी हिन्दुत्व का अनिवार्य चिह्न है । विशपो और पादरियो के गले में

लकड़ी का क्रास और ईसा को दी गई फाँसी का फंदा=नैंक कटाई अवश्य रखते हैं। ईसाइयो के धार्मिक चिह्न नैंकटाई को बाँधकर तो भारतीय भी अभी तक 'नाक–कटाई' का प्रदर्शन करते हैं। मौलाना साहिब के गले में तो पण्डित जी की भांति ही लम्बी तसबी लटकती रहती है। वास्तव मे इस पवित्र वस्तु को लटकाने के लिये गले से अच्छा अन्य उपयुक्त स्थान भी तो नही है।

माला के एक सौ आठ दाने क्यों?

कर-माला दांये हाथ की अगुलियों के बारह पर्वों मे से अनामिकाके मध्यम पर्व से आरम्भ करके दक्षिणावर्त रीति से घूमते हुए इसी पर्व पर समाप्त हो जाती है। इस गणना में मध्यमागुली का मध्यम पर्व ही केवल छूटता है, शेष ग्यारह पर्व आ जाते है। माला के अभाव मे इसका भी उपयोग होता है। 'नक्षत्र-माला'–सत्ताइस मणके और एक सुमेरू से बनती है। परतु सर्व कार्यो मे नित्य कार्य मे आने वाली माला एक सौ आठ दाने की होती है, जिसके ऊपरी भाग मे सुमेरू पृथक् रहता है। इसके एक सौ आठ ही दाने क्यों होते हैं? न्यून वा अधिक क्यो नही होते? यह भी एक जिज्ञासा हो सकती है।

(१) एक सौ आठ दानों का प्रथम कारण यह है कि 'अण्ड पिण्ड' सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड के प्रकृति के नियन्त्रण से निरन्तर चारों दिशाओ मे घूमती हुई नक्षत्रमाला को देखकर भारतीय ऋषियो ने भी नक्षत्रो की संख्या सत्ताइस को दिशाओं की चार संख्या से गुणित करके एक सौ आठ संख्या मणको वाली अपनी माला का निर्माण किया है। अर्थात्—सत्ताइस चौका पूरे एक सौ आठ ही तो होते हैं। अत न्यून वा अधिक का प्रश्न ही नही उठता।

(२) एक सौ आठ दाने का दूसरा कारण यह भी है, कि जिस नक्षत्र माला के आधार पर जाप माला की कल्पना की गई है उन सत्ताइस नक्षत्रो मे प्रत्येक नक्षत्रो के चार चरण होते है जैसे 'चू चे चो ला' अश्विनी आदि,–जिसे सभी साक्षर जानते हैं। सो समस्त सत्ताइस नक्षत्रों के कुल मिलाकर १०८ ही चरण होते हैं, इस गणना के अनुसार जाप माला के १०८ दाने ठीक है। यहा यह भी अधिक जान लेना चाहिए कि 'नक्षत्र माला के आधार पर हमारी ये माला बनी है'—यह केवल हमारी कल्पना नही है अपितु हमारे इस विवेचन मे एक अटल हेतु भी विद्यमान है। माला के दोनों किनारो को मिलाकर जहा एक किया जाता है उस स्थान के सर्वोच्च दाने को 'सुमेरू' कहते है, सो हमारे ब्रह्माण्ड की नक्षत्र माला के भी दोनो किनारे जहाँ सम्मिलित होते हैं, उस स्थान को 'सुमेरू पर्वत' के नाम से नाम से ही पुराणादि ग्रथो मे स्मरण किया गया है , जैसे कोल्हू का एक किनारा एक कील पर स्थिर रहता है और दूसरा किनारा चारो ओर वर्तुलाकार घूमता है, ठीक इसी प्रकार नक्षत्र माला का भी एक किनारा ध्रुव को ओर सुमेरु नामक कील पर सुस्थिर है और दूसरा पूर्व से पश्चिम की ओर घूमता है। ध्रुव और तत्स-म्बद्ध ध्रुवाक्ष नाम के दोनो तारो और सप्तर्षि मण्डल के सात तारो के परिक्रमण से हमारी यह बात ठीक समझ मे आ सकती है। इसलिए जप माला और नक्षत्र माला दोनो के ही सयोजन स्थान को 'सुमेरू' कहने के कारण कोई भी विचारक उक्त दोनो वस्तुओ की समता का सहज मे ही अनुमान कर सकता है।

(३) माला के एक सौ आठ दाने का तीसरा कारण यह भी है कि अहोरात्र मे मनुष्य के श्वासो की स्वाभाविक सख्या

इक्कीस हजार छः सौ वेद शास्त्रो मे निश्चित की है यथा—

षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यात्मकं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

(चूडामणि उपनिषद् ३२ । ३३)

इस विषय का सप्रमाण विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र देखा जा सकता है। अहोरात्र मे यदि आधा समय शयन, भोजन अन्यान्य ससारिक कृत्यो का अर्थात्—लोक साधना-का माना जाए और आधा परमार्थ साधना का माना जाए, तो २१६०० श्वासो के आधे १०८०० (दश हजार आठ सौ) श्वास हरिभजन के लिए निश्चित समझने चाहिये, शास्त्र कहता है कि हमारे जीवन के ये श्वास व्यर्थ नही जाने चाहिये, भाषा कवियों ने भी इसी आशय से कहा है कि—

श्वास २ हरि नाम जप, वृथा श्वास मत खोय ।
न जाने इस श्वास का आना होय न होय ॥

सो यदि हम शास्त्र विधि के अनुसार प्रतिदिन एक माला भी जाप कर दे तो हमारे ये सब श्वास सार्थक हो सकते हैं, क्योकि विधिवत् किया हुआ जाप—'उपांशु स्यात् शतगुण' (मनु २।८६) के अनुसार सौ गुणा हो जाता है। अब इन सब शास्त्र व्यवस्थाओ का समन्वय कीजिए। कल्पना करो—एक व्यक्ति प्रतिदिन कम-से-कम एक माला 'उपांशुजप' करता है, एक सौ आठ दाने की माला घुमाने से १०८ वार मन्त्र या हरिनाम जपा। उपांशुजाप होने के कारण इसका फल सौ गुणा हुआ, फलतः १०८×१००=१०८०० होता है। अर्थात्—मनुष्य के आधे श्वासो के बराबर हो जाता है। इस तरह मनुष्य के दिनभर

के श्वासो को सार्थक बनाने के लिये कम से कम जितने जाप की आवश्यकता है, उसका ठीक हिसाब १०८ दाने की माला बनाने पर ही बैठ सकता है। इसलिए भी माला के एक सौ आठ दाने ही उपयुक्त है।

(४) चौथा कारण यह है कि—'शतपथ ब्राह्मण' के दशवे काण्ड मे *'अथ सर्वाणि भूतानि'* इत्यादि प्रघट्ट मे लिखा है, कि एक सवत्सर के दश हजार आठ सौ मुहूर्त होते है और इतने ही वेदत्रयी के पक्ति युग्म होते है। पुरुष की पूर्णायु सौ वर्ष मानी गई है यदि १०८०० मुहूर्तो को जीवन के वर्षों की सख्या १०० पर विभक्त किया जाए तो १०८ होते हैं। कम से कम इतना भी नित्य जाप करने से पक्ति पाठ सम्पन्न हो जाएगा।

(५) बुद्धि के सामान्य धरातल से जरा गहराई मे पैठकर झाके, तो माला की १०८ सख्या, ब्रह्मात्मैक्य प्रेरणा के आध्यात्मिक तल को स्पर्श करती हुई दिखाई देगी। सृष्टि और प्रलय के गहनतम रहस्य से ओत-प्रोत माला की यह सख्या साधक को ब्रह्मसायुज्य का अधिकारी बनाती है। दार्शनिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि यह अखिल विश्व ही ब्रह्म रूपी सूत्र मे पिरोई हुई माला है; सच्चिदानन्दमय ब्रह्म ही सुमेरू स्वरूप है और उससे ही प्रारम्भ और उसी पर समाप्त हो जाने वाले ये १०८ मणके सर्ग एव प्रलय के उपादान कारणो की प्रतिमूर्ति के अतिरिक्त कुछ हैं ही नही। इसीलिये भगवान् कृष्ण ने गीता मे कहा है—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

अर्थात् -यह सम्पूर्ण ससार सूत्र मे पिरोई हुई मणियो की तरह मुझ मे अनुस्यूत है।

जरा विचार पूर्वक समझने का प्रयत्न कीजिए कि सर्ग एव प्रलय के उपादान भूत वे कौन-कौन से मणके है, जो ब्रह्म मे

ओतप्रोत हैं। भगवान् कृष्ण ने जगदुत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है :—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ (गीता ७-४)

अर्थात्—भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत् और अव्यक्त यह आठ प्रकार की परा प्रकृति है (जिससे यह स्थूल ससार उत्पन्न होता है) इसके अतिरिक्त एक अपरा नामक प्रकृति है जो जीव रूप धारण करके ससार को धारण करती है। जिसका वर्णन गीता मे इससे आगे ही—अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्—आदि द्वारा किया गया है।

अष्टधा प्रकृति मे वर्णित सभी पदार्थ विभिन्न गुणो से युक्त हैं। गीता के विलोम क्रम को छोडकर अनुलोमक्रम से विचार कीजिए। सृष्टि का मूल है ब्रह्म,—जो कि निर्गुण निर्विकार एव नित्य सत्य है; वह एकत्वयुक्त है। उससे उत्पन्न अव्यक्त मे इस गुण के अतिरिक्त आवरण शक्ति का प्राधान्य है जिससे उसका स्वभाव दो प्रकार का हो जाता है। इससे आगे महत् है, जिसमे उपरोक्त दो गुणो के अतिरिक्त विक्षेप शक्ति का समावेश भी है, फलत: वह त्रिगुणात्मक हुआ। अहङ्कार ब्रह्म का चतुर्थ विकार है, जो मल के आधिक्य और पूर्ववर्ती पदार्थ के तीन गुणो को भी धारण करने से ४ गुणो वाला हुआ। इस प्रकार आगे के आकाशादि सभी पदार्थ अपने एक विशेप गुण के साथ पूर्ववर्ती पदार्थो के गुणो से भी युक्त होते हैं, जैसा कि भगवान् मनु ने कहा है—

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।

यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥

अर्थात्—क्रम से कहे हुये अव्यादिक्त पदार्थों के गुणो को परवर्ती पदार्थ प्राप्त करते हैं और इस प्रकार इनमे जो विकार

जितने गुणो को धारण करता है, उतने गुणो वाला कहलाता है। इस रीति से अब अष्टधा प्रकृति वर्णित सब पदार्थों के गुणो का सकलन कीजिए। अव्यक्त–२, महत्–३, अहङ्कार–४, आकाश–५, वायु–६, तेज–७, जल–८, भूमि–९ और नवगुणात्मक जगत् को धारण करने वाली अपरा प्रकृति १०=५४। यह तो हुई सृष्टि प्रक्रिया और इसी क्रम से प्रलय समझनी चाहिये। फलत सुमेरू रूप ब्रह्म से आरम्भ करके ५४ उपादानो द्वारा जिस सृष्टि का निर्माण हुआ था वह ५४ उपादानो द्वारा ही प्रलय को प्राप्त होकर, १०८ की सख्या पूरी कर सुमेरू पर ही समाप्त हो जाती है।

कहा जा सकता है कि जपकर्ता का प्रलयोत्पत्ति के इन सब कारणो से क्या सम्बन्ध ? परन्तु हमे यह न भूलना चाहिए कि जाप का उद्देश्य माया जनित मोह का उच्छेदन कर जीव को ब्रह्म स्वरूप बना देने मे है। माला इस मे और अधिक सहायक सिद्ध होती है, वह प्रलयोत्पत्ति वर्णन द्वारा कार्य कारण और जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन कर जीवके ऊर्ध्वगामी बनने मे सहायक सिद्ध होती है।

कहना न होगा कि यदि केवल जाप सख्या मात्र जानना माला का उद्देश्य होता तो फिर नि सन्देह सौ दाने या इसी प्रकार किसी पूरी सख्या के दानो की माला ही उपयुक्त होती। चूंकि इसमे अनेक आध्यात्मिक और वैज्ञानिक हेतु विद्यमान है इसलिये माला के १०८ दाने ही होने चाहियें न्यूनाधिक नही।

श्री १०८ क्यों ?

प्रधान धर्माचार्यों और जगद्गुरुओ को श्री १०८ लिखने की प्रचलित परिपाटी का हेतु भी स्पष्ट है। हमारे इस ब्रह्माण्ड मे समस्त ग्रह पिण्डो से ऊपर नक्षत्र कक्षा कही जाती है। नक्षत्र से ऊपर अन्य कोई पिण्ड नही—सो हम जिस व्यक्ति को सर्वोच्चपद

प्रदान करना चाहे उसे नक्षत्र कक्षा से ही उपमित कर सकते हैं, यह पदवी प्राय. परिव्राजक अर्थात्—निरन्तर सर्वत्र घूम-घूम कर धर्म प्रचार करने वाले महात्माओ के साथ ही प्रयुक्त की जाती है। अत. यहां भी नक्षत्र संख्या और दिग् सख्या को गुणित करके २७×४=१०८ लिखा जाता है। आजकल जो श्री एक हजार एक सौ आठ और अनन्त श्री लिखने का प्रचार हो चला है यह जहा सौ से अधिक सहस्र और सहस्र से अधिक लक्ष इस प्रकार उत्तरोत्तर बढते हुये 'अनवस्था' दोष से ग्रस्त होने के कारण अन्त मे निरर्थक सिद्ध होता है वहाँ 'होली' से बड़ा 'होला' तो 'दीवाली' से बडा 'दीवाला' का भी प्रत्यक्ष निदर्शन है।

भोजन

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) अन्नं ब्रह्म इत्युपासीत।

(ख) उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुत्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥
पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥
(मनु' २। ५३-५४)

(ग) अन्नं ब्रह्मारसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।

(घ) अन्नं विष्टा, जलं मूत्रं यद् विष्णोरनिवेदितम् ॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्रह्मखण्ड २७। ६)

(ङ) अस्नायी समलं भुङ्क्ते, अजपी पूयशोणितम् ।
सूर्य्यायार्घ्यमदत्वा च नरः किल्विषमश्नुते ।
(स्कन्दपुराण)

अर्थात्—(क) अन्न ब्रह्म है यह समझकर उसकी उपासना करनी चाहिये। (ख) दोनो हाथ दोनो पाव और मुख इन पाचो अगों को) जल का उपस्पर्श करके नित्य सावधान होकर अन्न को खाना चाहिए, और भोजन के उपरान्त भली प्रकार आचमन करना चाहिए तथा जल के द्वारा मुखस्थ छहो छिद्रो का स्पर्श करना चाहिये। नित्य प्रथम भोजन का पूजन करना चाहिए और बिना निन्दा किये खाना चाहिये। भोजन को देख कर हर्षयुक्त होना चाहिए और प्रसन्नतापूर्वक उसका अभिनन्दन करना चाहिये। (ग) अन्न ब्रह्मा है, रस विष्णु है और और खाने वाले महेश्वर है। (घ) विष्णु भगवान् को भोग न लगा अन्न विष्टा के समान है और जल मूत्र के तुल्य है। (ङ) विना स्नान किये भोजन खाना मल के तुल्य है। जप किये बिना भोजन खाना मल खाने के तुल्य है। जप किए विना भोजन खाना राध, पीप, रुधिर खाने के समान है। और सूर्य को अर्घ दिये बिना भोजन करना पाप खाने के समान है।

वैज्ञानिक विवेचन

उपर्युक्त शास्त्रीय प्रमाणो मे प्रधानतया जिन-जिन नियमो का सकेत किया गया है इन सबकी विस्तृत व्याख्या करने पर एक स्वतन्त्र ग्रथ तैयार हो सकता है, इसलिए हम यहा केवल अत्यावश्यक बातो का ही उल्लेख करेगे। भोजन का सर्वप्रधान यह नियम है कि उसे केवल क्षुत् निवृत्ति का साधन, पेट भरने

मात्र के लिए किया जाने वाला क्षुद्र कार्य नही समझना चाहिए, बल्कि खाद्य पदार्थ को साक्षात् ब्रह्म समझकर, भक्षण करना उसकी उपासना जैसा पवित्र कार्य मानना चाहिए। अब यदि भोक्ता भोजन खाने से पूर्व यह भावना सुदृढ बनाले कि मैं पेट भरने नही चला, किन्तु भगवदुपासना करने चला हूँ, तो अन्य सब नियम अपने आप हो पालन करने अनिवार्य हो जायेंगे; जैसे ईश्वर की उपासना मे हाथ-पाव प्रक्षालन करके शुद्ध धौतेय वस्त्र पहिनकर आसन पर बैठते हैं और सावधान मन से मौन होकर यथाविधि सब कृत्य करते हैं, तथैव भोजन के समय भी वैसे ही सब काम करना चाहिये। ईश्वर उपासना में किसी अपवित्र वस्तु को निकट भी नही आने देते। इसी प्रकार भोजन मे भी कोई अपवित्र वस्तु चौंके मे नही घुसने देनी चाहिए।

यदि विचार किया जाये तो भोजन के इस प्रथम नियम से ही तत्सम्बन्धी अनेक शङ्काओ का अपने आप निराकरण हो जाता है। अब यदि कोई पूछे कि भोजन से पूर्व स्नान क्यो करे? जूता क्यो उतारे? वस्त्र क्यों उतारे? कुर्सी पर क्यो न बैठें? चौंका क्यों लगायें? आसन पर क्यो बैठें? मौन क्यों रक्खें? लसुन, प्याज, मद्य, मास आदि का उपयोग क्यो न करें? होटलो मे यवन चाण्डाल खानसामाओ का पकाया क्यो न खायें? और कांच और चीनी के वर्तनो मे क्यों न खायें? तो इन सब प्रश्नो का एक ही उत्तर दिया जा सकता है, कि यदि केवल पेट भरने के लिए खाना खाना हो, तब तो तुम पशुओ की भांति स्वतन्त्र हो जब जैसे जो चाहो यथेच्छ खाओ; परन्तु यदि दीर्घजीवी बनने के लिए भोजन करना है तो ईश्वर की उपासना में उपयुक्त न होने वाले सब रग ढग सब वस्तुजात अवश्य छोड़ने होंगे।

सबको खिलाकर खाओ

भोजन का दूसरा प्रधान नियम है कि मनुष्य को पहिले समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणियो को खिलाकर पश्चात् स्वयं खाना चाहिए। यहा प्रश्न किया जाता सकता है कि 'यह कैसे सम्भव हो सकता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने परिमित भोजन से समस्त ब्रह्माण्ड के अगणित प्राणियो को परितृप्त कर सके'। शास्त्र मे इस नियम के पालनार्थ एक बहुत ही सरल मार्ग का निर्देश किया है जिसका नाम है 'बलि वैश्वदेव'।

प्रत्येक गृहस्थ के यहा नित्य पॉच प्रकार से बहुत से जीवो की अनिवार्य हत्या होती है। चूल्हे मे आग जलाते, अन्न को कूटते, पीसते, छानते पछोडते समय और जलघट रखते समय बहुत से जीव न चाहते हुए भी मर ही जाते है। इन पाच दैनन्दिनी हत्याओ को दूर करने के लिए प्रत्येक सद्गृहस्थ को नित्य पाच महायज्ञ करने की शास्त्र-विधि है। (१) वेदादि शास्त्रो का पढना और पढ़ाना 'ब्रह्मयज्ञ' है, (२) पितरो का तर्पण करना 'पितृयज्ञ' है, (३) हवन करना 'देवयज्ञ' है, (४) बलि वैश्व देव 'भूतयज्ञ' है और (५) अभ्यागत को भोजन खिलाना 'अतिथि यज्ञ' है।

तात्पर्य यह है कि यदि धनसम्पन्न पुरुष स्वय पकाएँ और स्वय ही खा जाएँ परन्तु भोजन मात्र पर धर्म्मप्रचार करने वाले सन्यासियो महात्माओ साधुओ और विद्वानो की सार खबर न ले, इससे निश्चित ही धर्म्मप्रचार को और वेदादि शास्त्रो के पठन-पाठन की सबकी सब परम्परा विनष्ट हो जाएगी, जिसका पाप उस धनिक को होगा। यदि धनी स्वय भरपेट भोजन खाए

और उसी मोहल्ले मे पडोस में रहने वाली एक सती साध्वी विधवा अपने बाल-बच्चा को भूखा देखकर आँसू बहाये-उसकी इस विवशता से लाभ उठाकर धूर्त गुन्डे उसे लावारिस प्रापर्टी समझकर धर्मभ्रष्ट करने के लिए सुअवसर समझें, तो ऐसी दशा मे अनाथ विधवा के अत्युष्ण आंसुओ की सतत धारा से क्लिन्न वह धनिक के थाल मे परसा भोजन खाने पर कभी पच न सकेगा! हजम न हो सकेगा!! इसीलिए आज के अधिकांश धनिक प्रायः अजीर्ण--बदहजमी रोग के शिकार रहते हैं। कारण स्पष्ट है, कि जो धनिक देव, पितृ, अतिथि, पूज्य, विद्वान्, अनाथ और विधवाओ का भाग न निकालकर स्वय अकेले ही सबका स्वत्व हड़पने का प्रयास करेंगे, तो प्राणीमात्र के हृदय मे जाठराग्नि रूप से विराजमान भगवान् प्रथम तो भोजन को देखते ही अनिच्छा-अरुचि प्रकट करेगे।

इतने पर भी यदि सेठ साहिब बलात् उदर दरी मे भोजन डालने का प्रयत्न करेंगे, तो भगवान् केवल उतना भाग ही पचने देंगे जितना कि इसका वस्तुत. अपना है, अन्य व्यक्तियो के भाग जीर्ण न होने पाएँगे। बार बार जमाल घोटे को गोली खाकर या फ्रूट साल्ट पीकर जुलाब लेने के लिए ही विवश होना पडेगा। सो यह परम आवश्यक है कि प्रत्येक भोजनकर्ता शूकर कूकर की भांति केवल अपना ही पेट भरने का प्रयत्न न करे, किन्तु यथाशक्ति वित्तशाठ्य को छोड़कर अन्यान्य सभी उपजीवियों को भी परितृप्त करने का सतत प्रयत्न करे।

वैश्वदेव—आदर्श-समाजवाद

आज कथित समाजवादी उदरम्भर पाश्चात्य देशों की झूठन समेटकर भारत मे भी तादृश समाज रचना की रेतीली

दीवार खडी करने का विडम्बना पूर्ण प्रयास कर रहे है, परन्तु यदि वे सनातन धर्म को समाज रचना के एक साधारण नियम 'बलि वैश्वदेव' का ही मनन कर सके और राजसत्ता के प्रभाव से जनता मे ताहश आचरण का वातावरण उत्पन्न कर सके, तो अपने आप ही खाद्य समस्या हल हो जाए, फिर घूसखोरी और चोर बाजारी के जननी जनक राशन व्यवस्था और कट्रोल की आवश्यकता ही न पडे । परन्तु दुर्भाग्यवश ! आज तो खाद्य समस्या को हल करने के लिए केवल कागज के कलेजे पर कलम चलाना मात्र पर्याप्त समझा जा रहा है ।

अस्तु, 'बलि वैश्वदेव' मे श्रोत्रिय विद्वान् से लेकर कीट पतग पर्यन्त सभी उपजीवियो को परितृप्त करने के अनन्तर ही गृहाध्यक्ष दम्पति को भोजन करने की आज्ञा है । धर्मशास्त्रो की इस व्यवस्था के नियमो को पढते हुए सुस्पष्ट यह भान होने लगता है, कि हिन्दू धर्म मे केवल मौज मजा उड़ाने के लिए ही किसी व्यक्ति को विवाह करने की आज्ञा नही दी जा सकती । जो, न केवल सब आश्रमो के ही पालन पोषण का भार उठाने को प्रतिज्ञाबद्ध हो किन्तु 'आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त' समस्त विश्व को परितृप्त करने के लिये अपने ऊपर दायित्व ले सके, वही व्यक्ति समावर्तन सस्कार की दीक्षा पा सकने का अधिकारी समझा जा सकता है ।

यद्यपि बौद्ध शासन काल से ही अन्यान्य वैदिक प्रथाओ की भाति उक्त प्रथा भी बहुत शिथिल पडने लगी थी, परन्तु तब भी आद्य शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य आदि धर्माचार्यों के प्रबल परिश्रम से यथा कथञ्चित् सुरक्षित रह पाई थी । गत सहस्राब्दी से तो अहिन्दू शासन के कारण राजसत्ता के नियन्त्रण बिना प्राय: नाम शेष ही रह गई है ।

वलिवैश्वदेव का संक्षिप्त संस्करण

वलिवैश्वदेव के जटिल विधान का सुगम सक्षिप्त सस्करण पञ्चग्रासी है, जो जैसे तैसे भी धर्म रक्षण किये जाने के सद् विचार से यथाशासन प्रचरित हुआ है। वलिवैश्वदेव मे जहा मण्डल वनाकर अमुक-अमुक दिशा मे अमुक-अमुक देवता के नाम से अमुक-अमुक संख्याक ग्रास रक्खे जाते थे, वहा 'पञ्चग्रासी' मे केवल पाच ग्रास और वे भी एक ही साधारण स्थान मे रखने से शास्त्र विधान का रक्षण हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी के समय मे ही वलिवैश्वदेव का स्थान पञ्चग्रासी ने ग्रहण कर लिया था। तभी तो रामचन्द्र जी की वारात की जोनार का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने—"पञ्च कवलि करि जेमन लागे'—लिखा है।

वलिवैश्वदेव मे समस्त व्रह्माण्ड के प्राणियो को परितृप्त करने के लिये प्रत्याहार सिद्धान्त से काम लिया गया था। यह तो सभी जानते है कि कोई व्यक्ति अपने चार मुट्ठी भर भोजन मे से अनन्त प्राणियो को साक्षात् खिलाकर परितृप्त नही कर सकता और नाही अनेक जीवो को, चिडियाघर को छोडकर अन्यत्र कही इकठ्ठा किया जा सकता है। तथापि महर्षियो ने वैदिक दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से इस कठिनाई को सुगम वनाने के निमित्त प्रत्येक वर्ग के सर्वोत्तम और सर्वाधम जीवो को चुनकर विश्वपूजा का आदर्श उपस्थित किया था, जैसे मनुष्यो में सर्वोत्तम वेदपाठी व्राह्मण हो सकता है और सर्वाधम श्वपाक चाण्डाल हो सकता है। पशुओ मे सर्वोत्तम गौ और सर्वाधम कुत्ता, पक्षियो मे गरुड़ और काक,—इस प्रकार उक्त सव जीवो को यथायोग्य ग्रास दिया जाता है। जैसे कोई भारत का सम्मान

करने के निमित्त यदि यहा के किसी एक प्रतिनिधि का भी सम्मान करे तो वह समस्त देश का सम्मान समझा जाता है, ठीक यह व्यवस्था वैश्वदेव विधि मे प्रस्तुत है। पञ्चग्रासी मे केवल पाच ग्रास निकालने का भी यही तात्पर्य है। वेद मे यत्र तत्र 'पञ्चजन' शब्द का बहुत प्रयोग आता है। भाष्यकारो ने,—देव, ऋषि, पितृ, मनुष्य और गन्धर्व, तथा चार वर्ण पाचवा निषाद, एव उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज और मनसिज, इस प्रकार से विभिन्न अर्थ करके समस्त चराचर को पाच भागो मे विभक्त किया है। लोक मे भी समस्त मनुष्यो का प्रतिनिधित्व करने वाली सस्था का नाम भी 'पचायत' और 'पचो मे परमेश्वर' ये दोनो कहावते प्रसिद्ध है।

दरिद्रनारायण संस्करण

त्रिकालज्ञ महर्षि आज के युग से सर्वथा सुपरिचित थे। यह तो केवल हमसे अल्पज्ञ प्राणी ही 'कि भविष्यति' के विषय मे किंकर्तव्य विमूढ है। परन्तु अपनी 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा द्वारा जिन्होने हस्तामलक की भाति भूत भविष्यत् वर्तमान का अनुसन्धान किया हो, वे महात्मा तो काल की व्यावहारिक अनेकता मे भी पारमार्थिक एकता के साक्षात् दर्शन करते है। जैसे बहुत बार अनुभव करने के कारण मध्याह्नकालीन सूर्य के प्रखर तेज की विद्यमानता मे भी सायकालीन घोर अन्धकार की अनिवार्यता को प्रत्यक्ष देखते हैं और ग्रीष्मकालीन उष्णता की विद्यमानता मे भी शिशिरकालीन शीतता की अनिवार्यता को नही भूलते, ठीक इसी प्रकार त्रिकालदर्शी महर्षियो ने विभिन्न युगो के तार-तम्य को जानकर पहिले से ही तत्कालीन युगधर्मों का प्रतिपादन किया है। सो आज के इस भयकर युग मे जब कि प्रत्येक प्राणी

को तुल तुलकर चन्द तोला अन्न मिलता हो पाच ग्रास की कौन कहे—एक ग्रास भी किसी दूसरे को देना मानो मृत्यु को निमत्रण देना जान पडता है—तव पञ्चग्रासी कौन कर सकेगा ? इसलिए वलिवैश्वदेव के अतीव सक्षिप्त दरिद्रनारायण सस्करण का आविष्कार हुआ है, जिसे हम भक्तो की भाषा मे ठाकुर जी को भोग लगाना कह सकते हैं।

सव जानते हैं, कि ठाकुर जी को भोग लगाने मे कौड़ी पाई का खर्च नही होता, घर मे रूखा सूखा जो भी भोजन वना हो उसे आधे सैकिण्ड मे भगवदर्पण कर देना—आर्थिक दृष्टि से कोई महगा सौदा नही है। एक वार जव एक महाशय ने हमसे पूछा कि क्या ठाकुर जी खाते है ?—तो हमने उत्तर दिया, कि यह प्रश्न तो उल्टा मुझे आपसे पूछना चाहिये, क्योंकि वेद शास्त्र की आज्ञा है कि भोग लगाना चाहिये, परन्तु आप भोग लगाने मे सौ आनाकानी करते हैं। तव मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि क्या ठाकुर जी खाते हैं ? अर्थात् तुम जो सामने रक्खे भोजन को केवल आधा मिनट आँख वन्द करके ईश्वर समर्पण करते हुवे घवडाते हो क्या तुम्हे खतरा है, कि ठाकुर जी इसे खा जायेगे ? सो यदि किसी नास्तिक को पूरा भरोसा है, कि ठाकुर जी नही खाते तव तो भोग लगाने मे उसे कुछ भी खतरा नही होना चाहिए। निश्चिन्त होकर आख वन्द करके 'त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' कहते हुये, पंचविव हत्या का प्रायश्चित्त करना चाहिये।

भोजन के समय पालनीय नियम

अनेक शास्त्रो का मथन करने पर जो भोजन करने के समय अवश्य पालनीय नियम मिलते हैं—हम पाठको के ज्ञान की अभिवृद्धि के लिये उन्हे यहा अकित करते हैं—'आचारादर्श' ग्रथ

मे उक्त महर्षियो के नाम से ये प्रमाण उद्धृत हुए हैं यथा —

(क) न वेष्ठितशिराश्चापि नासन्दीकृतभाजनः ।
नैकवस्त्रो दुष्टमध्ये सोपानत्कः सपादुकः ॥
न चर्म्मोपरि संस्थश्च चर्म्मवेष्टितपार्श्ववान् ।
ग्रासलेशं न चाश्नीयात् पीतशेषं पिबेन्न तु ॥
शाकं मूलं फलेक्ष्वादि दन्तच्छेदैर्न भक्षयेत् ।
सञ्चयेन्नान्नमन्नेन विक्षिप्तं पात्रसंस्थितम् ।
बहूनां भुञ्जतां मध्ये न चाश्नीयात्त्वरान्वितः ॥

(ख) न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत (मनु)

(ग) न नावि भुञ्जीत (आपस्तम्ब)

(घ) एकवस्त्रो न भुञ्जीत कपाटमपधाय च । (देवल)

(ङ) खट्वारूढो न भुञ्जीत (यम)

(च) यस्तु पाणितले भुङ्क्ते यस्तु फूत्कारसंयुतम् ।
प्रसृतांगुलिभिर्यश्च तस्य गोमांसवच्च तत् ॥
(ब्रह्म पुराण)

(छ) न भुञ्जीताऽघृतं नित्यं सर्पिराहुरघापहम् । देवल)

(ज) नोच्छिष्टो घृतमादद्यात् (विष्णु)

(झ) करे कार्पासके चैव पाषाणे ताम्रभाजने ।
वटार्काश्वत्थपत्रेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
पलाशपद्मनीचूतकदलीहेमराजते ।
मधुपत्रेषु भोक्तव्यं ग्रासमेकं तु गोफलम् ॥
(शिष्टस्मृति)

अर्थात्—(क) शिर ढापकर भोजन न करे। कुर्सी पर थाल रखकर न खाये। एकमात्र वस्त्र पहिने और दुष्ट लोगो के सामने भोजन न करे। मृगादि के चर्म पर बैठकर भोजन न करे। जूता, चप्पल, खड़ाऊ पहिनकर भोजन न करे। चमडे पर बैठकर और चमडे—(पतलून की पेटी, तस्मे, घडी की चैन) द्वारा आवेष्टित भोजन न करे। किसी पदार्थ को दातो से कुतर कर पुन न खाए। एक बार होठो से लगाकर पिए हुए पानी के अवशिष्ट भाग को पुन न पीए। शाक, मूल, फल, गन्ना आदि दांतो से काटकर न खाए। थाली मे बिखरा भात आदि भोजन पूरी रोटी के साथ इकट्ठा न करे। पक्ति भोजन मे सबके खाते रहने पर स्वयं झटपट खाने का प्रयत्न न करे। (ख) फूटे बर्तन मे न खाए। (ग) नाव मे भोजन न करे। [लम्बी यात्रा मे अनेक कमरो वाले—महाजलयान=स्टीमर इसका अपवाद है।] (घ) केवल एक वस्त्र पहिने और किवाड=पडदा बिना बन्द किए बिना भोजन न करे। (ङ) चारपाई=खाट पर बैठकर भोजन न करे। (च) खुली हथेली पर रखकर जोर जोर से सड़प्पे मारकर=फू फू करते हुए और अगुलिये फैलाकर भोजन न करे। (छ) बिना घृत भोजन न करे, क्योकि घृत ही भोजन के अनेक पापो का विनाशक है। (ज) उच्छिष्ट=झूठे पदार्थ मे घृत नही डालना चाहिए। (झ) हाथ पर, कपडे पर, पत्थर और तांबे के बर्तन मे, बट, अर्क अश्वत्थ=बड, आक, पीपल के पत्तो से बने दौने और पत्तलो पर नही खाना चाहिए। पलाश=ढाक, पद्मिनी=कमल, आम और केले से बनी पत्तल पर, सोने और चादी के बर्तनो मे तथा महुए के पत्ते पर भोजन करना लाभप्रद है।

नियमों का स्पष्टीकरण

उपर्युक्त नियमो पर ध्यान देने से यह भली प्रकार समझ मे आ सकता है कि त्रिकालदर्शी महर्षियो ने कितनी गहराई तक भोजन समस्या पर विचार किया है। शिर पर कपडा बाधकर भोजन करने से शरीरस्थ ऊष्मा जो कि भोजन के समय समस्त मानवपिंड मे व्यापृत होने के कारण जागृत हो जाता है—बाहर नही निकल पाता इससे बुद्धि पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। (सैनिक प्रवृत्ति वाले पुरुष जो कि स्वय ननु नच न करके सेनापति की आज्ञानुसार ही अपना कर्तव्य पालन करते है वे इसके अपवाद कहे जा सकते है। सिख सम्प्रदाय भी इसी कोटि मे परिगणित है। इसीलिए खालसा हर समय तैयार रहता है।)

कुर्सी आदि पर बैठकर भोजन इसलिए निषिद्ध है कि उन पर बैठकर भोजन करते हुये पाव नीचे लटकाने पडते हैं अर्थात्-आपन बाधकर नही बैठा जा सकता इससे नाभि से सम्बद्ध अधोभाग की सब धमनिये तनी रहने के कारण पाचनक्रिया पर अच्छा प्रभाव नही पडता, तभी तो पाश्चात्य लोगो को और उनके मानसपुत्र कुछ भारतीयो को भोजन के साथ सोडे आदि पाचकपेयो की आवश्यकता पडती है। प्राचीनकालीन उत्तरीय वस्त्र की भाति आज के सभ्य भी रुमाल अनिवार्य मानते हैं, अन्यथा भोजन के समय छीक आने पर किवा श्वासनलिका मे भोजन जलांश के सम्पर्क से खरखरी=अत्थू—हो जाने पर भारतीय तो शायद अगत्या धोती के छोर से यथाकथचित् निर्वाह भी कर ले परन्तु मिस्टर अपटूडेट मिश्र को तो आडे वक्त पर नाक पोछने के लिये पतलून काम न दे सकेगी। अत. पर्णा=साफा=अंगोछा आवश्यक है।

दुनिया भर के मल, मूत्र, थूक सिणक मे सने तलो वाले बूट, चप्पल, खडाऊ पहिनकर भोजन करना मानो संसार भर के रोगो को अपने घर मे निमन्त्रित करना है। चमड़ा वैसे भी दुर्गन्धपूर्ण परमाणुओ से बनी एक अपवित्र वस्तु है? फिर उसका भोजन के समय सम्पर्क कहा की सभ्यता है? आजकल दुर्भाग्यवश हाथ मे बन्धी रिस्टवाच की चैन कलाई पर बन्धे बन्धे भोजन करने का, या परसने का प्रचार बहुत बढ रहा है। उन्हे यह मालूम नही कि ये नर्म चमडे—'गोसल्ला' से तैयार किये जाते है। गोसल्ला का तात्पर्य है, कि सगर्भा गाय के पेट के बच्चे को जन्म से पूर्व ही विष आदि के इन्जैक्शन से मार दिया जाता है। केवल गोसल्ला चर्म विदेशो को भेजने के लिए भारत मे लाखो गोवत्स प्रतिवर्ष मारे जाते हैं, इनका पाप ऐसे चमडे को व्यवहार मे लाने वाले लोगो को ही लगता है, यदि मण्डी मे ऐसी वस्तुओ की खपत न हो तो फिर अत्याचार अपने आप ही खत्म हो जाएँ। अत भोजन के समय चमडे का सर्वविध सम्पर्क सर्वथा वर्जनीय है।

एक ग्रास को दाँतो से कुतरकर उसे पुन पुन. खाना वर्जित है, क्योकि आज के नए परीक्षणो से यह सिद्ध हो गया है, कि एक बार मु ह से सपृष्ट वस्तु के साथ जो मुखान्तवर्ती पानी का सयोग हो जाता है, यदि उसे तत्काल खुर्दबीन=स्वल्पवीक्षण यन्त्र से देखा जाय तो उसमे अगणित कीट संसक्त हुवे दीख पडेगे। पुन उसी ग्रास के खाने पर या पीत शेष जल के पीने पर वे विकृत अवस्था मे उदर मे जाकर कई प्रकार के सक्रामक रोगो की उत्पत्ति के हेतु बन सकते हैं। दातो के साथ गाजर, मूली, आदि कैडी चीजो का काटना दातो का स्थान च्युत करने का कारण बन जाता है-यह बात सभी भुक्तभोगी जान सकते हैं।

कढी शाक आदि अम्लतायुक्त पदार्थों को रोटी किंवा पूडी कचौडी के टुकडों के साथ थाली मे इधर से उधर घसीटना ठीक नही, क्योकि पात्र मे स्वभावत लगे जग को टुकडो से चिपकाकार पेट मे डालने से कई बार तबियत मचलाने लगती है, यह एक प्रकार का विष ही होता है, जो अधिक मात्रा में पेट मे जाने पर वमन=कै तक करा डालता है।

भोजन मे तीन व्यक्ति कण्टक माने गए हैं। 'आदि-कण्टक'–जो देर मे पहुँचे और प्रतीक्षा मे अन्य लोगो को पीड़ित करे। 'मध्य-कण्टक'–जो पानी का पात्र लुढ़कादे, रायते का शिकोरा ठुकरा दे, बुरी तरह से सडप्पे मारकर साथियो को ग्लान करदे इत्यादि। 'अन्त्य कण्टक'—जो स्वयं झटपट पूरा भोजन करके अन्यो के मुंह की ओर ताकता हुआ दृष्टि दोष लगाने को उद्यत हो, अथवा सबके तृप्त हो जाने पर भी पंक्ति भर मे अकेला खाता ही रहे, जिसकी प्रतीक्षा में अन्य सब तग होने लगे। सो यहा अन्त्य-कण्टक का उल्लेख किया गया है। फूटे बर्तन मे भोजन करने से कई भद्र पुरुषो की अगुली टूटे किनारे मे उलझ कर घायल हो जाती है, कइयो का घृत चू जाता है। नाव मे भोजन करने से अन्यान्य यात्रियो के अतिरिक्त गरीब मल्लाह भी तो मुह की ओर हीन-दीन दृष्टि से बार-बार ताकता रहेगा, जिससे दृष्टिदोष की पूरी सम्भावना है। कटिवस्त्र के अतिरिक्त दूसरे वस्त्र की आवश्यकता का उल्लेख किया जा चुका है। दृष्टिदोष निवृत्त्यर्थ किवाड बन्द करना किंवा पडदा लगना आवश्यक है। चारपाई पर भोजन करना इसलिए वर्जित है कि प्रत्येक घर-गृहस्थ को यहा अवश्य ही समय-समय पर बाल बच्चे उस पर मल-मूत्र का परित्याग कर देते है; उसे चाहे कितना भी प्रक्षालन क्यो न किया जाए, तथापि रस्सियो

की सन्धियो से मल का रह जाना अनिवार्य है। साथ ही भोजन द्रव्य, खीर, कढी, शाक, सब्जी आदि भी परसते हुए किंवा खाते हुए भी हाथ से छूटकर गिर जाने अनिवार्य हैं, रात मे सोते हुए पुन, वही पदार्थ अपने ही विस्तर किंवा शरीर मे न चिपकेंगे इसकी गारन्टी कौन कर सकता है।

नगी हथेली पर रखकर वस्तु खाने मे निश्चित ही वाये हाथ की हथेली को पात्र बनाया जाएगा और दाये से खाया जाएगा, ऐसी स्थिति मे मलद्वार को स्वच्छ बनाने मे प्रयोग होने वाले हाथ का मुह से सयुक्त होना अनेक रोगो का कारण वन सकता है। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार नाभि से ऊपरी भाग मे दाये हाथ का और नाभि से नीचे वाले भाग मे वाये हाथ का उपयोग होना चाहिए जिससे स्वास्थ्य सुरक्षित रहे। ऊचे स्वर मे फू-फू करते हुए सड़प्पे मारकर खाने से साथियो को वड़ी ग्लानि होती है. फिर स्वभाव पड़ जाने पर सर्वत्र ही वह व्यक्ति वैसा ही करता है, ससुराल मे ऐसे व्यक्तियो का उपहास होते हमने स्वय अनुभव किया है। अगुली फैलाकर खाने से भी तरल वस्तु टपकती रहती है जिससे सब कुछ छीटम-छीट हो जाता है, अत इसका निषेध है।

निश्चित ही घृत भोजन के अनेक दुर्गुणो को दूर कर देता है। वेद मे 'आयुर्वै घृतम्' के अनुसार घी को साक्षात् आयु ही माना है। शुष्क अन्न अनुपात में भी अधिक खाना पडता है, इसलिये घृत भोजन का अनिवार्य अग है। उच्छिष्ट वस्तु मे, घृत जैसे रत्न का सम्पर्क करना किसी ब्राह्मण को बलात् कीचड मे ढकेलने के बराबर है, शुद्ध मे ही घृत मिला लेना चाहिए। पत्थर उच्छिष्ट हो जाने पर धोने मात्र से शुद्ध नही हो सकता, क्योकि वह भी एक पार्थिव द्रव्य ही है। ताम्रपात्र मे जल के अतिरिक्त अन्य पदार्थ जल्दी विकृत हो जाते हैं। वड़

आक पीपल के पत्ते का खाद्य पदार्थों से सपृक्त होना स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद है, क्योकि ये सब दूध वाले वृक्ष हैं। ढाक कमल केला आदि स्वभावत. विशुद्ध हैं। इनके ऊपर प्रकृति ने ऐसी पालिश की है कि कोई पदार्थ इनसे विलिप्त नही हो सकता। सोना चादी तैजस पदार्थ हैं; अत· इनका सम्पर्क अन्न को और भी विशुद्ध कर देता है। इस प्रकार भोजन के सम्बन्ध मे आवश्यक बहुत से नियम प्रकट किये गये हैं जो धर्मशास्त्रो मे देखे जा सकते है। विधिवत् भोजन करने का परिणाम आयुष्य वृद्धि है।

भोजन के नियम पालन से आयुष्य वृद्धि

यह बात कोई भी प्रतिपक्षी स्वीकार कर सकता है, कि आज भी भोजन की जो मर्यादा वैष्णवो मे—उनमे भी खासकर श्री सम्प्रदाय मे प्रचलित है, यह शास्त्रोक्त आदर्श के सर्वाधिक निकट है, क्योकि पीछे हमने भोजन के जो प्रधान चार नियम प्रकट किये हैं, वे उक्त सम्प्रदाय मे अभी तक अक्षुण्ण चले आते है। भोजन को भगवत्सेवा समझना, अभक्ष्य भक्षण से दूर रहना दृष्टिदोष से बचने का विशेष ध्यान रखना और भगवान् को अर्पण करके तत्प्रसादरूपेण ही उसे स्वीकार करना,—उक्त नियमो के पालन का प्रत्यक्ष फल श्री सम्प्रदाय के समुद्धारक यतिवर्य श्री रामानुजाचार्य महाराज के जीवन चरित्र मे समुपलब्ध हो सकता है। आप ही एक मात्र ऐसे धर्माचार्य हुये है, जिन्होने कि काची से काशमीर तक श्रीसम्प्रदाय की विजय वैजयन्ती फर्राते हुये और प्रस्थानत्रयी पर अखण्ड भाष्य रचकर जहा शारीरिक और मानसिक उभयविध परिश्रम सहन मे क्षमता की पराकाष्ठा कर दिखाई, वहाँ इस कलिकाल मे भी १२० वर्ष की पूर्णायु

भोगकर स्वेच्छा से वैकुण्ठ को प्रस्थान किया। उक्त प्रघट्ट के लेखन मे किसी सम्प्रदाय विशेष की प्रशंसा करना मात्र हमे अभीष्ट नही, किन्तु अन्यान्य सभी लोग भोजन सम्बन्धी नियमो का आग्रह पूर्वक पालन करते हुए दीर्घायु बन सके यही हमारा अभिप्राय है।

कितनी वार चवाकर खाना चाहिए ?

आज यह प्रश्न बडा ही जटिल बना हुआ है कि भोजन ग्रास को कितनी वार चवाकर खाना चाहिये ? पाश्चात्य डाक्टरो की प्राय. सम्मति है और उनके अन्ध विश्वासी पाश्चात्य-शिक्षा-दीक्षित भारतीय भी यह कहा करते हैं कि कम से कम बत्तीस बार ग्रास को खूब चवाकर खाना चाहिये। परन्तु अन्धेरे में चादमारी करने वाले इन महाशयो से यदि पूछा जाए, कि यदि खीर मोहन भोग किंवा मक्खन खाना हो तो वह चबाने की तो वस्तु नही है, क्या उसे भी बत्तीस वार चवाना चाहिये ? या उसे वैरङ्ग कार्ड लिफाफे की भाति तत्काल लेटर बक्स में डाल लेना चाहिये ? अथवा और कुछ उछल कूद मचानी चाहिये ? इसलिये ३२ वार चबाने या खूब चबाने की वे लोग कोई ऐसी कसौटी नही बतला सकते जिससे कि 'खूब' का पता चल सके, या ३२ का समन्वय बैठ सके। आज मानवसमाज वेदोक्त प्राकृतिक नियमो से कितनी दूर चला गया है—यह बात हमारी नीचे लिखी पक्तियो से भली प्रकार समझ में आ सकेगी।

भगवान् ने मानवपिंड मे मूत्रेन्द्रिय और जिह्वा मे रसानुभूति की सर्वाधिक योग्यता स्थिर की है, इसीलिये लोग प्राय शिश्नोदर-परायण बने हुए है, परन्तु वस्तुत. भोजन और मैथुन के बाद जो ग्लानि अनुभव होती है—उसकी विद्यमानता मे (यदि उक्त दोनो

इन्द्रियो मे यह रसास्वादन की योग्यता न होती तो) कोई भी मनुष्य पुन भक्षण और मैथुन मे प्रवृत्त न होता और इस तरह ससार का प्रवाह ही परिसमाप्त हो जाता ! परन्तु भगवान् को ससार की सत्ता अभीष्ट है, इसलिए जिह्वालौल्य और शिश्नसुख स्पर्श के लालच से ही मनुष्य इस असुखोदर्क महगे सौदे को खरीदने मे पुन पुन प्रवृत्त होता है। यहा कामशास्त्र का प्रसङ्ग नही है, अत. शिश्नरस की शास्त्रीय विवेचना–यदि ग्रथ के कलेवर ने आज्ञा दी तो यथास्थान अन्यत्र की जाएगी। परन्तु भोजन प्रसङ्ग मे जिह्वा की इतिकर्तव्यता का विश्लेषण करना परमावश्यक है। पाठक यह न भूले होगे कि हम यहा इस प्रश्न का प्राकृतिक उत्तर देने चले हैं कि 'भोजन ग्रास कितनी बार चबा-चबाकर खाना चाहिए ?

सनातनधर्म का सीधा उत्तर है कि प्रत्येक भक्ष्य भोज्य लेह्य और चोष्य पदार्थ को तब तक कण्ठ के नीचे नहीं उतरने देने चाहिए, जब तक कि उसमे रस विद्यमान रहे। पाठक यह अटपटा उत्तर सुनकर चौंके नही, किन्तु जरा धैर्यपूर्वक पूरी बात सुनें। शास्त्र मे लिखा है कि—

जाठरो भगवान्नग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः ।
सौक्ष्म्याद्रसानादानो विवेक्तुं नैव शक्यते ।।

(बृहन्निघण्टुरत्नाकर ५)

अर्थात्—जाठराग्नि रूप भगवान् साक्षात् ईश्वर है जो खाए हुए अन्न को पकाता है। वह रस को ग्रहण करता हुआ भी सूक्ष्म होने के कारण नही दीख पडता।

हमने भोजन विज्ञान के 'शास्त्रीय स्वरूप' मे यह प्रकट किया है कि अन्न ब्रह्मा है, रस विष्णु है और भोक्ता महेश्वरदेव है,

इसका रहस्य यह है कि अन्न मे सृजन-शक्ति है, उसके रस में रक्षातत्व निहित है तथा उसके परिपाक मे मृत्युञ्जयत्व की विद्यमानता है। जो व्यक्ति शरीर का निर्माण, उसका सरक्षण और प्रतिगामी तत्त्वो का निराकरण चाहता है, उसे भोजन खाते समय तीन बातो का विशेष ध्यान रखना होगा। प्रथम बात—कण्ठ से नीचे मीठा खट्टा चरपरा सभी रस समान हैं, अत. प्रत्येक पदार्थ रस-रहित होकर ही पहुँचना चाहिए। क्योकि नाभि-मण्डल मे विराजमान श्रीब्रह्मा का यही भाग नियत है। यदि आमाशय मे रसो का साकीर्य होगा तो मेदा खराब हो जाएगा। मल दुर्गन्धी से युक्त हो जाएगा। अत ब्रह्मा का भाग ही ब्रह्मा को मिलना चाहिए, तभी रस-रक्त आदि का सृजन सुचारु रूप से हो सकेगा।

दूसरी बात -रस विष्णु है अर्थात् विष्णु का भाग है। विष्णु इधर अन्न मे—'रसो वै स' के अनुसार व्याप्त है, उधर जिह्वा मे रसना रूप से विराजमान हैं। जिह्वाग्रवर्ती रसना ही एक मात्र समस्त रसो का आस्वादन करने वाली है, अत. भोजन का रस भाग रसना को ही प्राप्त होना चाहिए। इसलिए जब तक मुख मे डाला पेडा मीठा मालूम पडे तब तक उसे मुख मे ही पपोलते रहना चाहिए। इसी प्रकार जब तक नमकीन पदार्थ सलोना मालूम पडे, तब तक उसे अन्दर न ढकेलना चाहिए। नए अभ्यासी को कुछ दिन तक ऐसा करने मे अड़चन अवश्य मालूम पड़ेगी, क्योकि सतत अभ्यास के कारण प्रत्येक पदार्थ जल्दी ही गले के नीचे बैठना चाहेगा, परन्तु इस कुप्रवृत्ति से 'शनैं शनैरुपरमेत्' के अनुसार युद्ध करके यावत् रसास्वादन ग्रास को मुख मे ही रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तो प्रथम दिन ही विधिवत् भोक्ता को अनुभव होने लगेगा कि थोड़ी ही

देर मे मुख मे पडे ग्रास का खट्टा-मीठा चरपरा स्वाद क्रमश विलीन हो रहा है और अन्त मे खीर मोहन भोग दहीबड़ा सभी वस्तु फीकी बन गई है। क्योकि हमारी जिह्वा से निकलने वाला एक स्वाभाविक जल ज्यो-ज्यो भोजन ग्रास मे मिलता जाएगा त्यो-त्यो भोजन का रस विलीन होने लगेगा। इस जिह्वा से निकले पानी को आजकल के वैज्ञानिक चूने का रस बतलाते है। जिह्वा निस्सृत उक्त जल के सम्पर्क से क्लिन्न, भोजन-ग्रास जहा आमाशय मे पहुँचकर शीघ्र जीर्ण हो जाने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, वहाँ रस-रक्त आदि का क्रमिक विकास भी सुगमता से हो जाता है। इसलिए विष्णु का सूक्ष्म भाग रस, रसना को ही मिलना चाहिए।

तीसरी बात—परिपाक की क्रिया की स्वाभाविकता के कारण जीवननाशक प्रतिगामी तत्त्वो का जो क्षय होगा, वह हमारे प्रत्यक्ष का विषय नही है। अत इसका यहा निरूपण करना अनावश्यक है। यदि पूर्वोक्त दोनो बातो पर पूरा ध्यान दिया गया तो भोक्ता साक्षात् 'मृत्युञ्जय' देव अपने आपही बन जायेगे। इसलिए भोजन कितना चबाकर खाना चाहिए, इसकी कसौटी भगवान् ने जिह्वा नियत की है। सो जो पदार्थ जब तक रसयुक्त रहे, तब तक उसे चबाना या पपोलना चाहिए, फिर यह चाहे कड़ी कचौडी हो और चाहे नर्म खीर हो। इस लिए शास्त्र का स्पष्ट आदेश है कि—

अन्नग्रासो रदैः पिष्टो लालाक्लिन्नोऽन्ननाडिकाम्।
श्वासरन्ध्रं नसोरन्ध्रं चातिक्रम्य मुखं विशेत्॥

(बृहन्निघण्टु रत्नाकर १०)

अर्थात्—अन्नग्रास दातो द्वारा भली प्रकार कुचला हुआ ही श्वास और नाक के छेद को छोडकर मुख छिद्र मे जाना चाहिए।

भोग लगाने से क्या लाभ?

पूछा जा सकता है कि और तो सब बातें ठीक हो सकती हैं, परन्तु भगवान् को भोग लगाने से क्या लाभ ?—यह समझ में नही आता !

भोग लगाने से जो आध्यात्मिक लाभ होते हैं, उनका कुछ संकेत 'उपासना विज्ञान' प्रघट्ट मे किया जाएगा, परन्तु मनोविज्ञान के अनुसार भोग लगाने से क्या लाभ होता है, यह यहां प्रकट करना अनावश्यक न होगा।

भोजन काण्ड का आधुनिक दृश्य

सभी सज्जनो ने यह अनुभव किया होगा, कि जब हम भोजन करने के लिए बैठते हैं, तो थाली परसते-ही-परसते ज्यो २ तत्तत् पदार्थों की अतीव रमणीय गन्ध चारो ओर फैलती है और उन पदार्थों के नेत्राभिराम स्वरूप को हम देखते हैं, तो मनीराम अन्दर ही अन्दर बल्लियो उछलने लगता है। मन मे एक उत्कण्ठा सी, त्वरा-सी, अभिरुचि सी तरङ्गित होने लगती है। यदि भोजन करने वाला ज्वरार्त नही है स्वस्थ है तो मन की यही उत्कण्ठा तत्काल जिह्वा पर आकर नृत्य करने लगती है। रह रह कर जीभ मे पानी भर आता है और ऐसी इच्छा होती है कि परसने वाले सज्जन कदाचित् सहस्रबाहु न सही, भगवती अन्नपूर्णा की भाति अष्टभुज या चतुर्भुज हो होते तो काली रोटी, धौली दाल और उस पर 'तस्मै भस्मै स्वाहा' सब काम एक बार हो निबट जाता। कदाचित् पक्ति भोजन हो तो दश बीस भोक्ताओ मे भोजनशाला के निकट सर्वप्रथम बैठे सज्जन के सामने स्वभावत प्रथम परसा जाएगा, फिर क्रमशः आगे-आगे

का नम्बर आएगा। बस ! अब सामने बिल्कुल सामने—जीभ से केवल डेढ फुट दूर रक्खे भोजन की घ्राणतर्पण गन्ध, उसका दर्शनीयतम रूप, भोक्ता को बेचैन करने लगता है। परसने वालों की तत्परतापूर्ण दौड-धूप मे भी दीर्घसूत्रता—सुस्ती का आभास होने लगता है। कभी-कभी तो मन-ही-मन ऐसे शिष्टाचार पर भी क्रोध आने लगता है, जो कि पूरी पंक्ति के पास भोजन न परसे जाने तक व्यर्थ ही सीने पर सांप लौटने के लिए बाध्य करता है।

जिनके सामने परसा जा चुका हो वे लोग अब टकटकी बाधे आतिथेय=यजमान=मेजबान के होठो की ओर उत्कण्ठित दृष्टि से ताकने लगते है, कि कब वह—'हा ! महाराज !' कह कर मोदको से मल्लयुद्ध करने की आज्ञा देते हैं। ऐसे समय मे यदि निरा निठल्ला मूसलचन्द, निमन्त्रित सज्जनो की तालिका निकालकर सम्भाल करने की भूल कर बैठे और चिल्ला उठे कि 'सुनो सुनो ! अभी पाधा जी तो आये ही नही।' बस फिर क्या था ? सभी भोक्ताओ की प्रवृद्ध आशाओ पर तत्काल तुषारपात हो जाता है। तब कोई भोक्ता यजमान को जली-कटी सुनाने लगते हैं तो कोई अभी तक न पहुँचने वाले श्रीमान् जी पर झीखते है। कभी-कभी तो ऐसे समय मे यह काण्ड इतना उग्ररूप धारण कर लेता है, कि या तो समुपस्थित भोक्ता इस असह्य वेदना के प्रतिकार लिये बगावत का झण्डा ऊचा करके यजमान के परमिट की प्रतीक्षा बिना किये स्वय ही—'**लड्डू चैव जलेबियां प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम्**'—करने पर उतारू हो जाते हैं और यजमान को अगत्या '**मौन स्वीकृतिलक्षणम्**' की शरण लेनी पडती है। या दुर्भाग्यवश कभी यजमान की उग्र मुख मुद्रा देखकर 'एज-ए-प्रोटैस्ट' वाक आउट करने की नौबत आ जाती है।

हां ! तो पाठक इस अन्तिम रग मे भंग काण्ड का ध्यान छोडकर परसी पत्तल के सुखद स्वप्न मे तल्लीन हो जाएँ। आतिथेय तार स्वर बोल उठा—श्रीमन्नारायण भगवान् की जय। भोक्ता तो पहिले से ही तैयार बैठे थे, जैसे कई बार दौड़ भाग के खेल मे व्यायाम शिक्षक के एक दो कहते ही "तीन की प्रतीक्षा किए विना, कई जल्दबाज विद्यार्थी 'तकार' उच्चारण से पूर्व ही दो डग भर चुका करते हैं, ठीक इसी प्रकार यहाँ भी यजमान द्वारा बडे अन्दाज के साथ 'उपदेशार्थे वृत्ति कुर्य्याद् विलम्बितम्' के अनुसार दूरस्थ भोक्ताओ के लिए प्लुत करके 'श्रीमन्नारायण को ३' बोला, कि 'जय' से पहिले ही पहिले यजमान के कान मे चपाचप की ध्वनि पहुँच चुकती है। इतनी देर से मु ह मे भरा पानी घूटकर बड़ी त्वरा के साथ आवश्यकता से अधिक बडे-बड़े ग्रास, विना ही पूरी तरह चबाए पत्तल से हाथ मे, हाथ से मु ह मे, और मु ह से पेट मे, दबादब समाने लगते हैं। इस समय जीभ को रसास्वादन की आज्ञा नही होती, उसका तो केवल इतना ही काम रहता है कि कुली की भांति जो बडल मुंह मे पड़े उसे तत्काल स्टोर मे ढकेल दे ! लगभग एक चौथाई पेट भरने तक यही क्रम चालू रहता है, यह सब काण्ड इतनी लाघवता से सम्पन्न होता है, कि तुलसीदास जी के शब्दो मे—'लेत उठावत खंचत गाढ़े—लखा न केहि सब देखत ठाढ़े'— के अनुसार केवल रिक्तप्रय पत्तल को देखकर ही समझ में आ सकता है, कि गाड़ी कितना मार्ग लाघ चुकी है।

सावधान !

सम्भव है पाठक हमारी इस द्रौपदी के चीर के समान

लम्बायमान भोजन भूमिका को पढकर यह अनुभव करने लगे कि आखिर हम भुक्त भोगियो के सामने इस सर्वविदित दैनन्दिनी घटना का औपन्यासिक भापा मे वर्णन करने का क्या तात्पर्य ? परन्तु हम सावधान कर देना चाहते है, कि मानव समाज को इस नित्य की भयकर भूल से किस प्रकार उत्तरोत्तर जगत् के स्वास्थ्य और आयु का स्तर गिरता जा रहा है—यह उपेक्षा का विषय नही है।

निःसन्देह उपर्युक्त रीति से खाए गए भोजन द्वारा जहाँ स्वास्थ्य का सत्यानाश होता है वहाँ अन्न का भी अपव्यय होता है। यह समस्या एक दृष्टात द्वारा जल्दी समझ मे आ सकती है। कल्पना करो किसी न्यायालय मे अनेक नौकर काम देते है। दो सेवक है, जो नित्य प्रात काल कमरे को झाडते बुहारते हैं। गर्मी मे छिडकाव करते है और सर्दी मे अगीठी दागते हैं। एक पखा कुली है, एक गुलदस्ते सजाने वाला माली है, एक आवाज लगाने वाला चपडासी है, एक लेखक है—ये सब लोग यथा-योग्य अपने कर्तव्य का पालन करते है। यहाँ एक विचारपति न्यायाध्यक्ष है जिसे अमुक घटना को सुनकर और समझकर अन्तिम निर्णय पर केवल हस्ताक्षर करने पडते है। न्यायालय का काम ठीक चल रहा है। अब कदाचित् सब नौकर हडताल पर हो, न्यायपति को ही झाड़ू बुहारी से लेकर हस्ताक्षर पर्यन्त सब काम अपने हाथ से करना पड़े तो वह कितने दिन कार्य कर सकता है। आखीर उसे भी त्यागपत्र देना ही होगा। इसी प्रकार हमारे भोजन कार्यालय मे भी अनेक सेवक है और उन सबके पृथक् २ कर्तव्य है, नेत्र भोजन का रूप देखते है—मक्खी बाल कोई हेय वस्तु नही है यह परीक्षण करते हैं। हाथ उष्णता की जाच करता है--कि भोजन कही अत्युष्ण तो नही है।

[चम्मच से खाने वाले कई आधुनिक बाबू शीघ्रतावश गरमा-गरम मोहनभोग मुंग मे डालने की भूल कर बैठते हैं, जब मुँह दग्ध होने लगता है, तो उसे लज्जा के मारे बाहिर तो उगलते नही झट अन्दर गुटक जाते हैं। जिससे गला मेदा सब भस्म होते चले जाते है।] दात उसको खूब कुचल-कुचलकर पिठ्ठी बना देते हैं। जिह्वा खूब रसास्वादन लेकर उसमे अधिकाधिक स्वनिसृत जल मिला देती है। इस इस प्रकार यदि सब सेवको द्वारा पूरी तरह अपना-अपना कर्तव्य पालन करने के बाद भोजन का ग्रास आमाशय मे पहुँचता है, तो जाठराग्नि रूप न्यायाधीश को केवल हस्ताक्षर रूप पाचन मात्र करना पड़ता है, परन्तु यदि इसके विपरीत दातो से उनका काम न लेकर और जीभ से उसका काम न लेकर ग्रास को शीघ्रता से आमाशय मे ठूस दिया जाता है, तो बिना चबाए मोटे-मोटे अन्नाश के नानाविध रसो से भरपूर होने के कारण जाठराग्नि को ही सब कृत्य करने के लिए विवश होना पड़ता है। जैसे जज कुली का काम नही कर सकता, इसी प्रकार जाठराग्नि दातों का काम नही कर सकती।

रस और अन्न का विश्लेषण करना जीभ का काम है, जैसे कागजो को छांटकर फायल करना रीडर का काम होता है। यदि यह भी न्यायाधीश को ही करना पडे तो परिणाम यह होता है कि इधर यथावत् काम न लेने से जहाँ दाँत समय से पूर्व अस्तीफा दे देते हैं, वहाँ कुछ दिन के बाद जाठराग्नि भी त्यागपत्र दे बैठती है। इस तरह सभी स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। यह प्रत्यक्ष है, कि हम अपने जिस अग से उसका काम न लेगे वह शिथिल पड़ जाएगा। उस अग का रक्त प्रवाह बन्द हो जायगा और जिस अग से आवश्यकता से अधिक काम लेगे वह

भी जवाब दे जाएगा। तपश्चर्या के नाम पर हाथ न हिलाने वाले कई हठी भिखमगो का जडप्राय सूखा हुआ हाथ हमने आखो देखा है, और स्टुडियो की चकाचौंध के आधिक्य से समय से पूर्व अन्धे हुए सिनेमा के नट और नटिये सचमुच रात मे टिमटिमाने वाले स्टार=तारे ही बने सर्वत्र देखे जा सकते हैं। इसलिए इस प्रकार की स्वाभाविक भूल से बचने का एक मात्र उपाय ठाकुर जी को भोग लगाना है।

भोजन सामने आते ही ज्योही मनमे उत्कण्ठा का भयकर तूफान उत्पन्न होने लगा, कि भोक्ता उसके पनपने से पूर्व ही दोनो आखे बन्द करके यथोचित मन्त्र श्लोक पढते हुए भगवद् ध्यान मे तल्लीन हो गया। मनकी वृत्ति भोजन की जिघृक्षा के तुच्छ लाभ में न रह कर भगवान् के लोकोत्तर प्रेमरस मे डुबकिये लेने लगी। त्वरा और जल्दबाजी को निष्ठा का डण्डा दिखाकर रफूचक्कर कर दिया। यदि पक्ति भोजन हुआ तो 'सहस्रशीर्षा' के लम्बेपाठ द्वारा जहाँ तत्रस्थ वातावरण को सत्वगुणमय बनाने का पुनीत कृत्य सम्पन्न हुआ, वहाँ समस्त पक्ति के सामने सम्यक् सब पदार्थ पहुँचने का भो अपेक्षित समय मिल गया। इसी बीच यदि देर से आने वाले सज्जन भी आ पहुँचे, तो सब काम ठीक ठाक हो गया, कोई अवाछित काण्ड होने की सम्भावना नही रही। अब जब कि दूध के उफान सरीखा मन का वह उमडता हुआ तूफान शान्त हो गया, तो अब बडे २ ग्रास बिना चबाए, बिना रसास्वादन लिए अन्दर ठूसने की प्रवृत्ति अपने आप बन्द हो गई। जब यथावत् पूर्वोक्त रीति से अन्न का सूक्ष्माश रस रसना को प्राप्त हुआ और स्थूलाश आमाशय मे पहुँचा, तो इस रस विश्लेषणात्मक कृत्य के कारण जीभ थोडे ही भोजन मे परितृप्त हो गई अन्न थोडा खाया गया परन्तु तृप्ति खूब हुई।

उक्त विधि से भोजन करने के लाभ ।

हमने जो शास्त्रानुमोदित भोजनविधि लिखी है तदनुसार भोजन करने से भोक्ता को निम्नलिखित मुख्य लाभ होगे —

(१) भोजन को अन्न रूपी ब्रह्म की उपासना समझने से यह भी एक धार्मिक अनुष्ठान बन जाएगा, जिससे मनुष्य की धार्मिक निष्ठा को प्रोत्साहन मिलेगा ।

(२) भोग लगाकर भगवन् प्रसाद समझकर खाने से किसी भी अभक्ष्य अपेय वस्तु का स्वभावत सम्पर्क न हो सकेगा और अन्न मे अपना ममत्व भी न रहगा ।

(३) सबको देकर खाने की क्रियात्मक भावना से जमीदार और किसान, मिल मालिक और मजदूर, पूजीपति और शोषित—इत्यादि जितनी भी आज की समस्याएँ हैं, वे समाहित हो जाएँगी ।

(४) आज को प्रचलित भोजन व्यवस्था के अनुसार बहुत अन्न पेट मे चले जाने पर भी रसास्वादन के लिये तबियत मचलती रह जाती है। जब पेट हो अँट जाता है उस विवशता का नाम—'धाप गया' 'रज गया' 'तृप्त हो गया' रक्खा गया है, परन्तु जीभ का भाग जीभ को देने की दशा मे पेट कम अटेगा और तृप्ति अधिक मिलेगी। अर्थात् थोडे भोजन मे ही तबियत भर जाएगी। इससे कम खर्च और अधिक लाभ होगा।

(५) यदि ससार की सरकारे उक्त एक ही नियम के पालन के लिये अपने-अपने देश के लोगो को प्रोत्साहित करे तो आज की खाद्य समस्या, राशन समस्या और कन्ट्रोल समस्याएँ हल हो जायेगी ।

(६) विधिवत् भोजन करने का यह परिणाम होगा, कि बैल भैस बकरी आदि जीवो की भाति मनुष्य के मल मे दुर्गन्ध न

होगी क्योकि दुर्गन्ध का कारण यही है, कि हम आवश्यकता से अधिक खा जाते है और उसमे विभिन्न रसो का अपच अश अवशिष्ट रहता है। गाय आदि जीव रोमन्थ=जुगाली करके अपने भक्ष्य को जिह्वा के पानी से परिप्लुत कर लेते है, परन्तु मनुष्य को यह कार्य खाने के समय ही कर लेना चाहिए। इससे **'गन्धासवो मूत्रपुरीषमल्पम्'** के अनुसार योगियो की भाँति भोक्ता का पसीना और मल तक दुर्गन्धित नही रहता।

यदि उपर्युक्त रीति से भोजन किया जाएगा तो समस्त इन्द्रिये अन्त तक सुरक्षित रहेगी और स्वस्थतापूर्वक पूर्णायु की प्राप्त होगी।

पेट पर हाथ फेरना क्यों ?

भोजनानन्तर बाया हाथ पेट के ऊपर दक्षिणावर्त फेरते हुये नीचे लिखा श्लोक बोलना चाहिये —

अगस्त्यं कुम्भकर्णञ्च, शनिं च बडवानलम् ।
आहारपरिपाकार्थं, स्मरेद् भीमं च पञ्चमम् ॥

अर्थात्—अढ ई चुल्लू मे समुद्रपान कर जाने वाले महर्षि अगस्त्य, बहुभोजी महाकाय कुम्भकरण, जिसको एक नजर पडने से ही अकाल पड जाता है ऐसे शनिदेव, सब कुछ भस्मसात् कर देने वाली वाडवाग्नि, और अतोव तीव्र जाठराग्नि वाले भीमसेन इन पाँच व्यक्तियो का भोजन के सम्यक् परिपाक के लिये स्मरण करना चाहिये।

कहना न होगा कि 'भावनावाद' के अनुसार प्रबल जाठ-राग्नि सम्पन्न, व्यक्तियो का स्मरण मनुष्य के मन मे भोजनो-परान्त होने वालो स्वाभाविक ग्लानि को दूर करने मे सहायक

होगा। साथ ही पेट पर दक्षिणावर्त रीति से फेरा हुआ बाया हाथ—दाई कोखवर्ती आमाशय मे पहुँचे हुये सद्य भुक्त भोजन को वामकुक्षीवर्ती मलाशय की ओर गतिशील बनाने मे सहायक होगा।

जलार्द्र अंगुली आंखों पर क्यों लगायें ?

प्रक्षालित गीली करागुलियो द्वारा नेत्रो को छूने का प्रत्यक्ष लाभ तो तत्काल ही अनुभव होने लगता है। भोजन के समय मुख यन्त्र के व्यापार सलग्न रहने के कारण स्वभावत. समस्त शरीर मे और खासकर नेत्रो मे जो ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है, वह जल की क्लिन्नता से दूर हो जाती है। इसीलिये भोजन के आरम्भ मे और अन्त मे हाथ, पाँव, मुख आदि अङ्गो को धोकर 'पञ्चार्द्रो भक्षयेन्नित्यम्' इस शास्त्रविधि का पालन किया जाता है।

चंक्रमण (चहल कद्मी) क्यों ?

भोजनोपरान्त थोडी देर शनै-शनै घूमना चाहिये, शास्त्र में लिखा है कि—'भुक्त्वा शतपदं गच्छेत्' अर्थात्—भोजन खाकर कम से कम सौ कदम चलना चाहिये ऐसा क्यो करना चाहिये ?—इसका सहेतुक विवेचन भी सुस्पष्ट लिखा है। यथा

भुक्त्वोपविशतः स्थौल्यं शयानस्य रुजस्तथा।
आयुश्चंक्रममाणस्य, मृत्युर्धावति धावतः॥

अर्थात्—भोजन करते ही बैठ जाने मे शरीर स्थूल हो जाता हैं, तत्काल सो जाने से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। चहल कद्मी करने से आयु बढती है और भागने से मौत का खतरा बढ़ता है।

गद्दे तकियो पर बैठने वाले अनेक मारवाड़ी सेठ कार्याधिक्य

वशात् भोजनोपरान्त तत्काल पुन' बैठ जाने के कारण प्रथम नियम का उल्लघन करके भीमकाय तुदिल प्रत्यक्ष देखे जा सकते है। तत्काल सो जाने पर अजीर्ण रोग हो जाता है—यह बात कोई भी शङ्काशील महाशय स्वय किसी दिन अनुभव करके देख सकता है।

कहना न होगा कि—'**सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मला**' के अनुसार समस्त रोगो का मूल, एक मात्र मलो का प्रकोप है जो अजीर्ण से ही उत्पन्न होता है। भोजन खाकर भागने से तत्काल दर्द होने लगता है, क्योकि सद्यो-भुक्त भोजन जब तक आमाशय मे ठीक-ठीक सुव्यवस्थित न हो जाए तब तक भाग दौड करना खतरे से खाली नही। इसलिये उक्त तीनो चेष्टाये न करके शनै' शनै' चंक्रमण करना ही आयुवर्द्धक है यह कोई भी समझदार प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

बांई करवट से लेटना क्यों ?

चंक्रमण के बाद भोक्ता को बांई करवट से लेटना चाहिये—ऐसी शास्त्र की आज्ञा है यथा—

वामपार्श्वेण संविशेत्।

अर्थात्—भोजनानन्तर बाई करवट से विश्राम करना चाहिये।

हम प्राणायाम प्रकरण मे यह प्रकट कर आये हैं, कि मनुष्य के शरीर मे नासिका के जो दो छेद हैं, उनमे क्रमश बाया चाद है और दाया सूर्य है। अपने-अपने नामानुसार यह दोनो शरीर मे ठण्डक और गर्मी का तारतम्य ठीक रखते है। यह बात प्रत्यक्ष देखी जा सकती है, कि बाई करवट से लेटने पर दाया= सूर्य स्वर चलने लगता है और इसी प्रकार दाई करवट से लेटने पर स्वभावत बाये=चन्द्र स्वर से श्वास आने लगता है। सो

भोजन के परिपाक के लिये जाठराग्नि का उद्दीप्त होना अभिप्रेत है। इसलिये बाई करवट लेटने से ही लाभ हो सकता है।

दो काम करने और दो नहीं करने

शास्त्र मे मल मूत्र त्याग और स्नान भोजन के सम्बन्ध मे कुछ ज्ञातव्य विशेष नियम लिखे हैं यथा—

सन्देहेऽपि द्वयं कुर्य्यात्सन्देहेऽपि द्वयं नहि।
कुर्य्यान्मूत्रपुरीषे द्वे, न कुर्य्यात्स्नान-भोजने ॥

(शिष्टस्मृति)

अर्थात्—स्वास्थ्य मे गडबडी होने के समय 'करूँ या न करूँ'—ऐसा सन्देह हो जाने पर दो काम करने चाहिये और दो काम न करने चाहिये, यदि मल मूत्र के त्याग की शङ्का हो तो वे दोनो त्याग ही देने चाहियें। परन्तु यदि स्नान और भोजन मे विचिकित्सा हो तो ये दोनो काम नही करने चाहिये।

कारण सुस्पष्ट है, कि आलस्यवश मल मूत्र के निरोध मे तो रोग उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है, परन्तु त्यागने की दशा मे शौच की शङ्का न होने की अवस्था मे भी किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नही। ठीक इसी प्रकार अजीर्ण खट्टी डकार और अरुचि होने पर भी जिह्वालौल्यवश पुनरपि भोजन ठूम लेने की दशा मे तथा सर्दी जुकाम ज्वराश होने पर भी स्नान करने की अवस्था मे तो रोग बढने की सम्भावना है, न करने पर कोई खतरा नही।

दिन में क्यों न सोएं ?

ग्रीष्म ऋतु के अपवाद को छोडकर अन्य किसी भी ऋतु मे

बाल वृद्ध रुग्ण और रात भर जगे पुरुष के अतिरिक्त सर्व साधारण को दिन मे नही सोना चाहिए–यह शास्त्राज्ञा है यथा–

दिवास्वापं च वर्जयेत्

अर्थात्—दिन मे नही सोना चाहिए।

यह क्यो ? इसकी हेतु परम्परा बतलाते हुए आयुर्वेद मे लिखा है. कि दिन मे सोने से 'प्रतिश्याय' जुकाम हो जाता है, वह चिरस्थायी होकर 'कास' रोग को उत्पन्न करता है, कास हीं आगे चलकर 'श्वास' रूप मे परिणत हो जाता है। श्वास के प्राबल्य से फुप्फुस=फेफडे खराब हो जाने पर 'क्षय' तपेदिक (T B) जैसा असाध्य रोग बन जाता है। कहना न होगा, कि इस हेतु परम्परा का सभी भुक्तभोगी व्यक्ति समर्थन कर सकते हैं। जीवन मे अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं जब कि दिन मे–आलस्यवशात् सो जाने पर प्रतिश्याय का आक्रमण हो जाता है। शास्त्र मर्य्यादा का उल्लघन करने वाले व्यक्ति को प्रकृति कभी क्षमा नही कर सकती। कारणान्तर से, दण्ड मिलने मे देर हो सकती है, परन्तु न मिले ऐसा अन्धेर नही।

अन्यान्य उपयोगी नियम

प्रतिदिन पालन करने योग्य कुछ आवश्यक नियमो का भी हम यहाँ दिग्दर्शन कराते है, जिससे सर्व साधारण को लाभ हो।

लांग खोलकर मूत्र त्याग करे

अमुक्त्वा पश्चिमां कक्षां मूत्रयेद्योद्विजाधमः।
रेतोधाः पितरस्तस्य, तन्मूत्रक्लेशपूरिताः॥

(शिष्टस्मृति)

अर्थात्—धोती की पीठ वाली कक्षा=लाग को विना खोले जो पतित द्विज मूत्र त्याग करता है, उसके रेतोधा=पितृ पितामहादि—पितर उस मूत्र के क्लेश से पीडित होते है।

कहना न होगा, कि लाग वन्धे शका करते हुए कई बार हाथ से संभाली हुई धोती छूटकर मूत्र मे सन जाती है, फिर लघुशंकानन्तर जल से लिंग धोते हुए तो दोनो ही हाथ स्वतन्त्र रहने की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, ऐसी दशा मे यदि लाग खोलकर पहिले से ही कटि प्रदेश मे मुडी हुई न होगी तो हाथ से जल लेते समय अवश्य ही छोड़नी पड़ेगी। इसलिये पतलून पैजामा-धारी बाबुओ की भाति सदैव मूत्र मे भीगा सड़ियल वस्त्र पहिनना भारतीय संस्कृति में ग्राह्य नहीं। वैदिकमतानुयायी लोग तो 'कटिनिर्मुक्त कार्पास' वस्त्र को विना धोये पुन कभी नही पहिनते, इसीलिये हमारे यहाँ अधोवस्त्र का नाम ही 'धौत' =धोती रक्खा गया है जिसका अक्षरार्थ ही 'निरन्तर धुला धुलाया पहिनने योग्य वस्त्र' है।

लांग बांधना

दुर्भाग्यवश यवनो के ससर्ग से पवित्र भारत मे भी मार्गभ्रष्ट कुछ हिन्दू युवक विना लाग की धोती बांधना, जिसे म्लेच्छ भाषा मे 'तहमद' या तम्वा भी कहते हैं—फैशन समझने लगे हैं। खासकर जब से पश्चिमी पजाब से उपद्रुत हिन्दू लाखो की सख्या मे यत्र तत्र सर्वत्र भारत के नगर ग्रामो में पहुँचे है, तो वे भावो मे कट्टर हिन्दू होते हुए भी वेश भूषा मे तम्वा बाधे खरे खासे शेख का स्वांग बनाए फिरते हैं, जिसका दुष्प्रभाव इधर के लोगो पर भी पडे विना नही रहा। इसलिये कुछ दिन से

मुक्त कक्ष हिन्दुओ की बाढ़ सी आ गई है। परन्तु शास्त्र मे आर्य पुरुष के लिए 'मुक्त कक्ष' रहना महा पाप बतलाया है हैं यथा—

मुक्तकक्षस्तु यो विप्रो भूमौ चलति पादतः ।
पदे पदे सुरापान-फलं भवति निश्चितम् ॥

(शिष्टस्मृति)

अर्थात्—जो विप्र='हिन्दूमात्र का उपलक्षरण' मुक्तकक्ष= धोती की लाग लगाये बिना पैदल घूमता है, उसे कदम २ पर मद्य पान का पाप लगता है।

उपर्युक्त आदेश मे 'भयानक' वचन द्वारा इस अनार्य-सस्कृति सूचक पाप से बचने की आज्ञा दी गई है। कहना न होगा कि प्राय मद्यपान करने वाले लोग ही उन्मत्त होकर इस प्रकार कपडे सभालने की सुध बुध भुलाकर घूमा करते है। इसलिए प्रत्येक आस्तिक हिन्दू को इस अहिन्दू वेश से बचे रहना चाहिए। इस आदर्श के पालन मे दक्षिरण भारत और खासकर बगाल के सज्जनो का आचरण अनुकरणीय है—जो पचकक्षा धोती बाधकर हिन्दू सस्कृति की परम्परागत पुरातन मर्यादा का अभी तक अक्षुण्ण पालते करते आ रहे हैं।

रात्रि-चर्या

प्रातःकाल को भाति सायकाल भी सन्ध्या वन्दन भगवदाराधन आदि कृत्य विधिवत् करने चाहियें। एक ही प्रहर के अन्दर दो बार भोजन नही करना चाहिए, ऐसी शास्त्राज्ञा है यथा—

ग्राममध्ये न भोक्तव्यम् ।

आयुर्वेद शास्त्र मे एक वार खाकर उसके जीर्ण होने से पूर्व पुन. पुन खाने से 'अध्यशन' रोग की उत्पत्ति वतलाई है ।

सायंकाल चार काम न करे:—

चत्वारि खलु कार्य्याणि सन्ध्याकाले विवर्जयेत् ।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायञ्च चतुर्थकम् ॥

(मनुसंहिता)

अर्थात्—सन्ध्याकाल मे भोजन, स्त्रीसग, नीद और वेद पाठ ये चार काम नही करने चाहिए ।

सोते समय दक्षिण दिशा को पांव क्यों नहीं?

'दक्षिण दिशा की ओर पांव करके नहीं सोना चाहिए ।'— शास्त्र की इस विज्ञानपूर्ण आज्ञा को हिन्दू घरो की ठेठ देहातो मे रहने वाली अपठित देविया भी खूव जानती हैं और वे चाहे इसका कुछ हेतु न जानती हो तव भी धर्म के नाम पर तत्परता-पूर्वक उसका पालन करती हैं । परन्तु इसका हेतु क्या है यहा उसी का सक्षेप मे दिग्दर्शन कराते है ।

कुछ समय पूर्व आधुनिक वैज्ञानिक सूर्य को स्थिर और पृथ्वी को उसके चारो ओर घूमने वाला पिण्ड मानते थे, परन्तु नई खोज करने पर विदित हुआ कि सूर्य भी अपनी ही केन्द्र कील पर घूमता है—अत मध्ययुग मे यही माना जाता रहा—परन्तु अव साम्प्रतिक अभिनव खोज मे यह सिद्ध हो गया कि सूर्य न केवल अपनी केन्द्र कील पर ही घूम रहा है, किन्तु वह समस्त सौर जगत् को अपने साथ लिए किसी अनिश्चित दिशा की ओर

भी प्रगतिशील है। इसलिए हमारा यह ब्रह्माण्ड प्रतिक्षण नये से नये आकाश मे पहुँचता रहता है। कहना न होगा कि साध्य-कोटि के ये सब अनुभव अधूरे है। अभी वास्तविक सिद्धान्त तक पहुँचने मे उन्हे कुछ काल और लगेगा परन्तु क्रान्तदर्शी ऋषियो ने वेद की दूरबीन से उक्त सब विषयो को 'इदमित्थ' देखकर बतलाया है, कि जैसे समस्त सौर जगत् सूर्य के आकर्षण पर सुस्थिर है, ठीक इसी प्रकार सूर्य भी 'ध्रुव' नामक महापिण्ड के आकर्षण पर आधारित है।

वर्तमान वैज्ञानिक आज सूर्य की जिस कक्षा को 'अनिश्चित दिशा' मान रहे है हमारे यहाँ वह अनन्त सहस्राब्दियो पूर्व सुनिश्चित हो चुकी है—ऐसी स्थिति मे सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, कि सौर जगत् ध्रुव के आकर्षण पर अवलम्बित है, सो वह 'ध्रुव' उत्तर दिशा मे स्थित है। यदि कोई व्यक्ति दक्षिण दिशा को पाव और ध्रुव की ओर मस्तक करके सोएगा तो ध्रुवाकर्षण के तारतम्य से पेट मे पडा भोजन,—पचने पर जिसका अनुपयोगी अश मल के रूप मे नीचे की ओर जाना आवश्यक है—वह ऊपर की ओर गतिशील हो जायगा। इससे हृदय, फुप्फुस और मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पडेगा। जिस मस्तिष्क को निर्मल और स्वस्थ बनाने के लिये शयन किया जा रहा है उस पर उल्टा प्रभाव पड़ेगा। इसलिए दक्षिण दिशा की ओर पाव करके नही सोना चाहिए। इसके विपरीत यदि हम उत्तर दिशा की ओर पाव करके सोयेंगे तो जहा भोजन परिपाक ठीक होगा, वहाँ ध्रुव के आकर्षण से दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर प्रगतिशील विद्युत् प्रवाह हमारे मस्तक से प्रविष्ट होकर पावो के रास्ते से निकलेगा। इस तरह प्रात. जगने पर

मस्तिष्क विशुद्ध वैद्युत् परणुमाओ से परिपूर्ण एवं सर्वथा स्वस्थ हो जाएगा।

ध्रुव के आकर्षण को प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए किसी भी जलपोत=स्टीमर मे लगी कम्पास की चुम्बक की सुई को देखा जा सकता है—जो सदैव ध्रुव की ओर ही रहती है और अनन्त जल राशि मे चलते हुए जहाजो को ठीक २ दिशा बतलाती है। कुछ घड़ियों की चैन मे भी छोटा सा ध्रुव दर्शक यत्र रहता है, उसे वाए दाए यथेच्छ घुमाने पर भी सुई की नोक सदैव ध्रुव की ओर ही रहती है। इसलिए दक्षिण की ओर पांव करके नही सोना चाहिए।

शयनकाल से सम्वन्धित 'गर्भाधान' आदि कृत्यों को सस्कार प्रकरण मे निरूपण किया जाएगा इस प्रकार प्रात- जागरण से लेकर शयन पर्यन्त—समस्त अहोरात्रचर्या का सांगोपाग वर्णन करते हुए, हम इस अध्याय को यही समाप्त करते हैं।

मानव-दानव-तिर्यञ्चो मे, सम है भूख नींद भय काम।
विधि विधान के वल से विष भी, वन जाता है जीवनधाम॥
अहोरात्र मे किस विधि से ? क्यो करे ? शास्त्र सम्मत सत्कर्म।
हेतु-वाद से सिद्ध किया, अध्याय दूसरे मे यह मर्म॥

द्वितीय अध्याय समाप्त

जीवनचर्याध्याय:

(तीसरा अध्याय)

> गर्भाधा न्यास-पर्य्यन्ताः संस्काराः सौर्ध्वदैहिकाः ।
> ते सर्वेऽत्र निरूप्यन्ते हेतुवादपरिष्कृताः ।।

दिनचर्या की भाति हमारी जीवनचर्या भी नियमित है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के मानव जीवन का गम्भीर अध्ययन करके महर्षियो ने उसके पूर्ण विकास—ऐसा विकास जिसमे शरीर मन आत्मा तीनो की सर्वाङ्गीण उन्नति हो-के लिए जिन सुनहले नियमो को रचना की है, उन्हे हम जीवनचर्या के नियम कहते हैं। सस्कार इसी जीवनचर्या के प्रमुख अग है। प्रस्तुत अध्याय मे हम इन्ही सस्कारो पर विचार करेगे और दिखलायेगे, कि दैनिकचर्या की भाति हमारी जीवनचर्या की शास्त्र निर्दिष्ट यह सभी क्रियाएँ कितनी वैज्ञानिक तथा अर्थपूर्ण हैं।

संस्कार

ससार मे दो प्रकार की वस्तुएँ है एक प्राकृत, दूसरी सस्कृत। प्रकृति—आदि पुरुष की कार्यरूपाशक्ति—ही अखिल विश्व का

मूल है। सम्पूर्ण दृश्यादृश्य पदार्थ मानो इसी अवोध वालिका के स्वरचित खिलौने हैं, जिनसे वह प्रतिक्षण खेलती रहती है। मानव भी इसी का वनाया हुआ खिलौना है, परन्तु है यह कुछ विलक्षण प्रकार का खिलौना ! यह विलक्षणता और कुछ नही, केवल मनुष्य की वह ज्ञानशक्ति है जिसके वल पर वह नितान्त परवश खिलौना मात्र होते हुए भी प्रकृति राज्य के प्रति विद्रोह करता है। प्रकृति की निर्माण की हुई वस्तुओ को उसी रूप मे देखकर उसे प्रसन्नता नही होती किन्तु प्रत्येक वस्तु को काट छांटकर=संस्कृत—करके उसे वह अपने लिए उपयोगी वनाकर प्रसन्नता अनुभव करता है। संस्कार की यह प्रवल भावना उसकी दूसरी विलक्षणता है।

हाँ, तो प्रकृति ने जिनको जिस रूप मे उत्पन्न किया है उसी रूप मे वे वस्तुएं प्राकृत कहलाती हैं और मनुष्य द्वारा काट छाट होकर परिष्कृत तथा सशोधित रूप मे आ जाने पर उन्हे ही सस्कृत कहा जाता है। पर्वत उपत्यकाओ मे कल कल करके स्वच्छन्द गति से प्रवाहित होने वाले झरने तथा सरिताएँ प्राकृत हैं और सिचाई के लिए वनाई गई नहरे सस्कृत। प्रकृति ने अनेक प्रकारके अन्न, धान्य, फल मूलादि उत्पन्न किये हैं, मनुष्य उनको सस्कृत करके (कूट पीसकर, घृतादि मे तलकर या अन्य विधि से) सुन्दर सुस्वादु मिष्टान्न का रूप दे देता है। प्रकृति ने कपास ऊन आदि की रचना को, किन्तु मनुष्य ने उसके विविध सस्कार करके जो दिव्य परिधान तैयार किये हैं, वे मनुष्य की सस्कारमयी भावना के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

आज का वैभवपूर्ण हरा भरा संसार, मनुष्य मे विद्यमान इसी भावना का सुन्दर फल है। तात्पर्य यह कि—आज मानव, सभ्यताके जिस उच्च शिखर पर पहुचा है उसका प्रमुख कारण यह सस्कार-

मयी भावना ही है। यह भावना प्राकृत तथा ईश्वर प्रदत्त है। वैदिक षोडश सस्कार इसी भावना के विशुद्ध तथा परिमार्जित रूप हैं।

संस्कार कब से ?

सस्कारो का प्रारम्भ कब से हुआ ? इस विषय मे कहा जा सकता है, कि मानव जाति के प्रारम्भ काल मे ही मनुष्य की यह सस्कारमयी भावना व्यक्त रूप धारण कर चुकी होगी। ऐतिहासिको का कथन है कि 'एक समय ऐसा अवश्य रहा होगा जब यूरोप एशिया अमेरिका आदि सम्पूर्ण देशो मे फैले हुये मनुष्यो के पूर्वज एक ही स्थान मे रहते थे, उनका आपस मे बडा प्रेम तथा भाई चारा था, वही से उन्होने सभ्यता तथा सस्कृति का विकास प्रारम्भ किया और विभिन्न स्थानो की ओर फैलते गये'। यह विचार अधिकाश मे सत्य प्रतीत होता है। और तब हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं, कि उस सभ्यता-सस्कृति-शिक्षा-शून्य, क्रूर एव हिंसक मानव-पशु को,—सभ्य, सुशिक्षित, तथा शान्ति-प्रिय मनुष्य बनाने मे इन वैदिक सस्कारो का महत्त्व-पूर्ण भाग रहा है, क्योकि यह निश्चय है, कि एकत्र निवास करने वाली मानव जाति के मेधावी पूर्वपुरुषो=ऋषियो—ने ईश्वरीय ज्ञान स्वरूप वेदत्रयी के साक्षात्कार के साथ ही सस्कार प्रणाली का न केवल ज्ञान प्राप्त किया किन्तु उसे अपनाया भी। यह आदि मानव जाति, ब्रह्मा की सृष्टि वेदी * धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र से ज्यो ज्यो इधर उधर फैली वह अपने साथ इन सस्कारो को—

टिप्पणी.—'आदि सृष्टि कहा हुई ?' यह विवेचन हमारे 'पुराण-दिग्दर्शन' ग्रन्थ मे द्रष्टव्य है।

जो कि उस समय तक धार्मिक कृत्यो का अङ्ग बन चुके थे—भी अपने साथ लेती गई और आज हम देखते हैं, कि यद्यपि विशुद्ध रूप मे नही किन्तु विकृत रूप मे ही सही सस्कारो की यह परम्परा सर्वत्र मिलती है। हिन्दु, मुसलमान, सिक्ख, पारसी, यहूदी, ईसाई आदि सभी जातियो मे और भारत चीन जापान अरब मिश्र यूरोप आदि सभी देशो मे जातकर्म नाम-करण, विवाह,अन्त्येष्टि आदि मुख्य मुख्य सस्कार किसी न किसी रूप मे अवश्य पाये जाते हैं। यद्यपि इनका विशुद्ध रूप तो वैदिक ज्ञान की उत्तराधिकारिणी आर्य जाति मे ही देखने को मिलता है।

संस्कार की आवश्यकता

सस्कारो की सबसे अधिक आवश्यकता आज है। आज जब हम एक विश्वसघ की कल्पना कर रहे है—एक ऐसे सघ की जिसकी छाया मे रहने वाले सब नागरिक समान होगे कोई ऊँचा नीचा न होगा; तो ऐसे अवसर पर हमे उन सस्कारो को पुनर्जीवित करना होगा, जिनमे इस प्रकार की उदात्त तथा प्राञ्जल भावनाओ का विशेष स्थान है।

इस समय सर्वत्र मानवता की पुकार है। जाति, वर्ण, धर्म, परम्परा और सस्कृति आदि के पुरातन महत्त्व का स्थान मानवता ग्रहण कर रही है। वर्ग भेद की तथाकथित अशान्ति से उत्पीडित मनुष्य, आज केवल 'मानव' बनकर विश्व के सम्पूर्ण मनुष्यो से भाई चारा तथा एकता स्थापन करना चाहता है। यह शुभ लक्षण हैं। यदि हम सच्चे अर्थो में मनुष्य बन जाते हैं, तो आये दिन धर्म जाति और राष्ट्र की सकुचित परिधि के नाम पर होने वाली अमानवीय घटनाये समाप्त हो जायें। किन्तु इसके लिये एक बार फिर सनातन धर्म की शरण मे आना होगा।

शारीरिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से परिपूर्ण उस सार्वभौम मानव की सृष्टि इन सस्कारो द्वारा ही होगी अन्यथा नही ।

हमने पीछे कहा है, कि सस्कार सभी देशो और सभी जातियो मे किसी न किसी रूप मे सम्पन्न होते है, किन्तु एकता प्रेम तथा विश्व भ्रातृत्व का जो उच्च आदर्श हमे सस्कार पठित वैदिक मन्त्रो मे देखने को मिलता है वह अन्यत्र नही ।

वेदादि शास्त्रो मे सस्कारो का बडा माहात्म्य प्रदर्शित किया है यहा तक, कि प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक अधिकार प्राप्त करने के लिये सस्कृत होना आवश्यक समझा गया है, द्विज माता पिता के शरीर से जन्म लेने के उपरान्त भी यदि बालक असस्कृत हो तो वह द्विज नही कहला सकता । श्रुति ने सस्कार को जन्म के ही समान महत्त्व दिया है । 'द्विज' शब्द का अर्थ है जिसका दो बार जन्म हो । पहला मातृ-गर्भ से दूसरा सस्कार द्वारा । मानवजीवन का चरम लक्ष्य है—ब्रह्मत्व लाभ करना । इस लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले परमार्थ पथिक के लिये यह सस्कार एक स्फूर्तिप्रद पाथेय हैं—जिनके सम्बल से वह बिना भटके अपने मार्ग पर चला जाता है । मानव शरीर मानो एक चित्र है—जिसे कुशल कलाकार की तूलिका सस्कार रूपी अनेक रगो से भरकर पूर्ण करती है । यदि वे न हो तो 'मानव' अधूरा है—केवल श्वासयुक्त एक पिण्ड मात्र ! इसी लिये भगवान् अगिरा ने कहा है--

चित्रं क्रमाद्यथानेकैरंगैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

अर्थात्—जैसे अनेक प्रकार के रगो को तूलिका द्वारा सयुक्त करके चित्र बन जाता है, इसी प्रकार विधिपूर्वक किए गए गर्भा-

धानादि सस्कारो से यह शरीर भी ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है।

संस्कार क्यों ?

पीछे वतलाया गया है, कि 'सस्कार' मानव प्रकृति का स्वाभाविक अग है। किन्तु कैसे वह मानव प्रकृति का अंग वना इसके तोन कारण हैं। प्रकृति से प्राप्त होने वाली प्रत्येक वस्तु हमारे लिये उसी रूप मे उपयोगी नही होती, उसमे कोई दोप होता है जिसे दूर करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। उपयोगी वनाने के लिये उसमें कुछ गुणो का सन्निवेश करना पड़ता है तथा उसकी कमियो को दूर करना भी जरूरी होता है। शब्दान्तर मे हम कह सकते हैं १–दोष मार्जन, २–गुणाधान, ३–हीनाङ्गपूर्ति, इन तीन उद्देश्यो के लिये हम प्रत्येक वस्तु का विविध प्रकार का सस्कार करते हैं। खान से निकले हुए स्वर्ण को ही लीजिए। सुन्दर मणि–रत्न–जटित मुकुट बनाने के लिए उसे उपरोक्त त्रिविध सस्कारो मे से गुजरना पडता है। खान मे से निकलने पर वह मिट्टी आदि से मिला हुआ मैला कुचैला धातु खण्डमात्र होता है। न उसमे चमक, न सुन्दर छवि। उसे भट्टी मे डालकर उसका दोप परिमार्जन होता है। अग्नि से उसका सम्पूर्ण मल दग्व हो जाता है और एक दिव्य आभा तथा चमक से वह जगमगा उठता है। इसके अनन्तर स्वर्णकार अनेक प्रकार से घडकर उसे मुकुट का रूप देता है। यह गुणाधान है। उसकी रही सही कमी को मणि रत्नादि से जटित करके पूरा कर दिया जाता है। इस प्रकार त्रिविध सस्कारो के सम्पन्न हो जाने पर वह स्वर्णखण्ड एक रत्न जटित राजमुकुट के रूप मे परिणत हो जाता है।

दूसरा उदाहरण कमीज का लीजिये। प्रकृति ने कपास को

जन्म दिया है, किन्तु क्या वह उसी रूप मे हमारे लिए उपयुक्त सिद्ध हो जाती है, नही। मनुष्य अनेक क्रियाओ द्वारा उसके दोषों को दूर कर उसे कपडे का रूप देता है। तब दर्जी उस कपडे को काट छांटकर कमीज के रूप मे परिवर्तित कर देता है। बटन वगैरह से सयुक्त करके उसकी अन्तिम कमी पूर्ण की जाती है और वह एक अत्युपयोगी परिधान बन जाता है।

जब ससार की सभी वस्तुये इन त्रिविध सस्कारो द्वारा सम्पन्न होकर ही पूर्णता को प्राप्त होती है, तो मानव जैसा सर्व-श्रेष्ठ प्राणी माता पिता से गर्भ से, ही 'मनुष्य' रूप मे उत्पन्न हो' या उसे किसी सस्कार की आवश्यकता ही न हो यह बात नितान्त असम्भव है। इसलिये मनुष्य की जन्मजात इन कमियो को दूर करके सभ्यसमाज के लायक पूर्ण मनुष्य बनाने के लिए सस्कारो का होना अत्यावश्यक है। वैदिक सस्कारो के भी पूर्वोक्त तीन ही उद्देश्य हैं और तीन ही विभाग। गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन, आदि द्वारा गर्भवासजन्य मलिनता आदि दोषों का परिमार्जन होता है। चूडाकर्म उपनयन आदि द्वारा मनुष्य मे शिक्षा तथा चारित्रिक विकास का सृजन करके गुणा-धान क्रिया निष्पन्न होती है और विवाहादि द्वारा हीनागपूर्ति की जाती है। इसीलिए सस्कारो का वर्गीकरण करते हुए मनु जी ने लिखा है—

निषेकाद् वैजिकं चैनो गार्भिकञ्चापसृज्यते।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम् ॥
गर्भाद् भवेच्च पुँसूतेः पुँस्त्वस्थ प्रतिपादनम्।
निषेकफलवज्ज्ञेयं फलं सीमन्तकर्मणः ॥

गर्भाम्बुपानजो दोषो जातात् सर्वोऽपि नश्यति ।
आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा ॥
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः ।
सूर्यावलोकनादायुरभिवृद्धिर्भवेद् ध्रुवा ।
निष्क्रमादायुःश्रीवृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः ।
अन्नाशनान्मातृगर्भमलाशादपि शुध्यति ॥
बलायुर्वर्चोवृद्धिश्च चूडाकर्मफलं स्मृतम् ।
उपनीतेः फलं त्वेतद् द्विजतासिद्धिपूर्विका ॥
वेदाधीत्यधिकारस्य सिद्धि ऋषिभिरीरिताः ।
पत्न्या सहाग्निहोत्रादि तस्य स्वर्गः फलं स्फुटम् ॥
ब्राह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितॄणां तारकः सुतः ।
विवाहस्य फलं त्वेतत् व्याख्यातं परमर्षिभिः ॥

अर्थात्—गर्भाधान सस्कार से वीज तथा गर्भ सम्बन्धी सपूर्ण मलिनता नष्ट हो जाती है और क्षेत्र रूपी स्त्री का संस्कार भी हो जाता है। इस गर्भ से पुत्र ही उत्पन्न हो इस अभिप्राय से 'पुसवन सस्कार' होता है। 'सीमन्तोनयन' का फल गर्भाधान सस्कार की भाति गर्भ की शुद्धि है। जातकर्म सस्कार द्वारा माता के खान पान सम्बन्धी समस्त दोप दूर किये जाते है। नामकरण सस्कार से आयु तथा तेज की वृद्धि और लोक व्यवहार मे नाम प्रसिद्ध होने से अपना पृथक् अस्तित्व कायम होता है। निष्क्रमण सस्कार मे शिशु को समन्त्रक जगत्प्राण भगवान् सूर्य का दर्शन कराया जाता है, जिससे आयु तथा लक्ष्मी की वृद्धि होती है। अन्न-

प्राशन द्वारा मातृ गर्भ मे मलिनता भक्षण से जो दोष उत्पन्न हो जाते है उन्हे शान्त किया जाता है। बल आयु तथा तेज की वृद्धि ही चूडाकर्म संस्कार का फल है। उपनयन से बालक 'द्विज' की श्रेणी मे आ जाता है और उसे वेदाध्ययन का अधिकार मिल जाता है। विवाह के अनन्तर सपत्नीक अग्निहोत्रादि अनुष्ठान द्वारा स्वर्गलाभ होता है, और ब्राह्मादि उत्तम विवाह के फल से सुतुत्र उत्पन्न होकर जीवित पितरो की सेवा तथा मृत पितरो के लिये श्राद्ध तर्पणादि द्वारा उनका उद्धार करता है—यह सब विवाह सस्कार का फल है।

स्मृतिकारो ने प्रत्येक सस्कार का जो फल निर्देश किया है, उसकी वास्तविकता एव वैज्ञानिकता पर हम अगली पक्तियो मे विचार करेंगे, किन्तु यहां इतना कह देना अप्रासगिक न होगा, कि सस्कारो के इस महत्व को भुलाकर ही हमने अधोगति को प्राप्त किया और आज यदि हम वस्तुत उन्नत होना चाहते हैं, तो हमे सस्कार प्रणाली को पुनर्जीवित करना होगा। भारतीय इतिहास के उज्ज्वल रत्न—राम, कृष्ण, वेदव्यास बुद्ध रामानुजाचार्य और शकराचार्य जैसे आदर्श पात्रो की सृष्टि उसी सस्कार परम्परा का फल था।

संस्कार कितने ?

उल्लिखित भूमिका के बाद हम इस विवेचन मे प्रवृत्त होते हैं, कि संस्कारो की संख्या कितनी है। इस विषय मे स्मृतिकारो के भिन्न-भिन्न मत पाये जाते है। किन्ही स्मृतिकारो ने ४० सस्कार माने हैं, किन्ही ने २५, और कुछ ने १६। महर्षि गोतम ने ४० सस्कार माने है और महर्षि अङ्गिरा ने २५। भगवान् वेदव्यास जी ने १६ सस्कारो को ही मान्यता दी है, यथा—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।
नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया ॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः ।
केशान्तं स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः ।
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडशः स्मृताः ।

अर्थात्—१–गर्भाधान, २–पुंसवन, ३–सीमन्तोन्नयन, ४–जातकर्म, ५–नामकरण, ६–निष्क्रमण, ७–अन्नप्राशन, ८–चूडाकर्म, ९–कर्णवेध, १०–यज्ञोपवीत, ११–वेदारम्भ, १२–केशान्त १३–समावर्तन १४–विवाह, १५–आवसथ्याधान, १६–श्रौताधान–यह १६ संस्कार है ।

मनुस्मृति में १३ ही संस्कारो का विधान है। उपरिलिखित संस्कारो मे से पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, कर्णवेध, वेदारम्भ, आवसथ्याधान और श्रौताधान इन छ संस्कारो का मनुस्मृति मे विधान नही है, किन्तु वानप्रस्थ, सन्यास, अन्त्येष्ठि इन तीन नवीन सम्कारो का सन्निवेश है ।

आश्वलायन गृह्यसूत्र मे १–विवाह, २–गर्भालम्भन, ३–पुंसवन ४–सीमन्तोन्नयन, ५–जातकर्म, ६–नामकरण, ७–अन्नप्राशन, ८–चूडाकर्म, ९–उपनयन, १०–समावर्तन, ११–अन्त्येष्ठि –इस ११ ही सस्कारो का उल्लेख मिलता है ।

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र मे १२ संस्कारो का वर्णन है। आवश्वलायन मे वेदारम्भ और निष्क्रमण का उल्लेख नही था। पारस्कर गृह्यसूत्र मे वह मिलता है। मनु के वानप्रस्थ सन्यास और अन्त्येष्टि इन तीन संस्कारो का पारस्कर गृह्यसूत्र

में उल्लेख नही है। इन तीनों को सम्मिलित कर देने पर यह सख्या १५ पर पहुँच जाती है।

मीमासा दर्शन मे कुछ हेर-फेर से व्यासप्रोक्त सोलह संस्कार का ही समर्थन उपलब्ध होता है। हम इन सबका यथा सम्भव समन्वय करके निम्नलिखित मुख्य १६ संस्कारो का ही इस अध्याय मे विवेचन करेंगे। यथा—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, वानप्रस्थ, सन्यास, अन्त्येष्ठि।

संस्कार में अधिकारी विचार

विश्व की प्रत्येक वस्तु अपने रूप मे पूर्ण और शिव है। मनुष्यो के हित के लिये ही उनका निर्माण हुआ है, किन्तु फिर भी संसार की सभी वस्तुओ को अच्छी या बुरी—इन दो श्रेणियो में विभक्त किया ही जाता है। यह विभाग पात्रापात्र-मूलक ही हो सकता है। घी एक शक्तिप्रद पौष्टिक खाद्य है, किन्तु वह सभी प्रकार के मनुष्यो के लिए हितकर नही हो सकता। 'आयुर्वै घृतम्'—के अनुसार जो घृत सामान्यावस्था मे मनुष्य को बल और शक्ति प्रदान करके दीर्घायु का कारण होता, अतिसार ज्वर तथा कास के रोगी के लिए वही घृत सद्यः मृत्यु का कारण बन जाता है। इसी प्रकार दही एक सुन्दर और स्वादिष्ट पदार्थ है, पदार्थ—विज्ञान के अनुसार वह स्निग्ध, हृद्य एव ओजप्रद है, किन्तु उसके यह गुण तभी तक है, जब तक वह कासी काच मिट्टी या पत्थर के किसी पात्र मे रखा जाता है–ताबे या पीतल के बर्तन मे पड़कर वह विकृत हो जाता है और यदि उसका सेवन किया जाय तो तुरन्त जी मचलाकर वमन हो जाना स्वाभाविक होगा।

तात्पर्य यह है कि स सार की प्रत्येक वस्तु के लिए पात्रापात्र का विचार है और अधिकारी भेद से ही उसकी व्यवस्था की गई है, शास्त्रकारो ने लोक की भाति वैदिक प्रक्रियाओं में भी इसो नियम का आदर किया है। यों तो स स्कारो मे मनुष्य मात्र का अधिकार है क्योंकि उनका उद्देश्य—सर्वांगपूर्ण मानव सृष्टि-सभी मनुष्यों पर लागू होता है, किन्तु फिर भी महर्षियो ने अधिकारी भेद से एक व्यवस्था निश्चित की है। श्री याज्ञवल्क्य महर्षि ने लिखा है—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकादिश्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः।
शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विनामन्त्रेण संस्कृतः॥

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन द्विज वर्णों को गर्भाधान से श्मशान पर्यन्त सब स स्कार मन्त्रपूर्वक करने चाहिए और शूद्रो को बिना मन्त्र।

भेद क्यों ?

कई लोग इस भेद को घृणामूलक समझते हैं, किंतु वास्तव मे इसमें घृणा की गन्ध भी नही है अपितु यह तो कृपालु महर्षियो द्वारा शूद्रो के कार्यभार को देखकर एक विशेष रियायत दी गई है। द्विजों को जो फल समन्त्रक स स्कार करने पर प्राप्त होगा, वही फल शूद्रों को अमन्त्रक करने पर प्राप्त हो सकेगा। इसके अतिरिक्त अस स्कृत होने के कारण वे मन्त्रो का शुद्ध उच्चारण न कर सकेंगे और अशुद्ध मन्त्रोच्चारण करने पर 'यथेन्द्रशत्रु स्वरतोपराधात्' वाली कथा के अनुसार प्रतिकूल फल की ही सम्भावना रहती है। इसलिए भी शूद्रो के लिए अमन्त्रक का विधान है।

अधिकार या भार ?

वर्तमान युग मे समस्त सघर्षों का एक मात्र मूल 'अधिकार' हैं, अमुक कहता है मुझे यज्ञोपवीत गले मे डालने का अधिकार क्यो नही ? तो दूसरा चिल्लाता है मुझे वेद पढने का अधिकार क्यों नही ? तीसरा कहता है मुझे दण्ड धारण पूर्वक सन्यास आश्रम मे प्रवेश करने का अधिकार क्यो नही ?—धार्मिक जगत् में जैसा यह 'अधिकार' का द्वन्द्व चल रहा है, ठीक इसी प्रकार आर्थिक जगत् मे भी मजदूर और मिल मालिक मे, किसान तथा भूमिधर में—विद्यार्थी और शिक्षक वर्ग मे, शास्य एव शासक मे अन्ततोगत्वा पत्नी और पति मे—गर्ज है आज अधिकार के नाम पर यत्र तत्र सर्वत्र अवाञ्छनीय देवासुर सग्राम मचा हुआ है। त्रिकालज्ञ महर्षियो ने अधिकारवाद को अनर्थ मूलक समझ-कर समाधि मे अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा परम कारुणिक भगवान् के निःश्वासभूत वेदों मे कर्तव्यवाद के दर्शन किये। अधिकारवाद संघर्ष जन्य अनेक अनर्थो से उपप्लुत मानव समाज यदि आज अधिकारवाद की रट छोडकर कर्तव्यवाद के दृष्टिकोण से समस्त उलझी हुई समस्याओ को समाहित करने के लिये उद्यत हो जाए तो ससार का चित्र ही बदल जाय।

यदि हम क्षणमात्र के लिये भी अधिकारवाद के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं—तो 'कम परिश्रम अधिक लाभ' की स्वाभाविक मानव प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, जो सर्व अनर्थों की मूल है। यह प्रवृत्ति जहाँ सामाजिक सगठन के लिये विघातक है वहाँ राष्ट्र की आवश्यकताओ की पूर्ति में भी रोडा अटकाने वाली सिद्ध होती है। इसलिये आर्य शास्त्रो मे समस्त कार्यकलाप

का विभाजन अधिकार के आधार पर नही, किन्तु कर्तव्य पालन के आधार पर किया गया है, जैसे वेद पढ़ने का ब्राह्मण को अधिकार नही, किंतु उसके कन्धों पर यह भार है, कि वह भूखा रहकर भी वेद पढे। क्षत्रिय को रणभूमि मे सर काटने का अधिकार नही, किन्तु वह देश जाति धर्म की रक्षा के लिये शिर कटाये–यह उसके मस्तक पर ईश्वर निहित भार है। अधिकार और भार का विश्लेषण करते हुए यह बात समझ लेनी चाहिये, कि अधिकार के प्रयोग मे अधिकारी स्वतन्त्र होता है परन्तु भार तो न चाहते हुए भी कर्तव्य वशात् धारण करना ही पडता है। यही कारण है, कि ब्राह्मण जाति ने सुदामा की भाति दारिद्रय जीवन सहर्ष विताते हुये भी आज के इस युग मे भी वेदो की पठन प्राठन प्रणाली को अक्षुण्ण रखा है।

विगत दिनो में यह प्रत्यक्ष देखते हुए भी कि इंगलिश पढे लिखे डाक्टर, प्लीडर इन्जनियर आदि मालामाल हो रहे हैं, लाखो स स्कृतज्ञ विद्वानो ने जान बूझकर अपने पुत्रों को भी अपनी तरह आर्थिक स ंकटमय जीवन विताने के लिये केवल कर्तव्य पालन भार की दृष्टि से ही उस उपेक्षित मार्ग का पथिक बनाया। यवन शासनकालीन राजपूतों के वे केसरिया वाना पहनकर किए गए साके, केवल भार के आधार पर विभाजित कर्तव्य के कारण ही हुए हैं। इसलिये अनर्थकारी अधिकारवाद की दृष्टि से ही समस्त कार्यकलाप को देखने की प्रवृत्ति को छोड़कर उसे कर्तव्य पालन—भार—की दृष्टि से ही मनन करने की आदत डालनी चाहिये।

सो उक्त सस्कारो की भी इति कर्तव्यता के विषय में किसको ? कब ? कैसे ? क्या ? करना चाहिए। यह सब बात केवल शास्त्रों से ही पूछनी चाहिये, शास्त्र जिसे जो कहे वह उसे वैसे कर डाले। जिसे न कहे, वह भूलकर भी उसे करने की चेष्टा न करे। जैसे

शास्त्र से आदिष्ट अमुक कार्य न करने पर पाप होता है ठीक इसी प्रकार शास्त्र से अनादिष्ट कार्य करने पर भी महापाप होता है। सैनिक या पुलिस मैन के लिए जैसी वेषभूषा निर्धारित है यदि वह 'ओन डयूटी' होता हुआ वैसी न पहिने, तो जैसे राजा के निकट वह व्यक्ति दण्डनीय होता है वैसे ही साधारण नागरिक यदि पुलिस मैन का स्वाग बनाकर भोले भाले देहातियो पर रौब गाठे तो वह भी प्रतारणा विषयक धोखा देही की ४२० धारा के मातहत दण्डनीय होगा। इसलिये जिन द्विजाति पुरुषो के लिए अमुक अमुक स स्कार समन्त्रक करने बताये है यदि वे न करेगे तो पाप भागी बनेगे और जिन द्विजेतर पुरुषो के लिये जो संस्कार अमन्त्रक करने की किंवा सर्वथा न करने की ही छूट दे रक्खी है, वे यदि तद् विरुद्ध आचरण करेगे तो पातकी अवश्य होगे।

हमारे यहा कर्मलाप का विभाजन तो वर्ण और आश्रम के तारमम्य से कर्तव्य पालन के आधार पर हुआ है, परन्तु कर्म-फल जन्य अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति अब्राह्मण आचाण्डाल सब को समान रीति से होती है।

अधिकार और अनधिकार से किये गए कर्म के बाह्य रूप मे प्रत्यक्ष दृष्ट चाहे कुछ अन्तर मालूम न होता हो, परन्तु पुण्य पाप के तारतम्य से तज्जन्य अदृष्ट फल मे महान् अन्तर पड़ता है, जैसे एक अनधिकारी पुरुष रात दिन भी 'पकडो ! मारो ! फाँसी दे दो' पुकारे तो किसी का बाल बाका नही होता, परन्तु यदि यही शब्द शासक की कुर्सी पर बैठा निर्णायक एक बार भी कहे तो तदनुसार अमुक को मृत्युदण्ड और अमुक को पुरस्कार दिया जाता है। यहा दोनो व्यक्तियो के शब्दो और वाक्यो मे कुछ अन्तर नही, केवल अधिकार का ही अन्तर है। पहिले व्यक्ति को उन्मत्त पागल दीवाना कहकर उपहासपात्र समझा जाता है

ओर दूसरे को न्यायाधीश शासक तथा जज कहकर सम्मानित किया जाता है। आशा है हमारी इस छोटी सी पृष्ठ भूमिका से पाठक स स्कारों की इतिकर्तव्यता का सामञ्जस्य समझने मे कृतकार्य हो सकेंगे।

संस्कारों के सामान्य कृत

यद्यपि प्रत्येक स स्कार की अपनी २ विभिन्न अनुष्ठेय प्रक्रियाये हैं, किन्तु गणपत्यादि पूजन तथा गृह्य होम प्रत्येक स स्कार के आवश्यक आरम्भिक कृत्य हैं। इससे पूर्व कि हम गर्भाधानादि पृथक् २ स स्कारों पर विचार करे यह आवश्यक प्रतीत होता है, कि स स्कारो के इन सामान्य कृत्यो पर ही पहिले विचार किया जाय। इनमे भी गणेश पूजन का विपय तो इतना विवादास्पद और आलोच्य वन गया है, कि वुद्धिवादी युग के वड़े २ लिक्खाड़ महाशयो को भी अपनी कमल कुठार सम्भालकर मैदान मे उतरना पड़ा है। गणेश को अनार्य एव अवैदिक देवता सिद्ध करने के लिये वुद्धि वादियो द्वारा दी गई यक्तियो के प्रवाह मे आस्तिक हिन्दू समाज की श्रद्धावल्लरी आज डूवती उतराती नजर आ रही है। इसलिए क्यो न इस अध्याय मे वर्णित मानव चर्या का श्रीगणेश इन सामान्य कृत्यों से ही किया जाए।

स्वस्तिवाचन और शान्ति पाठ

प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान के आदि मे वातावरण की विशुद्धता के लिए सर्व प्रथम तार स्वरेण स्वस्तिवाचन और शान्तिपाठ करना आवश्यक है। इस कृत्य मे यू ँ तो भी सभो समुपस्थित अधिकारी सज्जन सम्मिलित हो सकते हैं, परन्तु पुरोहित या वेदपाठी सज्जनों को तो मगलाचरणार्थ स्वस्तिवाचन अवश्य करना चाहिए।

हरिः ॐ क्यों ?

वेद पाठ के आरम्भ मे मन्त्रोच्चारण से पूर्व 'हरिः ॐ' उच्चारण करना वैदिकों की परम्परागत प्रणाली है इसका तात्पर्य यह है कि वेद के अशुद्ध उच्चारण मे महापातक लगता है और बहुत सावधान रहने पर भी मनुष्य स्वभाव सुलभ स्वर वर्ण व्यत्यय जन्य अशुद्धि हो जाने की पूरी सम्भावना रहती है अत इस सम्भावित प्रत्यवाय की निवृत्ति के लिये आदि और अन्त मे 'हरि. ॐ' शब्द का उच्चारण करना अनिवार्य है, श्रीमद्भागवत मे लिखा है कि—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्ह वस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं हरेः ॥

अर्थात्—मन्त्रोच्चारण, तत्तद् विधि-विधान, देशकाल और वस्तु की कमी के कारण धर्मानुष्ठान मे जो भी कमी हो 'हरि' नाम का सकीर्तन करने से वे सब बाधाये दूर हो जाती हैं।

श्री गणेश प्रथम पूज्य क्यों ?

(आदौ गणपतिं वन्दे विघ्ननाश विनायकम्)

श्रीगणेश जी महाराज का—प्रत्येक शुभाशुभ कार्य के आरम्भ मे आस्तिक हिन्दू समाज, पूजन वन्दन एव ध्यान अपना परम कर्तव्य समझता है। योगी याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति मे लिखा है कि—

एवं विनायकं पूज्यं ग्रहांश्चैव विधानतः ।
कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति आचाराध्याय २९२)

अर्थात्–पूर्वोक्त विधि के अनुसार गणपति की पूजा करके विधि पूर्वक नव ग्रह पूजन करना चाहिये, जिसमे समस्त कार्यो का फल प्राप्त होता है तथा लक्ष्मी की भी प्राप्ति होती है।

कोई ऐसा कार्य नही, जो कि गणपति पूजन के विना आरम्भ किया जाता हो। इस अटल नियम की पालन प्रणाली के प्रताप से संस्कृत साहित्य मे तो 'श्रीगणेश' शब्द को 'शक्ति' ही आरम्भार्थ मे आरूढ़ हो गई है। हिन्दी भाषा मे भी न केवल गणेश पूजन में निष्ठा रखने वाले आस्तिक सज्जन ही—अपितु 'तुन्दिल पेट' और 'हाथी की नाक' कहकर कहकहे लगाने वाले अपटूडेट महाशय भी 'श्रीगणेश' पद को प्रारम्भकता सूचक—'मुहावरा' स्वीकार करते हैं और वड़े घड़ल्ले के साथ किसी भी आन्दोलन का प्रशसात्मक वखान करते हुए यही उचरते हैं, कि "जव से इस आन्दोलन का 'श्रीगणेश' हुआ है, तव से मृतप्राय हिन्दू जाति मे पुन जीवन आ गया है" इत्यादि। कहना न होगा कि 'श्रीगणेश' शब्द का आरम्भिक क्रिया के साथ कुछ न कुछ अनिवार्य एवं घनिष्ट सम्बन्ध अवश्य है, जिससे कि—"अस्मात्पदादयमर्थो वोधव्य इत्याकारक ईश्वरसकेत· शक्ति.' के अनुसार यह शब्द प्राकृतिक रीति से 'प्रारम्भ' अर्थ मे आरूढ़ हो गया है।

गणेश शब्द के 'विघ्नहन्' 'विनायक' 'गजास्य' 'इप्सित-दाता' और 'विघ्न-शमन' आदि अनेक पर्य्याय प्रसिद्ध है। सस्कृत भारती विश्व भर की प्रचलित भाषाओ की जननी है तथा समस्त भाषाओ मे सस्कृत भाषा के शब्द ही अपभ्रष्ट होकर समाविष्ट हुए हैं—यह नग्न सत्य प्राय सभी अनुसन्धायक स्वीकार करते हैं। तदनुसार अन्यान्य भाषाओ मे भी आरम्भार्थक जितने प्रसिद्ध शब्द हैं वे सव प्राय 'गणेश' शब्द के पर्य्यायो मे से ही किसी

एक के अपभ्रंश जान पड़ते हैं। जैसे—इगलिश भाषा का प्रारभार्थक 'बिगनिंग' शब्द गणेश शब्द के अन्यतम पर्याय 'विघ्नहन्' का अपभ्रश प्रतीत होता है। इबरानी पर्सियन और उर्दू भाषा के 'आगाज' 'इप्तदा' 'बिशमिल्ला' आदि शब्द भी हमारे 'गजास्य' 'इप्सित दाता' 'विघ्न-शमन' शब्दो के ही अपभ्रंश हैं। इस तरह विश्व साहित्य पर व्यापक दृष्टि डालने से यही परिणाम निकलता है, कि शब्द-शास्त्र की परम्परा के विचार से गणेश तत्त्व का आरम्भिक क्रिया के साथ अनादिकाल से अविछिन्न सम्बन्ध चला आता है।

गणेश पूजन, यत्र तत्र सर्वत्र

गणेश-पूजन की प्रथा केवल भारत मे ही नही, प्रत्युत विश्व के सभी देशो मे पाई जाती है। बौद्ध-धर्म के महायान के तात्रिक सम्प्रदायो ने भी अपने यहा 'विनायक' की कल्पना करके उसे महत्वपूर्ण स्थान दे रखा है। पिछली शताब्दियो मे कई बौद्ध-प्रदेशो के अन्दर विनायक रूप मे बुद्ध की कल्पना प्राप्त होती है। बौद्ध ग्रन्थो मे बुद्ध का एक नाम 'विनायक' भी मिलता है। उनके यहा 'वज्रवातु' और 'गर्भधातु' के रूप मे भी विनायक पूजन का प्रचुर प्रचार है।

नेपाल मे बौद्ध-धर्म के साथ-साथ 'हेरम्ब' और 'विनायक' नाम से गणपति पूजा सर्वत्र पाई जाती है।

चीन मे गणेशमूर्ति दो नामो से विख्यात है, एक 'विनायक' और दूसरा 'कांगीनेन'। उस देश मे अन्य देवो की अपेक्षा विनायक पूजन का विशेष महत्व माना जाता है। 'नृत्यगणपति' की पूजा भी इस देश मे विशेष रूप से पाई जाती है।

जापान—इतिहास से ज्ञात होता है कि 'कोबो दाइशी' नामक सुप्रसिद्ध विद्वान् ने चीन के बौद्धाचार्यो से शिक्षा लेकर ९ वी शताब्दी मे अपने यहा विनायक पूजन प्रचलित किया था। अब तो वहा के 'शिङ्गोन' सम्प्रदाय ने भी इस पूजा पद्धति को अपना लिया है।

तिब्बत—के प्रत्येक मठ के अधिरक्षक के रूप में गणेश की पूजा पाई जाती है।

बर्मा, स्याम—प्रदेशो मे भी गणपति पूजा प्रचलित है। उस देश मे कास्यधातु की गणेशमूर्त्ति सर्वप्रिय समझी जाती है।

कम्बोडिया—मे स्थानीय ख्मेरकला के कारण वहाँ के गणपति मूर्तियो मे विशेष परिवर्तन पाया जाता है।

जावा—मे प्राय. गणेश के स्वतन्त्र मन्दिर नही होते, प्रत्युत शिवमन्दिर मे ही उनकी पूजा होती है। शँकर के सदृश वहा के गणेश भी गले मे मुण्डमाल पहने हुए पाए जाते हैं।

बोर्नियो—तथा बालद्वीप मे भी गणपति पूजन का विशेष प्रचार है।

अमरीका—मे लम्बोदर गणेश की मूर्ति मिलती है। इस प्रकार की मूर्ति का उल्लेख श्री चम्मनलाल ने 'हिन्दु अमरीका' नामक अपनी पुस्तक मे विस्तृत रूप से किया है। सन् १४९२ मे 'कोलम्बस' द्वारा अमरीका के आविष्कार होने के पूर्व भी वहा गणेश, सूर्य आदि देवताओं की मूर्तियाँ उपलब्ध हो चुकी थी। इससे यह निश्चित है कि भारतीयो ने ईसवी सन् से बहुत वर्ष पूर्व अमरीका मे भी अपना उपनिवेश स्थापित कर रखा था।

भिन्न २ देशों मे गणपति पूजन भिन्न २ नामो से पाया जाता है। श्रीमती 'ए गेट्टी' (A getty) ने गणेश पूजन पर एक विस्तृत पुस्तक लिखी है, जो सन् १९३६ मे 'आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी' से प्रकाशित हो चुकी है। उस ग्रन्थ में विदुषी गेट्टी ने तामिल भाषा मे गणेश का नाम 'पिल्लैय', भोट भाषा मे 'सोग्सदाग', बर्मी मे महा पियेन्ने', मगोलियन मे 'त्वोत् खाग्न् खागान्', कम्बोडियन मे 'प्राहकेनीज्', चीनी मे 'कुआन्-शी-तियेनू' और जापानी भाषा मे 'कागिनेन्' इन नामो का उल्लेख किया है। नि सन्देह उत्तरीय मंगोलिया से लेकर दक्षिणी बाली तक और जापान से लेकर अमरीका तक यह गणेश-पूजन-पद्धति जिस किसी रूप मे प्रचलित है।

अहिन्दुओं में परोक्षतया गणेश का ही पूजन

ग्रीक (Greece) यूनान के निवासी श्रीगणेशजी को 'ओरेनस' (Ouranos) नाम से पूजते हैं उनके प्राचीन धर्मग्रन्थो मे ओरेनस का बड़ा भारी महत्व वर्णित है। हिन्दू-धर्म ग्रन्थो के अनुसार श्री गणेश जी 'लाक्षासिन्धुरवदन' कहे जाते है, अर्थात्-उनका लाख के रंग के सदृश गूढा लाल रग है, इसलिये पर्याय रूपेण उनको 'अरुणास्य' भी कहा जा सकता है। ऐसी दशा मे यूनानियो का 'ओरेनस' हमारे 'अरुणास्य' का अपभ्रंश ही सिद्ध होता है।

ईरानी पारसियो मे 'अहुरमजदा' (Ahurmazda) नाम से गणेश उपासना की जाती है। प्रसिद्ध 'जेन्दाअवस्ता' नामक धर्म ग्रन्थ मे पचासो आयतें अहुरमजदा की लोकोत्तर शक्तिका वर्णन करती है। पर्सियन भाषा मे स स्कृत शब्दो का सकार प्राय हकार मे अपभ्रष्ट हुआ है, जैसे—'सप्त' को 'हप्त' और

'मास' को 'माह' बोला जाता है, ठीक इसी प्रकार 'अहुरमजदा' भी 'असुर-मदह' का अपभ्रंग जान पड़ता है। पुराण ग्रन्थो मे श्रीगणेश जी द्वारा अनेक असुरो का पराजित होना अंकित है इसलिये गणेश का—असुरों के मद=घमण्ड को हनन=दूर करने वाला" यह नाम भी अन्वर्थ है।

चीन और जापान के निवासी—जो कि प्राय. बौद्ध है—त्रिमूर्ति गणेश की उपासना करते हैं उसकी वे फो (Fo) नाम से पुकारते हैं।

मिश्र देश के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हर्मीज (Hermes) ने लिखा है कि—"सब देवो का अग्रिम=अगला देव वह है जिसका विभाग नही हो सकता और जो बुद्धि का अधिष्ठाता है उसका नाम 'एक्टोन' (Eicton) है।" नि सन्देह यह देव श्री गणेश जी ही है, क्योंकि हिन्दू ग्रन्थो मे अग्रपूजनीय गणेश को ही माना गया है। सम्भवत. 'एक्टोन' शब्द भी गणेश जी के अन्यतम पर्याय 'एकदन्त' का ही अपभ्रंश है।

गणेश जी के मुख्य बाहर नामो की व्याख्या आगे चलकर की जाएगी, इन नामो में एक नाम 'भालचन्द्र' भी है, जिसका अर्थ–'मस्थे मे चाद धारण करने वाला होता है।' जान पडता है मुसलमान लोग हजरत मुहमद साहिब के जन्म से पूर्व गाणपत्य सम्प्रदाय के अनुयायी थे, इसी कारण से इस्लाम मजहब को स्वीकार कर लेने पर भी वे लोग 'भालचन्द्र' की उपासना का चिन्ह—'टेढ़ा चांद और बीच मे तारा का निशान'—अभी तक धारण करते आ रहे हैं। इस्लामी झण्डो इमारतो—यहां तक कि ओढ़ने की टोपियों पर भी यह मार्का बडे गौरव के साथ अंकित रहता है। बुतपरस्ती को कुफर बताने वाले बड़े से बड़े कट्टर मुल्ला भी 'धातु से बने हुए' चमकते चांद को सिर पर चढाकर 'भालचन्द्र' के इस अर्चाचिन्ह को सम्मान देते हैं।

पाकिस्तान जैसा 'कठ मुल्ला नीति' पर नमित मुस्लिम देश भी अपने राष्ट्रीय ध्वज को भालचन्द्र चिह्न से ही अलंकृत कर रहा है।

ईसाई लोगो का परमपवित्र चिन्ह क्रास + है। यद्यपि वर्तमान समय मे इसे यहूदी जमाने का मृत्युदण्ड का तख्ता समझा जाता है जिसे कि सूली किंवा फासी की तरह हजरत यशुमसीह के प्राण लेने के लिये प्रयुक्त किया गया था, तथापि वास्तव मे ऐसा मानना भ्रम है, क्योंकि जिस साधन द्वारा किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की जान ली गई हो उस बीभत्स साधन को कोई भी मूर्ख पवित्र और पूजने योग्य नही मान सकता, बल्कि उसे अत्यन्त घृणित ही समझेगा। यही बुद्धि का तकाजा है। इसलिए हम तो स्पष्ट देगते है कि 'क्रास' + वास्तव मे गणेश की प्रतिमा =卐 का ही संक्षिप्त रूपान्तर है।

गणेश के साकार विग्रह मे मनुष्य के धड़ पर हाथी का मुख संयुक्त किया है--जिसका रहस्य आगे चलकर स्पष्ट किया जाएगा,--इसलिये गणेश जी के नाम 'गजवदन', 'करि मुख' 'ईभास्य' आदि प्रसिद्ध है ऐसी दशा मे हमे तो ऐसा मालूम होता है कि 'क्रास' शब्द भी 'करि-आस्य' शब्द का ही अपभ्रंश है। जिसका-अर्थ-हाथी के मुख वाला होता है। ईसाई मत का प्रसिद्ध 'क्राइस्ट' शब्द भी करि+आस्य+इष्ट इन तीन शब्दो के संयोग का परिणाम ही जान पड़ता है। जिसका तात्पर्य हाथी के सदृश मुख वाले श्री गणेश जी को अपना 'इष्टदेव' मानने वाला व्यक्ति होता है।

हिटलरवादी जर्मनीवालो की राष्ट्रीय पताका में तो अभी तक विशुद्ध卐अंकित रहता है और वे इस चिन्ह को ईश्वरीय देन समझते हैं।

दक्षिणी अमेरिका (South America) के ब्रजिज नामक स्थान की खोदाई मे गरोग जी की भव्य प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसे अनुसन्धायक चार पाच हजार वर्ष से अधिक पुरानी खयाल करते हैं इस प्रत्यक्ष प्रमाण से ये दो—वाते तो नि संदेह सिद्ध हो जाती हैं, कि ईसा की चौदहवी शताब्दी मे अमेरिका का पता लगाने वाले कोलम्वस को ही सर्व प्रथम अमेरिकान्वेषक कहना वडी भूल है, और कोलम्वस के परदादा के सात जन्म से भी पहिले वहां गणेश पूजक आर्य सभ्यता का प्रसार हो चुका था।

इस प्रकार उपर्युक्त समस्त प्रघट्ट पर दृष्टि डालने से सहज में ही यह परिणाम निकल आता है, कि गणेश पूजन न केवल हिन्दुओ मे ही अपितु समस्त जातियो मे, और न सिर्फ भारतवर्ष मे ही वल्कि समूचे विश्व मे पुरातन काल से आरम्भ करके अभी तक चल आ रहा है। [यहा यह भी समझ लेना चाहिए कि अमेरिका मे हाथी नही होता। इसलिए हाथी की आकृति की कल्पना किसी प्राचीन अमेरिकन की मस्तिष्क की उपज नही कही जा सकती।

शास्त्रीय-स्वरूप

निषुसीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतिमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत्क्रियते किंचनारे महामर्क मघवञ्चित्रमर्च ॥

(ऋग्वेद १० । ११२ । ९)

(सायणभाष्यानुसारी भावार्थ) हे गणपते ! आप स्तुति करने वाले हम लोगो के मध्यम मे भलो प्रकार स्थित हूजिये। आपको क्रान्तदर्शी=कवियो मे अतिशय बुद्धिमान्=सर्वज्ञ कहा जाता है। आपके बिना कोई भी शुभाशुभ कर्म (आरम्भ) नही

किया जाता (इसलिए) हे मघवन्=ऋद्धि सि० के अधिष्ठातृ देव! हमारी इस पूजनीय प्रार्थना को स्वीकार कीजिए।

ॐ नमस्ते गणपते त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्तासि। त्वमेव केवलं धर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। त्वमेव केवलं खल्विदं ब्रह्मासि। (गणपत्यथर्वशीर्ष)

अर्थ—हे गणपति जी! आपको नमस्कार हो। आपही प्रत्यक्ष 'तत्त्व' हो आप हो केवल समस्त चराचर के उत्पादक, पालक एवं संहारक हो आप ही निश्चय से 'ब्रह्म' हो।

शैवैस्त्वदीयैरुत वैष्णवैश्च, शाक्तैश्च सौरैरपि सर्वकार्ये।
शुभाशुभे लौकिकवैदिके च, त्वमर्चनीयः प्रथमं प्रयत्नात्॥

(गणेश-पुराण)

अर्थ—[त्रिपुरवध के अनन्तर शिवजी ने कहा कि हे गणपते!] शैव गाणपत्य, वैष्णव, शाक्त और सौर प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी लौकिक अथवा वैदिक दोनो तरह के शुभ किंवा अशुभ समस्त कार्यों मे सर्व प्रथम आपको ही यत्न पूर्वक पूजते है।

उपर्युक्त प्रमाणो से यह निश्चित हुआ कि वेदादि शास्त्रो मे अनादि अनन्त निर्विकार जगद् रचयिता जगत्पालक एवं जगत्संहार कारक परमात्मा को हो गणेश माना है। हिन्दू लोग उसी सर्वाधार की सब कार्यों के आरम्भ मे पूजा करते हैं।

गणेशपूजन और एकेश्वरवाद

(एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति)

हिन्दू धर्मावलम्बी आदि काल से एक मात्र परमात्मा की ही उपासना करते है जो लोग हिन्दू धर्म पर यह आक्षेप करते है ,,कि हिन्दू लोग एक ईश्वर को छोड़कर अनेक देवी देवत ओ

और यहा तक कि धातु, पत्थर, मिट्टी आदि जड़ वस्तुओ की पूजा करते है"–वे मनुष्य सर्वथा भ्रांत हैं क्योकि उनके तग और शुष्क मस्तिष्को मे हिन्दूधर्म का विशाल रहस्य समा नही सकता। वास्तव मे अनेक नामों और रूपो द्वारा की जाने वाली साम्प्रदायिक उपासनाएँ अन्त मे एकेश्वरवाद मे ही परिणत हो जाती हैं। हम यह रहस्य एक दृष्टान्त द्वारा अभिव्यक्त करते है।

एक नगर मे एक विलक्षण मनुष्य रहता था। उसका नाम विश्वरूप था। जो सस्कृत का दिग्गज विद्वान्, अग्रेजी का एम ए कानून मे 'वार एट्ला' और डाक्टरी मे सिविलसर्जन था। साइन्स मे प्रौढता रखने के कारण उसे 'डाक्टर ऑफ सायन्स' की पदवी मिली थी। फौजी खिदमात से सन्तुष्ट होकर सरकार ने उसको 'टाइगर आफ वर्ल्ड' का खिताव प्रदान किया था। गवैयो मे उसकी वड़ी भारी धाक जमी थी, सव कहते थे कि यह तो दूसरे तानसेन उत्पन्न हुवे है, तान, टप्पे, पलेट, आरोह सम और तार–गर्ज है कि गान कि प्रत्येक कला मे ये अद्वितीय हैं।—एक ताल, तीन ताल झपताल, लक्ष्मीताल और दुर्गाताल एव चंचर, धमार, कहरूवा, वजारा आदि वादन की समस्त पद्धतियो में माहिर हैं।

अनेक पहलवान इसके चेले थे। यह अपने अखाडे के पट्ठो को एड, ञिन्नी, कुलाजग, पलटा, चीपट और कन्वर के दाव पेचो मे ऐसा फरवट करता था, कि मुकावले में जेवस्को सरीखे विश्वविजयी पहलवान भी, आन की आन मे चारो खाने चित्त हो जाते थे। 'रुस्तमे हिन्द' की गदा इसने इसीलिए ठुकरा दी थी कि वह सिर्फ हिन्दुस्थान का 'रुस्तम' कहलाने मे अपना अपमान समझता था।

नदिया शान्ति के नैय्यायिक उसे अपना गुरु मानते थे,

उस दिन 'नीलो घट.' पर धारा प्रवाह शास्त्रार्थ सुनकर विद्व-न्मण्डल ने उसको 'अभिनव वाचस्पति.' की उपाधि दी थी।

काशी के 'टिड्ढाणञाचार्य्य' तो हमारे प्रतिपाद्य नायक को 'फाकी' फाकते हुवे देखकर 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' के उदाहरण बन जाते थे। उस दिन दशाश्वमेघ घाट पर 'आमीति न्यासे ह्रस्वग्रहण वैयर्थ्यम्' के शास्त्रार्थ मे सब ने एक स्वर मे कहा था कि 'जो है शो है आप तो 'व्याकरणीय-महाटवीय प्रखर-पञ्चाननोदाहरणभूत-पण्डित-प्रकाण्ड-मण्डली-मण्डनायमाण' है।

कहा तक वर्णन करे यह व्यक्ति प्रत्येक गुण मे अद्वितीय था, सब विद्याओ का वेत्ता था, हर एक फन मे माहिर था और तमाम मामलात मे दखल रखत था।

एक दिन उसी नगर के रहने वाले 'शका पंक पयोनिधि' महाशय शकूकचन्द साहिब आप से मुलाकात करने के लिये पधारे। इत्तिफाक से उस वक्त हमारे चरित नायक अपने निवास गृह में विद्यमान थे, महाशय जी 'नमस्ते' फटकार कर आज्ञा-नुसार एक तर्फ बैठ गये। उसी समय विश्वरूप जी के पुत्र ने आकर कहा 'पिता जी ! प्रणाम, आपको घर बुला रहे है।' महाशय शकूकचन्द ने अपनी डायरी निकाली और यह समझ कर—चूंकि आगत सज्जन ने आपको 'पिता जी' शब्द द्वारा सम्बोधित किया है इसलिये हो न हो, इँ जनाब का नाम 'पिता जी' है—झट से आज की तारीख वाले पन्ने पर 'पिता जी से मुलाकात' यह शब्द नोट कर लिये।

विश्वरूप जी घर जाते हुवे महाशय जी से शिष्टाचार पूर्वक कहते गए कि आप यही तशरीफ, रखिएगा मै अभी २ लौटकर आता हूँ। विश्वरूप जी को पीठ मोडे देर न हुई थी एक कत्थक सज्जन—तम्बूरा थामे दर्वाजे पर आ धमके और पूर्वस्थित महाशय

शकूकचन्द जी से पूछने लगे कि—'गायनाचार्य्य जी किधर गए ?' शकूकचन्द जी ने आश्चर्यचकित होते हुवे उत्तर दिया—'जनाव ! यह तो 'पिता जी' का मकान है, यहा कोई गायनाचार्य्य नाम का व्यक्ति नही रहता। कत्थक ने समझ लिया, कि यह कोई पागल मनुष्य है अत कुछ भी उत्तर न देकर यथास्थान वैठ गया।

इतने में एक दूसरे साहव ने आकर पूछा वैरिस्टर साहव कहां गए ? शकूकचन्द फिर वोल उठे—अजी जनाव ! यह तो 'पिता जी' का घर है, क्या आप सभी भग पीते हैं जो इसी दर्वाजे पर आकर दुनिया भर के मनुष्यो को दर्य्याफ्त करते हैं।' कत्थक ने कहा 'मवक्किल साहिव, वैठ जाइए वावू जी अभी आ जाते है।' वह भी फर्श पर वैठ गया। आधी मिनट के वाद एक तीसरा व्यक्ति लठिया के सहारे कराहता हुवा आ पहुँचा और दम फूल जाने के कारण विस्वर कण्ठ से दवी आवाज मे पूछने लगा 'डाक्टर'' साहिव' कहा हैं'। कत्थक और मवक्किल अभी दयार्द्र होकर सान्त्वनामय उत्तर देने को तैयार ही थे कि महाशय जी झुझला कर वोल उठे—'अरे भाई यह तो 'पिता जी का मकान है यहां टर फर कोई नही वसता।' महाशय जी के मूर्खता पूर्ण उत्तर से वीमार को क्रोध तो वहुत आया परन्तु कत्थक के सान्त्वना पूर्ण हाथ के इशारे से आराम कुर्सी पर टेक देकर वैठ गया। इतने मे एक विद्यार्थियों का झुण्ड वगल मे पुस्तकें दवाए आ पहुँचा, कोने मे विछी चटाई पर वंठते हुवे पूर्वावस्थित सज्जनो को सम्वोधित करते हुए पूछने लगा—श्री 'गुरुदेव जी' कहाँ पधारे हैं ? महाशय जी की लीला देखने के लिए अन्य सव सज्जन चुप रहे। शकूकचन्द जी कुछ तो पहिले से ही जले भुने वैठे थे परन्तु विद्यर्थियो के प्रश्न से [यह समझ

कर कि ये सभा लोग मुझ से मसखरो करने की सलाह करके आये है तभी तो एक के बाद दूसरा चिढाने के लिए आकर बेहूदे प्रश्न करता है।] आगबबूला होकर गर्ज उठे—नालायक कही के! कौन होते है 'गुडद्योजी' ? दश बार समझा चुका हूँ कि यह तो 'पिताजी' का मकान है। मगर तुम शरारत से बाज नही आते। चिडिया घर की तरह सभी जानवरो का यही ठेका लिया है ? जो हर एक मनुष्य को यही आकर दर्याफ्त करते हो! क्या यह इन्क्वयरी आफिस (Enquiry office) समझा है ? महाशय जी की बडबडाहट का अखण्ड पाठ समाप्त होता न देखकर विद्यार्थियो की सहनशोलता जवाब दे गई। आखिर स्वभाव सुलभ वानर-चाचल्य के कारण उन्होने महाशय शङ्कक चन्द को जा दबोचा और लगे मीठो-मीठी चुटकियो से मरम्मत करने। जब सिर पर तडातड पडी तब कही महाशय जी की अक्ल ठिकाने आई, छोतसो झडाकर चुप रह गए। मन-ही-मन सोचने लगे कि मै पागल हूँ या ये सब ?

तत्काल श्री विश्वरूप जी भी वहा आ पहुँचे, समस्त उपस्थित मनुष्यो ने अपने-अपने ढग से सत्कार करना आरम्भ किया। प्रत्येक विद्यार्थी ने श्रीचरणो मे मस्तक झुकाते हुए अपने दाए हाथ से गुरुजी के दाए पाव को तथा बाये से बाये पाव को स्पर्श करते हुए नाम-गोत्र-निर्देशपूर्वक कहा—'अभिवादयेऽह भो ?' बीमार मुहम्मडन ने कहा 'आदाब अर्ज जनाब ?' ईसाई मवक्किल ने कहा—'गुड मार्निंग सर !' महाशय जी ने भी सीना उभारे तनेतनाए दूर से ही ढेले की तरह जोर से 'नमस्ते' दे मारी, और आसू पोछते हुवे पूछा—श्रीमान् जो ! मै जानना चाहता हूँ, कि आपका शुभ नाम क्या है ? श्री विश्वरूपजी ने कहा कि इस साढे तीन हाथ के कलेवर का नामकरण

संस्कार के समय तो 'विश्वरूप' नाम रक्खा गया है परन्तु अब सब सज्जन अनेक प्रकार सोपाधिक नामो से पुकारते हैं। पुत्र मुझे 'पिताजी' कहते हैं। धर्मपत्नी 'पतिदेव' कहती है। शिष्य लोग 'गुरुजी' पुकारते हैं। मरीज़ 'डाक्टर साहिब' बोलते हैं। मवक्किल 'वकील' कहकर याद करते हैं, गर्ज़ है कि जितने मुँह उतने नाम ! आपने आज 'श्रीमान् जी' यह एक नया नाम रख छोड़ा है।

श्री विश्वरूप जी की इस उक्ति को सुनकर महाशय जी का समस्त सन्देह मिट गया और अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करते हुए उपस्थित प्रत्येक सज्जन से क्षमा याचना करने लगे।

ठीक यही दृष्टान्त उन बुद्धि के हिमालयो पर घटित होता है जो कि-एक ही ईश्वर की अनेको नाम रूपो द्वारा की जाने वाली विभिन्न समुदायो की विभिन्न पूजा पद्धतियो का रहस्य न समझ कर हिन्दूधर्म पर अनेकेश्वरवाद का मिथ्या लाञ्छन लगाने का प्रयास करते हैं।

परमात्मा एक है परन्तु वही अनेक गुणो का भण्डार है—अगणित शक्तियो का केन्द्र है। -अनन्त लीलाओ का अथाह सागर है इसलिए 'अनाम' होते हुये उसके अनेक नाम हैं और 'अरूप' होते हुए भी उसके असख्य रूप है तभी तो वेद कहता है—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'

अर्थात्—ज्ञानी लोग उस एक ही परमात्मा का अनेक तरह से बखान करते हैं।

जिस प्रकार एक ही व्यक्ति के तत्तद् सम्बन्ध विशेष से एव तत्तद् गुण वैशिष्ट्य से पिता पुत्र माता और गायक मल्ल आदि

अनेक नाम पुकारे जाते हैं तथापि उसके एकत्व मे कोई अन्तर नही पडता, ठीक इसी प्रकार एक ही ईश्वर को अपनी २ भावना विशेष के तारतम्य से अनेक नामो द्वारा प्रतिपादन करने वाले हिंदूधर्म के 'एकेश्वरवाद' पर भी कुछ आक्षेप नही आ सकता।

गान कला सीखने के अभिलाषी शिष्य गायक गुरु की प्रशसा मे यही स्तुति करेंगे कि—, आपका गला अतीव कोमल है और हाथ की अगुलिये इतनी हलकी है कि हारमोनियम बाजे पर पानी की तरह थिरकती हैं इत्यादि'। परन्तु मल्लविद्या सीखने वाले शिष्य इसी गुरु की प्रशसा मे उपर्युक्त कोमलता और हलकापन न कहकर इसके विपरीत यह कहेगे कि—'आपके भुजदण्ड हाथी के सू ड के समान सुडौल और अतीव प्रचण्ड हैं, कहना न होगा कि प्रत्येक मनुष्य अपने प्रयोजन के अनुसार तदुपयुक्त शब्दो द्वारा ही दूसरे की स्तुति करता है। ऐसा कौन मूढ अपराधी होगा जो कि अदालत के समक्ष अपना अपराध सिद्ध हो जाने पर भी जज को 'इसाफ पसन्द' कहकर स्वय सजा भुगतने को उतावला होगा, किन्तु उस समय तो 'रहम दिल' कहकर दया की भीख मागने से ही अपना प्रयोजन एक सीमा तक सिद्ध किया जा सकता है। इसी प्रकार एक ही ईश्वर को शान्ति अभिलाषी मनुष्य 'शान्ताकार भुजगशयनम्' कहकर स्मरण करते हैं। वीरत्व शक्ति के चाहने वाले बहादुर 'सिंहादुत्थाय कोपाद् घघड़घडश्डा धावमाना भवानी' कहकर याद करते है। धनसपदा के मुतलाशी महाजन 'हिरण्यवर्णा. हरिणी सुवर्ण-रजतस्रजाम्' पुकारते हुए ध्यान करते हैं और समस्त विघ्न-बाधाओ की निवृत्ति चाहने वाले आस्तिक 'विघ्नेश्वर सकल-विघ्नहर नमामि' कहते हुये पूजते है।

हाथी का शिर क्यों ?

गणेश गायत्री में लिखा है कि—

तत्पुरुषाय विद्महे, वक्रतुण्डाय धीमहि, तन्नो दन्ती प्रचोदयात् ।

अर्थात्—हाथी के समान मुखवाले—वक्रतुण्ड और एकदांत वाले गणेश का हम मनन और ध्यान करते हैं वह हमें सन्मार्ग मे प्रवृत्त करें।

प्रत्यक्ष में भी गणेश की प्रत्येक मूर्ति का कण्ठ से ऊपर का भाग हाथी का होता है। नराकृति अर्वाङ्ग के साथ हाथी के मस्तक का मेल मानव बुद्धि को चकित कर दे यह स्वाभाविक ही है, इसके आधिदैविक स्वरूप का रहस्य तो आगे चलकर पौराणिक कथाभाग के समाधान के समय प्रकट किया जायगा, यहाँ हम कथित बुद्धिवादी सज्जनो के सन्तोषार्थ—'दुर्जन तोष' न्याय से स्वय भी बुद्धिवाद के आजाद घोडे पर सवार होकर दो चार दुलत्तियें फटकारने के लिए उसे चाबुक की नोक से चोंक देते हैं। अस्तु,

वर्तमान युग मे किसी भी घटना का रहस्य प्रकट करने के लिए समाचार पत्रो मे व्यग्य-चित्र=कार्टून प्रणाली का आश्रय लिया जाता है। यद्यपि उक्त चित्र देखने मे बड़े ही अटपटे जान पडते हैं, इनमे मनुष्यो को पशु पक्षी कीट पतगो की विकृत आकृतियो मे सर्वथा असम्भव स्वरूपो मे, अकित किया जाता है परन्तु इनसे घण्टो मगज पच्ची करने पर भी ध्यान मे न बैठने वाले भाव, समाचार पत्रो के कई कालम पढ़ने पर भी न सुलझने वाले रहस्य विनोद विनोद मे तत्काल आखो के आगे नाचने लगते हैं, देहली के सुप्रसिद्ध व्यंग्यचित्रकार श्री शंकर अपनी कला में बड़े निपुण माने जाते हैं, उनका एक साप्ताहिक पत्र

'शकर वीकली' कार्टूनमय निकलता है, जिसे बडे बडे पत्रकार ख़रीदते है, अन्य देशो मे तो ऐसे २ कार्टून सहस्रो पौण्ड कीमत मे बिकते है यह प्रसिद्ध है। एतावता टेढीमेढी रेखाओ से उचित समस्या का रहस्य समझने के बजाय यदि कोई जीवट जीव उसकी बनावट के असम्भवपन का रोना रोने लगे तो विज्ञजनो की दृष्टि मे वह महाशय (?) उक्त कला से सर्वथा अनभिज्ञ और बुद्धि का शत्रु ही समझा जायगा, फिर चाहे वह बुद्धिवादी होने के सैकडो प्रमाण-पत्रो के बण्डल का बोझा उठाए अहर्निश घूमा करे। ठीक इसी प्रकार गणेश भगवान् के विलक्षणरूप को देख कर कोई नास्तिक अपने आपको ही एकमात्र सम्भावना का निर्णायक व्यर्थ मानता हुआ तादृश स्वरूप से ली जा सकने वाली शिक्षाओ से वचित रह जाए तो यह उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। इसलिए हम पिछली किश्त मे बुद्धिवादियो को यही बतलाना चाहते हैं कि गणेश को तुम कार्य मे निर्विघ्नता चाहने वालो के लिए शिक्षाप्रद रेखाचित्र ही समझ लो—कल्पना करो —तुम यह रहस्य जानना चाहते हो कि—हमारे किसी कार्य मे कोई विघ्न बाधा उपस्थित न हो, एतदर्थ हमे स्वय क्या प्रयत्न करने चाहिए। यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि हमारे कार्यों मे जो विघ्न उपस्थित होते हैं उनके मूल मे कुछ हमारी ही भूले लापरवाहियें, अनुचित चेष्टाये एव गलत फैहामियाँ होती है, यदि हम सचमुच सावधान हो जाये और तादृश चेष्टाओ की पुनरावृत्ति न होने दे तो निस्सन्देह हमारे सब काम विघ्न बाधाओ से प्रतिहत न होगे।

शिर—जब हमने भगवान् वेदव्यास सदृश मनोविज्ञान के पारगत किसी कलाकार के सामने अपना उपर्युक्त हार्द प्रकट किया तो उन्होने शब्द चित्रमयी अतुल तूलिका उठाकर तादृश चित्र का निर्माण आरम्भ करते हुए सबसे प्रथम हस्ती का

मस्तक अकित किया और कहा कि देखो तुम यदि अपने प्रत्येक कार्य मे निर्विघ्नता चाहते हो तो अन्य किसी भी प्राणी से शिर भिड़ाने=टक्कर लेने की बुरी आदत को छोड़ दो, फिर चाहे तुम कितने ही वपु.-सम्पत्ति सम्पन्न क्यो न हो ! यह शिक्षा ससार मे केवल हाथी के मस्तक से ही ली जा सकती है क्योंकि ससार के अन्याय सभी प्राणियो का सर्वाधिक मर्मस्थान अण्डकोश होते है। हम मल्लो को सौ वार शिर भिड़ाते देखते है। छोटे२ वच्चे भो वाल लीला मे प्राय शिर भिड़ाते रहते हैं। भंसे, साड और मेढो की शिरभिड़न्त तो वहुत प्रसिद्ध ही है, परन्तु इन सव जीवो के यदि अण्डकोशों पर थोड़ी भी चोट पड़ जाये तो विचलित हो उठते है। यदि शकावादी महाशय को हमारी इस स्थापना पर कुछ भी सन्देह हो तो वे स्वय अपने अण्डकोशो पर तनिक चुटकी चलाकर परीक्षा कर ले - सो ससार के अन्यान्य सभी प्राणियो के अण्डकोश जहा गुह्यांग के निकट होते हैं वहा प्रकृति ने हाथी के अण्डकोश उसके मस्तक मे स्थापित किये हैं। पाठको ने देखा होगा कि अन्यान्य जीवो की भाति हाथी के गुह्याग के निकट अण्डकोश नही होते किन्तु मस्तक के ऊपर जो मटके-से औंधे उभरे हुए दीख पड़ा करते हैं वे वस्तुत हाथी के अण्डकोश ही होते हैं, यही कारण है कि शरीर के अन्यान्य भागो की अपेक्षा इस भाग को अधिक मर्मस्थल समझकर महावत इसी स्थान पर अपना अधिकार रखता है। जो हाथी अन्य अगो पर भालो के प्रहारो से भी इतना विचलित नही हो सकता वही महाकाय जीव उक्त अग के ऊपर पाव के अगूठे की चोक से और अकुश के तनिक से सकेत पर महावत की इच्छानुसार नाचता है। सो अपने शिर को अन्यो

की अपेक्षा अधिक मर्मस्थल समझकर व्यर्थ और अविवेकपूर्ण अनावश्यक सघर्ष में प्रवृत्त न होने की शिक्षा एकमात्र हाथी के मस्तक से मिल सकती है। इसलिए कोई भी कलाकार ऐसा शिक्षाप्रद रेखाचित्र निर्माण करते हुए उसका मस्तक हाथी का ही लगाने के लिए बाध्य है।

हाथी की आंख क्यों ?

इसी प्रकार—'निर्विघ्नता के इच्छुक साधक को अपने नेत्रो को अर्थात्–दृष्टिकोण को कैसा बनाना चाहिए'—यह शिक्षा भी एकमात्र हाथी के नेत्रो से ही प्राप्त हो सकती है क्योकि प्रकृति ने हाथी के नेत्रो को भी सब जीवो से विलक्षण बनाया है। जैसे दूरवीक्षण यन्त्र मे आगे पीछे दो काच लगे रहते हैं आगे का कांच छोटा होता है और पीछे वाला बडा, ठीक इसी प्रकार प्राणियो के नेत्र यन्त्र मे भी सामने वाला काला तिल—जिसे कनोनिका कहते हैं, छोटा होता है और उसका पीछे का भाग उत्तरोत्तर बढता चला जाता है। यही क्रम प्राय: समस्त प्राणियो के नेत्रो मे पाया जाता है, परिणामस्वरूप सब जीव सामने की वस्तु को उतनी बडी देखते हैं जितनी कि वह वास्तव मे होती है, परन्तु प्रकृति ने हाथी के नेत्र का निर्माण ससार के सब प्राणियो के नेत्रो से सर्वथा विपरीत किया है। जैसे सब प्राणी सूर्य्य के प्रकाश मे खूब देखते है, परन्तु उलूक अपने शरीर के अनुपात से अधिक विस्तृत नेत्र-कनीनिका होने के कारण दिन मे देख ही नही पाता, आख चुंधिया जाने के भय से बन्द किये किसी सूखे पेड़ की खोह मे-दुबका रहता है, ठीक इसी प्रकार हाथी भी अपनी विपरीत कनीनिका के कारण सामने की छोटी वस्तु को भी बडी देखता है। जैसे ऐनक के शीशे के तारतम्य से हम सूक्ष्म अक्षरो को भी मोटे देखते है ठीक इसी प्रकार

हाथी अपने नेत्र के विलक्षण निर्माण के कारण सामने खडे साढ़े तीन हाथ के मनुष्य को भी अपने से ऊँचा देखता है, सम्भवत. प्रकृति ने हाथी के तादृश नेत्र इसलिए निर्माण किये हो कि यह पर्वतायमान प्राणी कदाचित् अपनी वपु सम्पत्ति के अभिमान से अन्यान्य लघुकाय प्राणियो को कीटप्राय समझकर पावो से रोद डाले, इसलिए इसे सब अपने से वडे दीखने चाहिये।

हमने उपर्युक्त रहस्य को जानने के लिए बहुत से हाथियो को सधाने वाले महावतो को पूछा है, उन्होने उपर्युक्त वात का समर्थन करते हुए अधिक वतलाया है, कि हम नये नये हाथो के नेत्र मे नोला थोथा आदि ओषधिये इसलिए डालते है कि हाथी की दृष्टि कम हो जाए। यदि ऐसा न किया जाय तो यह सामने आने वाले अन्यान्य जीवो को अपने से वडा देखकर भय खाता है और ठीक नही चलता—सो अपने कार्य्य मे विघ्न न चाहने वाले पुरुष को भी अपना दृष्टिकोण हाथी की भाति दूसरो को अपने से वडा देखने वाला वनाना चाहिए। मनुष्य जव दूसरो को तुच्छ समझकर उनका अपमान करता है किंवा अवहेलना =लापरवाही करता है तभी दूसरे लोग अपनी सम्मान संरक्षा के लिए उसे हृदय से सहयोग नही देते। सो दूसरो को अपने से वडा देखने की शिक्षा एकमात्र हाथी के ही नेत्रो से मिल सकती है इसलिए कोई भी कलाकार ऐसे रेखाचित्र मे हाथी के ही नेत्र अंकित करने के लिए वाध्य है।

लम्बी नाक क्यों ?

ससार मे 'नाक शब्द प्रतिष्ठा के अर्थो मे प्रयुक्त होता है। जव कोई पुरुष अनुचित कार्य्य कर बैठता है तो ससार उसे कहता है कि 'उसकी नाक कट गई'। प्रतिष्ठित कुल के सपूत

अपने पूर्वजो की नाक रखने के लिए ऋण उठाकर कुलोचित व्यवहार मे प्रवृत्त होते है, सो अपने कार्य्य मे विघ्न न चाहने वाले भद्र-पुरुष को चाहिए कि वह सदैव अपनी, अपने पूर्वजो की, अपने कुल एव अपने देश की लम्बी नाक का ध्यान रखे, अर्थात्—ऐसा कोई ओछा कार्य्य करने को उद्यत न हो जिससे नाक कट जाए। यह शिक्षा केवल हाथी की लम्बी नाक से ही मिल सकती है क्योकि प्रकृति ने अन्य किसी जीव को इतनी लम्बी नाक प्रदान नही की। इसलिए रेखाचित्र मे कलाकार हाथी की ही नाक लगाने के लिए बाध्य है।

बड़े कान क्यों ?

हमारे कार्य्यों मे बहुत से विघ्न केवल इसलिए आ पडते है, कि हम कानो के कच्चे होते हैं, अर्थात् हमारे कान इतने छोटे किंवा ओछे होते हैं कि जहाँ किसी कर्णेजप=चुगलखोर निंदक ने झूठ सच आकर कहा कि—'तुम्हारा अमुक मित्र किंवा सबधी 'यू' कहता है'—बस ! हम उस दुरात्मा को सत्यवादी हरिश्चद्र समझकर उधेड-बुन मे पड जाते है और इस प्रकार अपने बहुत से विश्वासपात्र सहयोगियो की उपेक्षा करने लग जाते हैं, अथवा जो सुना उसी की प्रतिक्रिया आरम्भ कर देते है। नि सन्देह हमारी यह चेष्टा अन्त मे विघ्नरूप मे परिणत हो जाती है सो अपने कार्य्य मे विघ्न न चाहने वाले पुरुष को ओछे कान नही रखने चाहिए, किन्तु अपने कानो को इतना विस्तृत बनाना चाहिए कि जिनमे सैकडो असूयको की विद्वेषपूर्ण बाते ऐसी समा जाएँ कि वे कभी जिह्वा के अग्रभाग पर आने ही न पाएँ। यह शिक्षा भी हाथी के सूर्पाकार कर्णों से ही ली जा सकती है, इसलिए

मनोविज्ञान के चतुर चितेरे ने उक्त रेखाचित्र मे कान भी हाथी के ही अकित किये ।

हाथी की जीभ क्यों ?

सब विघ्नो को दूर करने किंवा उसको बुलाने मे जिह्वा का सर्वाधिक हाथ है । एक शब्द अनुकूल निकल गया तो बुराई पर तुला हुआ घोर शत्रु भी मोम बन गया, एक शब्द प्रतिकूल बोला गया, कि अपने पसीने के स्थान में खून बहाने वाला चिरविश्वस्त सम्बन्धी सदा के लिए शत्रु बन गया । कहा जाता है कि तलवार का घाव भर जाता है परतु बोल का काटा मृत्यु पर्य्यन्त कसकता रहता है । इसलिए अपने कार्य्य मे विघ्न न चाहने वाले पुरुष को चाहिए, कि वह अपनी जिह्वा का नोकीला बाण दूसरों पर न तानकर उसका अग्रभाग अपनी ओर ही रक्खें अर्थात्—दूसरो को कुछ कहने से पूर्व 'स्वय कितने पानी मे है' यह आत्म-निरीक्षण भी कर ले । यह शिक्षा हाथी को छोडकर ससार के अन्य किसी जीव की जिह्वा से नही ली जा सकती क्योकि सभी जीवो की जिह्वा मनुष्य की भाति कण्ठ की ओर से आगे की ओर ही लपलपाती है परन्तु ससार मे हाथी ही एकमात्र ऐसा जन्तु है, जिसकी जिह्वा प्रकृति ने दन्तमूल की ओर से कण्ठ की ओर लपलपाती लगाई है । सम्भव है पाठको ने सौ बार हाथी देखने पर भी इस अद्‌भुत तथ्य को न जाना हो, वस्तुत हाथी के मूँड का निर्माण ससार के समस्त प्राणियो से विलक्षणतम है ऐसी स्थिति मे रेखाचित्रकार किसी विलक्षण जिह्वा से तादृश शिक्षा देने के लिए हाथी की ही जिह्वा लगाने के लिए आपातत बाध्य है ।

हाथी के दांत क्यों ?

लोकोक्ति प्रसिद्ध है, कि 'हाथी के दात खाने के और होते है और दिखाने के और होते है'—सो अपने कार्य्य मे विघ्न न चाहने वाले पुरुष को चाहिए कि वह सज्जन पुरुषो के साथ जहा शिर भिडाने से वचे, उदार दृष्टिकोण से पेश आए, कुलोचित प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रक्खे, प्रसगवश उनकी ओर से कही गई मानव-सुलभ ओछी बातो को भी अनसुनी कर दे और उनके गुण दोषो की आलोचना न करके अपनी ही निर्बलताओ पर ध्यान दे, वहा अकारण शत्रुओ की दुष्टता से वचने के लिए भी हाथी के खाने के दातो की भाति अपने हृदय के अभ्यन्तरतल मे उनके वास्तविक स्वरूप को समझते हुए और उससे सर्वदा सावधान रहते हुए भी अनावश्यक विरोध प्रकट न होने दे, किंतु दिखावे के दातो की भाति ऊपर से मानवोचित लल्लोचप्पो बनी रहने दे, यह नीति है। यह शिक्षा भी हाथी के उभयविध दातो से हो मिल सकती है, परन्तु यह नीति केवल महाभारत के शब्दो मे— **'मायाचारो मायया बाधितव्य'** के अनुसार 'एक' सीमा तक ही आचरणीय है, सर्वथा और सर्वदा अनुकरणीय नही, इसलिए हाथी का मुख होते हुए भो दिखावे का दात केवल 'एक ही' चित्र मे अकित किया गया है इसलिए गणेश का अन्यतम नाम (एक दन्त) प्रसिद्ध है।

गणेश के एक दत होने की कथा का रहस्य तो अन्यत्र प्रकट किया जाएगा परन्तु यहा इतना और भी अधिक जान लेना आवश्यक है, कि गणेश चित्र मे दर्शनीय दात केवल दायी ओर का होता है बायी ओर का नही होता जिसका तात्पर्य्य यह है कि बाह्य प्रदर्शन भी केवल दक्षिण=अर्थात्—चतुर श्रेणी की

के विप्रतिपक्षो के लिए ही उचित है—वाम=अर्थात्-स्वभावत कुटिल कदर्य्यो का तो मनु के शब्दो मे—'वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' अर्थात्—वाणीमात्र से भी आदर नही करना चाहिए ।

यहा तक—मस्तक से लेकर कण्ठ पर्य्यन्त हाथी के अङ्गो से प्राप्त होने वाली शिक्षाओ का दिग्दर्शन किया गया है; कहना न होगा, कि उक्त शिक्षाए केवल हाथी के ही विलक्षण अङ्गो से ही प्राप्त हो सकती हैं। ससार के अन्य किसी प्राणी के अगो को प्रकृति ने तादृश नही वनाया है इसलिए रेखा-चित्र कला कुशल कोई भी कलाकार कुल चित्र मे हाथी का ही मस्तक लगाने के लिए वाध्य है ।

आकण्ठ नर-शरीर क्यों ?

अपने किसी कार्य्य मे विघ्न न चाहनेवाले पुरुष के लिए उचित है, कि वह स्पष्टवादी हो, मानव हृदय रखता हो, मनुष्योचित कर्म्मकलाप मे सतत निरत रहे एवं उसकी गति विधि मानवोचित होनी चाहिए। उक्त गुणो को सीखने के लिए उक्त चित्र मे-कण्ठ, हृदय, हाथ और पाव अर्थात् कण्ठ से नीचे का सव भाग निराकार अकित किया गया है, मनुष्य ही केवल सुस्पष्टवादी है, शेष जीव कप चट आदि विशुद्ध ध्वनि वोलने मे असमर्थ हैं अत अस्पष्टवादी हैं। इसलिए यह शिक्षा मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी के कण्ठ से अप्राप्य है सो वेद के अनुसार='तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' अर्थात्–मनुष्य ही अर्थानुगत वाणी वोलने मे समर्थ है इसलिए गणेश का गला मनुष्य के समान नियत है ।

मनुष्य ही कर्म्मयोनि है, शेष सव जीव भोगयोनि के जन्तु हैं इसलिए प्रकृति ने केवल मनुष्य को ही समस्त कार्य्य कर सकने योग्य हाथ दिये हैं। वानर इसका अपवाद कहा जा सकता है परन्तु वह भी नर का समीपवर्ती जीव होने के कारण हाथ तो रखता है

किन्तु जिनसे वह खाता है उन्ही से पांवों का भी काम लेता है। अत उन्हे विशुद्ध हाथ नहीं कहा जा सकता, सो कर्तृत्व भोक्तृत्व को भावना एकमात्र मनुष्य मे ही उपलब्ध हो सकती है। इसलिए गणेशचित्र मे मनुष्य सदृश हाथ अकित किये गये है, परतु साधक को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चार पदार्थों को प्राप्त करना है, इसलिए उसे निरन्तर पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति के लिये चतुर्विध कर्म करते रहना चाहिये, एतदर्थ चार भुजाएं अकित की गईं।

'सहृदय' शब्द तो केवल मनुष्य मे ही चरितार्थ होता है, ससार के अन्य जन्तु केवल हृदयहीन होने के कारण ही 'पशु' कहे जाते हैं। इसलिये हृदय का आवास-स्थान उरुस्थल भी मनुष्य के ही समान उक्त चित्र मे अकित किया गया है।

गतिविधि—चाल—रफ्तार—कदम—आदि शब्दो का व्यवहार तादृश कार्यकलाप के लिये किये गये उपक्रम उद्योग किंवा कार्य प्रणाली की रूपरेखा के अर्थ मे किया जाता है, सो बैल, घोडा, ऊँट, हाथी आदि पशुओ को उचित मार्ग मे प्रवृत्त रखने के लिये, नाथ लगाम, नकेल और अकुश की आवश्यकता रहती है तभी वे सयत रूप से कदम उठा सकते है अन्यथा अन्यत्र-गामी हो जाते है, परन्तु मनुष्य एकमात्र ऐसा प्राणी है जिसकी गतिविधि ठीक करने के लिए तादृश भौतिक साधनो की आवश्यकता नही, किन्तु बुद्धिजीवी होने के नाते वेदादि शास्त्रो के वचन ही उसके नियन्त्रण के लिए पर्याप्त समझे गये हैं। इसलिए शास्त्र जिसे 'एष निष्कण्टक पन्था' कहे उसी सन्मार्ग पर कदम पर कदम बढाते चले जाना मानव की विशेषता है, एतदर्थ उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए गणेश चित्र मे मनुष्य के समान पावो का ही उपयोग हुआ है।

लम्बोदर क्यों ?

गणेश का अपर पर्य्याय लम्बोदर भी है। लोक में किसी भद्रपुरुष के दैवात् विकृत हुए अंग का निर्देश करते हुए उसका नाम धरना अपमानजनक समझा जाता है, परन्तु गणेशभगवान् की उपर्युक्त नाम से स्तुति करना अनेक लाभों का हेतु है। उक्त नाम की व्याख्या तो यथास्थान की जाएगी, परन्तु यहाँ यह प्रकट कर देना आवश्यक है कि अपने कार्य में विघ्न न चाहने वाले साधक को एक प्रधान शिक्षा देनी अभी शेष थी जिसका सन्निवेश उक्त लम्बोदर आकृति मे किया गया है, तद्यथा—संसार मे दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं, एक वे हैं जो कि कुछ भी भूठी सच्ची बात सुन पाएँगे तो तत्काल उसे 'गेहे गेहे जने जने' गाते फिरेंगे। जब तक वे उस कच्ची पक्की बात का बिना वेतन लिए ही ढिण्ढोरा न पीट डालेंगे तब तक उनको भोजन भी हजम न होगा। ऐसे ही पुरुष अफवाह फैलाने के उद्गम स्थान माने जाते हैं। कहना न होगा कि अफवाहों के कारण सैंकडो पुरुष आतंकित होकर किंकर्तव्यविमूढता में कुछ का कुछ अनर्थ कर बैठते हैं, कई तो भयवशात् 'हृदय गति' बन्द हो जाने के कारण मृत्यु के मुख मे चले जाते है, बहुत से बैंको का दिवाला निकल जाता है। इसीलिए लडाई झगडे के दिनो मे सरकार को ऐसे जगी जीवो की रोक थाम के लिए आर्डीनेंस तक बनाने पड़ते है। सचमुच इस प्रकृति के मनुष्य न केवल अपने लिये बल्कि अपने पडोसियो, नगरवासियो एव देश तक के लिए भयावह सिद्ध होते है। ऐसे सज्जनो (?) को कहा जाता है कि इनका पेट बहुत छोटा है, अर्थात् इनको साधारण सी बात भी नहीं पचती।

दूसरे वे लोग है जो बडी से बड़ी रहस्यपूर्ण भयंकर बात

सुन कर भी उसे ऐसा पी जाते हैं कि आयु भर दूसरे के सामने उसकी गन्ध तक नही आने देते। महाभारत में प्रसिद्ध है कि दानवीर कर्ण कुन्ती की प्रथम सन्तान थे अर्थात् महाराजा युधिष्ठिर के ज्येष्ठ भ्राता थे, परन्तु कुन्ती ने यह रहस्य कर्ण के जीवन काल में किसी पर प्रकट नही किया, उसके मरने पर ही युधिष्ठिरादि को बताया कि 'अपने ज्येष्ठ भ्राता कर्ण को जलाञ्जलि प्रदान करो'—इस पर युधिष्ठिरादि को बहुत शोक हुआ, कदाचित् यह रहस्य पहले विदित हुआ होता तो महाभारत का संहारक संग्राम ही न ठना होता—अत स्त्री जाति को शाप दिया कि 'इनको बात न पचा करे'—इस कथा का तात्पर्य जो भी हो परन्तु प्रत्यक्षत स्त्री जाति अपने छोटे पेट के लिए बहुत काफी प्रसिद्ध है, इसलिए धर्मशास्त्रो तक मे उनकी इस प्रकृति से अनर्थ हो जाने की आशका के विचार से ही 'स्त्रीषु नर्म्मविवाहे च नानृतं स्यात् जुगुप्सितम्' अर्थात्—स्त्रियो मे उपहास मे और विवाहादि—विनोद के अवसरो पर अयथार्थ कह देना पाप नही माना है, अस्तु।

छोटे पेट से तात्पर्य्य है (जिसे बात न पचती हो) बड़े पेट का अर्थ है—बडी से बडी बात को भी शर्बत की तरह पी जाना, सो छोटा पेट रखने वाले लोग अपनी इस मूर्खतापूर्ण आदत के कारण सैकडो विघ्नों के पात्र बन जाते है, परन्तु बडा पेट रखने वाले गम्भीर पुरुष बडी से बडी आपत्ति को भी धीरतापूर्वक पार कर जाते हैं, इसलिए तादृश शिक्षा ग्रहण करने के लिये चतुर कलाकार ने इस विज्ञानमय पवित्र चित्र मे पेट को लम्बायमान अकित किया है।

मूषक वाहन क्यों ?

यदि हम यहां चूहे की चर्चा न करे तो यह रेखाचित्र अधूरा ही

रह जाए, पूरा चित्र तो तभी बनता है जबकि ऊपर महाविशाल हाथी का मस्तक। उसके नीचे साढ़े तीन हाथ के मनुष्य का छोटा सा धड़! और उसके भी नीचे अकिंचित्कर मूषक जैसे स्वल्पकाय जन्तु का क्षुद्रतम कलेवर। निसन्देह यह वैदिक रेखाचित्र सर्व-साधारण की समझ बूझ की वस्तु नही है। हमने प्राय बहुत से शास्त्रार्थो मे देखा है कि आर्य्योपदेशक महाशय गणेश के आधा हाथी और आधा मनुष्य-रूप पर तो 'सनातनधर्मियो का कलमी देवता' कहकर खूब उपहास करते हैं, परन्तु जब मूषक वाहन का प्रसग आता है तो उनका वह उपहास आवेग और क्रोध के रूप मे परिणत हो जाता है। मजाक उड़ाना भूलकर लड़ने मरने को उद्यत हो जाते हैं। हमने जब उनकी इस प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया तो मालूम हुआ कि उनका क्रुद्ध होना सहैतुक ही है, कारण? सब जानते हैं कि स्वामी दयानन्द को जो कथित बोध हुआ था वह शिवलिंग पर चुहिया को चढे देखकर ही हुआ था वह बात सब समाजी स्वीकार करते हैं, ऐसी दशा मे आर्यसमाज की मूल उपदेष्ट्री श्रीमती चुहिया ही ठहरी, सो चुहिया में किसी भी महाशय की श्रद्धा का होना अस्वाभाविक नहीं, अब यदि सनातनधर्मियों का हस्ती मुण्ड, उद्दण्ड वक्रतुण्ड समाजियो की चुहिया पर सवार हो जाय तो उनका बिगड़ उठना निष्कारण नहीं। फिर सूक्ष्मागी चुहिया और लम्बोदर गणेश का शारीरिक तारतम्य मिलाने पर तो यह चेष्टा और भी गुरुतर अपराधरूप मे परिणत हो जाती है, परन्तु हम अपने मित्र महाशयो को नम्रतापूर्वक बता देना चाहते हैं, कि इसमें सनातनधर्मियो किंवा उनके गणेश का तनिक भी दोष नहीं क्योकि उनकी यह चेष्टा अपनी इच्छा से नही किन्तु साक्षात् निराकार बाबा ने यजुर्वेद मे आदेश दिया है कि—

आखुस्ते पशुः।

अर्थात्—(हे गणेश ! मै) तेरा पशु=वाहन आखु=मूषक =चूहा नियत करता हूँ।

इसलिए गणेश भगवान् बेरोक टोक मूषक महाराज पर विराजते है। जिस भगवान् ने आम्र जैसे विशाल वृक्ष को छोटा सा फल चिपकाया और अकिंचित्कर तरबूज, सीताफल आदि की लहलही लतिकाओ मे विशालकाय फलो को सयुक्त किया उसी भगवान् ने आपकी चुहिया का श्री गणेश के साथ सामजस्य भिड़ाया। अस्तु,

सम्भव है, पाठक हमारे इस उपक्रम की विशालता मे नीर-सता अनुभव करे, परन्तु हमने वास्तव में एक अक्षर भी इसमे अनावश्यक नहीं आने दिया है--तात्पर्य यह है कि—समस्त विघ्नो का प्रधान कारण साधक के मन मे उठने वाले तर्क-वितर्क, नर्नुनच, किन्तु, परन्तु ही है। जो पुरुष आवश्यकता से अधिक शकाशील होता है वह श्रीमद्भगवद्गीता के शब्दों मे—**'सशयात्मा विनश्यति'** अर्थात् विनष्ट हो जाता है।

सो जैसे सत्त्वगुण की प्रतीक गोमाता, रजोगुण का प्रतीक सिह और तमोगुण का प्रतीक सर्प या महिष है, ठीक इसी प्रकार तर्क का प्रतीक मूषक=चूहा है। अहर्निश काट छाट करना, अच्छी से अच्छी वस्तुओ को भी निष्प्रयोजन कुतर डालना—यह चूहे का स्वभाव है—सो अपने कार्य मे विघ्न न चाहने वाले साधक को उचित है कि वह अपनी कुतर्कों को उपर्युक्त गणेश-प्रतिमा से प्राप्त किए ज्ञान के द्वारा दबाए रक्खे, अर्थात्—तर्क को स्वतन्त्र न विचरने दे, किन्तु जैसे सवार वाहन को अपने वश मे रखकर अपनी इच्छानुसार उद्दिष्ट स्थान की ओर चलाता है, ठीक इसी प्रकार 'तर्कोऽप्रतिष्ठ' के अनुसार अपनी तर्क प्रणाली को उच्छृंखल न बनाकर उसको **'वेदशास्त्राविरोधिना'** रूप से वेदादि शास्त्रो की अनुसन्धायक

बनाए। यही गणेशवाहन मूषक का तात्पर्य्य है।

आर्यसमाजी तथा कथित बुद्धिवादी तर्क ही को मुख्य मानते हैं, अतएव हमने बार बार अपने लेख मे चुहिया को महाशयो की सम्बन्धिनी प्रकट किया है, और सनातनधर्मी प्रमाणवाद को प्रधान मानते हैं इसलिए गणेश को उनका सम्बन्धी प्रकट किया है, यही हमारे उपक्रमात्मक रूपक का तात्पर्य है।

लोकव्यवहार मे मूषक, सम्पन्न घरो के प्रतीक समझे जाते है, दरिद्रो के यहा प्राय 'चूहे सूखे दण्ड पेलते है' कहकर उनकी स्थिति का निरूपण किया जाता है। जिस नगर किवा जिस घर मे चूहे मरने लग जाते हैं वहां आने वाली विघ्न बाधाओ का सहज मे ही अनुमान हो जाता है। महामारी आदि बहुत सी बीमारियो का पूर्व रूप चूहो की मृत्यु समझा जाता है। जब तक चूहे घर मे आनन्द से रहे घर वालों को कुछ चिन्ता नही। इस दृष्टि से भी चूहो को विघ्न विनाशक गणेश के वाहन मानना सर्वथा सगत है।

ऋद्धि सिद्धि सेविकाएँ ?

प्रत्येक गणेशचित्र के साथ हाथ मे चँवर लिये बाँए दांए दोनो ओर ऋद्धि और सिद्धि की समुपस्थिति प्राय अंकित की जाती है, जिसका सीधा तात्पर्य यह है कि जो साधक सर्वविघ विघ्न बाधाओ को पार करके तर्काश्रित बुद्धिवाद का समुपासक होगा, ससार भर की समस्त ऋद्धि और सिद्धि उसके चरण चूमने को सदैव उद्यत रहेगी।

इस प्रकार गणेश भगवान् के बाह्यचित्र की रूप रेखाओ के मनन करने से होने वाली शिक्षाओ का निरूपण करके हम घोरतम नास्तिको से पूछना चाहते हैं कि—जब आप नित्य ही

समाचारपत्रों मे छपे रेखाचित्रों का बड़े चाव से अध्ययन करते है और सामयिक समस्याओ की वस्तुस्थिति प्रकट कर सकने योग्य व्यंग्यचित्र पर उसके निर्माता की कला की दाद देते है, तब हमारे जीवन की एक प्रबल समस्या पर सर्वांगपूर्ण प्रकाश डालने वाले गणेशचित्र और उसके प्रदर्शयिता भगवान् व्यास-देव की अनुपम प्रतिभा पर नतमस्तक क्यो नही होते ? हम समझते हैं कि हमारी इन पंक्तियो को पढने के बाद घोरतम नास्तिक भी प्रत्येक कार्य के आरम्भ मे उपर्युक्त चित्र का मनन करके अपने आपको तादृश बनाने मे कृतकार्य हो सकेगा, जैसा बन जाने पर कि वास्तव मे किसी कार्य मे भी विघ्न बाधा उपस्थित होने की सम्भावना शेष नही रह सकती।

गणेश की विचित्र उत्पत्ति

पौराणिक स्वरूप—

पुराण ग्रन्थो मे गणेश की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कई कथाएँ उपलब्ध होती है, यद्यपि कल्प भेद के कारण तत्तत् कथानकों मे किञ्चित् भेद भी पाया जाता है, परन्तु मूल बाते सभी कथाओ मे समान ही पाई जाती है। यथा —

(१) गणेश—किसी कर्म-फल जन्य शरीर धारी माता पिता द्वारा गर्भ से उत्पन्न नही हुए, किन्तु अमैथुनी सृष्टि के अनादि और स्वयम्भू देवता है।

(२) उनका मस्तक छिन्न होने पर ही गज-मस्तक जोडा गया है।

(३) वे सभी देवताओ मे एकस्वर से प्रथमपूज्य नियत किए गए है।

(४) वे गजमुख, एकदन्त, चतुर्भुज और लम्बोदर है। इत्यादि

पौराणिक स्वरूप

(क) कदाचिन्मज्जमानायां पार्वत्यां वै सदाशिवः ।
नन्दिनं परिभत्स्यैवमाजगाम स्वयं तदा ॥
उत्तस्थौ मज्जमाना सा लज्जिता सुंदरी तथा ।
एवं जाते तदा काले कदाचित्पार्वती शुभा ॥
मदीयसेवकः कश्चिद् भवेच्छुभतरस्तदा ।
इत्थं विचार्य्य सा देवी करयोर्जलसम्भवम् ॥
शंखमुत्सार्य्य तेनैव निर्ममे पुत्रकं शुभम् ॥
(शिवपुराण ज्ञानसहिता अध्याय ३२)

(ख) कदाचिद् गन्धतैलेन गात्रमभ्यज्य शैलजा ।
चूर्णैरुद्वर्तयामास मलेनापूरितं वपुः ॥
तदुद्वर्तनकं गृह्य नरं चक्रे गजाननम् ।
पुरुषं क्रीडती देवी साक्षेपं च तदम्भसि ॥
(पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अध्याय ४५४-५५)

(ग) यच्चापि हसितं तेन देवेन परमेष्ठिना ।
मूर्तिमानपि तेजस्वी हसतः परमेष्ठिनः ॥
प्रदीप्तास्यो महादीप्तः कुमारस्त्रासयन् दिशः ॥
तं दृष्ट्वा परमं रूपं कुमारस्य महात्मनः ।
उमा निमेषनेत्राभ्यां सहापश्यत् सुभामिनी ।
तं दृष्ट्वा कुपितो देवः स्त्रीभावं चञ्चलं तथा ॥

मत्वा कुमाररूपं तं शोभनं मोहनं दृशाम् ॥

ततः शशाप तं देवो गणेशं परमेश्वरः ।

कुमार ! गजवक्त्रस्त्वं प्रलम्बजठरस्तथा ॥

(वाराह पुराण २३। १४—१८)

(घ) प्रतिष्ठाप्य तदा द्वारि निर्वाप्यो य इहागमेत् ।१६।

एतदन्तरमासाद्य शूलपाणिस्तथोत्तरे ।

आगत्य च त्रिशूलेन शिरस्तस्य न्यपातयत् ॥६६॥

इत्येवमभिमन्त्रेण मन्त्रितश्च यदा पुनः ।

तदोत्तस्थौ पुनश्चायं शुभाङ्गः सुन्दरस्तथा ॥३६॥

अभिषिक्तस्तदा देवगणाध्यक्षैर्गजाननः ॥४०॥

(शिवपुराण ज्ञानसहिता अध्याय ३२-३३)

(ङ) नायकेन विना देवि ! मया भूतोऽपि पुत्रकः ॥७२॥

यस्माज्जातस्ततो नाम्ना भविष्यति विनायकः ॥७३॥

(शिवपुराण ज्ञानसहिता अध्याय ३३)

(च) शङ्कराय ददौ तां च पार्वतीं पर्वतो मुदा ॥१४॥

स रेमे नर्मदातीरे पुष्पोद्याने तया सह ॥१५॥

सहस्रवर्षपर्य्यन्तं देवमानेन नारद ॥१६॥

(ब्रह्मवैवर्त गणपतिखण्ड अध्याय १)

दृष्ट्वा सुरान् भयार्तांश्च''स विष्णुर्विष्णुमायया।१६

गणेशरूपः श्रीकृष्णो बालरूपं विधाय सः।८२-८३।

तल्पस्थे शिववीर्य्ये च मिश्रितः स बभूव ह ॥८४॥

(ब्र० वै० गण० ८)

(छ) एतस्मिन्नन्तरे तत्र द्रष्टुं शङ्करनन्दनम् ।
आजगाम महायोगी सूर्य्यपुत्रः शनैश्चरः ॥
(ब्र० वै० गण० ११।५)

शनेश्च दृष्टिमात्रेण चिच्छेद मस्तकं मुने ! ।७।
विस्मितास्ते सुराः सर्वे· · ·आरुह्य गरुडं हरिः ।१०-११
गजेन्द्रं निद्रितं तत्र· ·तथोदक् शिरसं रम्यम् ।१२-१३
रुचिरं तत् शिरः सम्यग् योजयामास बालके ।२१।
जीवयामास तं शीघ्रं हुंकारोच्चारणेन च ।२२।
सर्वाग्रे तव पूजा च मया दत्ता सुरोत्तम ।
(ब्रह्मवैवर्त गण १३)

(ज) पितुरव्यर्थमस्त्रं च दृष्ट्वा गणपतिः स्वयम् ।
जग्राह वामदन्तेन नास्त्रं व्यर्थं चकार ह ।३६।
निपात्य पर्शुवेगेन छित्वा दन्तं समूलकम् ।
जगाम रामहस्तञ्च महादेवबलेन च ।३४।
(ब्रह्मवैवर्त गण० ४३)

विष्णुरुवाच—
पुत्राभिधानं वेदेषु पश्य वत्से ! वरानने !
'एकदन्त' इतिख्यातं सर्वदेवनमस्कृतम् ॥
(ब्र० वै० गण० ४४।८३)

अर्थात्—(क) किसी समय पार्वती स्नान कर रही थी, (रोकने पर) द्वारपालभूत नन्दीगण को झिड़ककर सदाशिव भगवान् स्वय अन्दर आ पहुँचे। तब स्नान करती हुई सुंदरी पार्वती लज्जित होकर

उठ खडी हुई। ऐसा होने पर पार्वती ने सोचा कि कदाचित् मेरा कोई निजी सेवक हो तो ठीक रहे। ऐसा विचार करती हुई पार्वती ने अपने हाथो से कमल निर्मित चूडियें उतार उनसे ही एक पुतला बनाया।

(ख) शैल-पुत्री ने कभी अपने शरीर पर सुगन्धित तैल की मालिश की और उबटन के साथ उस चिकनाहट को उतारते हुए सब शरीर मैल से परिपूरित हो गया। अनन्तर उस मैल को लेकर हाथी जैसे मुखवाला एक पुतला बनाकर एक बार जल मे डालती हुई क्रीड़ा करने लगी।

(ग) भूतभावन भगवान् शिव अद्भुतरूप-सम्पन्न गणेश को देखकर हँसने लगे। तब वह तेजस्वी कुमार सब दिशाओ को प्रदीप्त करता हुआ और भी अधिकाधिक शोभायमान होने लगा, पार्वती उस परमसुन्दर कुमार के रूप लावण्य को निर्निमेष नेत्रो से उत्कंठा पूर्वक देखने लगी। शकर पार्वती की इस स्त्री-सुलभ चचलता को देखकर और बालक की मनोमोहक सुन्दरता को देखकर क्रुद्ध हुए और गणेश को शाप दिया कि—हे कुमार! तुम्हारा मुख हाथी के समान हो! और तुम्हारा पेट भी लम्बा हो जाए!

(घ) पार्वती ने इस (मलनिर्मित पुतले को) द्वार पर खडा किया और कहा कि जो अन्दर आए उसे रोको। अनतर शूल हाथ मे लिए शिव आ पहुँचे। (रोकने पर) शिव ने त्रिशूल से मस्तक काटकर गिरा दिया। (पुन पार्वती को प्रसन्न करने के लिए) ज्यो ही मन्त्रजल से उसे अभिमन्त्रित किया, वह पूर्ववत् सुन्दर सजीव हो गया। तब सब देवताओ ने उसको समस्त गणो के अधिष्ठाता पद पर अभिषिक्त किया।

(ङ) महादेव ने कहा—हे पार्वती! यह कुमार मुझ नायक के

विना ही उत्पन्न होकर पुत्र बना है, इसलिए इसका अन्वर्थ नाम 'वि-नायक' प्रसिद्ध होगा।

(च) हिमाचल ने अपनी पुत्री पार्वती, शंकर भगवान् को प्रदान की। नर्मदा के किनारे पुष्पोद्यान में शंकर पार्वती से रमण करने लगे। देवताओ के एक सहस्र वर्ष बीत गए। (असुरो के) भय से त्रस्त हुए देवताओं को देखकर विष्णु भगवान् अपनी वैष्णवी माया से शय्या पर गिरे। शिव वीर्य्य मे मिश्रित होकर बालरूप श्रीकृष्ण भगवान् गणेशरूप मे परिणत होगये।

(छ) इसी समय महायोगी सूर्य्य-पुत्र शनैश्चर शंकर भगवान् के इस पुत्र को देखने के लिए यहा आ पहुँचे। शनि की दृष्टिमात्र पड़ने से बालक का मस्तक छिन्न हो गया, तब सब देवता बहुत चकित हुए। (रंग मे भंग देखकर) विष्णु भगवान् गरुड़ पर चढ कर चले, मार्ग मे उत्तर को शिर किये सोते हुए हुए एक हाथी को देखकर सुदर्शन चक्र के साथ उसका मस्तक काट कर ले आए और उस सुन्दर मस्तक को बालक के अंग पर संयुक्त कर दिया, तथा सब देवताओ से पूर्व तुम्हारी पूजा होगी ऐसी व्यवस्था की।

(ज) (सहस्रार्जुन और परशुराम के युद्ध प्रसंग के समय) गणेश जी ने देखा कि—(परशुराम ने) मेरे पिता को प्रदान किया हुआ अमोघ अस्त्र सन्धान किया है, तब जानबूझ कर उसे सफल बनाने के निमित्त अपने बाए दांत पर ओटा, पर्शु ने प्रहार वेग से दात को जड से उखाड़ कर फेंक दिया और पुन. वह महादेव के बल से परशुराम के ही हाथ में चला गया। (चिंतित पार्वती को) विष्णु भगवान् ने कहा—हे देवि! वेदो मे अपने पुत्र का नाम देखो वहा 'एकदन्त' लिखा है, वे सब देवताओ से इसी नाम से पूजित है।

वैदिक स्वरूप

(क) रुद्रो वैज्येष्ठः श्रेष्ठश्च देवानाम्। (कौषीतकी २५।१३)
(ख) ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। (शतपथ १४।३।४।४)
(ग) अस्माद् वीर्य्यमुदक्रामत्। (शतपथ ७।१।२।१-६)
(घ) ततो विराडजायत। (यजु० ३१।५)
(ङ)···त्वं कुमारः···त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।
(अथर्व० १०।८।२७)
(च) शिर इन्द्रोदवर्तयः। (ऋग्वेद ८।१४।१३)
(छ) शिरः प्रत्यैरयतम्। (ऋग्वेद १।११७।२२)
(ज) गणानां त्वा गणपतिं हवामहे। (यजु.)
(झ) लम्बोदराय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्। (गणेश गायत्री)

अर्थात्—(क) रुद्र भगवान् देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। (ख) तब पति और पत्नी हो गये। (ग) इससे वीर्य गिरा। (घ) तब उससे (समस्त गणों के) विशिष्ट राजा (गणपति) उत्पन्न हुए (ङ) तू कुमार=कुत्सित विघ्नों का संहार करने वाला है और तू सब ओर से मुख=मुख्य=सब देवों में अग्रपूज्य है। (च) देवाधिदेव ने उसका शिर काट डाला। (छ) पुनः अन्य शिर को संयुक्त किया गया। (ज) आप समस्त गणों के पति हैं, हम सब आपका अवाहन करते हैं। (झ) बडा पेट, हाथी की सूंड और एकदन्तोपलक्षित देव का हम विवेकपूर्वक ध्यान करते हैं, वह हमें शुभ कार्यों में प्रेरित करे।

पाठक उपर्य्युक्त पौराणिक और वैदिक दोनो स्वरूपो की तुलना करके देखे, वेद मे बीजरूपेण सभी पौराणिक भावो का मूल सुस्पष्ट विद्यमान है। अब हम क्रम प्राप्त इसका आध्यात्मिक भाव प्रकट करते है। बनारस के 'पण्डित पत्र' मे प्रकाशित एक लेख से इस अश के सकलन मे बहुत सहायता मिली है, एतदर्थ हम अज्ञात लेखक के कृतज्ञ है—

आध्यात्मिक-भाव

सर्वजगन्नियन्ता पूर्ण परम तत्त्व ही गणपतितत्त्व है, क्योंकि 'गणाना पति गणपति', गण शब्द समूह का वाचक होता है। 'गणशब्द समूहस्य वाचक' परिकीर्तित ।' समूहो के पालन करने वाले परमात्मा को गणपति कहते हैं। देवादियों के पति को भी गणपति कहते हैं। अथवा—'महत्तत्वादि—तत्त्वगणाना पति', गणपति' अथवा—'निर्गुणसगुणब्रह्मगणाना पति. गणपतिः, तथा च-सर्वविध गणो को सत्ता स्फूर्त्ति देने वाला जो परमात्मा है वही गणपति है। अभिप्राय यह कि 'आकाश-स्तल्लिगात्' इस न्याय से जिसमे ब्रह्मतत्त्व के जगदुत्पत्तिस्थिति-लयलोलत्व, जगन्नियन्तृत्व सर्वपालकत्वादि गुण पाए जाएँ वही ब्रह्म होता है। जैसे आकाश का जगदुत्पत्तिस्थिति-कारणत्व—"आकाशदेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुति से जाना जाता है। इसलिए वह भी आकाश पदवाच्य परमात्मा माना जाता है।

अतीन्द्रिय सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्णय केवल शास्त्र के ही आधार पर किया जा सकता है। जैसे शब्द की अवगति श्रोत्र से ही होती है वैसे ही पूर्ण परम तत्त्व की अवगति शास्त्र से ही होती है। इसीलिए "त त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, शास्त्रयोनित्वात्" इत्यादि

श्रुतिसूत्र तथा अनेकविध युक्तियो से भी यही साबित होता है कि सर्व जगत् कारण ब्रह्म शास्त्रैकसमधिगम्य है । यदि शास्त्राति-रिक्त अन्य प्रमाणो से वस्तुतत्त्व की अवगति हो जाय शास्त्र को अनुवादक मात्र होने से नैरर्थक्य-प्रसग दुर्वार होगा; इसीलिए गणपति तत्त्व की अवगति मे मुख्यतया शास्त्र ही प्रमाण है । शास्त्रानुसार यही जाना जाता है कि 'गण्यन्ते बुद्धयन्ते ते गणाः' इस व्युत्पत्ति से सर्वदृश्य मात्र गण है और उसका जो अधिष्ठान है वही गणपति है। कल्पित की स्थिति-प्रवृत्ति अधिष्ठान से ही होती है, अत कल्पित का पति अधिष्ठान ही युक्त है । यद्यपि कहा जा सकता है कि तब तो भिन्न-भिन्न पुराणों मे शिव विष्णु, शक्ति आदि ही ब्रह्मरूप से विवक्षित हैं । जब कि ब्रह्म-तत्त्व एक ही है तो उसके नाना नाम रूप भिन्न-भिन्न पुराणों में कैसे पाये जाते हैं ? पर इसका उत्तर यही है कि एक ही परम-तत्त्व भिन्न-भिन्न उपासको की भिन्न-भिन्न अभिलषित सिद्धि के लिए अपनी अचिन्त्य लीलाशक्ति से भिन्न २ गुणगण सम्पन्न होकर भिन्न-भिन्न नामरूपवान् होकर अभिव्यक्त होता है। जैसे वामनीत्व, सर्वकामत्व, सर्वरसत्व सकल्पादि गुण विशिष्ट ब्रह्म-तत्त्व की उपासना करने से उपासको को उपास्यविशेषणभूत गुण ही फल रूप मे प्राप्त होते हैं, ठीक वैसे ही प्राधान्येन विघ्नविनाशकत्वादि गुणगणविशिष्ट गणपति रूप मे वही परम-तत्त्व आविर्भूत होते हैं ।

यदि कहा जाए कि फिर इसी तरह से वाञ्छाभिमत भिन्न-भिन्न देव भी ब्रह्मतत्त्व ही होगे; तथा इतना ही क्यों, जब कि सारा ही प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व है तब गणपति ही क्यों विशेष रूप से ब्रह्म कहे जाएं। इसका उत्तर यही है कि ठीक, यद्यपि अधिष्ठान रूप से वाञ्छाभिमत देव तथा तत्तद्वस्तु सकल ब्रह्मरूप कहे जा सकते हैं,

तथापि तत्तद्गुणगण विशिष्ट रूप से ब्रह्मतत्त्व तो केवल शास्त्र मे ही जाना जा सकता है, अर्थात्—शास्त्र ही जिन २ नामरूप-गुणयुक्त तत्त्वों को ब्रह्म बतलाते हैं वही ब्रह्म हो सकते है। क्योंकि यह कहा जा चुका है कि अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान कराने मे एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण हो सकते है। शास्त्र मुख्य रूप से वेद और वेदानुसारी स्मृतीतिहासपुराणादि ही हैं, यह बात आगे पूर्ण रूप से विवेचित की जायगी। शास्त्र गणपति को पूर्ण परब्रह्म बतलाते हैं।

स्वरूप विवेचन

गणपति के स्वरूप मे नर तथा गज इन दोनो का ही सामंजस्य पाया जाता है। यह मानो प्रत्यक्ष ही परस्पर विरोध से प्रतीयमान तत्पदार्थ तथा त्व पदार्थ के अभेद को सूचित करता है। क्योकि तत्पदार्थ सर्व जगत्कारण सर्वशक्तिमान् परमात्मा होता है। एव त्व पदार्थ अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान् जीव होता है। उन दोनो का ऐक्य उपरिष्टात् (स्थूल-दृष्टि से) यद्यपि विरुद्ध है, तथापि लक्षणा से विरुद्धांशद्वय का त्याग कर एकता सुसम्पन्न होती है। तद्वत् लोक मे यद्यपि नर और गज का ऐक्य असमजस है, तथापि सकलविरुद्धधर्माश्रय भगवान् मे वह समजस है। अथवा जैसे 'तत्पद' लक्ष्यार्थ सर्वोपाधिविनिर्मुक्त "सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" एव लक्षण लक्षित ब्रह्म है, वैसे ही 'त्वं' पदार्थ जगन्मय सोपाधिक ब्रह्म है। इन दोनो का अखण्डैक रस 'असि' पदार्थ मे सामञ्जस्य है। इसी तरह नर और गज स्वरूप का सामजस्य गणपति स्वरूप में है। 'त्व' पदार्थ नर स्वरूप है तथा 'तत्' पदार्थ गज स्वरूप है एव अखण्डैक रस गणपति रूप 'असि' पदार्थ मे इन दोनो का सामजस्य है।

शास्त्रो में नरपद से प्रणवात्मक सोपाधिक ब्रह्म कहा है, तथाहि—

"नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः ।"

गज शब्दार्थ शास्त्रो मे ऐसा किया है-**समाधिना योगिनो गच्छन्ति यत्र इति 'ग:',-यस्मात् बिम्बप्रतिबिम्बवत्तया प्रणवात्मकं जगज्जायते इति 'ज-'** समाधि से योगो लोग जिस परमतत्त्व को प्राप्त करते हैं वह 'ग' है और जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, वैसें ही कार्य-कारण-स्वरूप' प्रणवात्मक प्रपच जिससे उत्पन्न होता है उसे 'ज' कहते हैं । तथाहि **"जन्माद्यस्य यतः" "यस्मादोङ्कारसम्भूति यतो वेदो यतो जगत्"** इत्यादि वचन भी उसके पोषक हैं । सोपाधिक 'त्व' पदार्थात्मक गणेश का पादादि कण्ठपर्यन्त नरदेह है । यह सोपाधिक होने से निरुपाधिकापेक्ष या निकृष्ट है । अत अधोभूताङ्ग है । निरुपाधि सर्वोत्कृष्ट 'तत्' पदार्थ मय गणेश जी का कण्ठादि मस्तक पर्यन्त गजस्वरूप है क्योकि वह निरुपाधिक होने से उत्कृष्ट है। सपूर्ण पादादि मस्तक पर्यन्त गणेश का देह 'असि' पदार्थ अखण्डैक रस है ।

यह गणेश एकदन्त है । ' एक' शब्द 'माया' का बोधक है और 'दन्त' शब्द 'मायिक' का बोधक है । यथा —**'मोद्गले'**

"एकशब्दात्मिका माया, तस्याः सर्वसमुद्भवम्"
"दन्तः सत्ताधरस्तत्र, मायाचालक उच्यते ।"

अर्थात्—गणेश जी माया और मायिक का योग होने से 'एकदन्त' कहलाते है ।

गणेश जी वक्रतुण्ड भी है। **'वक्र आत्मरूपं मुखं यस्य । -वक्र**

कहते हैं टेढे को। आत्मस्वरूप टेढा है क्योंकि—सर्वजगत् मनो-वचन का गोचर है, किन्तु आत्मतत्त्व उसका (मनोवाणी का) अविषय है। तथा च—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते" और भी—

कण्ठाधो मायया युक्तं मस्तकं ब्रह्मवाचकम्।
वक्राख्यं तेन विघ्नेशस्तेनायं वक्रतुण्डकः॥

गणेश चतुर्भुज भी है। क्योंकि देवता, नर, असुर और नाग इन चारों का स्थापन करने वाले हैं। एवं चतुर्वर्ग चतुर्वेदादि के भी स्थापक हैं यथा—

स्वर्गेषु देवतांश्चायं पृथ्व्यां नरांस्तथाऽतले।
असुरान्नागमुख्यांश्च स्थापयिष्यति बालकः॥
तत्त्वानि चालयन्विप्रास्तस्मान्नाम्ना चतुर्भुजः।
चतुर्णां विविधानाञ्च स्थापकोऽयं ऽकीर्तितः॥

और वह भक्तानुग्रहार्थ चारों हाथों में पाश, अंकुश, दन्त और वरादि धारण करते हैं। सर्व जगन्नियन्तृ रूप ब्रह्म अंकुश है। दुष्टों को नाश करने वाला ब्रह्म दन्त है। सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला ब्रह्म वर है।

गणपति भगवान् का वाहन मूषक है मूषक सर्वान्तर्यामी सर्व प्राणियों के हृदय रूप बिल में रहने वाला सर्व जन्तुओं के भोगों को भोगने वाला ही है। तथा वही चोर है, क्योंकि जंतुओं के अज्ञात सर्वस्व को हरने वाला है। उसको कोई जानता नहीं, क्योंकि माया करके गूढ रूप अन्तर्यामी ही समस्त भोगों को भोगता है। इसीलिए 'भोक्तारं सर्वतपसा' कहा है। मुषस्तेये

धातु का मूषक बनता है। जैसे मूषक प्राणियो के सर्वभोग्य वस्तुओ को चुराकर भी पुण्यपाप वर्जित ही होता है, वैसे ही मायगूढ सर्वान्तर्यामी भी सर्वभोग्य को भोगता हुआ भी पुण्यपाप वर्जित है। सर्वान्तर्यामी गणपति की सेवा के लिये मूषक रूप धारण कर वाहन बना।

मूषकं व्यापकाख्यं च पश्यन्ति वाहनं परम् ।
तेन मूषकवाहोयम् वेदेषु कथितोऽभवत् ।।
मुषस्तेये तथा धातुर्ज्ञातव्य स्तेयब्रह्मधृक् ।
नामरूपात्मकं सर्वं तत्रासद् ब्रह्म वर्तते ।।
भोगेषु भोगो भोक्ता च ब्रह्माकारेण वर्तते ।
अहङ्कारयुतास्तं वै न जानन्ति विमोहिताः ।।
ईश्वरः सर्वभोक्ता च चोरवत् तत्र संस्थितः ।
तदेव मूषकः प्रोक्तो मनुजानां प्रचालकः ।।

भगवान् लम्बोदर है, क्योकि उनके ही उदर मे समस्त प्रपच प्रतिष्ठित है और वह किसी के उदर मे नही है। तथा च—तस्योदरात्समुत्पन्न नाना विश्व न सशय। एव शूर्पकर्ण है, क्योकि योगीन्द्र मुख से वर्ण्यमान तथा उत्तम जिज्ञासुओ से श्रूयमाण हृद्गत होकर शूर्प के समान पाप पुण्य रूप रज को दूर करके ब्रह्मप्राप्ति सम्पादित कर देते है।

रजोयुक्तं यथा धान्यं रजोहीनं करोति च ।
शूर्पं सर्वनराणां वै योग्य भोजनकाम्यया ।।
तथा मायाविकारेण युतं ब्रह्म न लभ्यते ।

क्यो ?

त्यक्तोपासनकं तस्य शूर्पकर्णस्य सुन्दरि।
शूर्पकर्णं समाश्रित्य त्यक्त्वा मलं विकारकम्॥
ब्रह्मैव नरजातिस्थो भवेत् तेन यथास्मृतः।

गणेश जी ज्येष्ठराज हैं–सर्वज्येष्ठो के अधिपति या सर्वज्येष्ठ जो ब्रह्मादि उनके बीच मे विराजमान हैं। वही गणेश जी शिव–पार्वती के तप से प्रसन्न होकर पार्वती-पुत्र रूप होकर प्रादुर्भूत हुए है। जैसे रामभद्र और श्रीकृष्णचन्द्र दशरथ और वसुदेव के पुत्र रूप से प्रादुर्भूत होकर भी उनसे अपकृष्ट नही हैं, वैसे ही भगवान् गणेश उनसे उत्पन्न होकर भी उनसे अपकृष्ट नही है। अतएव उनकी शिवविवाह मे विद्यमानता और पूज्यता भी हुई।

आधिदैविक-भाव

ब्रह्मवैवर्त पुराण मे लिखा है कि–पार्वती के तप से गोलोक-निवासी पूर्ण परब्रह्म श्रीकृष्ण परमात्मा ही गणपतिरूप से प्रादुर्भूत हुए हैं। गणपति, श्रीकृष्ण, शिव आदि एक ही तत्त्व हैं। इसी गणपति तत्त्व को सूचित करने वाला ऋग्वेद (अष्टक २ अध्याय ६ वर्ग २९) का यह मन्त्र है—

"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्। ज्येष्ठराजं ब्रह्मणस्पत आनः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्।"

इससे मिलता-जुलता ही यजुर्वेद मे भी गणपतिस्तावक मन्त्र है। "गणानान्त्वा गणपतिं···इत्यादि ऋग्वेद का जो मन्त्र है उसका सर्वथा ही गणपति-स्तुति में तात्पर्य है। एवं यजुर्वेदगत

मन्त्र का विनियोग यद्यपि अश्वस्तवन मे है, तथापि केवल अश्व मे मन्त्रोक्तगुण अनुपपन्न होने से अश्वमुखेन गणपतितत्त्व की ही स्तुति इस मन्त्र से होती है। मन्त्रार्थ यो है—

(हे वसो !) वसति सर्वत्र भूतेषु व्यापकत्वादिति तत्सम्बुद्धौ (गणाना) महदादीना ब्रह्मादीनामन्येषा वा (गणपति) गणरूपेण साक्षिरूपेण, ज्ञेयाधिष्ठानरूपेण वा 'गणसङ्ख्याने' इत्यस्माद् गण्यते बुध्यते योगिभि साक्षात्क्रियते य स गणस्तद्रूपेण वा पालक, एतादृश (त्वा आह्वयामहे) तथा (प्रियाणाम्) वल्लभाना प्रियपति) प्रियस्य पालक तच्छ्रेष्ठतयैव सर्वस्य प्रेमास्पदत्वात्, 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवतीति श्रुते। (निधीना) सुखनिधीना सुखनिधे मदन्त करणे प्रादुर्भूय स्वस्वरूपानन्दसमर्पणेन (वमापि) पतिर्भूया। पुन हे देव ! (अहन्ते गर्भध) अजाया प्रकृतौ-चैतन्य-प्रतिबिम्बात्मक चैतन्य त्, (तथाच—मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहमिति भगवत्स्मरणात्।) (आकृष्य) योगवलेन, (अजानि) स्वहृदि स्थापयानि, (त्व च मम हृदि) (अजासि) क्षिपसि स्वस्वरूप स्थापयसि।

भावार्थ—अधिकारी उपासक गणपति की प्रार्थना करता है—हे सर्वान्तर्यामिन् ! देवादि समूहो का अधिष्ठान तथा साक्षीरूप से पालन करने वाले, प्रियो को प्रियरूप से पालन करने वाले, लौकिक प्रेमास्पदो को परम प्रेमास्पदरूप से स्वसम्बन्ध द्वारा पालन करने वाले, लौकिक सुखराशियो को अलौकिक परमानन्दरूप से पालन करने वाले, अर्थात् अपने अश से सम्पादन करने वाले आपको मैं पतिरूप से आह्वान करता हूँ। आप मुझे भी स्वस्वरूपानन्द समर्पण द्वारा पालन करे। 'जगदुत्पादनार्थ प्रकृतिरूप योनि मे स्वकीय चैतन्य प्रतिबिम्बात्मकरूप गर्भ को

धारण करने वाले विम्वचैतन्यरूप को मैं अपने हृदय में विशुद्धान्त करण से धारण करूँ। एतदनुकूल आप अनुग्रह करें, ऐसी प्रार्थना है।

विघ्न-विनाशक गणेश

इस तरह मन्त्र प्रतिपाद्य गणपतितत्त्व सर्व विघ्नों का विनाशक है। अतएव गणपत्यथर्वशीर्ष के नवें मन्त्र में—"विघ्ननाशिने शिवसुताय वरदमूर्त्तये नमः" ऐसा आया है। सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान करते समय "कालात्मकभयहारिणे, अमृतात्मकपदप्रदत्वात्" अर्थात्, गणेश जी कालात्मक भय को हरण करने वाले हैं, क्योंकि वे अमृतात्मकपदप्रद हैं। स्कान्द तथा मौद्गल में विनायकमाहात्म्य विषयक एक ऐसी गाथा है—किसी समय अभिनन्दन राजा ने इन्द्रभागशून्य एक यज्ञ आरम्भ किया। यह जानकर इन्द्र कुपित हुआ। उसने काल को बुलाकर यज्ञभङ्ग की आज्ञा दी। कालपुरुष यज्ञ को नष्ट करने के लिए विघ्नासुर रूप में प्रादुर्भूत हुआ। जन्ममृत्युमय जगत् काल के अधीन है। काल तीनो लोकों को भ्रमण कराता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष काल को जीतकर अमृतमय हो जाता है। ब्रह्मज्ञान का साधन वैदिक स्मार्त सत्कर्म हैं। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवाः।" सत्कर्म से विशुद्धान्तःकरण पुरुष को भगवत्तत्त्व साक्षात्कार होता है, और उससे ही काल का पराजय होता है। यह जानकर काल उस सत्कर्म के नाश के लिए विघ्नरूप होकर प्रादुर्भूत हुआ। सत्कर्महीन जगत् सदा ही काल के अधीन रहता है। इस वास्ते काल-स्वरूप विघ्नासुर अभिनन्दन राजा को मारकर जहाँ-तहाँ दृश्यादृश्यरूप से सत्कर्म का खण्डन करता था। उस समय वशिष्ठादि भ्रान्त होकर ब्रह्मा की शरण गये।

ब्रह्मा की आज्ञा से भगवान्-गणपति की स्तुति की। क्योकि गणपति को छोडकर किसी भी देवता मे कलानाश सामर्थ्य नही है। गणेश जी असाधारण विघ्न-विनाशकत्व गुण-सम्पन्न है। यह बात श्रुतिस्मृति शिष्टाचार तद्वाक्य एव श्रुतार्थापत्ति से अवगत है। श्री गणेश जी से विघ्नासुर पराजित होकर उनकी शरण मे गया और उनका आज्ञावशवर्ती हुआ। अतएव गणेशजी का नाम विघ्नराज भी है। उसी समय से गणेशपूजनस्मरण-रहित जो भी सत्कर्म हो उसमे विघ्न का प्रादुर्भाव अवश्य होता है। इसी नियम से विघ्न भगवान् के आश्रित रहने लगा। विघ्न भी काल-रूप होने से भगवत्स्वरूप है। "**विशेषेण जगत्सामर्थ्यं हन्तीति विघ्न**" ब्रह्मादिको में भी जगत्सर्जनादि सामर्थ्य को हनन करने वाले को विघ्न कहते है। अर्थात् ब्रह्मादि समस्त कार्य ब्रह्म-विघ्नपराभूत होने के कारण स्वेच्छाचारी नही हो सकते। किंतु गणेश के अनुग्रह से ही विघ्नरहित होकर कार्यकरण क्षम होते हैं। विघ्न और विनायक ये दोनो ही भगवान् होने के कारण स्तुत्य है। अतएव "**भगवन्तौ विघ्नविनायकौ प्रीयेताम्**" ऐसा पुण्याह-वाचन मे लिखा है। विघ्न सिवाय गणेश के और किसी के वश मे नहीं, जैसा कि—योग वाशिष्ठ मे शाप देने को उद्यत भृगु के प्रति विघ्नरूप काल ने कहा है—

"मा तपः क्षपयाबुद्धे ! कल्पकालमहानलैः।
यो न दग्धोऽस्मि मे तस्य किं त्वं शापेन धक्ष्यसि॥
ब्रह्माण्डावलयो ग्रस्ताः निगीर्णा रुद्रकोटयः।
भुक्तानि विष्णुवृन्दानि क्व न शक्ता वयं मुने॥"

इससे सिद्ध हुआ कि, निःश्रेयस साधन गणेशस्मरण-हीन

सभी सत्कर्मों मे कालरूप विघ्न के प्रादुर्भाव का होना अनिवार्य है। अतस्तन्निवारणार्थ गणेशस्मरण सभी सत्कर्मों मे आवश्यक है।

यदि कहा जाय कि ओकार ही सर्वमगलमय है, वेदोक्त समस्त कर्म उपासनाओ के आदि मे ओकार का ही स्मरण किया जाता है, अत. गणेशस्मरण निरर्थक है, सो ठीक नहीं। क्योंकि ओकार भी सगुण गणेशस्वरूप ही है। मौद्गल मे भी कहा है— "गणेशस्यादिपूजनञ्चतुर्विधम् चतुर्मूर्त्तिधारकत्वात्।" ब्रह्मा के चारो मुखो से अष्टलक्ष पुराणो का प्रादुर्भाव हुआ। उसके बाद द्वापर मे व्यासदेव ने कलियुगीय मन्दमति प्राणियों के बोधार्थ अष्टादश पुराणोपपुराणों का निर्माण किया। उनमे पहला ब्राह्म पुराण है। उसमे निर्गुण एव बुद्धितत्त्व से पर गणेशतत्त्व का वर्णन है। अन्तिम ब्रह्माण्डपुराण है, उसमे सगुण गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है, क्योंकि वह विशेष रूप से प्रणवात्मक प्रपञ्च का प्रतिपादन करने वाला है। उपपुराणो मे भी पहला गणेशपुराण है, जो कि सगुण निर्गुण गणेश की एकता का प्रतिपादन करने वाला और गजवदनादि मूर्त्तिधर गणेश का भी प्रतिपादन करता है। यहां पर जो यह कहा जाता है कि उपपुराण अपकृष्ट है, सो ठीक नही क्योकि जैसे उपेन्द्र इन्द्र से अपकृष्ट नही, वैसे ही पुराणापेक्षया उपपुराण अपकृष्ट नही। मौद्गल अन्तिम उपपुराण है। उसमें योगमय गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है। इस तरह से वेद, पुराण, उपपुराण आदिकों के आदि मध्य अन्त मे गणेशतत्त्व का प्रतिपादन है। इतना ही क्यो ? ब्रह्मविष्णवादि भी गणेशांश होने से ही शास्त्रप्रतिपाद्य है। कोई लोग बुद्धिस्थ चिदात्मरूप गणेशस्मरण करके सत्कर्म करते हैं। कोई प्रणवस्मरणपूर्वक सत्कर्म करते हैं। कोई गजवदनाद्यवय-

वमूर्तिधर गणेश का स्मरण करते हैं। एव कोई योगमय गण-पति का स्मरण करते हैं। यो सभी शुभाशुभ कार्यारम्भ मे येनकेनचिद्रूपेण गणेशस्मरण देखा जाता है। कोई कहते हैं— प्राणप्रयाण समय मे, पितृ यज्ञादि मे गणेशस्मरण नही प्रसिद्ध है, सो ठीक नही, कारण ? गयास्थित गणेशपद पितृमुक्ति देने वाला है। वेदोक्त पितृयज्ञारम्भ मे गणेशपूजन का निषेध नही है। इसीलिए वहा भी गणेशपूजन होता है और वह युक्त है। इसीलिए श्रुति गणेशको ज्येष्ठराज शब्द से सम्बोधित करती है।

'गणेशगीता' में मरणकाल मे भी गणेशस्मरण कहा है—

'यः स्मृत्वा त्यजति प्राणमन्ते मां श्रद्धयान्वितः।
स यात्यपुनरावृत्ति प्रसादान्मम भूभुज ॥"

गणेशतापिनी मे भी कहा है—

ओं गणेशो वै ब्रह्म तद्विद्यात्, यदिदं किञ्च, सर्वं भूतं भव्यं सर्वमित्याचक्षते"

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—पूर्ण परब्रह्म पवमात्मा ही निर्गुण एवं विघ्न विनाशकत्वादि गुणगण विशिष्ट गजवदनादि अवयव मूर्त्तिधर रूप मे गणेश है।

क्या गणेश अनार्य्य देवता है ?

इस प्रकार आधिदैविक पक्ष मे गणेशलोक के स्वामी भक्तो के समस्त विघ्नो को दूर करने वाले भगवान् गणेश है। वे 'यद्रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति' के अनुसार भक्तों की भावना के अनुसार यथेच्छरूप बनाकर समय समय दर्शन देते है।

आजकल कुछ ग्रन्थ-चुम्बक पण्डितम्मन्य पाश्चात्यो के शिष्य होकर बाह्यकुसंस्कार दूषितान्त करण सुधारक श्री गणेशतत्त्व पर विचार करने का साहस कर बैठते है। वे अपने गुरुओ के

विपरीत कितना विचार कर सकते हैं। उनका कहना है पहले गणेश आर्यों के देवता नही थे किन्तु एतद्देशीय अनार्यो को पराजित करने पर उनके सान्त्वनार्थ गणेश को अपने देवताओ मे मिला लिया गया। ग्रन्थ-चुम्बक होने के कारण कुछ पुराण, कुछ वेदमन्त्र, कुछ चौपाइयो का संग्रह कर अपनी अनभिज्ञता का परिचय देते हुए ऐसे स्वरूप मे गणपति का वर्णन किया करते है कि जिससे शास्त्रीय गणपतिस्वरूप समाच्छन्न हो जाता है। यद्यपि थोडे से भी तत्त्वज्ञो के लिए ऐसे असम्बद्धालाप हेय ही हैं, तथापि मूर्खो के लिए व्यामोह होना स्वाभाविक ही है। कोई इन महानुभावो से पूछे कि गणेश नाम का कोई तत्त्व है यह कैसे जाना गया ? पुराणादि शास्त्रो से या यत्र-तत्र गणपति की मूर्त्तियों को देख कर। यदि शास्त्रो से ही गणेशतत्त्व समझा जाय तब तो फिर उन्हे अनार्यदेव कैसे कहा जाय, क्योकि शास्त्र से तो वे ब्रह्मादियो के पूज्य पाये जाते है। यदि द्वितीय पक्ष उचित समझे तब तो उसे देवता या पूज्य समझना यह केवल मूर्खता ही है, कारण केवल काष्ठ मृत पाषाणादि को कौन अभिज्ञ देवता समझेगा। यदि अदृश्य देवशक्तिविशेष का आवाहन कर उस मूर्त्ति का पूजन किया जाता है, तो भी वह देवशक्ति किस प्रमाण से जानी तथा आहूत की गई है ? इसका उत्तर यदि यह कहा जाय कि शास्त्र ही से यह बात जानी गई तब फिर शास्त्र ने तो गणेशतत्त्व को अनादि ईश्वर ही कहा हैं। फिर वह अनार्यों के देवता कैसे हुए। फिर दूसरी विलक्षण बात यह है कि शास्त्रों के भी आधार पर गणेश को अनार्यों का अभिमत देव मानना और आर्यों का बाह्य देश से आना, भारतवर्ष मे प्राथमिक अनार्यों का निवास, अनार्यों के देवता गणेश को आर्यों का ग्रहण ! भला ऐसी बेसिरपैर की बातें अनार्य्य शिष्यो के सिवा किसे सूझे

सकती हैं ? भला कोई भी सहृदय क्या वेद-पुराणादि शास्त्रो को मानता हुआ भी आर्यों का बाहर से आना तथा गणेश का अनार्य्यदेवत्व स्वीकार कर सकता है ? वस्तुत यह सब फल दूषित सस्कारो तथा आचार्यशून्य मनमाने शास्त्रो के पुस्तकी ज्ञान का है। इसीलिए ज्ञानलवदुर्विदग्ध अनभिज्ञो से भी शोचनीय समझे जाते हैं, और इसीलिए हमारे यहा किसी भी सच्छास्त्र के अध्ययन का नियम है कि आचार्य्य परम्परा से शास्त्रीय निगूढ रहस्यो को समझना चाहिए, परस्पर विरोधी वाक्यो का समन्वय करना चाहिए। ऐसा न होने से गणपति की भिन्न-भिन्न लीलाएँ प्राणियो को मोहित करने वाली होती है, जैसे उनका नित्यत्व और पार्वती पुत्रत्व शनि की दृष्टि से शिरच्छेद गजवदन का सन्धानादि।

इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा है कि अनादि देवता समझकर गणेशादि के रूप भेद, शिव पूज्यता आदि अगो मे सशय न करे।

'जनि कोई अस संशय करै, सुर अनादि जिय जानि।

गणेश के द्वादश नाम

गणेश परमात्मा का विघ्न-नाशक स्वरूप है. इसीलिए प्रत्येक कार्य के आरम्भ मे सर्वप्रथम गणेश जी के पूजन व ध्यान का शास्त्रीय आदेश है, विघ्न—दैवी और लौकिक—दो प्रकार के होते है, दैवी विघ्नो की निवृत्ति के लिए ईश्वर प्रार्थना और लौकिक विघ्नो को दूर करने के लिए कार्य्यकर्ता का सर्वतोभावेन 'युक्तचेष्ट' होना आवश्यक है। गणेश उपासना से ये दोनो प्रयोजन सिद्ध हो जाते है। दैवी विघ्नो का मूल पूर्वकृत तत्तत् कर्मों का विपाक है, परन्तु लौकिक विघ्नो का मूल कारण हमारी मूर्खता, अनवधानता एव अयुक्त चेष्टा है। प्राय देखा जाता है

कि जो लोग अभिमान, मात्सर्य, क्रोध, लोभ तथा प्रलाप आदि दुर्गुणों वाले होते हैं वह प्रत्येक कार्य मे अपने अनेक शत्रु बना लेते हैं, शत्रुओ का बाहुल्य ही विघ्नो का मूल है। सो हमारे कार्य्य मे कोई विघ्न न पडे एतदर्थ जहा गणेश की गजवदन, लम्बोदर, एकदन्त-मूर्ति का ध्यान करते हुए पूर्व लेखानुसार साधक अनेक शिक्षाए प्राप्त करता है, वहां अपने मुख से गणेश के द्वादश नामो का उच्चारण करता हुआ भी उनके अर्थों का मनन करके अनेक शिक्षाओ से लाभान्वित होता हैं; वे द्वादश नाम प्रत्येक सनातनधर्मी गणेशपूजा के समय इस प्रकार बोलता है—

सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः ।
लम्बोदरश्च विकटो विघ्ननाशो विनायकः ।।
धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः ।
द्वादशैतानि नामानि यः पठेच्छृणुयादपि ।।
विद्यारम्भे विवाहे च प्रवेशे निर्गमे तथा ।
संग्रामे संकटे चैव विघ्नस्तस्य न जायते ।।

(पूजा पद्धति)

अर्थात्—(१) सुमुख, (२) एकदन्त, (३) कपिल, (४) गजकर्ण, (५) लम्बोदर, (६) विकट, (७) विघ्ननाशक, (८) विनायक, (९) धूम्रकेतु, (१०) गणाध्यक्ष, (११) भालचन्द्र, (१२) गजानन। इन बारह नामों को जो पढ़ता है या सुनता है, विद्यारम्भ, विवाह, नगर प्रवेश, यात्रा-प्रस्थान, युद्ध और संकट के समय मे उसके किसी कार्य मे विघ्न नही पडता।

मनोमूर्ति गणेश

वास्तव में गणेशतत्त्व मन का ही उपलक्षण है। चेतन पुरुष

और जड-प्रकृति को ही शास्त्रो मे 'शिव पार्वती' नाम से स्मरण किया गया है। पुरुष एक और अद्वितीय है, परन्तु प्रकृति के परा और अपरा दो भेद माने गये हैं, सो एक शकर का प्रथम दक्ष-कन्या सती से पुन हिमालय कन्या पार्वती से सम्वन्ध प्रकट किया गया है। सती रूप परा प्रकृति का सृष्टि से कोई सम्बन्ध नही अत पुराणादि ग्रन्थो मे सती की सन्तान का वर्णन नही मिलता, अपरा प्रकृति ही ससार की हेतु है इसलिए उससे ही षण्मुख, गजमुख आदि विलक्षण सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। पत्थर जडता का उपलक्षण है नत्सम्भव पार्वती नाम भी इसी आशय से प्रयुक्त होता है, सो प्रत्येक प्राणी का चेनन जीव पुरुषतत्त्व का अश है और जडदेह प्रकृतिदेवी का विकाश। उक्त जड और चेतन दोनो के योगायोग से एक तीसरा तत्त्व उत्पन्न होना स्वाभाविक है क्योकि जब असमान गुण वाली दो वस्तुओ का सम्मेलन होता है तो उसका परिणाम अनिवार्यरूप से अन्य तीसरे पदार्थ का प्रादुर्भाव होता है, सो प्रकृति पुरुष के सयोग का परिणाम ही वह तीसरा तत्त्व मन है, प्रकृति जड है, पुरुष चेतन है, और तत्सम्भव मन —'**उभयात्मकं मन**' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार जड चेतन दोनो की ग्रन्थि कहा जाता है, यही दार्शनिक भाव शिव-पार्वती के सयोग से गणेश की उत्पत्ति के रूप मे प्रकट किया गया है। जड-प्रकृति के पूर्ण विकास का अन्तिम परिणाम-सर्वातिशायी शरीर-गुरुत्व हाथी मे दीख पडता है और बुद्धिजीवी प्राणी के रूप से चेतनाश का अन्तिम विपरिणाम मनुष्य मे व्यक्त हुआ है, इसलिए—'**उभय वा एतत्प्रजापति निरुक्तश्चानिरुक्तश्च**' के अनुसार वही द्वैततत्त्व मन रूप गणेश मे गज और नर के सामजस्य से व्यक्त किया जाता है।

कहना न होगा कि समस्त कार्य-कलाप की साधना एकमात्र मनस्तत्त्व पर निर्भर है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' और 'मन जीते जग जीत' आदि सूक्तिये हमारे इसी आशय को पुष्ट करती है। सर्व प्रथम प्रत्येक कार्य का सकल्प मन मे बनता है, फिर वही वाणी और कर्म मे परिणत होता है इसीलिए वेद कहता है कि –

'यन्मनसानुमनुते तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति तत् कर्म्मणा करोति।'

अर्थात्—जो मन से मनन करता है सो ही वाणी से बोलता है, जो वाणी मे बोलता है सो ही कर्म करता है।

इसलिये प्रत्येक कार्य की सिद्धि प्रबल मनोयोग पर अवलबित है। इसे ही लोकभाषा मे 'लगन' कहते है। आधुनिक मिस्मरेज्म आदि प्रणाली के अभ्यासी लोग इसको ही 'विल पावर' कहकर पुकारते है। सो प्रत्येक कार्य के आरभ मे साधक को किस प्रकार आत्म विश्वास उत्पन्न करना चाहिए यह तथ्य गणेश के उपर्युक्त बारह नामो मे निहित है, यथा–

सुमुख—मन = समस्त इन्द्रियगण का मुख = मुख्य = मुखिया है।

एकदन्त—मन 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति मनसो लिंगम्' इस दार्शनिक सिद्धात के अनुसार एक समय एक ही वस्तु मे लगाया जा सकता है।

कपिल—मन अपनी चचलता मे कपि–वानर को भी मात देने वाला है।

गजकर्ण—मन दूसरे के मन की गुप्त बात को भी आकार, इगित, चेष्टा, भाषण और गति आदि मे तत्काल भांप लेता है।

लम्बोदर—समस्त ससार की दृष्ट श्रुत लबी-चौडी घटनाए इनके एक कोने मे समा जाती है।

विकट—यह इतना विकट है कि अर्जुन जैसे सव्यसाची योधा ने भी इसके प्राबल्य के सामने नतमस्तक होकर श्रीमद्भगवद्गीता के शब्दो मे–**चञ्चलं हि मन कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम्**' कहते हुए हथियार डाल दिए है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन की इस क्रिया का प्रतिवाद न कर स्वय भी—'**असंशय महावाहो ! मनो दुर्निग्रह चलम्**' कहते हुए इसका समर्थन ही किया है, तभी तो ससार मे चलते पुर्जे पुरुष को कहा जाता है कि इसका तो विकटो-पर्यन्त पाठ पहुचा हुआ है।

विघ्ननाश—जब प्रबल मनोयोग से कोई कार्य किया जायगा तो वि न बाधाएँ अपने आप काफूर हो जायेगी।

विनायक—यही सब इन्द्रियो का विशिष्ट स्वामी है, जहा यह सयत हुआ कि इन्द्रियो मे कोई विकार हो ही नही सकता।

धूम्रकेतु—सकल्प विकल्पात्मक अविस्पष्ट धूम धूसर कल्पनाओ की सत्ता ही मन के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है।

गणाध्यक्ष—सख्या मे आ सकने योग्य सभी सासारिक पदार्थों का यह स्वामी है।

भालचन्द्र—शकर भगवान् के मस्तक मे विराजमान चन्द्रमा का ही यह सक्षिप्त सस्करण है। क्योकि विराट् के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है और उस चन्द्रतत्त्व से मब पाणियो के मन अनुप्राणित हैं।

गजानन—हाथी की भाति इसका मुख भाग ही विलक्षण है, यदि साधक धैर्यपूर्वक आरम्भिक कठिनाइयो को पार कर जाए तो

तो फिर कण्ठ से नीचे का उत्तर भाग तो चेतनांश का ही विपर्र-
णाम है। अर्थात्—आरम्भ मे ही साधक को मनः का अटपटा-
पन खलता है पश्चात् वही मन साधना का इतना अभ्यासी हो
जाता है कि उसके बिना अन्य किसी व्यापार में वह शान्ति
अनुभव नही करता।

यह स्पष्ट है कि यदि साधक उक्त द्वादश नामों का अर्थ
मननपूर्वक उच्चारण करे तो उनमे आत्म-निर्भर होने की भावना
जागृत हो सकती है।

गणेश विश्वतोमुख प्रणव है

गणपति अथर्वशीर्ष मे लिखा है कि—

ॐ नमस्ते गणपतये

ॐकाररूप गणपति के लिए नमस्कार।

हम पीछे मौद्गल पुराण के प्रमाण से यह सिद्ध कर आए
हैं कि वास्तव मे विश्वतोमुख सगुण ॐकार ही गणेशरूप मे
पूजा जाता है, सो यदि विश्वतोमुख ॐकार की लेख्य प्रतिमा
वनाए तो वह इस प्रकार वनेगी–

इसे किसी ओर से देखो, ॐकार ही दीख
पडेगा, परन्तु इसका निर्माण विचक्षण
चित्र-कलाकार ही कर सकता है, अतः सर्व
साधारण मे इसका सरल रूप आज भी
सर्वत्र इस प्रकार लिखकर पूजा जाता है
जिसे स्वस्तिक कहा जाता है। भारतीय

सस्कृति के इस पवित्र चिह्न को अन्य सभ्य
देशो ने भी अपनी संस्कृति मे परिगृहीत
किया है, परन्तु जिस प्रकार गगा से

निकलने वाला गङ्गा-प्रवाह ज्यो २ आगे बढा है त्यो २ अनेक सहायक नदियो के सगम से विचित्र होता गया है, ठीक इसी प्रकार हमारी सस्कृति और उसके चिह्न भी अन्यान्य देशो मे कुछ विचित्र अवश्य हो गये हैं, सो जर्मनी आदि देशो मे स्वस्तिक और भी लघुकाय हो गया है, जैसा कि प्रस्तुत चित्र से जाना जा सकता है। नाजी लोगो ने जो कि अपने को विशुद्ध आर्य्य मानने में गौरव अनुभव करते है, इसी रूप को महत्व दिया है। परन्तु इगलैड आदि अन्यान्य सभी ईसाई जातिये इसे और अधिक सरल बनाकर 'क्रास' कहकर सम्मान देती है, इसका कुछ विवेचन पीछे लिख आए है। इस्लामी सस्कृति सम्पन्न जातिये इसे अर्धचन्द्र सहित सर्वतोमुख तारे के रूप मे सम्मान देती हैं। वह वास्तव मे ओकार का अर्धविन्दु चिह्न ही है।

ग्रह पूजन विज्ञान

सनातनधर्म्मी प्रत्येक शुभाशुभ कर्म के प्रारम्भ मे नवग्रह पूजन अवश्य करता है, यह क्यो ?

योगी याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति मे मन्त्र विनियोगपूर्वक ग्रह-शान्ति प्रकरण लिखा है, यथा—

श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत् ।

(याज्ञ० स्मृति आचाराध्याय २९४)

अर्थात्—श्री और शान्ति की कामना करने वाले मनुष्य को ग्रहयज्ञ करना चाहिए।

हम पीछे 'अण्ड पिण्ड' सिद्धान्त मे और 'मुहूर्त विज्ञान'

प्रकरण मे भी यह सिद्ध कर आए है, कि हमारा यह मानव पिंड तत्तद् देवताओं के दान से बनी एक पञ्चायती धर्मशाला के समान है। सो जैसे कोई संस्था धर्मशाला के निमित्त अपील करे तो सभी उदार दानी अपनी योग्यतानुसार दान देते हैं, एक ने भूमि दी तो दूसरे ने ईंट पत्थर, तीसरे ने लोहा लक्कड़, तो चौथे ने चूना सीमिण्ट—इस तरह उक्त दानियो के दान से थोड़े दिन मे सर्वाङ्गपूर्ण धर्मशाला बनकर तैयार हो जाती है। संस्थाओ के सचालक दाताओ के सम्मानार्थ पत्थर मे खुदा-खुदाकर उक्त दानियो के दान का विवरण तथा नाम धर्मशाला के मुख्य स्थान मे लगवा देते हैं। जिस दिन उक्त धर्मशाला का उद्घाटन मुहूर्त होता है तो उक्त सभी दानियो को सादर बुलाया जाता है और भरी सभा मे मन्त्रीजी अपनी रिपोर्ट उपस्थित करते हुए कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उक्त दानियो का नाम ले-लेकर दान के उपलक्ष मे उन सबका धन्यवाद करते हैं, यह लौकिक शिष्टाचार सर्वत्र प्रचलित है। यदि कदाचित् संस्था का मन्त्री दानियो का धन्यवाद न करे तो दानी जो कुछ दे चुके है—वह वापिस छीनने से तो रहे, परन्तु उक्त संस्था के सञ्चालको को कृतघ्न अवश्य समझा जायगा, क्योकि दान मागने के समय तो ये लोग टोली बनाकर द्वार-द्वार घूमते हुए प्रत्येक दानी को 'भवान् सोम भवान् सूर्य्यः' कहते थे, परन्तु अब अन्त मे 'धन्यवाद' देते भी न बना। यह ठीक है कि धन्यवाद से पेट नही भरता परतु हमने स्वय बहुत से उत्सवो मे यह काण्ड देखे है कि यदि मन्त्री जी अमुक व्यक्ति का धन्यवाद करना भूल गये तो महाराज ! अमुक व्यक्ति अप्रसन्नता प्रकट करने के लिए तत्काल सभा स्थान छोडकर नौ दो ग्यारह हो गए, पीछे मालूम पड़ने पर बडी-बडी क्षमा मांगने पर भी सीधे न हुए।

सो हमारे इस पिण्ड के निर्माण मे भी सूर्यादि नवग्रहो का

प्रधान हाथ रहा है। मानवपिण्ड मे सूर्य ने आत्मा फूकी, चांद ने मन दिया, मगल ने रक्त का सचार किया बुध ने कल्पनाशक्ति दी, बृहस्पति ने ज्ञान प्रदान किया, शुक्र ने वीर्य और शनि महाराज ने सुख-दु ख की अनुभूति दी। इस प्रकार धर्मशाला-रूप हमारा यह शरीर इन्ही महानुभावो की कृपा का फल है, सो उक्त धर्मशाला का जब-जब भी उत्सव होता है, अर्थात्–नीव डालने के समय=गर्भाधान से लेकर पुनर्निर्माण=अन्त्येष्टि सस्कार पर्यन्त जब-जब भी कभी अवसर आता है तब-तब उक्त सभी दाताओ के नाम लेकर–'**सूर्याय नमः, चन्द्रमसे नम, भौमाय नम, बुधाय नम, बृहस्पतये नम, शुक्राय नम और शनैश्चराय नमः,** कहते हुए सबका धन्यवाद किया जाता है।

जो महाशय उक्त दाताओ से दान मागते समय तो बडी-बडी चापलूसी से पेश आते हैं, परन्तु धन्यवाद करने के समय स्वय भी मूक बन जाते हैं और उल्टा दूसरे लोगो को भी सन्मार्ग से परिभ्रष्ट करके अपने सदृश कृतघ्न=अहसान फरामोश बनाना चाहते है–वे निस्सदेह ईश्वर के कोप भाजन बनते है।

ब्रह्माण्ड भर से भाईचारा

यह बात सभी जानते है कि जो पुरुष जैसा प्रतिष्ठित होगा उसकी प्रतिष्ठा के अनुसार ही उसके यहा दु ख और सुख मे दूसरे लोग सम्मिलित होते हैं, जैसे मौलाना साहिब के यहा बारात मे मुहल्ले भर के मिया जुट सकते हैं क्योकि आखिर अपने सगे भाई की लडकी से ही तो शादी=खाना आबादी करनी है। पादरी साहिब के यहा इससे कुछ अधिक की सम्भावना की जा सकती है, क्योकि चाय के एक कप पर ही तो बारात की दौड-धूप हो रही है। राजा साहिब के यहा राज्य भर के, और सम्राट् के यहा विदेशो तक के–मेमहमान तशरीफ

ला सकते हैं, क्योकि इनका भाई-चारा इतना फैला हुआ है। वस ! अहिन्दू लोगो के भाई-चारे की यही 'सा काष्ठा सा परा गति' है, परन्तु एक सनातनधर्मी हिन्दू का 'भाईचारा' इतना विस्तृत है कि उसके यहा न केवल देश-विदेशो के ही अपितु सूर्य-लोक, चन्द्र-लोक, सुदूर शनि-लोक और ब्रह्माण्ड कक्षा के परले किनारे–नक्षत्र प्रदेश तक के भो मेहमान पधारते हैं, जिन को वह अपने प्रत्येक शुभाशुभ कार्य में सम्मान देता है।

यहाँ यह आशका व्यर्थ है कि इतने वडे मेहमानो को बुला-कर उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप सम्मान नहीं किया जाता किन्तु जल के छीटे और चावल के दो दाने चढाकर सूखा टरका दिया जाता है, निःसन्देह यह प्रश्न—'सामग्रीनेमनिवर्तक' किसी घडीछक पेटू का ही हो सकता है अन्यथा—प्रेम पन्थ का तो यह प्रधान 'मीटो' है कि—

> 'भाव बिन थूकू नहीं, गाडी भरे सामानपर ।
> रीझ जाता है मेरा मन, मान के एक पान पर ॥

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) शन्नो ग्रहाश्चन्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा । शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः । (अथर्व १९।९।१०)

(ख) अग्निर्देवता व्वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।

अर्थ—(क) चन्द्रमा के साथ सव ग्रह, सूय के साथ राहु, मृत्युसूचक धूमकेतु तथा विकराल रुद्रगण हमारे लिये कल्याण-कारी हो । (ख) अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, अष्टवसु, ११ रुद्र,

after it was

१२ आदित्य, ४६ मरुत, विश्वेदेव, बृहस्पति, इन्द्र, वरुण ये सब देवता हैं।

वेदादि शास्त्रो मे सूर्यादि नवग्रहो की शान्ति के लिए पूजनादि का स्पष्ट विधान है। आज के अधकचरे वैज्ञानिकम्मन्य भले ही सूर्यादि ग्रहो को सर्वथा जड मानते रहे और तदनुयायी आलोचक भले ही वैदिक ऋषियो पर, सूर्य चन्द्रादि प्राकृतिक वस्तुओ के रहस्य से अनभिज्ञ होने के कारण उनसे भयभीत हो अपने कल्याण के लिए विविध प्रकार की स्तुति प्रार्थना करने करने का आक्षेप लगाये, परन्ते हमे यह न भूलना चाहिए कि दुर्जनतोष न्याय से एक क्षण के लिए इन्हे जड स्वीकार कर लिया जाय तब भी जिस प्रकार जडपृथ्वी की गति-विगति के तारतम्य से ससार को भिन्न भिन्न ऋतुओ मे सर्दी-गर्मी वर्षा आदि का अनुभव करना पडता है इसी प्रकार अन्य ग्रहो की गति-विगति का ससार पर कोई प्रभाव न पडता हो यह कैसे सम्भव है ?

इसके अतिरिक्त जैसे अचेतन एव जड रेलगाडी को उचित नियन्त्रण मे रखने—उसे निर्दिष्ट सयय पर चलने, रोकने आदि के लिए चैतन्य ड्राइवर तथा गार्ड की अनिवार्य आवश्यकता है, अन्यथा स्टेशन के सब सिगनल और लाल-हरी झण्डिये रखी रखाई रह जायँ, इसी प्रकार शास्त्रो मे सूर्यादि ग्रह-पिण्डाभिमानी चेतनाश को लक्ष्य करके की गई सब प्रार्थनाए सर्वथा सुसगत ही है।

आवाहन करने से ग्रह कैसे आ सकते हैं ?

सूर्यादि ग्रह हमारी पृथ्वी से लाखो योजन दूर है और लाखो गुणा बडे है यह सभी वैज्ञानिक जानते है, सो सनातनधर्मियो के डेढ बालिस्त के मण्डप मे अथवा चुटकीभर चावलो के छूमतर मे कैसे समा सकते हैं ? और इतनी दूर कैसे आ सकते है ?

फोटोग्राफी कैमरे के एक इन्च के शीशे में देहली का लाल-

किला कुतुव की लाट और पुल सहित जमना की वाढ का विस्तृत प्रदेश कैसे समा जाता है ? आपकी ही आंख के लघुतम काले तिल मे न केवल सूर्य-चांद अपितु सभी ग्रह नक्षत्र कैसे समा जाते है ? कभी शकावादी महाशय ने इस रहस्य का भी परिशीलन किया है ? वास्तव मे 'भावनावाद' सिद्धान्त के अनुसार ज्योही वेद-मन्त्रो के आध्यात्मिक वायरलैस से वेदपाठी ब्राह्मण तत्तद् ग्रहों के नाम अपना सन्देश ब्राडकास्ट करता है त्योही तत्काल सर्वव्यापक परमात्मा के प्रवन्धानुसार विश्वभर की एकमात्र भाषा देववाणी के प्रताप से सूर्यपिण्डाभिमानी चेतनदेव पूजक भक्त के पिण्ड मे राजदूत की भांति रहने वाली अपनी प्रतिनिधिभूत शक्ति सत्ता को प्रेरित करके पूजक भक्त का कल्याण कर देता है। इसलिए किसी भी ग्रह-पिण्ड को अपनी कक्षा छोड़कर महाशय जी के मकान के कोने से टकराने की और उनके चौपट चौवारे मे घँसने की आवश्यकता नही है क्योकि वे सव तो पहले से ही मानव पिण्ड मे सूक्ष्मरूप से विराजमान है, आवाहन पूजनादि का तो केवल इतना ही प्रयोजन है जितना कि माचिस की सलाई मे पहले से ही विद्यमान अग्निदेव को रगड़कर प्रकट करने की क्रिया मे हो सकता है।

ग्रह मनुष्य पर कैसे चढ़ जाते हैं ?

कहा जाता है कि अमुक पुरुष पर शनि चढ़ रहा है, अमुक पर राहु केतु चढ रहे हैं,-यदि पुरुष पर छोटी-सी चिउटी भी चढ जाए तो वह तत्काल मालूम पड़ जाती है परन्तु ये करोडो अरवो टन तोल के ग्रह पिण्ड चढ़े हुए मालूम क्यो नही होते ?

लोक में जैसे मूर्खतापूर्ण चेष्टा करने पर कहा जाता है कि 'क्या तुम्हारी वुद्धि पर पत्थर पड़ गये हैं'-और अमुक बुराई करने पर उद्यत मनुष्य को कहा जाता है कि 'उसके सिर पर तो भूत सवार

हो रहा है।' ठीक इसी प्रकार जब ब्रह्माण्ड के ग्रहो की स्थिति के तारतम्य से तदगभूत मानवपिण्ड पर अमुक भलाई या बुराई के पडने की सम्भावना होती है तब इसी वैज्ञानिक भाव को प्रकट करने के लिए यह व्यङ्ग्यात्मक=मुहावरा बना हुआ है कि अमुक ग्रह चढा हुआ है अर्थात्-उस ग्रह की दशा है। जैसे पाप और पुण्य किसी व्यक्ति को डण्डा लेकर मारने या बचाने नहीं आता किन्तु ईश्वर के न्याय से पापी की बुद्धि में विकृति हो जाती है जिससे वह अपनी हानि के लिए स्वय ही ताना-बाना बना लेता है, इसी प्रकार पुण्यात्मा की बुद्धि वास्तविकता समझने मे समर्थ हो जाती है जिससे वह दुस्तर कार्यो को भी कर सकने मे सफल हो जाता है, अर्थात्-भगवान् भक्त पर कृपा करके उसे—'**ददामि बुद्धियोगं तम्**' के अनुसार 'बुद्धियोग' ही प्रदान करते है जिससे सभी काम बन जाते है और रुष्ट होते है तो '**बुद्धिनाशात्प्रणश्यति**' के अनुसार बुद्धि छीन लेते है जिससे उसका नाश हो जाता है। सो इसी प्रकार ग्रह भी जब किसी महाशय पर चढते है तो उसकी बुद्धि मे ननु नच, तर्क वितर्क, अगर, मगर, की सनक सवार हो जाती है। जैसे उन्मत्त-प्रमत्त को अपनी खोपडी का विकार स्वय मालूम नही पडता, विक्षिप्त पागल को अपने पागलपन का पता नही चलता परन्तु दूसरे लोग उसकी अण्ड-वण्ड बात सुनते ही तत्काल भाप लेते हैं कि '**अर्धविक्षिप्तोऽयम्**' ठीक इसी प्रकार आप अपने ऊपर चढे हुए शनिदेव को नही देख पाते किन्तु साक्षर सनातनधर्मी तुम्हारी जिह्वा के हिलते ही तत्काल अनुभव कर लेते है कि '**देवाना प्रियोऽयम्**।'

क्या पोप जी ग्रहों के एजेन्ट हैं ?

कहा जाता है कि अमुक वस्तु दान देने से ग्रह टल जाएगा। **क्या** ग्रह घूसखोर हैं और पोप जी ग्रहो के एजेण्ट है ? जो इनको

पाकेट भरने से सब काम ठीक बन जाएगा।

मालूम होता है कि महाशय जी को यह विदित नही है कि अचानक ही अमुक-अमुक रोग क्यो आ जाते हैं और मन भी परेशान क्यो हो जाता है ? आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि—

पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते ।
तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमसुरार्चनैः ॥ (माधवनिदान)

अर्थात्—पूर्वजन्म-कृत पाप व्याधिरूप बनकर मनुष्य को कष्ट देते हैं और उनकी शान्ति औषधि, दान, जप, होम और देवपूजन से होती है। कहना न होगा कि यहां रोगों का कारण पूर्व जन्मार्जित पाप बताया है, यजुर्वेद स्वयं एकमात्र औषधि से उनकी शान्ति नही मानता किन्तु दान, जप, होम, देवपूजन को भी आवश्यक बताता है, यूनानी वाले भी दवा के साथ दुवा = ईश्वर प्रार्थना और खैरात आवश्यक समझते हैं। रुपया-पैसा कमाने में भी खून-पसीना एक करना पडता है, अत द्रव्य को मनुष्य का 'वाह्य प्राण' माना है, सो यदि कोई पुरुष स्वेच्छा से दान रूप मे अमुक-अमुक वस्तु प्रदान करेगा तो उसे मीठा मीठा किन्तु हर्षपू ' कष्ट अवश्य होगा, जिससे रोग कष्ट निवृत्त हो जाएगा, यानी रोगी को जितना कष्ट भुगतना था वह द्रव्य के देने से हो जायगा। इसीलिए दान, हैसियत से कम, करने पर फल नही देता, इसलिए ग्रह घूसखोर नही किन्तु पूर्वजन्म के पापो का बदला चुकाने के लिए परमात्मा की ओर से नियुक्त न्यायाध्यक्ष हैं। जैसे जज इतना जुर्माना या इतने दिन की कैद की आज्ञा देते हैं, जुर्माना भरने पर कैद में जाने की आवश्यकता नही रहती, इसी प्रकार शारीरिक, मानसिक कष्ट या दान-पुण्यादिक इन दोनों विकल्पो से एक चुना जा सकता है, दान

करने पर कष्ट अवश्य दूर होता है यह हमारा निजी अनुभव है। वेदपाठी ब्राह्मणों से अधिक भगवान् के एजेण्ट और कौन हो सकते हैं, यह स्वय वेद कहता है। यथा—

यः आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति आ स देवेषु वृश्चते। (अथर्व० १२।४।१२)

अर्थात्—जो पुरुष देवताओ के निमित्त याचित गाय को वेदपाठी ब्राह्मणो को नही देता, देवता उसको दण्ड देते है।

अण्ड-पिंड मूलक आयुर्वेद

यहा इतना और भी अधिक समझ लेना चाहिए कि ब्रह्माण्ड व्याप्त तत्तद् दैवी शक्तियो का केवल 'मानव-पिण्ड' पर ही प्रभाव नही पडता अपितु घास-फूस मिट्टी पत्थर पानी जैसे जड पदार्थों पर भी पडता है। क्योकि ये सब वस्तुये भी ब्रह्माण्डाभिमानी किसी-न-किसी देवता से ही सम्बद्ध हैं। आयुर्वेद शास्त्र मे जो अमुक लोहे लक्कड का क्वाथ देने की व्यवस्था की गई है वह इसी अण्ड-पिण्ड सिद्धान्त पर अवलम्बित है। रोग का तात्पर्य है—मानव-पिण्ड मे रक्त, मास, मज्जा, मेदा अस्थि, शुक्र और ओज इन-तत्त्वो मे से किसी तत्त्व की कमी या अधिकता हो जाना और चिकित्सा का तात्पर्य है—उसी तत्त्व को ब्रह्माण्ड व्याप्त घास फूस, अन्न, धातु आदि किसी द्रव्य से पूरा कर दिया जाय।

बीमार को छिलकेवाली मूग की दाल खिलाने का यही हेतु है, कि रुग्ण व्यक्ति का वीर्य क्षीण हो जाता है और ब्रह्माण्ड मे वीर्य स्थानीय द्रव्य पारद अर्थात् पारा है। सो, जिन द्रव्यो मे पारा अधिक मात्रा में उपलब्ध हो वे द्रव्य बीमार के लिए लाभप्रद

सिद्ध होंगे। सो मूग मे और खासकर उसके छिलके मे पारे का अश अधिक मात्रा मे पाया जाता है। यही वात घिया और तोरी के सम्वन्ध में कही जा सकती है।

इसी तरह यकृत और प्लीहा अर्थात् जिगर और तिल्ली की विमारियो में लोहासव, कुमारी आसव टमाटर आयरन कुनीन आदि औपधिये इसलिये दी जाती हैं, कि शरीर मे खाये हुए सव पदार्थों का जो रस वनता है, वह यकृत और प्लीहा द्वारा ही रजित होकर रक्त अर्थात् लाल रंग वाला वनता है सो इन दोनों यन्त्रो के विकृत हो जाने पर वह रग लाल नही हो पाता, किंतु पीला ही रह जाता है, इसीलिये ऐसे रोगियो के नख, जिह्वा, नेत्र और मलमूत्र तक अतिपीले हो जाते हैं, सो इस रोग की निवृत्ति के लिये मगल ग्रह से सम्वन्ध रखने वाली सव वस्तुएं औषधि के रूप में दी जाने पर लाभ होने की पूरी संभावना है। कहना न होगा कि उपरोक्त द्रव्य मांगलिक रसायन से भरपूर होते हैं।

अपामार्ग (ऊगा) अर्क (आक) पलाश (ढाक) खदिर (खैर) उदुम्वर (गूलर) अश्वत्थ (पीपल) और कुशा इन सातों औषधियो में सूर्य, चन्द्र, मगल, वुध, वृहस्पति, शुक्र, और शनि, सातो महाग्रहो के क्रमश विशेष तत्त्व विद्यमान है। इसी प्रकार सोने, चांदी, तांवा, पीतल, कांसी, पारा और लोहा—इन सातो धातुओ मे, तथा मणिक मोती विद्रुम (मूंगा) पन्ना, (पिरोजा) पद्माख (पुखराज) वज्र (हीरा) नीलमणिनीलम इन सात रत्नो में क्रमशः सूर्यादि सात महाग्रहों के विशेष अंश उपलव्ध होते है। सो मानव-पिण्ड में जब जिस देवता के प्रदत्त तत्त्व में न्यूनता किंवा अधिकता आ जाये तो उसके तारतम्य को ठीक करने के लिए तत्तद् औषधियो की विधिवत् उपासना

की जाती है, यही आयुर्वेद शास्त्र का मूल सिद्धान्त है।

प्रत्यक्ष देखने मे आता है, कि सुदूर आकाश मे अवस्थित ग्रहो का प्रभाव पृथ्वी के जड-पदार्थो पर भी पर्याप्त मात्रा मे पडता है। पौर्णिमा का पूर्ण चन्द्रमा समस्त पृथ्वी को उद्वेलित करता है यद्यपि ठोस होने के कारण पाषाण, वृक्ष और मृत्तिका आदि पदार्थों में हम उस आकर्षण विकर्षण की प्रगति को नही देख पाते, परन्तु तरल होने के कारण अनन्त-जल-राशि समुद्र को बल्लियो उछलता प्रत्यक्ष देखते हैं।

शनि की उच्च नीचता के तारतम्य से नीलम की आभा मे भी तारतम्य हो जाता है। यह अनेक रत्न परीक्षक जोहरियों की जबानी हमे मालूम हुआ है। सो इन्हीं विज्ञानपूर्ण भावनाओ के आधार पर भारतीय ऋषियो ने मानव पिण्ड की उन्नति के लिये किये जाने वाले प्रत्येक कार्य मे अधिकाधिक सफलता प्राप्त करने के निमित्त ग्रह नक्षत्र तारे, सैयारे, और धूमकेतु, उल्का पिण्डों के तारतम्य से तैयार होने वाले विशिष्ट वातावरण "कुर्रे हवाई" किंवा "ऐटमास्फीयर" की अनुकूलता निर्माण करना ही नव-ग्रहपूजन का वास्तविक उद्देश्य माना है।

हवन-विचार

आरब्ध कर्म के निर्विघ्न परिसमाप्त्यर्थ जैसे प्रत्येक सस्कार के प्रारम्भ मे गणपत्यादि देवो का पूजन आवश्यक है इसी प्रकार प्राय. सभी धार्मिक अनुष्ठानो मे हवन भी तदङ्गभूत होने के कारण करणीय है यह सर्व तन्त्र सिद्धान्त है। आज के इस युग मे प्रत्यक्षवाद में पले हुवे व्यक्ति तो हवन को, तत्तद् बहुमूल्य पदार्थो को अग्नि मे व्यर्थ फूक देने की जङ्गली प्रथामात्र समझते हैं

परन्तु प्रत्यक्षवादियो की यह धारणा वैसी ही भ्रमपूर्ण है जैसी कि किसान को कीमती अन्न खेत की मिट्टी में डालते हुवे देखकर किसी कृषि-विज्ञान से अपरिचित व्यक्ति की हो सकती है।

हमे यत्र-तत्र यज्ञ-यागादि करते कराते हुवे आजकल प्राय सर्वत्र ही कम्यूनिस्ट सोशलिस्ट एवं अधकचरे कांग्रेसियो द्वारा किये गए विरोध का सामना करना पड़ता है अत हमें यह अनुभव है कि आज का कथित शिक्षित-समाज एक साधारण किसान जितना भी भौतिक विज्ञान नही जानता है। घर मे नपा तुला अन्न हो, घर के बालक आधा पेट खाते हो, तब भी चतुर किसान पापाण का हृदय बनाकर सब अन्न खेत की मिट्टी में मिला डालता है। घर में अन्न का दाना न हो तब भी गहना पत्ता बेच कर, उधार उठाकर यथातथा—बीज जुटाने का प्रयत्न करता है। प्रत्यक्षदर्शी अनभिज्ञ लागो की दृष्टि में उसकी यह चेष्टा भले ही मूर्खतापूर्ण जचती हो परन्तु बुद्धिमान् कृषक को विश्वास है, कि खेत की मिट्टी मे मिलाया हुवा उसका प्रत्येक अन्नकण शत-सहस्र गुणित होकर पुन प्राप्त होगा, यद्यपि अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शुक, शलभ और राजसेनाओ के गमनागमन रूप ईतियों की भीति किसान के सिर पर खडी रहती है उसे कोई यह गारन्टी नही दे सकता कि खेत में डाला हुवा यह अन्न अवश्य ही उसे निर्वाधरूपेण वापिस प्राप्त होगा ही, तथापि प्रारब्धवादी पुरुपार्थी किसान भगवान् के भरोसे पर ही पीढियो से अपना कर्तव्यपालन करता चला रहा है।

यही बात यज्ञ के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए। किसान का यज्ञ पार्थिव यज्ञ है और यह तैजस्। कृषि दोनों हैं एक आधि-भौतिक है तो दूसरी आधिदैविक। एक का फल है—स्वल्पकालीन

तृप्तिक्षम अनाजो के ढेर, तो दूसरे का फल देवताओ के प्रसाद से अनन्तकालीन तृप्ति । इसीलिए यह कृषि, की भी दूसरे ही तरीके से जाती है। देवता सूक्ष्म शरीरधारी होने के कारण 'अन्नाद' नही है अत 'द्रव्य' को विधिवत् अग्नि मे होमकर उसे सूक्ष्मरूप मे परिणत किया जाता है। अग्नि मे डाली हुई वस्तु का स्थूलाश भस्म रूप मे पृथ्वी पर रह जाता है। स्थूल-सूक्ष्म-उभय-विमिश्रित भाग धूम बनकर अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाता है जो अन्ततोगत्वा मेघरूप मे परिणत होकर पुनरपि भूमि पर जलरूप मे बरसता है और सूक्ष्मतम भाग अर्चि रूप मे परिणत होकर द्यूलोकस्थ देवगण को परितृप्त करता है। **'स्थूल सूक्ष्मवाद'** सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अश अबाध गति से अपने अशी तक पहुँचकर ही विश्राम लेता है। मृतपिण्ड ऊपर फेका हुआ पुनरपि भूमि की गोद मे स्थिर होता है, जल-प्रवाह अपने आदिम उद्गम स्थान समुद्र मे पहुँचे बिना दम नही लेता, इसी प्रकार भौतिक अग्नि की प्रत्येक अर्चि ब्रह्माण्ड भर मे व्याप्त तैजस पदार्थो के आदिम-मूल-केन्द्र सूर्य मे पहुँचे विना परिसमाप्त नही होती। यह वैज्ञानिक विवेचन श्रीमनुस्मृति के—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपष्ठिते'

(मनु० ३।७६)

अर्थात्—अग्नि मे विधिवत डाली हुई आहुति, सूर्य मे उपस्थित होती है-आदि श्लोको मे सूत्ररूपेण विद्यमान है।

यहा पदार्थ-विज्ञान के अनुसार यह समझ लेना चाहिए कि जैसे विधिवत् मिट्टी मे मिला अन्न-कण शत-गुणित हो जाता है, ठीक इसी प्रकार जल मे मिला पदार्थ सहस्र-गुणित, और अग्नि में मिला लक्ष-गुणित हो जाता है। यहा शत, सहस्र

लक्ष आदि शब्दो का प्रयोग केवल समझाने की दृष्टि से किया गया है। तात्पर्य्य केवल इतना ही है कि पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश इन पञ्च महाभूतों के ससर्ग से तत्तत् पदार्थ-जात उत्तरोत्तर अधिकाधिक व्यापक रूप में परिणत हो जाते हैं। खेत में बोये हुए अन्न की अभिवृद्धि सर्वसाधारण को भी विदित है परतु जलादि के ससर्ग से वस्तु की व्यापकता जानने के लिए जरा गहराई में गोता लगाना पड़ता है।

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आयुर्वेद की पद्धति मे अमुक गुटिका शीतोष्ण जल किंवा किसी अनुपान विशेष के साथ देने की विधि चली आती है। ऐलोपैथिक डाक्टर लोग भी अमुक द्रव्यों को जल में मिलाकर 'मिक्स्चर' ही अधिकतया देते हैं। होम्योपैथी चिकित्सा-पद्धति की तो स्थापना ही इस सिद्धान्त पर हुई है, कि औषधि की जितनी मात्रा जो गुण रखती है यदि उसे फिल्टर किये पानी में मिलाकर ज्यो-ज्यों न्यूनतम किया जाए त्यों-त्यो वह अधिकाधिक गुणप्रद बनती जाती है, अर्थात् दवाई की एक बूद मे जो गुण है उसे यदि दशगुणित पानी में हल करके एक बूद ली जाए तो वह दशगुणित रोगनाशनी-शक्ति-सम्पन्न बन जाती है, इसी प्रकार उत्तरोत्तर आगे भी यह वृद्धिक्रम जल-ससर्ग से तथैव जारी रहता है, कहना न होगा कि ये सब क्रियाएं इस सिद्धात की परिचायक हैं कि जल में मिश्रित हुआ पदार्थ सहस्र-गुणित हो जाता है।

अग्नि के संसर्ग से पदार्थ की व्यापकता का अनुमान लगाने के लिए अधिक दौड-धूप करने की आवश्यकता न होगी, आप भले ही नित्य एक लाल मिरच खाते हो परतु वह एकले आप को ही अपनी चरचराहट से परिचित कराती है परतु यदि आप

उसको अग्नि मे डाल कर तमाशा देखना चाहे तो वह न केवल घर भर के लोगो को बल्कि पास पडौस तक के व्यक्तियो को भी अपनी गन्ध से 'आछी आछी' करने को विवश कर डालेगी। रत्ती भर हीग का छौक महल्ले भर मे सूचना दे देता है, कि आज श्रीमन्नारायण के यहा कढी बनाई जा रही है। गात्रो मे गुड पकने की भीनी २ गन्ध वायु के ससर्ग से दूर तक आगन्तुको की घ्राण को आप्यायित करती है। मोटर बसो मे जलते हुए पेट्रोल की दुर्गन्ध और आयल इजनो मे जलते हुए क्रूड आयल की बदबू सर्व साधारण के सिर मे दर्द पैदा कर देती है, गाडियो मे बीडी सिगरट की धुवाधार से, न पीने वाले सैकडो व्यक्ति परेशान हो कर नाक पर कपडा डालने के लिए विवश हो जाते है, इन सब दृष्टान्तो का एक ही तात्पर्य है कि अग्नि मे डाली हुई वस्तु लक्षगुणित हो जाती है।

सो हवन मे जो द्रव्य डाले जाते है वे सब अनन्त गुणित होकर देवगण को परितृप्त करते हुए, अन्त मे कर्ता को नाना-विध भोगो के रूप मे उपलब्ध होते हैं।

आर्य्यसमाज की मान्यता है, कि हवन का प्रयोजन 'वायुशुद्धि' है, परन्तु उनकी यह मान्यता प्रत्यक्षवाद पर आधारित एक अकिंचित्कर मान्यता ही है, हवन के अनेक लाभो मे 'वायु शुद्धि' भी अन्यतम लाभ हो सकता है परन्तु हवन का मुख्य प्रयोजन तो परमात्मा के अगप्रत्यग भूत देवगण को परितृप्त करके स्वयमपि तत्तत् पदार्थों के भोक्ता हो सकने की योग्यता प्राप्त करना है। जैसे आम पर बैठे हुए कव्वो को देखकर कोई मनुष्य यह कहने लगे कि आमवृक्ष के लगाने का प्रयोजन कव्वे महाशयो के लिए चौपाल प्रस्तुत करता है ! अथवा वृक्ष की ठण्डी छाया को देख

कर कोई उसे ही वृक्ष का सर्वोपरि प्रयोजन मान बैठे । ये मान्यताएँ प्रत्यक्ष सिद्ध होती हुई भी वास्तविकता से कोसो दूर हैं। आम्रवृक्ष का प्रयोजन यथार्थत. रस परिपूरित सुमधुर फल हैं जो कि समय आने पर उपलब्ध होते है।

यदि वास्तव मे हवन का उद्देश्य 'वायु शुद्धि' ही है तो फिर घर मे बैठकर तोला दो तोला घी फूक देने से वायु क्या शुद्ध होगी ? इसके लिये तो महाशय लोग यदि ईस्ट पजाब रेलवे या ईस्ट इण्डिया, रेलवे की सेवाये प्राप्त करे तो ज्यादा लाभ हो सकता है ! सारी सामग्री इकट्ठी करके रेलवे के पास पहुँचादे और वहा से उसे यदि इजन मे झोका जाय तो न केवल महाशय जी के घर की, न केवल उनके गाव नगर या जिले की, किन्तु अमृतसर से लेकर सुदूर बगाल तक की वायु ही शुद्ध न हो जाय !! और फिर देश मे कभी कोई बीमारी ही न फैले। बलिहारी ऐसी अक्ल की !

इसलिये यह समझ लेना चाहिए कि हवन का प्रयोजन प्रत्यक्ष घ्राण तर्पण अनुभव अथवा वायु शुद्धि मात्र नही है किंतु देवाराधन पूर्वक भगवत्परिचर्य्या है जिसका सुमधुर फल इस लोक मे अभ्युदय के रूप मे और परलोक मे निश्रेयस् के रूप मे यथासमय कर्ता को प्राप्त होता है।

देवताओं की तृप्ति से क्या लाभ ?

पूछा जा सकता है, कि देवताओ की तृप्ति से मानवसमाज को क्या लाभ ?—यहा यह समझ लेना चाहिए कि 'अण्ड पिण्ड वाद' सिद्धांत के अनुसार मानव पिण्ड देवगण की विभिन्न देनो का मूर्त परिणाम है, सो जैसे नल की टूटी को प्रधान जलाशय (वाटर वर्क्स) की, और विद्युत वलय (बिजली के बल्व) को शक्ति केन्द्र

(पावर हाउस) की सदैव अनिवार्य अपेक्षा रहती है ठीक इसी प्रकार अनुजीवी मानव पिण्ड को भो पदे २ अपने अनुजीव्य देव-गण की अनिवार्य अपेक्षा रहती है। यद्यपि हम देवगण की अनु-कम्पा के बिना अभिलषित भोगो को जुटाने की भी शक्ति नही रखते तथापि हम यह निर्मूल कल्पना भी कर लेते है, कि मान लो मनुष्य अपने उद्योग के बलबूते पर खानपान को सर्वविध सामग्री जुटाने में सफल हो सके परन्तु एतावता भी वह सगहीत पदार्थो का स्वतन्त्रता पूर्वक उपभोग कर सकेगा यह उसके अपने सामर्थ्य की बात नही है, सैकडो धनोमानी पुरुषो के यहा उपभोग सामग्री को कमी नही होती परन्तु अग्निमाद्य, अरुचि आदि रोगो के कारण वे कुछ भी खा पी नही सकते, पदार्थों को देख २ कर झीकते है। यह लोकोक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि 'गरीबो को दूध प्राप्त नही होता और अमीरो को हज्म नही होता'। सो अप्राप्त वस्तुओ की प्राप्ति-रूप 'योग' और प्राप्त वस्तुओ का उपभोग कर सकने की क्षमता रूप 'क्षेम'—उभय विध सौकर्य केवल देवतात्मा भगवान् की ही देन हो सकती है इसलिये हवन द्वारा परितृप्त देवता मनुष्य को तत्तत् पदार्थों के उपभोग कर सकने की वह योग्यता प्रदान करते है, जो कि अन्य उपायो द्वारा कथमपि प्राप्त नही हो सकती।

देहाती भाषा में इस गूढ प्रकरण को सरल शब्दो मे यू कहा जा सकता है कि देवगण विविध प्रकार के दाता होने के कारण 'देवता' कहे जाते है और मनुष्य पदे २ उनसे लेनेवाला होने के हेतु 'लेवता' कहा जा सकता है तो लेवता का देवता बिना काम चल ही नही सकता।

दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि एक राजा ने अपने पुरोहित से हवन के लाभ जानने की जिज्ञासा की। विद्वान् पुरोहित ने वेद शास्त्रानुसार

यज्ञ-प्रक्रिया का वर्णन किया परन्तु परोक्षवाद पर निहित यज्ञ-तत्त्वो को प्रत्यक्षवादी राजा पूरी तरह न समझ पाया। ननु नच किन्तु व परन्तु करता ही रहा, अन्ततोगत्वा पुरोहितजी ने यज्ञ-प्रक्रिया समझाने की एक नवीन युक्ति निकाली। राजा से कहा तुम ब्रह्मभोज करो तब कुछ समझ मे आएगा। वैसा ही किया गया, पुरोहितजी ने यज्ञ-प्रक्रिया के प्रगाढ ज्ञाता वेदपाठियो को एक भवन मे बिठाया और दूसरे ब्राह्मणो को दूसरे भवन मे। नानाविध पदार्थ परसे गए परन्तु भोजन से पूर्व पुरोहितजी के सङ्केतानुसार राजा ने समस्त ब्राह्मणों की कोहनी के साथ हाथ को एक २ डण्डा बांध दिया, और भोजन करने की आज्ञा दी। ब्राह्मणों ने ज्यों ही ग्रास उठाकर मुख मे डालना चाहा तो वह मुड न सकने के कारण शिर से भी हाथभर ऊचे गया। वे बडे चकित हुए, राजा के भय के कारण कोई कुछ पूछ न सका और सामने पड़ा भोजन देखकर सास भरते रह गए। परन्तु याज्ञिक ब्राह्मणो ने आपस में परामर्श करके दो पक्ति लगाली, सामने वाला व्यक्ति भोजन ग्रास उठाकर अपने सामने वैठे व्यक्ति के मुख मे डालने लगा और दूसरा भी इसी भांति उसको खिलाने लगा। क्योकि बधा हुआ हाथ अपने मुख मे नही पहुँच पाता था, सामने वाले के मुख मे तो भलीभाति पहुँचता था। इस तरह सबने भरपेट भोजन किया और तृप्त होकर डकारे लेने लगे। राजा ने परि-तृप्त याज्ञिक ब्राह्मणो से जब इस सूझ का कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि महाराज! श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान् ने कहा है कि-

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

अर्थात्—हे मनुष्यो! तुम यज्ञ प्रक्रिया से देवताओ को तृप्त

करो, देवता तुम्हे तृप्त करेगे, इस प्रकार एक दूसरे को तृप्त करते हुवे तुम दोनो का परम कल्याण होगा।

सो हमने यहा भी इसी यज्ञ सूत्र से काम लिया। कहना न होगा कि उपर्युक्त दृष्टान्त हवन विधान पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। नि:सन्देह मनुष्य ससार में सब पदार्थों के होते हुवे भी कर्म-बन्धन मे बधा हुवा उनका स्वतन्त्रता पूर्वक उपभोग कर सकने मे स्वाधीन नही है। यदि मनुष्य यज्ञ यागादि द्वारा देवताओ को तृप्त करे तो फिर देवता भो उपभोग क्षमता प्रदान करते है। इसलिये अमुक २ सस्कार के समय विहित होमादि का, श्रद्धा-पूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये।

गर्भाधान संस्कार विचार

वैदिक स्वरूप

(क) गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा।

(ख) गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः। गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते॥ (अथर्व ५, २५, ३ ४)

अर्थ—[क] (सिनीवालि!) हे अमावस्याधिष्ठातृदेवते, तथा (सरस्वति) हे वागधिष्ठातृदेवते, आप इस स्त्री को गर्भ धारण करने की सामर्थ्य दें एव उसे पुष्ट करें। (पुष्करस्रजा) कमलो की माला से सुशोभित (उभा अश्विनौ) दोनो अश्विनीकुमार (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ को (आधत्ता) पुष्ट करे। [ख] (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ को पुष्ट करे। (देवो

वृहस्पति) देव गुरु वृहस्पति (गर्भं) गर्भ को पुष्ट करे। (इन्द्र) इन्द्रदेवता (अग्नि) सम्पूर्ण प्राणियों मे—अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रित :- वैश्वानर रूप से व्याप्तदेव, धाता) सृष्टि कारक ब्रह्मा, (ते) तेरे (गर्भ) गर्भ को (दधातु) पुष्ट करे।

उपर्युक्त वैदिक मन्त्रो के उद्धरण मे यह ज्ञान होगया होगा कि यह सस्कार वेदानुमोदित है। चूकि मानव जातिके प्रतिनिधि भावी शिशु का सम्पूर्ण भविष्य इस ही के ऊपर निर्भर है अत: इस सस्कार का महत्व निर्विवाद है। 'अङ्गादङ्गात्सभवसि हृदयादधिजायसे,—इस श्रुति के अनुसार सन्तान माता पिता के आत्मा हृदय तथा शरीर मे उत्पन्न होता है ऐसी दशा मे माता पिता मे होनेवाले शारीरिक या मानसिक गुण अवगुण भी सन्तान मे अवश्य सक्रमित होगे। उन दोषो को दूर करने के लिये गर्भाधान सस्कार की आवश्यकता होती है। इसीलिये मनुजी ने इस संस्कार का उद्देश्य—

> **निषेकाद्बैजिकं चैनो गार्भिकञ्च पमृ यते।**
> **क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानं फलं स्मृ तम्॥**

इस श्लोक मे बीज तथा क्षेत्र दोनो की शुद्धि ही मुख्य रूपेण माना है।

प्रश्न हो सकता है कि—क्या चन्द मन्त्रो के उच्चारण तथा देवपूजनादि से शारीरिक और मानसिक दोषो की शान्ति सभव है? इसका उत्तर हम हां मे ही देगे। हमे यह न भूलना चाहिये कि मनुष्य के अच्छे या बुरे होने मे उसके मन का प्रधान हाथ होता है। शास्त्रो मे बतलाया गया है कि—

> **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**

अर्थात्—मनुष्य का मन ही उसके सासारिक कष्टपूर्ण बन्धन

और नित्य सुखमय मोक्ष का कारण है। ऐसी दशा मे जव दोषो के उद्‌गम और उनके दुर्भेद्य दुर्ग का हमे पता लग गया तो हमारा कर्तव्य यह हो जाता है कि हम सीधा आक्रमण उसी पर करे—उसके प्रवाह को बदले और अभीतक उसकी जो शक्ति दोषो को उत्पन्न करने की ओर लगी हुई थी उसीको दोषो एव दुर्गुणो के विनाश की ओर लगावे। इस तत्त्व को समझने वाले महर्षियो ने ही इस सस्कार का विधान किया है। मद मोह वासना से अन्धे हुए पुरुष के अन्धकार पूर्ण हृदय में ऐसे समय मे भी अध्यात्मप्रदीप की एक लौ को प्रज्वलित रखना—भारतीय ऋषियो की ही विलक्षण बुद्धि का चमत्कार है। इस सस्कार के समय पढे जाने वाले—

(क) धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः।

पुमांसं पुत्रमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥

(अथर्व ५। २५। १०)

(ख) यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाऽहं

तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः

शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्।

(पारस्कर० १। ११। ६ यजु० ३६। २४

अर्थ—[क]—(धात) हे सृजनाधिष्ठातृ देवता ब्रह्माजी! (श्रेष्ठेन रूपेण) श्रेष्ठ रूप के साथ (अस्या) इस (नार्या) स्त्री को (गवीन्यो) पार्श्वस्थ नाड़ियो मे (पुमाम पुत्र) पुरुष सन्तान को (दशमे मासि) दसवे महीने मे (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (आधेहि) भली प्रकार स्थापित कीजिए। [ख]—(सुसीमे) हे सुन्दरि, (यत्ते हृदयम्) तुम्हारा जो हृदय (दिवि चन्द्रमसि श्रितम्)

द्यु लोकस्थ चन्द्रमा मे स्थित है (तत् अह वेद) उसे मैं जानता हू और (तत् मा विद्यात्) वह मुझे जाने। अर्थात् हम दोनो एक दूसरे के मनोभावो को भली प्रकार समझे। हम दोनो सौ वर्ष तक देखें, जीवें, और श्रवण-शक्तियुक्त रहे।

—इत्यादि मन्त्र मनुष्य के मन को सात्विक भावों की तरफ आकृष्ट करते हैं। उसमे पशुत्व का उदय नही होने पाता। विषयोपभोग मे प्रवृत्त हुआ भी वह उसे कामवासना की शान्ति का साधन नही समझता किन्तु सृष्टि यज्ञ जैसे पवित्र एव वेद-निर्दिष्ट कर्तव्य की पूर्ति के लिये ही उसका सेवन करता है। उसके हृदय मे अनुक्षण उठने वालो "मैं सत चित् आनन्दमय पूर्ण पुरुष का अश हूं, यह मेरी प्रकृति है, देव ऋषि पितृ ऋण से मुक्त होने के लिये हम गर्भाधान करते हैं" आदि भावनाए भावो मानव के शरीर निर्माण पर वड़ा प्रभाव डालती हैं।

यह सिद्ध हो चुका है कि गर्भाधान के समय पति पत्नी के हृदय मे जिस प्रकार के विचार होते हैं—उनके हृदय और अन्त-र्चक्षु के सन्मुख जो चित्र होता है—भावी शिशु उन्ही सवके प्रति-विम्व को लेकर जन्म लेता है। अक्सर देखा गया है और समा-चार पत्रो प्रतिदिन ऐसे समाचार पाठकोको मे पढने को मिलते हैं कि 'अमुक स्त्री ने एक ऐसे अद्भुत वालक को जन्म दिया जिसकी आकृति वानर की थी जिसके शरीर पर वाल थे और पू छ थी' कभी 'दो सिर और चार हाथ वाले वालक का जन्म''। इन सव घटनाओ का मूल क्या है ? कहना न होगा कि गर्भाधानकाल के ऊटपटाग विचारों ने ही ऐसी अद्भुत आकृतियो को जन्म दिया है। इसलिये गर्भाधान काल मे मनुष्य के मन का प्रसन्न तथा धार्मिक भावयुक्त रहना नितान्त आवश्यक है।

हम पीछे कह आये है कि शिशु का निर्माण माता पिता के शरोर आत्मा और हृदय से होता है इन तीनो मे भी मन की ही प्रधानना है वह बड़ा चचल और अनियम्य है। वह प्रतिक्षण गतिमान् रहता है और बुद्धि को अपने साथ मिलाकर कुछ न कुछ मनन करता रहता है। यदि उसे कोई उचित सरणी न मिले तो उसके लिये विपथगामी होना कोई कठिन नही है। अन्य समय में मन की इस चचलवृत्ति को सहन किया जा सकता है किन्तु गर्भाधान जैसे पवित्र और महत्त्वपूर्ण काल में, जब कि हम अपने वश जाति और परम्पराओ के उत्तराधिकारी के निर्माण के लिये प्रस्तुत हो रहे हो, इस प्रकार की चचल तथा सरणीहीन मनोवृत्ति,—अयोग्य, कुलकलङ्की तथा सर्वदा सताप एव अनुताप की आग मे जलानेवाले शिशु के जन्म का कारण बन सकती है। इसलिये मन को देवभाव युक्त करने तथा इस पवित्र एव महान् कार्य की जिम्मे वारी अनुभव कराने के लिये ही क्रान्तदर्शी महर्षियो ने इस सस्कार का प्रचलन किया था।

गर्भाधान-सस्कार क्यों ?

जव सृष्टि मे मनुष्य पशु पक्षी आदि सभी प्राणी, बिना शास्त्रोक्त गर्भाधान सस्कार के ही, गर्भाधान कर लेते है और उनके सन्तान भी हो जाती है, बल्कि पशु पक्षी तो दो चार पाच सात बच्चे तक एक बार उत्पन्न कर लेते हैं तब यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि इसकी गणना सस्कारो मे क्यो ?

यह सत्य है कि पशु पक्षी बिना शास्त्रोक्त गर्भाधान के ही सन्तान उत्पन्न करने मे सफल हो जाते है और मनुष्य भी हो रहे है किन्तु फिर भी मनुष्य और पशु मे अक्ल का सोचने समझने की शक्ति का—जो महान् अन्तर है उसे भुलाना सहज नही है।

ज्ञान शक्ति देकर प्रकृति ने पुरुषो पर जो अनुग्रह किया है वह पशुओ पर नही। पशु पक्षी सर्वात्मना प्रकृति माता के ही आश्रय पर जीवन निर्वाह करते है। प्रकृति ही उनकी सम्पूर्ण वृत्तियो की सचालिका होती है। वह उनको एक नियम के अन्दर चलाती और उससे रत्तीमात्र भी बाहर नही होने देती।

तात्त्विक दृष्टि से देखने पर तो हम कह सकेंगे कि आज के मनुष्य से पशु कई बातो मे बढा चढा है और उसने मनुष्य के सामने एक आदर्श स्थापित किया है। गर्भाधान और समागम को ही लीजिये, पशु पक्षी एक निश्चित समय मे ही—जो कि प्रकृति ने उनके लिये निश्चित कर दिया है—समागम करते है। उस समय भी वे अपनी घ्राण शक्ति द्वारा स्त्री के शरीर को सू घ-कर यह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं कि स्त्री गर्भिणी तो नहीं है। यदि ऐसा हुआ तो फिर उससे समागम नही करते। इसके विपरीत पुरुष;—ज्ञानशक्ति सम्पन्न पुरुष प्रकृति के सभी वैज्ञानिक बन्धनो को ताक पर रखकर समय कुसमय का कोई विचार न करता हुआ अपनी भोग लालसा को तृप्त करता है और इस प्रकार जान-बूझकर अपने अमूल्य स्वास्थ्य की हानि करके अकाल मे ही मृत्यु के मुख मे जा पहुँचता है। इसलिये प्रकृति प्रदत्त सयम—जो कि इस सस्कार के कतिपय प्रयोजनो मे से एक है—के कारण पशु पक्षियो के लिये इस सस्कार की आवश्यकता भले ही न हो, किन्तु मनुष्य के लिये तो इसकी परमावश्यकता है।

इस सस्कार द्वारा स्त्री पुरुष के सम्बन्ध की पवित्रता तथा सयम के महत्त्व का दिग्दर्शन होता है। विवाहित स्त्री पुरुषो के सामने यह आदर्श विचार रखा जाता है कि तुम दोनो का सम्बन्ध विषय भोग की तृप्ति के लिये नही, किन्तु एक महान् उद्देश्य की

पूर्ति के लिये है। केवल इसी पुत्रोत्पत्ति रूप उद्देश्य के लिये ही उन्हे समागम करना चाहिये। सयम पूर्वक गृहस्थ जीवन ही उनका आदर्श है व्यभिचार नही। विवाह का तात्पर्य यह नही, कि अब उनको विषय सेवन की खुली छुट्टी दे दी गई है, वे चाहे जैसे भी विषयभोग करते रहे वह पाप न होगा क्योकि वे तो पति पत्नी हैं। कहना न होगा कि इस प्रकार विषय-सेवन व्यभिचार के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है।

प्राय हम देखते है कि—माता पिता भाई बिरादरी—अर्थात् समाज की अनुमति से एव वैदिक मन्त्रो की शक्ति से ही स्त्री पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध मान्य होता है। इन दोनो अवस्थाओ के अतिरिक्त यदि कोई स्त्री पुरुष आपस मे ऐसा सम्बन्ध रखते है तो जहा लोक मे उसे व्यभिचार गिना जाता है वहा परलोक मे भी दुर्गति करनेवाला कहा जाता है।

परन्तु व्यभिचार की यह व्याख्या अधूरी है। इसके विषय मे अनेक विचारशील व्यक्तियो का यह मत है कि 'व्यभिचार के लिये यह आवश्यक नही कि वह पराई स्त्री से ही हो, किन्तु अपनी विवाहिता स्त्री से भी शास्त्रीय नियमो के विरुद्ध समागम करना व्यभिचार ही है।' पाश्चात्य जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् Dr. Balfowr (डा० बैलफोर) ने इस विषय का विवेचन करते हुए एक जगह लिखा है —

"विवाहित लोगो के मध्य मे अत्यन्त विषय सेवन यथार्थ रूप से व्यभिचार है।" इसीलिये भगवान् कृष्ण ने गीता मे 'धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' कह कर धार्मिक भावना से युक्त काम को ही अपनी विभूति मे परिगणित किया है।

आज हमारे समाज मे स्त्री पुरुष का पारस्परिक सबन्ध गोप्य

समझा जाता है। गर्भाधान की चर्चा और वह भी सस्कार के उत्सव मे पधारे हुए उपाध्याय या रिश्तेदारो के सन्मुख–स्त्री और पुरुष दोनो के लिये ही लज्जा का कारण समझा जाता है, किन्तु वास्तव मे ऐसी चर्चा न गोप्य है न लज्जा का कारण ही। जब से समाज मे इस वैदिक सस्कार का अभाव हुआ और उसका स्थान गोपनीयता ने लिया तब से हो अधिक विषय सेवन रूप व्यभिचार को बाढ सी आ गई। यदि आज फिर गर्भाधान को सस्कार रूप मे करने की प्रथा प्रचलित हो तो समाज के बहुत से दोष स्वय शान्त हो जाए। और तब, जिस प्रकार विवाहित हो जाने पर, पर-स्त्री और पर पुरुष से सम्बन्ध रखना पाप समझा जाता है, यथा सम्भव नर नारी इससे बचने का प्रयत्न भी करते है, इसी प्रकार सन्तानोत्पत्ति के लिये गर्भाधान सस्कार के समय हो स्त्री पुरुष समागम किया करें, अतिरिक्त समय मे नही, यही इस सस्कार का मुख्य अभिप्राय है। इसके अतिरिक्त इस सस्कार के निम्न उद्देश्य और कहे जा सकते हैं।

गर्भाधान क्रिया ज्ञान

हिन्दू शास्त्रो मे संसार के स्पृहणीय समस्त पदार्थों का वर्गीकरण करते हुवे उन्हे केवल चार भागों मे विभक्त किया है। जिसे चतुर्वर्ग, कहा जाता है। उन चार पदार्थों के नाम हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारो पदार्थो को प्राप्त कराने वाले शास्त्र भी चतुर्विध हैं। जैसे मन्वादि स्मृतिये धर्मशास्त्र है। शुक्र, बृहस्पति, कणक, कामन्दक, और चाणक्य आदि के ग्रन्थ अर्थशास्त्र हैं तथा उपनिषद् गीता आदि २ मोक्ष शास्त्र हैं, इसी प्रकार वात्स्यायन आदि महर्षियो के बनाये हुए 'कामसूत्र' आदि ग्रन्थ कामशास्त्र है।

प्राचीन समय मे ऋषिकुल, गुरुकुलादि मे २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत पूर्ण करके स्नातक होनेवाले छात्रो को अन्य विद्याओ की भाति आचार्य लोग इस रतिशास्त्र (Sexual Physiology) का भो उपदेश देते थे जिससे युवकवृन्द पहिले से ही गृहस्थाश्रम के आवश्यक नियमो से सुपरिचित हो जाते थे। किन्तु मध्यकाल मे जब कि आश्रम प्रणालो समाप्त हो गई यह प्रथा भी जाती रही और धीरे२ देश दो दलो मे विभक्त हो गया। एक दल उन राजा नवाब और रईसो का था जो विलासान्ध होकर दिन रात रगरलिया मनाते थे। सुरा सुन्दरी का मादक नशा प्रति क्षण जिनकी आखो में छाया रहता था और मगलामुखियो के मुजरो से जिन्हे क्षण भर का भी अवकाश न मिलता था। दूसरा दल धार्मिक भावना प्रधान जनता का था और वह इस प्रकार के कृत्यो से सख्त घृणा करता था। मध्यकाल के तुलसी सूर मीरा आदि भारतीय सन्तो ने —जो कि जनता के सच्चे मार्ग प्रदर्शक थे—इन विलास प्रवृत्तियो के विरुद्ध बडा प्रचार किया, फल यह हुआ कि 'दूध का जला छाछ को फूक २ कर पोता है' कहावत के अनुसार जनता, न केवल विलास से पराङ् मुख हुई, किन्तु उसने रति अथवा कामशास्त्र को —जिसे प्रजनन शास्त्र भी कहते है अश्लील और हेय समझना शुरू कर दिया। इस प्रकार चतुर्वर्ग के अन्यतम (काम) पदार्थ का विशुद्ध परिज्ञान उत्तरोत्तर समाप्त होगया।

सस्कार प्रणाली तो लुप्त हो ही चुकी थी, तब पुरुषो को गर्भाधानादि का यथार्थ ज्ञान कैसे आता ? आज भी हमारी यही स्थिति है। रति शास्त्र (Sexual Physiology) का वास्तविक ज्ञान देने वाली पुस्तको का आज भी सर्वथा अभाव है। गृहस्थ मे प्रवेश करने वाले युवक अपने आस पास के लोगो तथा विलासी

युवको से जैसा तैसा सुनकर या वाजार मे विकनेवाले अश्लील, कथित 'सचित्रकोकशास्त्रो' से—जो वाजारू औषधियो के विज्ञापन मात्र होते है और पुरुषो को पथभ्रष्ट करके विनाश के गहरे गर्त मे गिरादेते हैं—ऊट पटाग ज्ञान प्राप्त करके अपना सर्वनाश कर-वैठते है। विदेशो मे रतिशास्त्र के ऊपर आजकल सैकडो पुस्तकें निकल रही है। डा० पाइनकर, डा० विलसन, डा० हैविलाक ऐ-लिस, डा० प्लोटस, डा० वनार्ड एव डा० फ्रंकलिन आदि प्रख्यात लेखको ने इस विषय को वैज्ञानिक रूप मे जन साधारण के समक्ष उपस्थित करने का प्रयास किया है। 'What a husband out to know' Sexual questions, Before I wed' 'The-Science of New life' 'Secrets of successful marriage' आदि २ पुस्तको द्वारा वहा गृहस्थ मे प्रविष्ट होनेवाले नव युवको को गृहस्थ का रास्ता दिखाया जाता है। इस प्रयत्न मे वहा की जनता का कुछ उपकार ही हुआ है। परन्तु भारत मे इस विषयकी सच्ची शिक्षा देनेवाला जो पुस्तके उपलब्ध हैं यदि भारतीय स्वय उनसे सुशिक्षित होकर अपने गार्हस्थ्य जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करे तो वह पुनरपि इस विषय मे भी ससार का सच्चा नेतृत्व कर सकते हैं।

गर्भाधान सस्कार कराने वाले आचार्य को इस विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये, इसलिये यदि यह प्रणाली पुनर्जीवित हो तो सस्कारार्थी को सब अपेक्षित सत्य ज्ञान गुरु से ही प्राप्त हो सकता है। अथवा इस सस्कार से पूर्व ही वह सस्कार सम्बन्धी योग्यता प्राप्ति के लिये इस विषय के ग्रन्थो द्वारा अपेक्षित ज्ञान लाभ कर सकता है। जिस प्रकार परीक्षा तिथि के निर्धारित हो जाने पर विद्यार्थियो की पढाई मे अधिक अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है

और वे उस दिन सफलता प्राप्त करने के लिये डटकर तैयारी करते हैं, इसी प्रकार मुहूर्त शास्त्रादि द्वारा गर्भाधान सस्कार का दिन नियत किया जाने पर सस्कारार्थी का उसके लिये यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा पाना स्वाभाविक ही होगा और तब धार्मिक क्रिया के रूप मे गर्भाधान के निष्पन्न करने पर भावी शिशु का धार्मिक भाव सम्पन्न, सत्पुत्र के रूप मे उत्पन्न होना कुछ कठिन नही।

स्त्री की अनुमति--

नारी विषयभोग की पूर्ति का साधन नही है, यह सृष्टि सौन्दर्य की पवित्र प्रतिमा है। विश्व की समस्त सुकुमार भावनाओ को उद्ग्रथित करके विधाता ने नारी को सृजन किया है। प्रेम, दया, माया, ममता धैर्य और कोमलता की अतुल राशि से उसका हृदय सर्वदा प्लावित रहता है। त्याग और आत्म समर्पण के महज वरदानो को लेकर कुमारी रूप मे उसका उदय होता है और मातृ रूप मे पर्यवसान। 'माता' रूप मे परिणति उसके जीवन की व्याख्या है। वह श्रद्धा की वस्तु है, विलास की नही। अत जो व्यक्ति पुत्रोत्पत्ति के धार्मिक प्रयोजन के अतिरिक्त तथा स्त्री की इच्छा के प्रतिकूल भी अपनी विषय-लालसा को तृप्त करते रहते हैं, वे न केवल अपने अमूल्य स्वास्थ्य का नाश करते है अपितु स्त्री के साथ एक बड़ा अन्याय भी करते है।

गर्भाधान सस्कार स्त्री पुरुष की सहवास के लिए पारस्परिक सम्मति तथा सन्तान की आवश्यकता द्योतक सस्कार है। यह कहने की आवश्यकता नही है कि सहवास के लिए स्त्री की सम्मति या सहमति कितनी आवश्यक है। स्त्री का शरीर स्वस्थ हो चाहे अस्वस्थ उसका मन प्रसन्न हो अथवा विषण्ण, आज के

अधिकाश पति इसकी कोई पर्वाह न करते हुए विना किसी पूर्व निश्चय के अपनी जघन्य वासना पूर्ति के लिये स्त्री को कष्ट मे डालते हैं। सन्तान वाहुल्य से दु खी निर्धन पुरुष, सन्तान की कोई इच्छा न रहते हुए भी, गर्भाधान मे प्रवृत्त हो जाते है और इस क्षणिक आनन्द का तात्पर्य होता है एक और वालक,—जिसकी कि परिवार मे कोई आवश्यकता नही थी। अन्त मे गरीवी और भूख से तग आकर या तो वालक ही तड़फ २ कर मर जाते हैं या विलासान्ध पति महाशय को आत्महत्या का द्वार खटखटाना पडता है। यह सब क्यो होता है ? गर्भाधान प्रथा के लुप्त होने के कारण ही तो !

वर्तमान काल की अनेक भ्रूण हत्याओ और गर्भ निरोधक औषधियो के अन्धाधुन्ध प्रचार का कारण क्या इस सस्कार का लुप्त हो जाना ही नही है ? यदि आज समाज मे इस सस्कार-पूर्वक ही गर्भाधान का प्रचार हो, तो—न तो वेकारी के समय मे अनायास ही जनसख्या के वढने की शिकायत रहे और न पुरुषो की स्वेच्छाचारिता पूर्ण प्रवृत्ति से त्रस्त तथा पददलित नारियो के आन्दोलन का सवाल,—जो आज पुरुषो के समान अधिकार प्राप्त करने के लिये नारियो द्वारा चलाया जा रहा है।

पर्वादिकों में सहवास निषेध——

सनातनधर्मियो के समस्त क्रिया कलाप किसी मुहूर्त मे होते हैं। मुहूर्त का तात्पर्य है—सर्वथा उपयुक्त काल। दूसरे शब्दो मे एक ऐसा समय--जो उस कार्य के लिये वैज्ञानिक दृष्टि से विल्कुल पूरा उतरे। इस उपयुक्तता का निर्धारण साधारण मानवो की वुद्धि से नही किन्तु प्राकृतिक विज्ञान पर आधारित ज्योतिष शास्त्र (Astronomy) के द्वारा होता है।

स्त्री समागम के लिये शास्त्रो की आज्ञा है कि—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥

अर्थात्—पुरुष को चाहिये पर्वादि रहित ऋतुकाल मे धर्म-कामना पूर्वक स्वकोय भार्या से ही समागम करे। सस्कार विषयक मुहूर्त का विचार करते हुए पारस्कर गृह्य-सूत्रकार ने लिखा है—

"ऋतुकाले रजोदर्शने सञ्जाते चतुर्थादि समदिने ज्योतिःशास्त्रोक्ते पुण्याहे, कन्यार्थी पञ्चमादिविषमदिने गर्भाधानं कुर्यात् । (पारस्कर गृह्य सूत्र)

अर्थात्—ऋतुकाल मे, रजोदर्शनोपरान्त ऋतुस्नाता हो चुकने पर चौथे दिन, अष्टमी चतुर्दशी अमावस्या पूर्णिमा सक्रान्ति आदि पर्वकाल रहित ज्योतिष शास्त्रोक्त शुभ समय मे गर्भाधान करे।

गृह्य-सूत्र के उपरोक्त विधान मे 'ज्योतिषशास्त्रानुमोदित शुभ समय' का निर्देश करके मनुष्य की अवाध विलास प्रवृति को सकुचित एव सीमित करके जहा मानव स्वास्थ्य को समुन्नत करने का प्रयत्न किया गया है वहा वैज्ञानिक दृष्टि से गर्भाधान के लिये उपयुक्त समय का सकेत भी किया गया है। इस विपय मे मनु याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारो ने बडा सूक्ष्म और गहन विचार किया है। मनु लिखते है—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्र्यः षोडशः स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥
(मनु० ३, ४६-७८)

अर्थात्—स्त्रियो का स्वाभाविक ऋतुकाल रजोदर्शन के दिन से आगे १६ रात्रिये कहा गया है। इनमे प्रथम चार रात्रियें अतीव निन्दित हैं, इनमे सहवास तो क्या रजस्वला के हाथ का स्पर्श किया जल भी न पीना चाहिये। पहली चार रात्रियो के अतिरिक्त ग्यारहवी और तेरहवी रात्री भी निन्दित है। शेष दश रात्रियें प्रशस्त हैं। पुत्राभिलाषी पुरुष युग्म—अर्थात् छठी आठवी दशवी बारहवी चौदहवी और सोलहवी रात्रि मे स्त्री समागम करे इसी प्रकार कन्याभिलाषी पुरुष अयुग्म—पाचवी सातवी आदि शेष रात्रियो मे गर्भाधान करे।

मनु के उपरोक्त उद्धरण से यह भलीभाति ज्ञात हो जाता है कि आज से हजारो लाखो वर्ष पूर्व जबकि शेष ससार अर्ध सभ्य अवस्था मे नितान्त पशु तुल्य जीवन बिता रहा था तब भारतीय महर्षि अपनी सुदीर्घ तपश्चर्या तथा विज्ञानमय विश्लेषण द्वारा मानव जीवन की प्रत्येक दिशा मे परीक्षण (Experiment) करने मे लगे हुए थे। जीवन का कोई कोना ऐसा नही है जहा उनकी पैनी दृष्टि का प्रसार न हुआ हो। मानव जीवन के सभी पहलुओ पर उन्होने विशद विचार किया है और तब जो सिद्धान्त और नियम उन्होने स्थिर किये हैं वे कितना महत्त्व रखते हैं—यह कहने की आवश्यकता नही।

अमुक रात्रि में सहवास निषेध क्यों ?

भौतिक विलास परिपूर्ण आधुनिक जगत् मे उपरोक्त प्रश्न कोई

आश्चर्य नही है। Eat drink and be marry या 'यावज्जोवेत्सुख जीवेत्' जैसी सुन्दर एव सरल फिलासफी के मुकाबले मनु के उपरोक्त विधि निषेधमय नियम, ज्वरार्त प्राणी के सामने से हलवे की तश्तरी हटाकर कडवी कुनैन देने के समान है और तब रोगी का, ऐसा करने वाले वैद्य और घरवालो के प्रति क्षोभ, असहिष्णुता, समर्थ होने पर आज्ञोल्लघन भी स्वाभाविक ही है। आज यही दशा हमारे सामने है। लोग कहते हैं—धर्म ने मनुष्य की सब प्रकार की स्वतन्त्रता का अपहरण करके उसे कैदी बना दिया है। उसके सभी क्रियाकलापो पर सदा धर्म का अकुश भूलता रहता है। खाना पीना सोना उठना बैठना--गर्ज यह कि सभी कार्यों में अदृष्ट प्रेत की छाया की भाति धर्म उसके पीछे लगा रहता है। आखिर यह सब क्यो ? धर्म मनुष्य के लिये है न कि मनुष्य धर्म के लिये। इस प्रकार के विचार आज सर्वत्र सुनने को मिलते हैं। ऐसी दशा मे उपरोक्त प्रश्न का समाधान आवश्यक ही नही अत्यावश्यक है।

पर्वादिको मे सहवास निषेध के रहस्य को समझने से पूर्व हमे निम्न लिखित पाच बातो को बुद्धि मे उतार लेना चाहिये, जिससे प्रतिपाद्य समाधान को अनायास ही समझ सके।

(१) भूगोल विद्या (Physical Zography) के अनुसार चन्द्रमा जलीय संघातो का, जिन्हे रस कहा जाता है—एक बहुत बडा पिण्ड है।

(२) हमारे शरीर मे विद्यमान खून तथा प्राण — जो कि जीवन के मुख्य हेतु है—जल के विकार से बने हुए द्रव्य है, जैसा कि उपनिषद् के निम्न उद्धरण से भली भाति ज्ञात हो सकता है।

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ।

(छान्दोग्य उप० ६ । ५)

अर्थात्—मनुष्य जिस जल को पीता है उसका सब से स्थूल भाग मूत्र बन जाता है, उससे सूक्ष्म भाग रक्त बन जाता है और सब से सूक्ष्म भाग प्राण होता है ।

(३) चन्द्रमा की उत्पत्ति विराट् के मुख से हुई है जैसा कि

चन्द्रमा मनसो जातः (यजु)

—इस मन्त्र से भली भांति जाना जा सकता है ।

(४) भूमण्डल की उन सभी वस्तुओ पर जिन मे जलीय अंश रहता है चन्द्रमा का प्रभाव पड़ता है, उदाहरणतया सभी औषधि वनस्पति आदि चन्द्रमा से ही रस को प्राप्त कर बढ़ती हैं इसीलिये चन्द्रमा को औषधीश कहा जाता है ।

(५) पार्थिव जल संघात—समुद्र पर चन्द्रमा का यह प्रभाव अमावस्या तथा पौर्णिमा के दिन दीर्घ ज्वार (Spring tide) के रूप मे तथा अष्टमी को लघु ज्वार (Neap tide) जल के उतार के रूप मे स्पष्ट दिखलाई पड़ता है ।

उपरोक्त तथ्यो को हृदयगम कर लेने के बाद यह बात सरलता से समझ मे आ सकती है, कि शास्त्रकारो ने पर्व आदि काल मे गर्भाधान तथा स्त्री समागम का निषेध क्यो किया है । पर्व से शास्त्र का अभिप्राय अमावस्या पौर्णिमा चतुर्दशी अष्टमी तथा संक्रान्ति मे है । इनमे पूर्णिमा अमा, तथा दोनो चतुर्दशी इन चार तिथियो मे चन्द्रमा सूर्य और पृथ्वी एक ही सीधी रेखा मे होते हैं । चन्द्रमा और सूर्य के एक ही रेखा मे होने से दोनो का सम्मिलित

आकर्षण अन्य दिनों से अधिक होता है और उसका प्रभाव भूमण्डल के अन्य पदार्थो की भाति मानव शरीर पर भी विशेष रूप से पड़ता है।

हम पीछे बतला चुके है कि हमारे प्राण तथा रक्त, जलीय विकार से उत्पन्न पदार्थ हैं, इसलिये इन पर उसका विशेष प्रभाव होता है। इन तिथियो मे शरीरस्थ रस, रक्त, प्राण, क्षुब्ध तथा उत्तेजित होते है, उनकी गति स्वाभाविक स्तर से विशेष बढी हुई होती है। इसी प्रकार शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष की अष्टमी को चू कि सूर्य और चन्द्र एक दूसरे के साथ समकोण बनाने की अवस्था मे होते है, फलत उनकी आकर्षण शक्तियो का परस्पर सघर्षण हो जाता है और चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति स्वाभाविक स्तर से निम्न हो जाती है, इसलिये इन तिथियो मे पार्थिव द्रव्यो पर चन्द्रमा का प्रभाव स्वाभाविक अनुपात से कम होता है। इसका प्रभाव मानव शरीर पर भी पडता है उस समय शरीरान्तर्वर्ती रस रक्त तथा प्राणो में ह्रास एव निर्बलता आ जाती है। पूर्णिमा आदि पर रसो मे अतिशय वृद्धि और अष्टमी पर ह्रास को देखने के लिये बम्बई या कलकत्ता मे समुद्र के किनारे चले जाइये। इन समयो मे प्राकृतिक प्रेरणा से ही उठने वाले दीर्घ ज्वार और लघु ज्वार को देखकर आप स्वय ही इसकी सचाई के कायल हो जायेंगे।

तात्पर्य यह है कि इन पर्व तिथियो पर मनुष्य के प्राण तथा रक्तादि स्वाभाविक दशा मे नही होते। चन्द्र-प्रभाव-जन्य चढ़ाव एव उतार से वे विषम अवस्थापन्न होते है, अत ऐसे समय मे समागम करने से जहा स्वास्थ्य वैषम्य से प्राण शक्ति क्षीण हो सकती है, वहा समागम से गर्भ स्थिति हो जानेपर भावी शिशु के शरीर मे रक्त विकार तथा प्राणशक्ति दौर्बल्यादि दोषोका

रह जाना आश्चर्यकारक न होगा। वह बालक सम्पूर्ण आयु फोड फुन्सी दाद आदि रक्त विकारो से तथा प्राण शक्ति की दुर्बलता से होनेवाली हृदय दौर्बल्य (Heart weakness) आदि व्याधियो को भोगता हुआ अपने माता पिता के अज्ञान का फल चखता रहेगा।

इसके अतिरिक्त क्योकि चन्द्रमा विराट् भगवान् के मन से उत्पन्न हुआ है और समस्त चराचर के प्राणियो के मन समूह का एकमात्र अधिष्ठाता है, इसलिये उसके वृद्धि क्षय के तारतम्य से मनुष्यो के मन का अवस्था भी बदलती रहती है। पर्वकाल मे रस रक्त तथा प्राण के साथ २ मनुष्य का मन भी स्वाभाविक दशा मे नही होता। ऐसे समय मे गर्भाधान से उत्पन्न होने वाले बालक अतिशय क्रूर, साहसी चारित्र्यहीन चञ्चल या अत्यन्त कायर डरपोक और धैर्यहीन होते हैं। इसलिये ऐसे समय में कभी स्त्री प्रसग न करना चाहिये।

अमुक रात्रि में अमुक संतान क्यों?

श्री मनु जी महाराज ने पुत्राभिलाषी पुरुषो के लिये युग्म अर्थात्—छठी आठवी, दशवी, बारहवी, चौदहवी और सोलहवी रात्रि मे, एव कन्याभिलाषी पुरुषो के लिये अयुग्म-अर्थात् पाचवी सातवी पन्द्रहवी आदि रात्रियो मे स्त्री प्रसंग का विधान किया हैं। प्रसगानुसार इस विषय पर भी विचार करना अनुपयुक्त न होगा।

सन्तति शास्त्र (Sexual physiology) के सभी विद्वान्-चाहे वे पौरस्त्य हों या पाश्चात्य, इस विषय मे कम से कम एक मत हैं, कि वीर्य के आधिक्य से पुत्र और रज की प्रबलता से कन्या उत्पन्न होती है जैसा कि मनुजी महाराज ने कहा है—

पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः (मनु ३)

अर्थात्— पुरुष के अधिक वीर्यवान् होने से पुत्र और स्त्री के आर्तवाधिक होने से कन्या का जन्म होता है। किन्तु कब स्त्री के शरीर मे रज की प्रबलता होती है और कब वह ह्रास को प्राप्त हुआ रहता है यही एक रहस्य है जिसे केवल क्रातद्रष्टा भारतीय महर्षियो ने ही जाना और तदनुकूल विविध नियमो की रचना की। विदेशो मे इस सम्बन्ध मे जो नए सिरे से खोजे हुई और हो रही हैं वे यद्यपि नितान्त अधूरी है किन्तु उनसे प्रतीत होता है कि एक दिन ऐसा अवश्य आएगा कि वे लोग, तपोधन ऋषियो द्वारा बतलाये गये प्रजनन शास्त्र के तथ्यो को अन्तिम रूप मे स्वीकार करने का वाध्य होगे।

इन तथाकथित परीक्षणो अनुसधानो और उन पर निर्धारित अधकचरे सिद्धान्तो के वर्णन जब हम इन लेखको को पुस्तको मे पढते हैं तो हमे बडी हसी आती है और साथ ही दया भी। उस समय बलात् मुख से निकल पडता है—काश ? ये लोग सस्कृत साहित्य से परिचित होते।

हमे पिछले दिनो अमेरिका के सुप्रसिद्ध सन्तति शास्त्र वेत्ता डा० ट्राल (Dr. Tral) की इस विषय की एक पुस्तक देखने का अवसर प्राप्त हुआ। आपने उसमे एक स्थान पर लिखा है "१५-वर्ष पूर्व मैंने यह नियम प्रकाशित किया था, जिसका परीक्षण हजारो व्यक्तियो पर किया जा चुका है। वह नियम है— 'रज बन्द हो जाने के पश्चात् एक प्रकार का आर्तव स्त्री के गर्भाशय से निकलना आरम्भ होता है और दश बारह दिन तक जारी रहता है। यदि बन्द हो जाने के दिन से लेकर दश या बारह दिनो के मध्य समागम न किया जया तो गर्भस्थिति कभी न होगा।

पाठको से यह वात छिपी न होगी कि डा० ट्राल जिसे अपने द्वारा १५ वर्ष पूर्व निश्चित किया नया आविष्कार कह रहे हैं वह सहस्रो वर्ष पूर्व मनु आदि स्मृतिकारो द्वारा निर्दिष्ट 'ऋतु काल' के अतिरिक्त कुछ भी नही है। इसी प्रकार आगे चलकर 'क्या इच्छानुसार लडका या लड़की उत्पन्न की जा सकती है' विषय पर विचार करते हुए आप लिखते है—

'हमारी वर्तमान विद्या सम्वन्धी दशा हमें एक मार्ग वताती है और वह यह है कि हम ऋतुकाल के अनुसार चलें। वहुतायत से साक्षिये इस वात को मिलती हैं, कि पहिले दिनो मे गर्भाधान से लडकिया और पिछले दिनो समागम से लड़के होते हैं।'

उपरोक्त उद्धरण का सीधा सा तात्पर्य यही हो सकता है कि डा० ट्राल या उन सरीखे दूसरे वैज्ञानिको के मतानुसार प्रारम्भ के आठ दश दिनो मे स्त्री के शरीर मे रज की प्रवलता होती है और वाद के दिनो मे वह ह्रास को प्राप्त हो जाता है और तव पुरुष वीर्य के प्रबल होने के कारण लडके उत्पन्न हुआ करते हैं। हमे इन अपूर्ण सिद्धान्तो की आलोचना करके पाठको का समय खोने या कागज काले करने की आवश्यकता नही प्रतीत होती। वे पहिले दिन कौनसे होते है और पिछले कौन से यह तो वे वैज्ञानिक ही जाने या साक्षी देनेवाले। इस उद्धरण से हमे तो इतना ही प्रयोजन है, कि वे लोग भी कम से कम इस वात से तो सहमत हैं कि कुछ समय—वह चाहे पहिला हो या वाद का या अन्य कोई—ऐसा अवश्य होता है जव स्त्री शरीर मे आर्तव का वेग अधिक वढा हुआ होता है और कभी वह घटा हुआ।

अव मनु विहित युग्म-अयुग्म-रात्रि-व्यवस्था पर विचार कीजिये उपरोक्त व्यवस्था का तात्पर्य यही है कि रजोदर्शन से शुद्ध

हो जाने के अनन्तर स्त्री के शरीर मे आर्तव वृद्धि के साथ एक प्रकार की तरग उठती है जिसे 'मदन तरग' भी कहा जाता है। इसका वेग एक दिन अधिक होता है और एक दिन कम, जैसे—एकान्तर ज्वर ठीक एक दिन बीच मे छोड कर अगले दिन होता है यह प्रायः सभी भुक्त भोगी जानते है। ठीक इसी प्रकार यह 'मदन तरग' समझनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि पाचवी रात्रि से आगे एक एक रात्रि को छोड कर-पाचवी, सातवी, नवी-आदि अयुग्म रात्रि मे इसका वेग बढा हुआ होता है जिससे स्त्री के शरीर मे बल अधिक होता है और तब—'युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु' मनु के इस नियम के अनुसार उपरोक्त रात्रियो मे समागम से कन्या जन्म होता है और इससे भिन्न समय मे स्त्री का आर्तव निर्बल होता है इससे उनमे सयोग से पुत्र की उत्पत्ति होती है।

प्रस्तुत पुस्तक लेखन काल मे ली गई ५० साक्षियो मे ४० ऐसी थी जिनमे उपरोक्त सिद्धान्त की यथार्थता का समर्थन पाया गया है। ५ व्यक्ति ऐसे थे जो गर्भ स्थिति का यथार्थ समय न जान सके, २ गर्भस्राव के कारण पूर्ण समर्थक न हो सके और ३ मामले इसके विरुद्ध मिले। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय महर्षियो द्वारा आविष्कृत 'युग्मायुग्मरात्रि-व्यवस्था' नितान्त पूर्ण और शारीरिक विज्ञान की भित्ति पर अवलम्बित है। इसके पालन से आज भी उतना ही लाभ उठाया जा सकता है जितना कि पूर्वकाल मे लोग उठाते थे। इसके साथ ही हमे यह आशा करनी चाहिये कि अवश्य ही पाश्चात्य विज्ञान अपनी अन्तिम खोजो के बाद इसी परिणाम पर पहुँचने को बाध्य होगा।

रजस्वला अशुचि क्यों ?

गर्भाधान सस्कार मे प्रसगवश रजस्वला स्त्रीके विषय मे कुछ लिखना अप्रासगिक न होगा। रजस्वला स्त्री के विषय मे शास्त्र-कारो ने लिखा है.—

एवं शुद्धशुक्रार्तवा ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्म-चारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यंगनख-च्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनात्यायासान् परिहरेत।

अर्थ—इस प्रकार रजस्वला स्त्री को चाहिये, कि ऋतुकाल के पहिले दिन से ही ब्रह्मचारिणी होकर रहे। दिन मे शयन न करे, आखो मे काजल न डाले, रोवे नही। स्नान करना, चन्दन अथवा उवटन लगाना, तेल मालिश, नख छेदन, दौड़ना, हसना, अधिक वोलना, भयकर शब्द सुनना, केश सस्कार, उग्र वायु सेवन तथा परिश्रम, इन सब से यथाशक्ति दूर रहे।

उपरोक्त शास्त्रीय वचन के अनुसार भारतवर्ष मे अभी तक यही परिपाटी प्रचलित रही है। इन दिनो मे स्त्रियों को अस्पृश्य समझा जाता था। उन्हे सभी घरेलू कार्यो से-अवकाश रहता था यहातक कि उनका छुआ जल भी लोग नही पीते थे, किन्तु समय के साथ आज अवस्था बदल रही है। प्रत्यक्षवादी जनसमुदाय आज इस वैज्ञानिक वन्धन को दूर फेक कर अपने मनमाने आचार विचारो का पालन करना चाहता है। विशेपतया शहरो मे निवास करने वाली आजकल की वावू पार्टी—जिनको ९ वजे ही दफ्तरो की हाजरी वजानी होती है—इस वैज्ञानिक व्यवस्था को

असुविधा मूलक होने कारण मानने के लिए] कतई तैयार नही है ।

इसलिए इस स्तम्भ मे हम इस सम्बध को क्यो पर ही प्रकाश डालना चाहते है, जिससे पथभ्रष्ट होता हुई निरोह जनता का मार्ग प्रदर्शन हो सके ।

'रजोदर्शन क्या है' ?—इस विषय का विवेचन करते हुए पीयूषपाणि भगवान् धन्वन्तरि ने लिखा है —

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम् ।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥

(सुश्रुत शारीरस्थान अ० ३ वाक्य ८)

अर्थात्—स्त्री के शरीर मे वह आर्तव (एक प्रकार का रुधिर) एक मास पर्यन्त इकट्ठा होता रहता है । उसका रग काला पड जाता है । तब वह धमनियो द्वारा स्त्रा को योनि के मुख पर आकर बाहर निकलना प्रारम्भ होता है इसीको रजोदर्शन कहते है ।

रजोदर्शन को उपरोक्त व्याख्या से हमे ज्ञात होता है कि स्त्री के शरीर से निकलने वाला वह रक्त काला तथा दुर्गन्धयुक्त होता है । अणुवोक्षणयन्त्र द्वारा देखने पर उसमे कई प्रकार के विषैले कीटाणु पाये गए है । दुर्गन्धादि दोषयुक्त होने के कारण उसको अपवित्रता तो प्रत्यक्ष सिद्ध है हा । इसलिए उस अवस्था मे जब कि स्त्रो के शरीर को धमनिये इस अपवित्र रक्त को वहाकर साफ करने के काम पर लगी हुई हैं और उन्हो नालियो से गुजर कर शारोरिक रोमो से निकलने वालो ऊष्मा तथा प्रस्वेद के साथ रज कोटाणु भा बाहर आ रहे होते है, तब यदि स्त्रा द्वारा छुए हुए जलादि मे वे सक्रमित हो जाए तथा मनुष्य के शरोर पर अपना दुष्प्रभाव डाल दे, तो इसमे क्या आश्चर्य? हस्पतालो मे हम प्रति

दिन देखते हैं कि डाक्टर अक्सर ड्रेसिंग का कार्य करने से पूर्व और पश्चात् अपने हाथो तथा नश्तर आदि को—हालाकि वे देखने मे साफ सुथरे होते हैं—साबुन तथा गर्म पानी से अच्छी तरह साफ करते हैं। आपने कभी सोचा—ऐसा क्यो किया जाता है? एक मूर्ख की दृष्टि मे तो यह सब, समय साबुन और पानी के दुरुपयोग के अतिरिक्त कुछ भी नही है, किन्तु डाक्टर जानता है कि यदि वह ऐसा न करे तो न जाने वह कितने व्यक्तियो की हत्या का कारण बन जाये। इसी सिद्धान्त को यहा लीजिए और तब विचार करे कि उस दुर्गन्ध तथा विषाक्त कीटाणु युक्त रक्त के प्रवहण काल मे स्त्री द्वारा छुई हुई कोई वस्तु क्यो न हानिकारक होगी ?

'भारतीय मैडीकल ऐसोसियेशन' नवम्बर १९४९ के अङ्क मे हमे डा० रेड्डी तथा डा० गुप्ता का लेख देखने का अवसर प्राप्त हुआ है जिसमे बतलाया गया है कि पाश्चात्य डाक्टरो ने भी रजस्वला के स्राव मे विषैले तत्त्वों का अनुसन्धान किया है। १९२० मे डा० सेरिक ने अनुभव किया कि कुछ फूल रजस्वला के हाथ मे देते ही मुरझा जाते हैं १९२३ मे डा० मिकबर्ग और पाइके ने यह खोज निकाली, कि रजस्वला स्त्री का प्रभाव पशुओं पर भी पडता है, उन्होने देखा है कि उसके हाथ में दिये हुए मेढक के हृदय की गति मन्द पाई गई। १९३० मे डा० लेनजो भी इसी परिणाम पर पहुँचे और उन्होने अनुभव किया कि कुछ काल तक मेढक को रजस्वला के हाथ पर बैठा रखने से मेढक की पाचन शक्ति मे विकार आगया। डा० पालेण्ड तथा डील का मत है कि यदि खमीर, रजस्वला स्त्री के हाथो से तैयार कराया जाय तो कभी ठीक नही उतरता। यह सब तो दूर के सूक्ष्म विश्लेषणात्मक अनुभव हैं। हम इस विषय के कुछ स्थूल अनुभवो का निर्देश

करते हैं, जिन्हे प्रत्येक व्यक्ति जब कभी चाहे स्वयं करके देख सकता है। रजस्वला स्त्री के स्पर्श का तो कहना क्या यदि अचार पर उसकी छाया तक भी पड जाये तो वह बिगड़ जाता है। तुलसी के हरे भरे पौधो को आप रजस्वला द्वारा एक दो बार स्पर्श करवा दीजिये, आप देखेंगे कि वह उसी समय से मुरझाना प्रारम्भ कर देगे और एक मास के अन्दर २ अवश्य सूख जायेगे।

इसके अतिरिक्त स्त्री के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उसको सम्पूर्ण कार्यो से अवकाश मिला रहना नितान्त आवश्यक है। वैद्य या डा० जब किसी को विरेचन अर्थात् जुलाब देते है तब उसे परिश्रम करने उग्रवायु सेवन तथा स्नानादि से बिलकुल रोक देते हैं। वह पुरुष आराम से बैठा रहता है और शरीर की आभ्यन्तरिक सफाई के इस कार्य को पूरा करता रहता है इसका कारण यह है कि उस समय जब कि शारीरिक प्रकृति शरीर मे से मल निकालने के कार्य मे लगी हुई है, यदि इस प्रकृति या मनोवृत्ति को किसी अन्य तरफ लगाया गया या जायगा तो मल रुक जावेगा। मानव शरीर मे रक्त का दबाव बहुत कुछ मानसिक दशा के ऊपर निर्भर है, क्योकि हम देखते हैं कि भली भाति खाने पीने पर भी मानसिक चिन्ता के कारण मनुष्य का शरीर निर्बल पडता जाता है, और इसके विपरीत खाने पीने के अच्छा न होने पर भी मन को प्रसन्न रखने मात्रसे शरीर स्वस्थ रहता है। अत किसी अन्य कार्य मे मन को लगाने पर रक्त का दबाव उसी तरफ बढेगा और तब उस रक्त मे मल का अश निश्चित ही अवशिष्ट रह जायेगा जो कि आगे चलकर उस अग मे विकार पैदा कर रोग का कारण बन सकता है।

रजोदर्शन भी एक प्रकार से स्त्री के लिए प्रकृतिप्रदत्त विरेचन है। ऐसे समय मे उसे पूर्ण विश्राम करते हुए इस कार्य को पूरा

होने देना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो इसका दुष्परिणाम जहाँ वह जन्म भर भोगेगी, वहा भावी सन्तान को भी विरासत मे इस प्रकार के पुरस्कार सौंपेगी कि सन्तान भी सदा अपनी बुद्धिमती माता के गुणगान करती रहे।

जरा धन्वन्तरि जी के शब्दो मे उन चीजो के नमूने तो देखिये जो ऐसी माताए—अपने बालको को सौंपती हैं—

दिवा स्वपंत्याः स्वापशीलो अंजनादंधो रोदनाद्विकृत-दृष्टिः स्नानानुलेपनाद् दुःखशीलस्तैलाभ्यंगात्कुष्ठी, नख-कर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चचलो हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालु-जिह्वः प्रलापी चातिकथनादतिशब्दश्रवणाद् बधिरो अवलेख-नात्खलतिः मरुतायाससेवनान्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत्। (सुश्रुत शारीरस्थान अध्याय २-५)

अर्थात्—यदि रजस्वला स्त्री दिन के समय सोए, और कदाचित् उसे उस ऋतुकाल मे गर्भ रह जाए तो, भावी शिशु बहुत सोने वाला उत्पन्न होगा। काजल लगाने से अन्धा, रोने से विकृतदृष्टि स्नान और अनुलेपन से शारीरिक पीडा युक्त, तेल मलने से कोढी, नाखून काटने से बुरे नाखूनो वाला, दौड़ने से चचल, हसने से काले दातो, काले ओष्ठ विकृत जिह्वा तथा तालु वाला, बहुत बोलने से बकवादी, भयङ्कर शब्द सुनने से बहरा, कघा आदि से बाल सवारने से गजा, अधिक वायु सेवन से व परिश्रम करने से पागल बालक उत्पन्न होता है। इसलिए रजस्वला स्त्री इन्हे न करे।

कितने शोक की बात है, कि माता पिता पहिले तो इन बातो पर ध्यान नही देते। या यो कहिए इनका जानना भी आवश्यक नही समझते, किन्तु जब घर मे इस प्रकार के बालक का जन्म हो जाता है तब भाग्य को कोसते हैं।

इसके आगे धन्वन्तरी भगवान् ने लिखा है कि—

ततः शुद्धस्नाता चतुर्थे अहन्यहत।ससमलंकृतां कृत-मंगलस्वस्तिवचनां भर्तारं दर्शयेत्, कस्य हेतो :—

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृश नरमंगना ।
तादृशं जनयेत्पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः ॥

अर्थ—ऋतुस्नाता स्त्री को चौथे दिन सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण पहिना कर मगलाचरण तथा स्वस्तिवाचन पूर्वक कुल-वैद्य या गुरु, पति का दर्शन करावे। ऐसा क्यो किया जाए ? इसलिये कि—

ऋतु स्नान के अनन्तर स्त्री जसे पुरुष का प्रथम दर्शन करती है उसके उसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न होती है।

इसलिए यह आवश्यक है, कि गृहस्थ मे प्रवेश करने से पूर्व नवयुवक और नवयुवतिया इन तथ्यो से पूर्णतया परिचित हो जाये और इनका कठोरता से पालन करें। यह तभी हो सकता है जब कि पुन वैदिक सस्कार प्रणाली प्रचलित हो और गर्भा-धान सस्कार काल मे गृहस्थ स्त्री पुरुषो को इन वस्तुओ का ज्ञान कराया जावे।

पुंसवन संस्कार विचार

(क) पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ पुमान-ग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे ।

(ख) पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः। पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमान्नु जायताम्। (।म० मं ब्रा. १.४६)

अर्थात्—(क) मित्रावरुण नामक दोनो देवता, पुरुष हैं। अश्विनी कुमार नामक दोनो देवता पुरुप हैं और अग्विनी वायु ये दोनो भी पुरुप है। तुम्हारे गर्भ मे भी पुरुष का आविर्भाव हुआ है। (ख) अग्नि देवता भी पुरुप हैं और देवराज इन्द्र भी पुरुष है। देवताओ का गुरु वृहस्पति भी पुरुप है तेरे भी पुरुषत्वयुक्त पुत्र ही उत्पन्न हो।

पु सवन संस्कार मे पढे जाने वाले उपरोक्त सामवेद के मन्त्रो मे स्पष्ट ज्ञात होता है, कि यह सस्कार 'गर्भ से पुरुप सन्तान ही उत्पन्न हो' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए है।

'अथ पु सवनम्। पुरास्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा'—पारस्कर गृह्य सूत्र के इस वचन के अनुसार यह सस्कार उस समय किया जाता है जब कि गर्भ दो मास अथवा तोन मास का हो, दूसरे शब्दो मे जब कि गर्भ मास का एक पिण्ड मात्र हो और उसमे स्त्री पुरुष विभेदक अगो का प्रत्यक्ष प्रादुर्भाव नही हुआ होता। शारीरिक विज्ञान (Physical Scince) के अनुसार तीसरे चौथे महीने के वाद ही गर्भाशय मे शिशु के स्त्री पुरुष विभेदक अगो का वनना प्रारम्भ होता है। इसलिए यह सस्कार इस समय से पूर्व ही किया जाता है।

देखा गया है कि प्राय सभी देशो मे माता पिता, कन्या की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्व देते हैं। पुत्र होने पर भाति २ के उत्सव मनाये जाते है और सभी व्यक्ति यथाशक्ति दानादि करते

'पु'-नरकं ततस्त्रायते इति पुत्रः'

—इस यास्कोक्त वचन के अनुसार श्राद्धतर्पणादि द्वारा पितरो का उद्धारक कहा जाता है—सभी माता पिता पुत्र उत्पन्न हो जाने पर ही अपने जीवन को सफल समझते हैं। घरमे अनेक कन्याओ के होने पर भी पुत्र के अभाव मे स्त्रिये पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के व्रत अनुष्ठान कराती हैं मनौती मानती हैं और तरह २ की औषधि सेवन करती हैं। इसलिए समय पर इस सस्कार का विधान करके प्राचीन महर्षियो ने गृहस्थ नर नारियो की स्वाभाविक पुत्रेषणा को पूरा करने का प्रयत्न किया है।

पु'सवन के लिए दो अन्यर्थ उपचार

इस सस्कार के मुख्यतया दो पहलू है। (१) भावनामय (२) शारीरिक चिकित्सा सम्मत। पति पत्नी दोनो, प्रेम पूर्वक पितरो की प्रसन्नता के लिए वृद्धिश्राद्ध माङ्गलिक यज्ञादि करते है। इस के बाद गर्भिणी स्त्री को बटाकुर गुडची ब्राह्मी आदि औषधियो का रस पिलाया जाता है।

वृद्धि श्राद्ध तथा मागलिक होम की क्रियाये सर्वथा मनोविविज्ञान (Psycolosy) पर आधारित हैं, उनके द्वारा गर्भिणी स्त्री के हृदय मे एक विशेष भावना को उत्पन्न किया जाता है इन कार्यों मे पढे जाने वाले मन्त्रो से उसके हृदय मे यह भावना दृढ हो जाती है कि मेरे गर्भ से पुत्र का ही जन्म होगा। भावना की इस दृढता का परिणाम यह होता है, कि यदि उस गर्भ मे कन्या शरीर का निर्माण भी होना हो तो भी उस स्त्री की प्रवल भावना (Willing Power) के वल से वह बदल जाएगा।

भावना— दृढ विश्वास या श्रद्धा—मे कितना वल है इसके

विवेचन करने की आवश्यकता नही। पीछे भावनावाद प्रकरण मे हम इस पर काफी लिख चुके हैं। विगत महायुद्ध मे पराजित होते हुए राष्ट्रो ने सब स्थानो पर विजय का प्रतीक 'V' लगा कर और उससे जनता की गिरती हुई भावनाओ को पुनर्जीवित कर किस प्रकार युद्ध का पासा ही बदल दिया था।—यह किसी से छिपा हुआ नही है। भगवान् कृष्ण ने–'यो यच्छ्रद्ध स एव स' कह कर मानव जीवन मे श्रद्धा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। इसलिए भावनावाद पर आधारित वृद्धियाग तथा मन्त्रपाठादि पुत्राभिलाषिणी स्त्री के लिये कितने उपयुक्त होगे यह पाठक स्वय विचार सकते हैं।

सस्कार का दूसरा कृत्य है—औषधि पान। वनस्पति विज्ञान के अनुसार बटाकुर-व्रण के लिये हितकारी, सन्धिकारक, रक्त पित्त नाशक तथा स्त्रियो के योनि दोष को दूर करने वाला है इसके सेवन से योनि सबन्धी दोषो का नाश होकर गर्भ को पर्याप्त शक्ति मिलती है। कुछ ग्रन्थो मे इन औषधियो मे 'सोमलता' का भी नाम मिलता है। सोमलता बल तथा वीर्य के लिए आश्चर्यकारी किन्तु दुर्लभ महौषधि है। प्राचीन समय मे यज्ञादि मागलिक कार्यों मे इसका उपयोग होता रहा है। सोमरस देवताओ का पवित्र एव ओजप्रद पेय था। इसका उपयोग पुत्र प्राप्ति के लिये किये जाने वाले यज्ञो मे विशेष रूप से होता था, जिसका फल यह होता था कि यज्ञावशिष्ट प्रसाद के रूप में इस दिव्य औषधि का सेवन कर पति पत्नी स्वस्थ सुन्दर एव पराक्रमी सन्तान उत्पन्न करते थे।

सक्षेप मे हम कह सकते है कि यदि इस सस्कार को विधिवत् सम्पन्न किया जाय तो कोई सन्देह नही, कि पति पत्नी अपनी इच्छानुसार सन्तान उत्पन्न कर सकते है।

स्वा० दयानन्द तथा तत्परवर्त्ती कुछ विचारको ने वेदमन्त्रो की शक्ति मे तथा इन औषधियो में सन्देह करते हुए इस सस्कार को 'पुरुषत्व' अर्थात् वीर्यलाभ के लिए किया जाने वाला पुरुष का सस्कार माना है जब कि श्री मनु महाराज ने—

'गर्भाद्भवेच्च पुंसूतेः पुँस्त्वस्य प्रतिपादनम्'

अर्थात्— 'गर्भ के अन्दर कन्या शरीर न बन कर पुत्र शरीर ही बने, यही 'पु सवन' सस्कारका फल है'—कहकर स्पष्ट रूप से इसे गर्भस्थ जीव का सस्कार ही स्वीकार किया है। वैदिक धर्मी होने का दम भरने पर भी मन्त्र-शक्ति पर इतना अविश्वास कलियुगी ऋषित्व का प्रत्यक्ष नमूना है।

सीमन्तोन्नयन संस्कार

येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय ।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि ॥

(ऋग्वेद)

अर्थात्—जिस प्रकार प्रजापति ने देवमाता अदिति का सीमन्तोन्नयन किया था, उसी प्रकार इस गर्भिणी का सीमन्तोन्नयन कर इसके पुत्र पौत्रादिको को मैं जरावस्था पर्यन्त दीर्घजीवी करता हूं।

पु सवन सस्कार की भाति यह सस्कार भी बालक के गर्भस्थ होते हुए ही किया जाता है। आश्वलायन-गृह्य-सूत्रकार ने इसका विधान चौथे महीने मे और पारस्कर-गृह्य-सूत्रकार ने छठे या आठवे मास मे किया है। आश्वलायन गृह्य-सूत्र से यह भी जाना जाता है, कि यह सस्कार शुक्ल पक्ष मे चन्द्रमा के किसी पुरुषवाची नक्षत्र पर स्थित होने पर किया जाना चाहिये। यथा,—

चतुर्थगर्भमासे सीमन्तोन्नयनम् । आपूर्यमाणपक्षे यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात् ।

(आश्व० अ० १ कंडिका १४ सूत्र १२)

भगवान् मनु ने इस संस्कार का फल गर्भाधान संस्कार के तुल्य ही निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार गर्भाधान का फल, क्षेत्र अर्थात् स्त्री की शुद्धि पूर्वक गर्भ गत शिशु के दोषो को दूर कर उसमे उन शुभ गुणो के बीजो को बोना है जो आगे विकसित होकर उस बालक को सर्वांग मे 'मानव' बना सकें उसी प्रकार सीमन्तोन्नयन संस्कार भी क्षेत्र की पुन शुद्धि तथा गर्भगत बालक को समुचित रक्षा एव उपयुक्त शिक्षा दीक्षा के लिए किया जाता है। यह वह समय होता है जब गर्भ एक साधारण मास पिंड की अवस्था से हाथ, पाव, आख, नाक, कान तथा हृदय वाले व्यक्ति के रूप मे परिणत हो रहा होता है। विशेषरूपेण मानव शरीर के प्रधान तथा प्रमुख अग हृदय के प्रकट हो जाने के कारण जहा गर्भस्थ शिशु मे चैतन्य शक्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है, वहा उसकी माता मे भी एक विलक्षण शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन होना आरम्भ हो जाता है। अन्य परिवर्तनों की अपेक्षा सबसे बडा परिवर्तन यह होता है कि अब वह दौर्हृदा अर्थात् दो हृदय वाली हो जाती है। एक गर्भस्थ बालक का हृदय और दूसरा अपना, क्योंकि हृदय चैतन्याधिष्ठान है इसलिये चेतनता के प्रादुर्भाव के साथ गर्भस्थ जीव इन्द्रियो के अर्थ मे रुचि करने लगता है और वह इच्छाएं माता के हृदय पर प्रतिबिम्बित होकर प्रकट होने लगती हैं।

"चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरो भवति। गर्भहृदयप्रव्यक्तभावाच्चेतनधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मा-त्तत्स्थानत्वात्, तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयाञ्च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते"

(सुश्रुत शारीर स्थान अ० ३)

स्त्री के 'दौहृदिनी' बन जाने के कारण ही उसके हृदय मे उठने वाली अभिलापाये 'दौहृद' कहलाती हैं। जिन्हे हर सम्भव उपाय से पूरा करना पुरुष का कर्तव्य है। यदि ऐसा न किया जाय तो गर्भस्थ बालक की अतृप्त अभिलाषाए सम्पूर्ण जीवन अतृप्त ही बनी रहती हैं। इस प्रकार हम देखते है कि यह समय जच्चा एव बच्चा दोनो के लिऐ ही बडा महत्त्वपूर्ण होता है। क्रान्तद्रष्टा महर्षियो ने इन्ही सब बातो का अनुभव करके जहा क्षेत्र स्त्रीका पुन सस्कार करने की आवश्यकता अनुभव की वहा गर्भस्थ बालक के हृदय पर विशद भावनाओ को सदा के लिए अङ्कित कर देने के उद्देश्य से भी इस सस्कार का विधान किया।

इस सस्कार मे पढे जाने वाले मन्त्र, पुष्कल-घृत-मिश्रित यज्ञा-वशिष्ट प्रसाद भोजन, पति द्वारा उदुम्बरादि वनस्पति से गर्भिणी के सीमन्त (माग) का पृथक्करणादि क्रियाये तथा वृद्धा स्त्रियो द्वारा दिया जाने वाला—'वीरसूस्त्वं भव' 'तू वीर माता बन'—इत्यादि आशीर्वाद एक ऐसे अलौकिक वातावरण की सृष्टि कर देते है, कि जिसकी स्मृति स्त्री के हृदय हटल पर चिरकाल के लिए अङ्कित हो जाती है। इस वैदिक अनुष्ठान से और स्त्रियो के बार बार कहने से उसके हृदय को एक नई प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त होती है, वह ऐसे उपायो मे प्रवृत्त हो सकती है जिससे वह वीरमाता बने।

शास्त्रकारो का यह अभिप्राय भी इसमें अन्तर्निहित है कि इसके लिये उसे रामायण महाभाातादि सद्ग्रन्थो का अनुशीलन करना चाहिये। वीर पुरुषो के चरित्र पढने सुनने चाहियें तथा अपने को वीर माता वनाने का सर्वविध प्रयत्न करना चाहिये।

सीमन्त की इति-कर्तव्यता का प्रभाव

माता के इस प्रकार के सद्विचारो का वालक के निमल स्वच्छ एव अछूते हृदय पर कसा प्रभाव पड़ेगा, यह वतलाने की आवश्यकता नही। उसका नवोदित हृदय, नई मानसिक शक्ति और नवोन्मेषिणी वुद्धि मातृ हृदय से शुभ विचारो का सम्बल पाकर कितनी सरलता से विकसित हो सकेगी और दर्पण के समान निर्मल तथा स्वच्छ हृदय पर पडी हुई विचार रेखाये उसके सम्पूर्ण जीवन मे कैसी अक्षुण्ण वनी रहेगी–इसे सभी व्यक्ति भलीभाति समझ सकते हैं। हमारे प्राचीन इतिहास मे इस प्रकार की घटनाओ की कमी नही जिनमे माता की गर्भावस्था की भावना के सर्वथा अनुरूप ही वालको ने जन्म लेकर इस सस्कार की वैज्ञानिक लक्ष्यभूत भावना को सिद्ध कर दिया है। महाभारत मे अभिमन्यु सम्वन्धी ऐसी ही एक रोचक कथा का उल्लेख मिलता है।

\+ \+ \+ \+

महाभारत का युद्ध अपने पूर्ण यौवन पर था। दोनो ओर के सहस्रो लाखो सैनिक प्रतिदिन नर मेध को उस भीषण ज्वाला मे अपनी आहुति दे देते थे। चारो ओर विनाश का महाताण्डव था। भाई भाई के हृदय मे वर्षों से सचित द्वेष और दप मानो ज्वालामुखी वनकर एक दूसरे को निगलने के लिये तत्पर हो। ऐसे समय मे दुर्योधन के अत्यधिक आग्रह पर द्रोणाचार्य ने 'चक्रव्यूह'

को स्थापना की। उस दिन भाग्यवशात् अर्जुन अपने शिविर मे न थे। भगवान् कृष्ण के साथ वे ससप्तको के साथ युद्ध करने गए हुए थे। जब पाण्डवो को चक्रव्यूह का समाचार मिला तो वे बड़े हैरान हुए। अर्जुन के अतिरिक्त पाचो पाण्डवो मे कोई ऐसा न था जो चक्रव्यूह का भेदन कर सके।

अब क्या होगा ? क्या चक्रव्यूह पाण्डवो की पराजय का कारण बन जायेगा ? यह विचार करते २ युधिष्ठिर एक गहन निराशा मे डूब गये। आज पाण्डवो के जीवन मरण का प्रश्न उपस्थित था और तभी सहसा १६ वर्ष के कुमार अभिमन्यु ने वहां पहुँच कर निराशा की अन्धकारमयी रात्रि को आशा के अरुणोदय में परिवर्तित कर दिया।

'महाराज ! पिताजी नही हैं तो क्या ? उनके अश से उत्पन्न आपका बालक अभिमन्यु तो है । मैं करूगा चक्रव्यूह भेदन ! अपनी जान पर खेल कर भो मैं पाण्डव कुल को लाज बचाऊगा' अभिमन्यु ने कहा।

'तुम अभिमन्यु, तुम ! नही बेटा, ऐसा कैसे हो सकता है । चक्रव्यूह को अभेद्य रक्षा पक्ति मे तुम्हें झोक कर हम अर्जुन को क्या मु ह दिखायेंगे, और फिर यह साधारण युद्ध नही वत्स, यह चक्रव्यूह है। हममे से कोई भी तो इसका वेध करना नही जानता।'

'तभी तो कहता हूँ महाराज ! आज मुझे व्यूहभेदन की आज्ञा दीजिए, मैंने गर्भावस्था मे इस व्यूह का ज्ञान पिता जी से प्राप्त किया था। वे एक बार माताजी को तबियत बहलाने के लिये उन के सामने इसका वर्णन कर रहे थे अभी भेदन करने की रीति का वर्णन ही किया था कि माताजी को नींद आगई और पिता जी ने भो इस प्रसग को वही छोड़ दिया, व्यूह भेद कर वापिस

लौट आने की रीति न बता सके। तात ! इसलिये मैं वापिस तो चाहे न लौट सकू । किन्तु व्यूह भेदन तो नि.सन्देह कर सकू गा।' —अभिमन्यु ने कहा ।

और हुआ भी यही। भारतीय इतिहास के उज्वल रत्न रणबांकुरे अभिमन्यु ने महाभारत युद्ध मे जिस अपूर्व वीरता तथा शौर्य का प्रदर्शन किया है उसे भारत का प्रत्येक नरनारी जानता है। हमारा अभिप्राय महाभारत की कथा सुनाने का नही है। हम तो केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि किस प्रकार अनेक ऐतिहासिक साक्षियें सिद्ध कर रही हैं, कि गर्भस्थ जीव के हृदय पर अच्छे, बुरे सस्कार डाले जा सकते हैं। और तब शास्त्रकारो ने इस अभिप्राय के लिए जिन संस्कारो का विधान किया वे क्या विज्ञान पर आधारित नहीं ? अस्तु

प्रस्तुत सीमन्तोन्नयन सस्कार मे पर्याप्त घी मिली हुई खिचड़ी जो कि यज्ञावशिष्ट होती है—खिलाने का विधान है। गोभिल गृह्यसूत्र मे लिखा है—

किं पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत् तं सा स्वयं भुञ्जीत वीरसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मंगल्याभिर्वाग्भिरुपासीरन् (गोभिल गृ० सू० २।७। ९-१२—)

क्या देखती हो—यह पूछने पर स्त्री कहे—सन्तान देखती हू। उस खिचड़ी को वह स्वयं खाये, और इस शुभ सस्कार के समय एकत्रित स्त्रियें उसे यह आशीर्वाद दे—'तू वीर सन्तान उत्पन्न करनेवाली हो, तू जीवित सन्तान उत्पन्न करने वाली हो। तू चिरकाल तक सौभाग्यवती बनी रहे।'

यह विधान केवल कर्मकाण्ड का क्रिया-कलाप मात्र नही।

इस क्रिया के द्वारा पति पत्नी का ध्यान एक विशेष आवश्यकता की ओर आकृष्ट किया जाता है। यह सस्कार जिस काल में किया जाता है, उस समय गर्भवती स्त्री को घृतादि पौष्टिक पदार्थों की बड़ी आवश्यकता होती है। अपने भोजन द्वारा इस समय एक ओर तो वह अपने शरीर का पोषण करती है दूसरी ओर उसे गर्भगत बालक का पोषण करना पड़ता है। इसलिये उसे ऐसा भोजन मिलना चाहिये जो बलवर्धक एव पुष्टिकारक हो जिस मे अधिक से अधिक विटामिन हो, साथ ही सुपाच्य हो। खिचड़ी इसी प्रकार का सुस्वादु भोज्य पदार्थ है। इसमे मिश्रित वस्तुओ मे निम्नलिखित पौष्टिक तत्त्व निम्न प्रतिशत पाए गए है।

	प्रोटीन	चिकनाई	मिठास	नमक	पानी	ताकत ४० तोले मे
मूंग की दाल	२३	३	६०	२	११	१५६५
चावल	६½	½	६१	१	११	१२४०
घी	०	१००	०	०	०	३६०५

इस प्रकार हम देखते हैं, कि खिचडो एक सुपाच्य किन्तु पौष्टिक तत्त्वो से परिपूर्ण वैज्ञानिक भोजन है। इसीलिये डाक्टर रोगी को पथ्य के तौर पर खिचडो का ही निर्देश किया करते है। स्त्री को चाहिये इसके बाद से इसी प्रकार के बलवर्द्धक और सुपाच्य भोजन करने का नियम बनाले जिससे उसका शरीर भी स्वस्थ रहे तथा भावि शिशु भी स्वस्थ एव हृष्ट पुष्ट उत्पन्न हो। घृतादि के उचित मात्रा मे सेवन से कब्जो आदि की शिकायत भी नही रहती है और प्रसव होने मै विशेष कष्ट नही होता।

सस्कार प्रथा के लुप्त हो जाने के कारण आज गृहस्थो मे स्त्री के सगर्भा हो जाने पर भी, चू कि ऐसा कोई अवसर नही आता जिसमे कि पुरुष को स्त्री तथा भावि शिशु के स्वास्थ्य के लिये पौष्टिक भोजन की आवश्यकता अनुभव कराई जाय, इसलिये

अधिकाश वालक इतने निर्वल उत्पन्न होते हैं, कि उनके शरीर मे वाल्यावस्था मे प्रथम अनुभूत होनेवाली गर्मी सर्दी को सहने की तथा तत्सम्बन्धी रोगो के कीटाणुओं से लड़ने की शक्ति ही नही होती फलत. वे अकाल मे ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं।

जात कर्म संस्कार विचार

दशमासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि। निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि (ऋग् ५ । ७८ । ९)

अर्थात्–हे परमात्मन्, दश मास तक माता के उदर मे सोने वाला सुकुमार जीव प्राण धारण करता हुआ अपनी प्राण शक्ति सम्पन्न अर्थात् स्वस्थ माता से सुख से वाहर निकले।

उपर्युक्त सस्कार का तात्पर्य उसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। जातकर्म का अर्थ है वे क्रियाये जो बच्चे के उत्पन्न होने पर की जाती हैं। यह सस्कार आज अपने स्थूल रूप मे तो सर्वत्र प्रचलित दिखलाई देता है किन्तु इसका भावना संबन्धी या यो कहिये आत्मा सवन्धी अश सर्वथा लुप्त हो चुका है। भारतीय ऋषियो ने न केवल इस सस्कार में किन्तु सभी सस्कारो —नही नही मनुष्य के समस्त दैनिक कार्यकलाप मे भी, मनुष्य को एक अस्थि मांस निर्मित शरीर के साथ उसे आत्मवान् के रूप मे देखा है। उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि केवल वाह्य शरीर पर ही, नही रुकी किन्तु उसके अन्तर मे विद्यमान-'अगुष्ठमात्रं हृदि शयानम्' —आदि श्रुतिवाक्यो से वोधित प्रत्यक् चैतन्य आत्मा पर भी पड़ी। उन्होने देखा पूर्ण मानव निर्माण के लिए शारीरिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार की उन्नति की परमावश्यकता है इसलिए उन्होने दोनो ओर ध्यान दिया।

जातकर्म सस्कार की क्रियाये गृह स्वच्छता, बालक का स्नान, नाभि छेदन, दूध पिलाना आदि क्रियाये इस समय भी सभी घरो मे बालक के जन्मोपरान्त की जाती हैं तथा दाई नर्स आदि महिला चिकित्सको की सहायता से बडी अच्छी तरह की जाती है जिनसे जच्चा और बच्चा का शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहता है, किन्तु उस सद्योजात शिशु के हृदय पर, उसके कोमल मन मस्तिष्क, वाणी, आत्मा पर प्रभाव डालने के लिये आधुनिक डाक्टर वैद्यो ने क्या व्यवस्था की है ? क्या शारीरिक सस्कार की तरह उसके मानसिक तथा आध्यात्मिक सस्कार की आवश्यकता नही ?

जातकर्म संस्कार की यही अपनी विशेषता है। इसमे बालक को स्नान कराकर मधु स्वर्ण मिश्रित औषधि प्रदान, नालछेदन तथा मातृ स्तन पान कराकर जहा उसके शरीर को जीवन मार्ग की ओर बढ़ने के लिए सहारा दिया जाता है वहा उसके कान के पास गभीरता पूर्वक—

अग्निरायुष्मान्स वनस्पतिभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयु-ष्मन्तं करोमि।

अर्थात्—जिस प्रकार अग्निदेव वनस्पतियो द्वारा आयुष्मान् है उसी प्रकार उनके अनुग्रह से मैं तुम्हे दीर्घायु युक्त करता हूँ' —इत्यादि ८ मन्त्रो को जपकर तत्तत् देवताओ से उसके आयुष्य की अभ्यर्थना करके बालकके हृदय मे दीर्घ जीवन की भावना को दृढ़ किया जाता है। इसी प्रकार शिशु का शरीर स्पर्श करते हुए गाई जाने वाली—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमश्रुतं भव। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्।

अर्थात्—'हे वालक तू पत्थर की भांति दृढ तथा कुल्हाड़े की भाति शत्रु विनाशक हो। स्वर्ण के समान स्वच्छ तथा तेजस्वी वने। तू पुत्र नाम से मेरा ही स्वरूप है, तू सौ वर्ष तक जी'
--आदि पावन ऋचाये वालक के निर्मल हृदय पर मानवोचित दृढता, पराक्रम, तेज, आदि शुभ गुणो की सदा के लिए अमिट छाप छोड़ देती हैं। इससे उसकी आत्मा और मन को अपूर्व पोषण प्राप्त होता है!

प्रसवोत्पीडित जननी जव वेद के—'हे वीर स्त्री! तू इडा है, तूने वीर पुत्र को उत्पन्न करके हमे वीर पुत्र वाला वनाया है, इस पुत्र से तू भी वीर माता वन,
--आदि धैर्यप्रद शब्दो को सुनती है तो उसके हृदय मे साहस का सचार हो जाता है। वह कष्ट मे घवराती नही और उस पीड़ा को वीरमाता वनने के चावमे सहर्ष झेलती है। इस प्रकार यह सस्कार वालक के शारीरिक और मानसिक दोनो पक्षोका अभिवर्द्धन परक कहा जा सकता है।

माता या धाय-किसका दूध?

विदेशी शिक्षा तथा वहा की सभ्यता के प्रभाव से आज भारतीय स्त्रियो मे जन्म के तुरन्त वाद पुत्र को किसी धाय (दूध पिलाने वाली) को सौंप देने या उसे ऊपरी दूध-जिसके लिए कि अधिकतर विलायती डव्वो का दूध पसन्द किया जाता है—पर पालनका वुरा फैशन दिनानुदिन वढ रहा है। कुछ मनचले पाश्चात्य डाक्टरो ने इस प्रकार के विचार व्यक्त किए थे, कि स्त्रियो के

स्वास्थ्यनाशका कारण उनका बच्चोको दूध पिलाना है, इससे उनके शरीरमे निर्बलता आती है और वे जल्दी वृद्ध हो जाती हैं आदि २।

इन शब्दों का विदेशी शिक्षा दीक्षित जनो पर जादू का सा असर हुआ और आज शिक्षित नर नारी अपनी अबाध विलास प्रवृत्ति को पूरा करने के लिए इसी नुस्खे का प्रयोग कर रहे हैं। जन साधारण की कौन कहे, आर्य्यसमाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द सरीखे कथित समाजोद्धारक भी इस विषय मे बहक गए हैं और केवल ६ दिन तक ही मातृ दुग्ध पान की व्यवस्था का समर्थन कर के बिलायती डाक्टरो की आवाजको और भी बुलन्द कर दिया है यह नितान्त शोक की बात है।

वास्तव मे अत्यावश्यक स्थिति के बिना, बच्चे को धाय से दूध पिलवाना बहुत हानिकारक है। इसीलिए इस सस्कार मे विशेष रूप से, दोनो स्तनो को अच्छी तरह धोकर अमुक २ मन्त्र बोलते हुए बालकके मुखमे देने का विधान है। यह मत्रोच्चारण अदृष्ट साधक होने के साथ २ माता को इस बात का उपदेश करता है, कि वह बालकको अपने उस स्तनका ही पान करावे जोकि मधु– अर्थात् प्रेम भावना का स्रोत है, तथा जो बालक के लिये पुष्टि तथा बलदायक है। माता का यह दूध उसके वात्सल्य प्रेम से मिश्रित होता है। वह बालक मे उस वंश के उत्तम और शुभ विचारो को उत्पन्न करता है। ब्राह्मण वशोद्भव स्त्री के दूध से जो बुद्धि और ज्ञान बालक मे उत्पन्न होता है, क्षत्राणी के दूध से उसकी रगो मे जो शूरवीरता भर जाती है वह धायके या डब्बो के दूध से नही। इतिहास साक्षी है, कि किस प्रकार वीर क्षत्राणी की कोख से उत्पन्न हुए महाराज जसवन्तसिंह के हृदय मे ऐन वक्त पर कायरता

---

* टिप्पणी—यह प्रकरण हमारे 'चार शास्त्रार्थ' मे द्रष्टव्य है।

की अप्रत्याशित भावनाओ ने कावू पा लिया था और वे प्राणो का मोह लेकर युद्ध भूमि से भाग आये थे । कायरता के इस क्षणिक उफानके मूलमे वचपन मे रोते हुए ३ वर्ष के अवोध जसवन्त को चुप कराने के लिए दासी द्वारा पिलाया हुआ दूध ही तो था जो उनके जीवन के लिए अपरिमार्जनीय कलङ्क का कारण वना । इन सव वातो को देखकर ही अकवर इलाहावादी ने कहा था कि—

तिफ्ल मे वू आए क्या, मा वाप के इतवार की ।
दूध तो डब्बो का है तालीम सव सरकार की ॥

तात्पर्य यह है, कि इस सस्कार के मूल भूत उद्देश्यो मे मातृ दुग्ध पान एक प्रमुख वस्तु है और यदि हम वालक को अपने कुल की विशुद्धता, महानता, उदात्तता और अन्य किसी विशेषता का सच्चा उत्तराधिकारी वनाना चाहते हैं तो हमे उसे माता का ही दूध पिलाना चाहिए ।

मधु घृत क्यों चटायें ?

वालक के उत्पन्न होने पर उसकी शारीरिक मशीनरी को चालू करने के लिए तत्तत् स्थानो पर जमे हुए कफ मल आदि दोषो को दूर करना आवश्यक होता है, इसके लिए चतुर दाई अगुली मे रुई लपेट कर उसके नाक कान मुख आदि को तो स्वच्छ कर देती है किन्तु प्रसव यन्त्रणा के कारण वालक की ऊर्ध्वोमुखी रक्त गति तथा तज्जन्य कफकी शान्तिके लिए वालक को अन्य उपचार की आवश्यकता पडती है, इसके अतिरिक्त वालक की आंतो मे एक प्रकारका काला २ सा मल सचित रहता है, जिसके न निकलने से वालकको अनेक प्रकारकी पीड़ायें हुआ करती हैं। इन सव वातोके

उपचार के लिए आधुनिक चिकित्सक शहद मिला हुआ रेडी का तेल देने को व्यवस्था किया करते हैं किन्तु प्रयोगशालाओ मे हाल ही मे हुए परीक्षणो ने सिद्ध कर दिया है, कि इसके लिए शास्त्र-वर्णित सुवर्णघृष्ट मधु मिश्रित घी, रेडी के तेल को अपेक्षा अधिक हितप्रद होता है। सुवर्ण से घिसे हुए इस मधु मिश्रित घी को चटाने से बालक की उपरोक्त सभी शिकायते दूर हो जाती हैं और उस की शारीरिक मशीनरी ठोक प्रकार से कार्य करने लग जाती है।

सुवर्ण के लिए आयुर्वेद मे लिखा है कि वह वायु को उपशमन करनेवाला है, मूत्रको साफ करता है और रक्त की उर्ध्वगति को शान्त कर देता है। इसो प्रकार घृत, शरीर मे तापवृद्धि करता है बलवर्द्धक है और विरेचक भी है। मधुके खाने से मुख मे लार-जो कि पाचन शक्ति के लिए अत्यावश्यक पदार्थ है—का सञ्चार होता है, पित्त कोष सजग होता है और कफ शान्त हो जाता है।

सक्षेप मे हम कह सकते है कि जातकर्म सस्कार की उपयोगिता और विशेषता गर्भाधान सस्कार से कम नही है। प्रथम यदि 'मानव' सन्तति निर्माण के पवित्र उद्देश्य से किया हुआ बीज वपन है, तो दूसरा उठते हुए कोमल पौधे को समुचित अवलंबन द्वारा उन्नत करना। इन दोनोको हो सावधानी से करना चाहिए।

नामकरण संस्कार विचार

किसी पदार्थ के निर्णय मे उसका नाम भी गुण अथवा अव-गुण बताने का एक साधन माना जाता है। प्राचीन काल से यह प्रथा चलो आती है कि किसोभी पदार्थ-विशेष या व्यक्ति-विशेष का वैसा हो नामकरण हो जो कि अधिक से अधिक सोमा तक उसके गुण अवगुणो को प्रकट करने की शक्ति रखता है। नाम रूपात्मक

इस जगत् मे–जहां कि नाम के द्वारा ही सम्पूर्ण व्यवहार चलता है--सभी बुद्धिमान् व्यक्ति, ग्रन्थ लेखक, कवि और वैज्ञानिक अपनी वस्तु का नाम चुनने मे वहुत सोच विचार किया करते हैं और चाहा करते हैं, कि उनका सम्भावित एवं अभिलषित अर्थ उनके निर्वाचित (कम से कम अक्षरो के) नाम से अभिव्यक्त हो सके ।

शायद विज्ञ पाठको को यह वताने की आवश्यकता न हो कि हमारे पूर्वजो ने इस नामकरण शैली की प्रथा को ऐसी सुव्यव--स्थित वनाने की चेष्टा की थी कि जिसे ध्यान पूर्वक देखने पर चकित सा रहना पडता है। रामायण महाभारत आदि सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थो के चरित्र नायक, प्रतिनायक तथा अन्यान्य पात्रो तक के नाम ऐसे विलक्षण हैं, कि जो उस २ व्यक्ति के चरित्र की विशेषता को सहसा प्रकट कर देते हैं ।

'राम' जहा मर्यादाओ के आदर्श पालक होने के कारण प्रत्येक प्राणी के चित्त मे रमण करने वाले थे, वहां 'रावण' भी अपने अन्वर्थ गुण में कम न था, अर्थात्—प्राणी मात्र का सर्वोपरि रुलाने वाला था। युधिष्ठिर को महाभारत के युद्ध मे स्थिर होना पड़ा और उसने अपनी इस स्थिरता को अनेक धर्म सकटों के अवसर मे भी हाथ से न जाने दिया। दुर्योधन भी अपने नाम के अनुरूप योधन (योद्धा) तो अवश्य था परन्तु दुर-दुष्ट अन्याय युक्त युद्ध हो उसे प्रिय था। भीम के समान भयकर और अर्जुन के समान अपने गुणो से दूसरों को अपना वनाने वाला वोर दूसरा मिलना कठिन है। द्रौपदी जैसी प्रात. स्मरणीया अवला को भरी सभा मे नग्न करने मे ही जिसके शासन की शान वरक़रार रहती हो उससे वढ़कर 'दुश्शासन' और कौन हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि प्राचीन समय मे आर्य जाति मे बहुत कुछ सोच समझ कर नामकरण करने की रीति प्रचलित थी अब भले ही हजारो विद्यासागर विद्यालकार वेदप्रकाश नाम वाले वज्र-मूर्ख मिलते हो और बहादुरसिंह नामधारी चूहो की खडखडाहट को चोर की सेंध समझकर लिहाफ से मुंह ढाप लेते हो, परन्तु प्राचीन समय मे 'यथा नाम तथा गुण.' सिद्धान्त पर बहुत बल दिया जाता था और ज्योतिष शास्त्र के पारगत पुरोहित, वैज्ञानिक दृष्टि से नक्षत्र तिथि योग करण आदि के सम्मेलन से भावी गुण अवगुणो की कल्पना कर उसके अनुसार ही नामकरण किया करते थे उनकी यह कल्पना कितनी सच्ची और पूरी उतरती थी यह बात पिछले उदाहरणो से पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है ।

नाम अथवा शब्द का प्रभाव बिजली से भी अधिक चमत्कारी है । प्राय देखा जाता है जिस व्यक्ति को लोग जिस नाम से पुकारने लग जाते हैं उसमे उसी प्रकार के गुण अवगुण का सन्निवेश हो जाता है, लोगो द्वारा बार २ 'आलसी' कह कर पुकारा गया व्यक्ति जैसे कुछ दिनो बाद सचमुच आलसी बन जाता है उसी प्रकार शूरवीर के नाम से ख्याति प्राप्त व्यक्ति भी अपने नाम की लाज रखने के लिए समर भूमि में अपने प्राणो की आहुति देने मे भी नही हिचकिचाता । अपनी नामध्वनि श्रवण के साथ ही उस नाम से सम्बद्ध यदि कोई प्राचीन चरित्र है तो निश्चय ही वह स्पष्टतया आखो के सामने झलकने लग जाता है और मानव हृदय को एक तीव्र प्रेरणा प्रदान करता है । सती मदालसा ने-'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि' की प्रेममयी लोरी, या यो कहिये बालक को बार २ तू विशुद्ध ब्रह्म है' कह २ कर आत्मज्ञानी बना दिया था ।

नामकरण संस्कार क्यों ?

उपरोक्त भूमिका से नामकरण की आवश्यकता तथा अच्छा नाम रखकर कैसे हम मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों का सुधार कर सकते हैं यह तो स्पष्ट हो गया किन्तु प्रश्न हो सकता है कि प्रत्येक बालक का नाम तो स्वभावतया उसके माता पिता रख ही देते हैं इसके लिए नामकरण सस्कार जैसे उत्सव की आवश्यकता क्यों ?

इसका उत्तर कुछ कठिन नही है, इस सस्कार का उद्देश्य वर्णन करते हुए मनु जी महाराज ने कहा है कि नामकरण के दो प्रयोजन हैं, (१) आयु और तेज को वृद्धि, (२) सासारिक व्यवहार मे नाम का उपयोग, यथा—

आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा ।

इन दोनो प्रयोजनों के लिए सचमुच एक उत्सव के रूप मे ही नामकरण की आवश्यकता है, अपने स्वजन सम्बन्धी गुरुजन एव- मित्रो की उपस्थिति मे इस संस्कार का विधान है। इसका अभि- प्राय यही है कि उन सबकी उपस्थिति में नाम रखने से अधिक से अधिक लोगो मे नाम प्रसिद्ध हो जायेगा और लोग उसे जल्दी ही जान जायेंगे। वह समस्त एकत्रित सज्जनो की शुभ कामनाओ और आशीर्वादो का पात्र बनेगा जो उसके दीर्घायुष्य में सहायक होगी। अधिक से अधिक जनता में नाम को ख्याति तथा प्रियता 'तेजस्विता' का लक्षण है इसलिए मनुजी ने नामकरण सस्कार से आयु और तेज की वृद्धि बतलाई है।

संस्कारका दूसरा उद्देश्य व्यवहार सिद्धि कहा गया है। सासा- रिक व्यवहार सञ्चालनार्थ प्रत्येक बालक का कुछ न कुछ नाम तो पड़ेगा ही। यदि माताने विधि पूर्वक कोई नामकरण न किया

तब भी लोग या तो जन्म वार की कल्पना से मंगलू, बुद्धू, वीरू आदि, या जन्मतिथि के अनुसार ग्यारसा, पुन्नू, दौजोराम आदि और नही तो साधारणरूपेण मुन्ना काका आदि कुछ न कुछ रख हो लेगे परन्तु इससे न तो किसी एक नाम का निश्चय होगा और न बालक को कोई निश्चित नाम ही मिल सकेगा कोई उसे बुद्धू कहेगा तो कोई कूडामल । इन सब झंझटो से बचने के लिए क्या यह अधिक उपयुक्त न होगा कि एक निश्चित समय पर बालक का यथाविधि नामकरण संस्कार किया जाय ।

नाम कैसा हो ?

साधारण व्यक्ति इस बात का महत्त्व नही समझते कि बालक का नाम किस प्रकार का रखना चाहिए। उनका ख्याल है कि माता पिता आदि गृह जनो को जो रुचिकर मालूम हो वहा नाम रख ले। चाहिये। वास्तव मे यदि ध्यान पूर्वक विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह कार्य कम महत्त्व का नही है। हम पीछे बतला चुके हैं कि 'नाम' मनुष्य के भविष्य निर्माण मे एक प्रमुख भाग रखता है। अर्थ गाम्भीर्य के साथ २ नाम चुनने मे ध्वनि सौकर्य का पूरा २ विचार रखना आवश्यक है। कोई भी नाम कितने ही सुन्दर अर्थ का वाचक हो, यदि उसके उच्चारण मे बोलने वालो को विशेष परिश्रम करना पडता हो या उसकी ध्वनि क्लिष्ट होने के कारण कठिनता से बोली जा सकती हो तो वह नाम लोकप्रिय नही हो सकता। इसलिए शास्त्रकारों ने इस विषय मे कुछ नियम निश्चित किये हैं जिनका वर्णन सर्वथा ध्वनि विज्ञान (Phonetics) और मनोविज्ञान (Psychology) की भित्ति पर किया गया है। यथा—

द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरमन्तःस्थं दीर्घाभि-
ष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्। अयुजाक्षरमाकारान्तꣳस्त्रियै
द्धितम्। शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य।
(पार० गृ० का० १ क० १७ सू० २४)

अर्थात्— पिता को चाहिये कि बालक का नाम दो या चार
क्षरो वाला रखे उसके आदि मे घोष—ग घ, ज झ ड ढ, द ध
, व भ म, य र ल व, ह, इनमे से कोई, अक्षर होना चाहिये।
ध्य मे अन्तस्थ य र ल व, इनमे से कोई, अन्त मे दीर्घ स्वर
युक्त कृदन्त नाम रक्खे, तद्धित नही। स्त्रियो के नाम तीन
क्षरो के होने चाहिएं और आकारान्त हो, यदि तद्धितान्त भी
ो तो कोई हानि नही।

उपर्युक्त नियम कितने वैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त हैं यह
तलाने की आवश्यकता नही, इन नियमो मे प्रधानतया चार
ातो पर बल दिया गया है।

(१) नाम के आदि मे ऐसे अक्षर रक्खे जाय जिनका उच्चारण
ाधारण व्यक्ति भी सरलता पूर्वक कर सके। भाषा विज्ञान के
नुसार घोष इसी प्रकार की ध्वनिए हैं जो अत्यन्त सरलता पूर्वक
ुख से निकलती है। जन्म के अनन्तर ९० प्रतिशत बालक घोष
र्णयुक्त शब्दो के उच्चारण से ही बोलना सीखते हैं। यदि ध्यान
र्वक पशुओ की बोलियो का अध्ययन करें तो आपको यह जान
र आश्चर्य होगा, कि कुछ अपवादो को छोड कर सभी पशु पक्षी
ोषवदादि ध्वनि मे ही बोलते हैं। बकरी की मैं मैं, बिल्ली की
्याऊ २, गीदड की ह्वां ह्वा, कुत्ते की भौ भौ, गाय भैंस की भां
भां, आदि सभी पशुओ की बोलियो को देखिये, वे सब घोष

अक्षर से ही प्रारम्भ हुई है। यो तो 'भारोपीय परिवार' की सभी भाषाओ मे किन्तु विशेषकर भारतीय भाषाओ मे तो अधिकांश शब्द घोष ध्वनियो से ही प्रारम्भ होते है। इसलिए उच्चारण की सुगमता की दृष्टि से 'घोषवदादि' नियम कितना युक्तियुक्त है यह स्वय समझा जा सकता है।

(२) नामो को रखने मे इस बात का पूर्ण विचार रखा जाय कि नाम कृदन्त हो तद्धित नही। कृदन्त का तात्पर्य है, धातुओ से विकार लगाकर बने हुए शब्द जैसे—आनन्द, चन्द्र, प्रकाश, राम आदि शब्द नदि, चदि, कासृ, रमु आदि धातुओ (Root) से विकृत होकर ही बने हुए है, इसलिए ऐसे नाम रखे जाए जिनके अन्त मे उपरोक्त शब्द आवे। तद्धित का तात्पर्य है—नाम अर्थात् सज्ञावाचक शब्दो से विकृत होकर बने हुए शब्द, जैसे पाण्डव, वासुदेव, भगवान्, दयालु, कृपालु, आदि शब्द,—पाण्डु, वसुदेव, भग, दया, कृपा आदि शब्दो से तद्धित प्रत्यय लगाकर बने हुए शब्द है। तद्धित नामो को रखने का निषेध इसलिए है कि तद्धित नाम सुस्पष्टार्थ नही होते और उसके प्रत्यय भी क्लिष्ट होते हैं। प्राय तद्धित प्रत्ययो का उपयोग माता पिता के नाम को सन्तान के नाम द्वारा प्रकट करने के लिए किया जाता है।

समझ लीजिए पाण्डु नामक एक व्यक्ति है, उसके एक लडका है जिसका नाम पाण्डव रख दिया गया, इसके बाद दूसरा, तीसरा, चौथा, यहा तक कि पाचवा भी पुत्र उत्पन्न हुआ। पाण्डव (पाण्डु का पुत्र) इस शब्द के अर्थ के अनुसार तो पाचो ही पाण्डव हुए। यदि हम किसी एक के विषय में कोई बात कहना चाहे तो हमारा इस प्रकार का नाम सर्वथा भ्रमोत्पादक ही होगा और उस व्यक्ति विशेष का बोध कराने के लिए हमे अन्य किसी

विशेषण या नाम का प्रयोग करना पड़ेगा, इन सब बातो को देखकर ही तद्धित नामो का निषेध किया गया है।

(३) स्त्री के नाम मे पुरुष की अपेक्षा ध्वनि मे कोमलता और स्वर वैचित्र्य लाने के लिए भेद रखा गया है। इसके साथ ही यह ध्यान रखना चाहिए कि कन्याओ के नाम ऐसे नही रखे जाने चाहिएं जो नक्षत्र, वृक्ष, नदी, पर्वत, पक्षी, सर्पादि भयकर वस्तु-वाचक हो, क्योकि इस प्रकार के नाम रखने मे तदनुसार प्रकृति का परिवर्तन हो जाना कुछ कठिन नही।

(४) जन्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन अनिवार्य चार सामाजिक श्रेणियो के प्रदर्शन के लिए-शर्मा वर्मा गुप्त तथा दास यह चार उपाधिया अपने नाम के साथ लगानी चाहिये। इन उपाधियो के लगाने का तात्पर्य था अमुक अमुक कर्म मे नैपुण्य बोध। आज लोग कर्मणा वर्णव्यवस्थाका राग आलाप रहे हैं और वेदादि शास्त्रो मे इस नये आविष्कार का समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। वेदाभिमानी होने का दावा करने वाले आर्य समाजी भी उन ही की हा मे हां मिलाकर किस प्रकार स्वय वैदिक सिद्धान्तो की हत्या कर रहे है यह किसी से छिपा नही है। गृह्य सूत्र के उपरोक्त उद्धरण से भली भाति जाना जा सकता है कि वेदादि सभी शास्त्र तथा युक्तिवाद भी जन्मना वर्णव्यवस्था के ही समर्थक हैं। आर्य समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने अपनी सस्कार विधि मे पारस्करगृह्यसूत्र के उपरोक्त उद्धरण को विना किसी ननु नच के प्रमाण रूप मे स्वीकार किया है। किन्तु क्या इस उद्धरण मे नाम करण सस्कार के समय ही ब्राह्मण माता पिता के रज वीर्य से उत्पन्न बालक को 'शर्मा' क्षत्रिय सन्तान को 'वर्मा', वैश्य कुलोत्पन्न को 'गुप्त' आदि विभिन्न शब्दो से सम्बोधित करने की आज्ञा नही दी गई है।

क्या उस सद्योजात १० दिन के शिशु के किसी कर्म को देखकर उसे शर्मा वर्मा आदि उपाधि से विभूषित किया जाता है ? वस्तुत ऐसा नही है। इन उपाधियो का तात्पय केवल यह है कि उसके नाम के साथ जुडे हुए इन शब्दो को देखकर प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सके कि उसे किस कर्म मे कुल परम्परागत एव जन्म से ही नैपुण्य प्राप्त है।

नामकरण कब ?

यह सस्कार बालक के जन्म के अनन्तर दश रात्रि व्यतीत होने पर करना चाहिए जैसा कि—

दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति (पार० गृ० सूत्र)

—इस सूत्र द्वारा गृह्य सूत्र मे बताया गया है। गोभिल गृह्य-सूत्रकार ने इस विषय मे तीन विकल्प रक्खे है, यथा—

जननाद्दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेय-करणम्। (गो० गृ० सूत्र प्र० २)

अर्थात्—जन्म से ११वे दिन १००वे दिन या एक वर्ष व्यतोत हो जाने पर नामकरण सस्कार करे।

दश रात्रि छोडकर ग्यारहवे दिन के विषय मे तो किसी का मतभेद नही है। दश रात्रि छोडने का अभिप्राय यह है कि सूतिका गृह मे जितने लडके लडको मरते है उनमे से लगभग १० प्रतिशत पहिली दश रात्रियो मे ही मर जाते है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के मतानुसार सद्य प्रसूता स्त्रीके शरीर से दश दिन तक रक्त का प्रवाह चलता रहने से बड़ी निर्बलता रहती है। दश दिन बाद वह उठने योग्य हो जाती है। क्योकि इस सस्कार में माता की उपस्थिति भी आवश्यक है इसलिए यह दश दिन बाद किया जाता है।

गोभिल गृह्य सूत्रकार ने जो विकल्प रक्खे है उनका उपयोग तब होता है जब स्त्री वडी निर्वल हो और दश दिन वाद तक वह विस्तर से उठ न सके तव लगभग सवा तीन मास वाद नामकरण किया जाय । यदि पिता आदि विदेश मे हो और पीछे वालक का जन्म हो तो उनके आने के समय का ख्याल करते हुए वर्ष भर की अवधि दी गई है।

निष्क्रमण संस्कार विचार

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ, शं ते सूर्य आतपतु शं वातो वातु ते हृदे । शिवा अभिक्षरन्तु त्वापो दिव्या पयस्वतीः । (अ ८ । २ । १४)

अर्थात्—हे वालक ! तेरे निष्क्रमण काल मे द्यूलोक और पृथ्वी लोक कल्याणकारी सुखद एव शोभास्पद हो। सूर्य तेरे लिए कल्याणकारी प्रकाश करे, तेरे हृदय मे स्वच्छ वायु का सचार हो गगा यमुनादि दिव्य सरिताए तेरे लिए निर्मल और स्वादु जल का प्रवहण करे ।

प्रार्थना एव मनोज्ञ भावो से परिपूर्ण उपरोक्त मन्त्र सृष्टि मे निहित जीवन के उन तत्त्वो की ओर सङ्केत कर रहा है जिनके सम्वल से मनुष्य मनुष्य वनता है। इस मन्त्र का महत्त्व उस तीन चार मासके वालक के लिए उस समय चाहे कुछ न हो किन्तु जिन के जीवन की सभी आशाए सभी आकाक्षाए और अभिलापाए उस नन्हे से वालक पर केन्द्रित है—उन माता पिताओ के लिए ईश्वर के इन अमोघ वरदानो का कुछ कम महत्त्व नही है ।

इस प्रार्थनात्मक मन्त्र मे सार रूप से उन सब वस्तुओं का निदश कर दिया गया है जो मानव जीवनके लिए परमावश्यक हैं। दुर्भाग्यसे सस्कृत भाषा भारतीय जनताको भाषा से इतनो दूर हो गई है कि साधारण जनना इन वैदिक मन्त्रोमे वर्णित अत्युपयोगी विपय को भी नही समझ सकती और हरएक काम के आरम्भ में मन्त्र पढनेको पावजो का ढकोसला समझा जाता है, किन्तु समय था जब यही मन्त्र बोमार के लिए बताये गए डाक्टर के नुस्खे से कम महत्त्व न रखते थे। लोगोका दैनिकजीवन इतना व्यस्त हो चुका है कि उनको न इन बातो को जाननेकी फुर्सत है न आवश्यकता। छोटो २ तङ्ग कोठरियोंमे जहा न सूर्य को धूप, न प्रकाश, स्वच्छ वायु का नाम नही, विशुद्ध जल भो जहा बड़ी कठिनता से प्राप्त होना है—अधिकाश मध्य निम्नवर्ग के लोग अपना जीवन बिताने को बाध्य होते है और अन्त मे तपेदिक या ऐसे हो अन्य रोगों का शिकार बनकर न केवल स्वय कष्ट भोगते है किन्तु अपनी भावी सन्तान को भी विरासत मे उन रोगो के कोटाणु सौप जाते हैं।

इस वैदिक मन्त्रमे बतलाया गया है कि बालक ऐसे स्थान पर रहे जहा खुला आकाश हो, सूर्य का प्रकाश एव धूप हो, शुद्धवायु एव स्वच्छ जल मिल सकता हो। आज निष्क्रमण संस्कार मे इन बातो पर कौन ध्यान देता है, ध्यान तब दिया जाता है जब बीमार होने पर डाक्टर की जेब गरम करदी जाती है और वह कहता है—इसे खुलो हवा मे रखो, पानो छानकर पोने को दो, धूप मे लेटाओ आदि २।

निष्क्रमण सस्कार मे की जानेवालो सभी क्रियाओका तात्पर्य बालकके स्वास्थ्यको समुन्नत करना है। यह संस्कार चौथे मास

में किया जाता है जब कि बालक की ज्ञान व कर्मेन्द्रियां सशक्त और वायु धूप आदि को सहन करने योग्य हो जाती हैं। सूत्रकारों का अभिप्राय इस संस्कार से यह था कि उस दिन से बालक को प्रति दिन थोड़ा २ टहलाया जाय, उसे सूर्य स्नान कराया जाए जिससे उसके शरीर में सर्दी गर्मी को सहन करने को शक्ति उत्पन्न हो और वह दृढ तथा निरोग बन सके।

इस संस्कार के रूढ़िगत नहीं, किन्तु उपरोक्त मुख्य उद्देश्य पर जितना अमल विदेशों में होता है उतना भारत में नहीं। जब हम अंग्रेज माताओं को छोटे २ बालकों को गाड़ियों में लिए विशुद्ध वायु में टहलाते देखते हैं तो —'श वातो वातु ते हृदे' की साकार व्याख्या कानों में गूंजने लगती है।

इस संस्कार की मुख्य क्रियाओं—सूर्यप्रदर्शन देवदर्शन एवं रात्रि में चन्द्र दर्शन का अभिप्राय, जगत्प्राण प्रेरक सूर्य एवं मनाधिष्ठातृ चन्द्रमा से जीवन शक्ति की प्रार्थना के साथ २ बालक के हृदय में प्राकृतिक पदार्थों के प्रति स्नेह उत्पन्न करना है। तथा माता पिता को भी एक प्रकार की शिक्षा है कि वे बालक को घर में घोटकर न रक्खें किन्तु उसे उन्मुक्त नभ के नीचे खुली वायु में श्वास लेने दें।

अन्न प्राशन संस्कार विचार

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते, एतौ मुञ्चतो अंहसः॥

(अथर्व० ८। २। १८)

अर्थ—हे बालक, जौ और चावल तुम्हारे लिए बलदायक तथा

पुष्टिकारक हों, क्योंकि यह दानो वस्तुए सभी प्रकार के यक्मा-तपेदिक—नही होने देते तथा (देवान्न होनेके कारण) मनुष्य को पाप से मुक्त करने वाले हैं

वेद के उपरोक्त मन्त्र मे अन्नप्राशन सस्कार की महिमा पर प्रकाश डाला गया है। यह सस्कार उस समय किया जाता है जब कि बालक छ. सात महीनेका हो जाता है और उसकी पाचनशक्ति इस याग्य हो जाता है कि वह सुगमता से अन्न पचा सके। यह अवस्था प्राय. ६ महीने के वाद प्रारम्भ हो जाती है। इस समय बालक के दात निकलने आरम्भ होते हैं। इस कार्य के सुगमता पूर्वक होनेके लिए शरीर मे क्षार—जोकि स्वास्थ्यके लिए उपयोगी पदार्थ है—को आवश्यकता उत्पन्न होतीहै, अगर उस आवश्यकता को बुद्धिमान् माता पिता, क्षार अर्थात् लवण युक्त अन्नादि द्वारा पूरा न करें तो बालक उसकी कमी मिट्टी से—जिसमे कि क्षार की मात्रा पर्याप्त होती है—पूर्ण करने लगते हैं इसलिए मातापिता को इस ओर पहिले हो ध्यान देना चाहिये।

अन्नप्राशन सस्कार इस बात का चिन्ह है कि अन्न से बच्चे को क्रमश. थोडा २ अन्न खिलाना आरम्भ कर दिया जाय और स्तन पान की मात्रा इसी प्रकार क्रमश घटाई जाय।

यह सस्कार हमे यह भी वतलाता है कि मनुष्य का स्वाभाविक भोजन अन्न है मास नही। आज का मानव इस तथ्य को भूलकर भक्ष्याभक्ष्य के नियम को तिलाञ्जलि दे सर्वभक्षी बन गया है, जिसका परिणाम स्पष्टत: आखोके सामने है। ब्रीहियवादि सात्विक अन्न खाने से उत्पन्न होने वाले पवित्रभाव आज ससार मे कहा शेष है? स्वार्थपरता, वैमनस्य और पारस्परिक घृणा—जिनके कारण कि आये दिन विश्व युद्ध का खतरा आज के सभ्य ससार

के सामने छाया रहता है—इसी तामस भोजन से उत्पन्न दुष्प्रवृत्तियो का परिणाम है। आज जगह २ डाक्टरो हकीमोकी दुकानो की वृद्धि का कारण यही मासाहार है। तपेदिक और तत्सम्वधी अवान्तर रोग इसी प्रतिषिद्ध आहार विहार से उत्पन्न होते हैं।

पिछलेदिनो 'मासाहारसे होनेवाले भयङ्कर दर्द'नामक पुस्तक मे मांसाहारके विषयमे विदेशी विद्वानोकी कुछ सम्मतिये प्रकाशित हुई थी जिनको देखनेसे विदित होता है कि ससारके अधिकांश उग्र रोग मासाहारसे ही होते है। नासूर, हरप्रकार के दात आख कान के दर्द, आंतोकी वोमारिया, एपेन्डिसाइटिस जैसे भयङ्कर रोगो के रोगियो की परीक्षा करने पर डा० डगलस मेकडानल्ड, सर जेम्स सीयर एम० डो०ऐफ० आर० सी० पी०, प्रो० किथ, मि० होरेस फ्लेचर, डा० मेक फार्ड आदि विदेशो विद्वानो ने एक सम्मति से इन रोगोका कारण मासाहार हो निश्चित किया है। मासाहार हमारे इस प्रकरण का विषय नही है, यथा स्थान इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है। यहाँ यहीं समझ लेना चाहिये कि मास, मनुष्यका स्वाभाविक भोजन नही है। वेदने उपरोक्त छोटेसे मन्त्र में हो इस विषय की ओर सङ्केत किया है कि अन्न से ही यक्ष्मा सम्बन्धी रोगो का विनाश होता है मास से तो यह वढते ही हैं।

अन्नप्राशन सस्कार मे वालक के आगे—पुस्तक, लेखनी खिलौने, मिठाई, अस्त्र शस्त्रादि वहुतसी वस्तुओ का एक ढेर रख दिया जाता है, वालक को गोद मे से छोड दिया जाता है और देखा जाता है कि वह किस वस्तु को ओर अधिक आकर्षित होता है। वह जिस वस्तु की ओर आकर्षित हो, उससे उसके भावी जोवन की रुचि की कल्पना की जाती है और समयपर उसी कार्य मे पटु होनेके लिए प्रोत्साहन किया जाता है। यह एक मनोवैज्ञा-

निक क्रिया है। प्राय देखा जाता है कि माता पिता बालको को समुन्नत बनानेमे उनकी रुचिका कोई विचार नही करते। बालक जहा चार पाच वर्ष का हुआ कि उसे स्कूल भेजना शुरु किया। आठ दश वर्ष तक यही चक्की चलती रहती है। बालक का पढने मे मन नही लगता परन्तु फिरभी उसे स्कूल जाना पडता है, रुचि न होते हुए भी अध्यापक बरबस पुस्तको के ज्ञान को उसमे उडेल देना चाहता है। लडका फेल हो जाता है। माता पिता फिर भी नही समझते उसे ठोक पीटकर पढाना ही चाहते है,फल यह होता है कि स्वाभाविक रुचिके अभावमे वह बालक पढनेमे सफल नही होता और उसके जीवनका वह अमूल्य भाग—जिसमे उसने भावी जीवन सग्रामकी तैयारी करनी थी मातापिता की मूर्खतासे नष्ट हो जाता है। हमे अपने जीवन मे ऐसे बहुत से बालको को देखने का अवसर मिला है जिनको यदि सचमुच उनकी रुचि के अनुसार उचित शिक्षण दिया जाता तो वे आज और ही कुछ आदमी होते मेरे एक मित्र हैं बडे सज्जन और सस्कृत भाषा के प्रेमी। उन्होने अपनी रुचि के अनुसार अपने पुत्र को सस्कृत भाषा पढाने का प्रयत्न किया किन्तु उस बालक की रुचि उस ओर शायद कभी नही हुई। पाठशाला में, घर में, पढने के समय या खेलकूद के समय सर्वदा वह चित्र कला की ओर झुकी हुई अपनी रुचि को न दबा पाता। ज्येष्ठ आषाढ के लम्बे दिनो मे जब माता पिता उसे धूप मे जाने से रोकने के लिए घर के किवाड बन्द कर आराम करने लग जाते वह धीरे से उठता और किवाडो के समीप आ बैठता। मिट्टी के दीपको मे उसने कुछ रग घोल रक्खे थे। वह भोला भाला बालक अपनी प्रतिभा के अनुसार कागजो पर चित्र बनाने का अभ्यास किया करता, ज्यो ही माता पिता जागने

को होते उसका भीत हृदय सहम उठता। आखिर एक दिन मेरे मित्र ने उस बालक की चोरी पकड़ ही ली, उन्होंने वे चित्र हमे दिखाये। मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे उसे किसी आर्टस्टुडियो मे चित्रकला की शिक्षा दिलाये किन्तु मेरी यह सलाह और दूसरे लोगों की सम्मतियें भी उनके मन मे न बैठी। उनका प्रयत्न यही रहा कि किसी प्रकार वह बालक 'लघु कौमुदी' रटले। फल यह हुआ न तो वह लघुकौमुदी ही रट सका और चित्रकार तो बनता ही कैसे? इस प्रकार न जाने देश के कितने होनहार बालकों की प्रतिभा बचपन मे ही मसल दी जाती है और उनका जीवन नष्ट कर दिया जाता है।

इसलिये आवश्यकता है कि हम इस संस्कार द्वारा प्रथम, बालककी रुचि का परिचय प्राप्त करले और तब उसे उसमे निपुण होने के लिये प्रोत्साहित करे।

चूडाकरण संस्कार विचार

निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय। (यजु० अ० ३ म० ३३)

अर्थात्—हे बालक दीर्घायु के लिए, अन्न ग्रहण मे समर्थ बनाने के लिए, उत्पादन शक्ति के लिए, ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए सुन्दर सन्तान के लिए और बल तथा पराक्रम प्राप्ति के योग्य होने के लिये तेरा मुण्डन करता हूं।

चूड़कर्म सस्कार बल आयु तथा तेज की वृद्धि के लिए किया जाने वाला आठवा सस्कार है, इससे पूर्व के

सात संस्कार दोष परिमार्जन श्रेणी के हैं। उनके द्वारा खान से निकले लोहे को—मिट्टी हटाना, माजना, तपाना, आदि की तरह मानव शरीर को गर्भवास जन्य मलिनतादि निराकरण पूर्वक शुद्ध बनाया जाता है। चूडाकरण उपनयनादि चार संस्कारों द्वारा उसमे गुणाधान होता है—अर्थात् मानवोचित विशिष्टगुणो का समावेश किया जाता है।

'चूडा क्रियतेऽस्मिन्' इस विग्रहके अनुसार चूडाकरण संस्कार का अभिप्राय है वह संस्कार जिसमे बालक को चूडा अर्थात् शिखा दी जाए। अमरकोष के 'शिखा चूडा शिखण्डस्तु' इत्यादि श्लोकानुसार चूडा का अभिप्राय शिखा से ही है। गृह्य सूत्रकारो ने इसीलिए—

अथैनमेकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथैवेषां कुलधर्मः स्यात। यथर्षिशिखा निदधातयेके।

अर्थात्—बालक को कुलधर्म के अनुसार एक शिखा, दो या तीन शिखा धारण करावे।

—इत्यादि वचनोसे इस संस्कार के समय शिखा रखनेका विधान किया है। इस संस्कार का समय जन्म से प्रथम या तीसरा वर्ष है जब कि बालक अपनी शैशव अवस्था के पहिले—किन्तु सब से भयपूर्ण—दौरको समाप्तकर चुकता है। शरीर विज्ञानके अनुसार यह समय ऐसा होता है जबकि दातोके निकलने के कारण बालक के शरीर मे कई प्रकार की व्याधि हो जाना अनिवार्य है। चूं कि उसका शरीर निर्बल हो जाता है और बाल झड जाते हैं ऐसे समय मे इस संस्कार का विधान करके महर्षियो ने बालकको इन सब अस्वस्थकर कारणो से बचाने का प्रयत्न किया है।

इस संस्कारका दूसरा नाम मुण्डनसंस्कार भी है। यह त्वचा सम्बन्धी रोगो के लिए अत्यन्त लाभकारी होता है। शिखा को छोडकर शिरके शेप वालो को मूड देने से शरीर मे तापक्रम कम हो जाता है और उस समय होने वाली फोड़े फुन्सी दस्त आदि व्याधि जोकि शरीर मे उष्णता जन्य ज्वाल के कारण उत्पन्न होती हैं स्वत. शिथिल पड जाती हैं।

एक वार मुण्डन हो जाने पर फिर उगने वाले वाल वद्धमूल होने के कारण फिर झडते नही। आयुर्वेदके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ चरक संहिता के देखने से ज्ञात होता है कि चूडाकरण के सम्वन्ध मे मन्वादि स्मृतिकारोके वचन कोरे अर्थवाद या रोचक नही हैं किन्तु वे सत्य पर आधारित हैं। मुण्डन क्षौर आदि के लाभ हानियो का वर्णन करते हुए महर्षि चरक ने लिखा है—

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम्॥

(चरक सूत्रस्थान ५, सूत्र ९३)

अर्थात्—क्षौरादि कर्म करवाने से, नाखून कटवाने से और कघी आदि से वालो को साफ रखने से पुष्टि, वृष्यता, आयु, पवित्रता और सुन्दरता आदि की वृद्धि होती हैं। वालक का मुण्डन कराने के अनन्तर उसके शिर मे मलाई आदि की मालिश का विधान है जिससे मस्तिष्कके मज्जा तन्तुओको कोमलता शीतलता तथा शक्ति प्राप्त होती है जो कि आगे चलकर वालक की वौद्धिक शक्ति के विकाश में वडी सहायक होती है। वैसे भी ठडा शिर मनुष्य के स्वास्थ्य का चिह्न है। वडे बूढे मनुष्य—हाथ पाव गरम और ठडे शिर का स्वास्थ्य को निशानी समझते हैं। इसलिए

बालक को स्वस्थ तथा प्रसन्न रखने के लिए यह सस्कार अवश्य **करना चाहिये ।**

हम पीछे कह आए हैं चूडाकरण सस्कार का प्रयोजन महर्षियो ने बल आयु तथा तेज की वृद्धि माना है। इस विषय पर हम कुछ विशद दृष्टिकोण से विचार करना चाहते है और बतलाना चाहते हैं कि एक समय था जब समस्त भूमण्डल मे इस वैज्ञानिक सस्कार को प्रथा प्रचलित थी। सभी देशो के निवासी 'चूडा' अर्थात् शिखा शिखा के महत्व को समझते थे और उसे धारण करते थे ।

बुद्धि बल आयु तेज की वृद्धि के साथ शिखा का क्या सबन्ध है इसको समझने के लिए हमे सर्वप्रथम मानव शरीर की रचना को समझना होगा तब हम सुगमतया महर्षियो के उपरोक्त कथन की सचाई को आक सकेंगे, तभी हमें ज्ञात हो सकेगा कि वेद भगवान् —

दीर्घायुष्ट्वाय बलाय वर्चसे शिखायै वषट्

अर्थात्—दीर्घ आयु बल और तेज के लिए शिखा को स्पर्श करता हू—की घन गम्भीर वाणी से मानव मात्र को शिखा धारण के लिए क्यो प्रेरित कर रहे है। स्मृतिकारो ने —

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥

—कहकर सभी धार्मिक कार्यों मे शिखा को इतना म त्व क्यो दिया है ? क्या कारण है कि बिना शिखा के, या उसमे ग्रन्थी लगाए बिना जो कुछ भी धर्मानुष्ठान किया जाता है वह सब निष्फल हो जाता है ।

मानव शरीर की रचना पर अगर आप ध्यान दें तो आपको मालूम होगा कि सम्पूर्ण शारीरिक प्रवृत्तियो का केन्द्र हमारा मस्तिष्क है। क्या मानसिक क्या शारीरिक सभी प्रकार की क्रियाओ का सचालन उसी के द्वारा होता है । यदि वह स्वस्थ है, समुचित शक्ति सम्पन्न है तो मनुष्य भी स्वस्थ रहता हुआ वेदोक्त 'शत जीवेम शरद' के अनुसार न केवल सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर सकता है किन्तु इससे भी अधिक दीर्घजीवी हो सकता है हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि दीर्घजीवन का मूल रहस्य 'युक्ताहार विहार'– अर्थात् अपना दिनचर्या को नियमानुकूल बनाने मे छुपा हुआ है, और युक्ताहार विहार के लिए ज्ञानशक्ति अक्षुण्ण रहना अनिवार्य है। उसी ज्ञानशक्ति का प्रबल एव जागरूक रखने के लिए महर्षियो ने जिन अमोघ उपायो का आविष्कार किया है-शिखा भी उनमे से एक है ।

हरिवश पुराण मे एक कथा आती है जिससे ज्ञात होता है कि शिखा न केवल ज्ञानशक्ति को सम्पन्न रखती है किन्तु बल पराक्रम एव तेज के साथ भी उसका गहरा सम्बन्ध है। कहा जाता है महर्षि वशिष्ठ का सगर नामक एक विश्वविजयी शिष्य था। उसके पिता को पश्चिम देश के कुछ राजाओ ने मिलकर मार डाला। सगर ने पिता को मृत्यु का बदला चुकाने की प्रतिज्ञा की और उन राजाओ का विनाश करना प्रारम्भ किया। वे व्याकुल हो महर्षि वशिष्ठ की शरण मे गए तथा उनसे प्राणरक्षा की प्रार्थना की। वशिष्ठ जी ने उन्हे अभयदान दे दिया एव सगर को बुलाकर उनका विनाश करने से रोकना चाहा । सगर उनके वध का प्रण कर चुका था, इसलिए बड़ा दुविधा मे पड़ा। एक ओर प्रतिज्ञा भंग का भय तो दूसरी ओर गुरु आज्ञा की अवहेलना का

पाप। उसनें महर्षियों से विचार विनिमय किया, अपनी सगयापन्न स्थिति को उनके सामने रक्खा और कर्तव्य का निर्देश चाहा। बहुत सोच विचार के वाद यह निश्चित हुआ कि उन राजाओ को सशिख मुण्डन कराकर छोड दिया जाय। तदनुसार ऐसा हो किया गया और सभी लोगो को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि शिखा छेदन के उपरान्त वे बिलकुल प्रभाव शून्य और निर्जीव से हो गए। इस प्रकार सगर ने अपनो प्रतिज्ञा पूर्ण करली एव गुरु की आज्ञा भो भग न हुई। साराश यह कि हम देखते हैं—शिखा विज्ञान जानने वाले महर्षियो को दृष्टि मे शिखा छेदन मृत्यु से कुछ कम नही समझा जाता था।

शिखा क्यों ?

वर्तमान भौतिक युग मे जब कि मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य-कलाप बिना मतलब के कभी नही होते, जब कि प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष दृष्ट लाभ उसमे प्रवृति का कारण होता है तब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि शिखा क्यो रक्खी जाए ? अपटुडेट समाज मे मनुष्य को पोगापन्थी सिद्ध कर देने वाले, केश सौन्दर्य मे विघ्न स्वरूप बालो के इस गुच्छे को शिर पर पाल रखने से क्या फायदा ? इसलिये अब हम पौरस्त्य एव पाश्चात्य दृष्टि कोणो से शिखा के कतिपय लाभो पर विचार करते हैं।

(१) शिखा हमारी ज्ञान शक्ति को चैतन्य रखते हुए उसे सर्वदा अभिवृद्धि की ओर अग्रसर रखती है। यह विज्ञानानुकूल बात है कि काली वस्तु सूर्य की किरणो मे से अधिक ताप तथा शक्ति का आकर्षण किया करतो है। इस वस्तु को सिद्ध करने के लिए हमे दूर जाने की आवश्यकता न होगी। आप सफेद और

काले कपड़ो के दो टुकड़े लीजिए, उनको भिगोकर धूप मे सूखने
डाल दीजिये, आप देखेंगे कि काला कपड़ा सफेद की अपेक्षा
जल्दी से सूख गया। हमने अपनी प्रयोगशाला मे इसे स्वय अनु
भव किया है। दो शीशे के वर्तन-जिनमे एक सफेद था तथा दूसरा
काला, एक ही समय मे सूर्य की धूप मे रखे गये और ५ मिनट
बाद जब दोनों का तापांश नापा गया तो काले वर्तन का
तापांश दूसरे की अपेक्षा ५ डिग्री ज्यादा था। इसके बाद हमने
उनके मोटे तल्ले के नीचे सफेद और काले कपड़े के दो टुकड़े रक्खे
कुछ क्षण बाद काले वस्त्र-खण्ड मे धुआ उठना शुरू हुआ और
इसके पूरे १ मिनट बाद दूसरे मे। हमारे इन सब उदाहरणो का
तात्पर्य यही है कि काली वस्तु मे सूर्य-किरणो को विशेष रूप से
अपने मे आत्मसात् करने की शक्ति होती है। वैसे भी सूर्य की
प्रखर किरणो से काले हुए व्यक्ति दक्षिण देश में खूब देखे जा
सकते है। अस्तु,

इसके अतिरिक्त प्रकृति में दूसरा नियम यह पाया जाता है,
कि प्रत्येक क्षुद्रांश (जुज) सर्वदा अपने महान् अंशी (कुल) मे
मिल कर ही अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। प्रकृति की सभी
वस्तुएं इसी नियम के आधीन काम कर रही हैं। सभी नदिये
अतुल जलराशि समुद्र मे मिल कर ही शान्त होती हैं। कोई भी
पार्थिव वस्तु ऊपर फेकने पर भी पार्थिवपन के कारण ही पृथ्वी
की ओर आकर्षित होती है। दीपक को लौ—'जो कि तेजस शक्ति
भण्डार सूर्य का ही एक सूक्ष्माश है—सर्वदा इसी लिये ऊर्ध्वगामी
देखी जाती है। 'अण्ड पिण्डवाद' के अनुसार इसी नियम को
अपने शरीर पर भी परखिये। हमारी बुद्धि को शास्त्रो ने सूर्य
का अंश माना है। इसीलिये हम प्रतिदिन 'भू र्भुवस्व' आदि

शिखा के नीचे बुद्धिचक्र है और उसके ही समीप ब्रह्मरन्ध्र है।
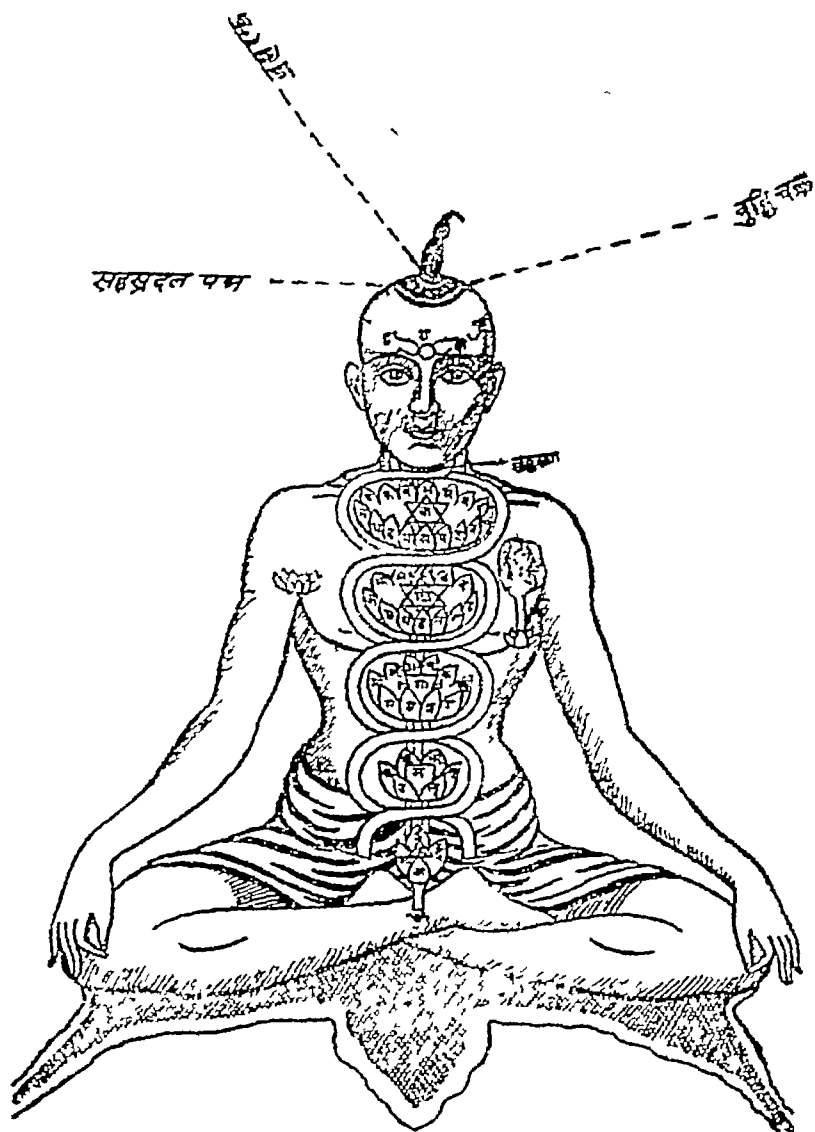
[पृष्ठ ४५१

गायत्री मन्त्र से अपनी बुद्धि एव मेधा को जागृत करने के लिये भगवान् सूर्य की उपासना करते है और उनसे बुद्धि का दान मागते हैं। पाश्चात्य विज्ञानवादियो ने उसे 'Sun is the first cause of life' कह कर जीवन शक्ति का मूल कारण स्वीकार किया है। उस सूर्यांश भूता बुद्धि तथा प्राण-शक्ति को जागृत करने के लिए ऋषियो ने बुद्धि-केन्द्र मस्तिष्क पर गोखुर के बराबर बालो का एक गुच्छा रखने का विधान किया है। बालो का यह गुच्छा जिसे हम शिखा कहते हैं काले रग का होने के कारण सूर्य से मेधा प्रकाशिनी शक्ति का विशेष आकर्षण करके ऊर्ध्वाभिमुखी बुद्धि को और भी उन्नत करने मे सहायक होता है इसमे किसी को सन्देह का कोई स्थान हो नही।

(२) सामने के चित्र को ध्यानपूर्वक देखिये, इसे देखने से आपको विदित होगा कि ठीक शिखा स्थान के नीचे मज्जा तन्तुओ द्वारा निर्मित बुद्धि चक्र और उसके ही समीप ब्रह्मरन्ध्र हैं, इन दोनो के ऊपर सहस्रदल कमल मे अमृत-रूपी ब्रह्म का अधिष्ठान है। शास्त्रविधि से जब मनुष्य उस परम पुरुष परमात्मा का ध्यान करता है या वेदादि स्वाध्याय करता है तब इनके अनुष्ठान से समुत्पन्न अमृत तत्त्व वायुवेग से इस सहस्र दल कर्णिका मे प्रविष्ट हो जाता है। यह अमृततत्त्व यहीं नही रुकता किन्तु अपने केन्द्र स्वरूप भगवान् सूर्य मे लीन होने के लिये शिर से भी बाहर निकलने का प्रयत्न करता है। शिखा ग्रन्थि से टकरा कर वह विद्युत् प्रवाह स्वरूप अमृत वापिस लौट कर सहस्रदल कर्णिका में ही रह जाता है। कदाचित् शिखा खुली हो या न हो तो वह अमृत उप द्वार से निकल कर अल्पवेग वाला होने के कारण सूर्य से तो मिल नही पाता किन्तु अन्तरिक्ष मे ही विलीन हो जाता है।

इसलिए मन्वादि धर्म शास्त्रकारो ने स्नान संध्या जप होम स्वाध्याय दान आदि कर्मों के समय शिखा में ग्रन्थी लगाकर ही इन कार्यो के करने का विधान किया है, यथा—

स्नाने दानं जपे होमे, संध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत् ॥

(मनु संहिता)

इसी अमृत तत्त्व को कुछ विचारको ने 'ओरा' शक्ति के नाम से स्मरण किया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक इसी शक्तिको मिस्टोरियन फोर्स (Mystirion force) के नाम से स्मरण करते हैं।

सम्पूर्ण प्रकृति मडल मे फैली हुई एक दूसरी शक्ति और है जिसे हम सतत चिन्तन या ध्यान शक्ति द्वारा अपने शरीर मे प्रविष्ट कर सबल तथा मेधावी बन सकते हैं, इसे ओज शक्ति (Vrillic Power) नाम से स्मरण किया जाता है। दुनिया के सभी सन्त महात्माओ और आध्यात्मिक पुरुषोमें निरन्तर ध्यानावस्था मे रहने से इसी अदृश्य शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाया करता है जिसके बल पर वे सहस्रो मनुष्यो के मन पर अपना अद्भुत प्रभाव डालने मे समर्थ हो जाते हैं। शिखा बाधकर पूर्वोक्त कार्यो का अनुष्ठान करते हुए हम ऐसी दशा मे आ जाते हैं कि हमारे शरीर मे विद्यमान शक्ति—जो रोमो द्वारा बाहर निकलते हुए क्रमश क्षीण होती जाती है—क्षीण न हो और हम प्रकृति मंडलसे अन्य शक्ति का आकर्षण सुगमता पूर्वक कर सकें। बहुधा आपने ऐसे अनेक पात्र देखे होगे कि जिनको उल्टा कर देने पर भी उनमे पडा हुआ जलादि तरल पदार्थ बाहर नही आता किन्तु उसमे और जल खप सकता है। स्कूलो मे बालको के पास ऐसी चोर दवाते

प्रायः देखने को मिल सकती हैं। शिखावद्ध मानव की भी यही दशा समझनी चाहिये।

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक एव वेद भाष्यकार मैक्समूलर ने शिखा द्वारा प्राप्त होने वाली इसी शक्ति पर विचार करते हुए उपसंहार मे लिखा है--

The concentrations of mind upwords sends a rush of this power through the top of the head.

अर्थात् --शिखा के द्वारा मानव मस्तिष्क अतीव सुगमता से इस (Vrillic power) शक्तिके प्रवाह् को धारण कर सकता है।

इसी तथ्य की पुष्टि मे स्वामी दयानन्दजी महाराज ने अपने 'धर्म विज्ञान' में पाश्चात्य जगत् के सुप्रसिद्ध विज्ञान वेत्ता विक्टर ई० क्रोमर (Victor E Cromir) लिखित पुस्तक से निम्न उद्धरण दिया है—

In meditation one receives the vrillic influx. While concentrating one pours it out. If one however, concentrates one's mind upon God there is an outgoing and an inflowing process set up. The concentration of the mind upwords sends a rush of this force through the top of the head and the respone comes as a fine rain of soft magnetism These two forces cause a beautiful dis play of colour to the higher vision, The out pouring from above is beautiful beyond description

(Vril Kalpaka)

अर्थात्—ध्यान के समय ओज. शक्ति प्रकट होती है। किसी वस्तु पर चिन्तन एकाग्र करने से ओज शक्ति उसको ओर दौडती है। यदि परमात्मा पर चित्त एकाग्र किया जाय तो मस्तक के ऊपर शिखा के रास्ते ओज शक्ति प्रकट होती है। परमात्मा की शक्ति उसी पथ से अपने भीतर आया करती है। सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न योगी इन दोनो शक्तियो के सुन्दर रग को भी देख लेते हैं। जो शक्ति परमात्मा से अपने भीतर आती है उसकी तुलना नही की जा सकती।

(३) शारीरिक विज्ञान के अनुसार जिस स्थान पर शिखा रखी जाती है उसे पिनल ज्वैंड (Pinal jwend) कहा जाता है। इसके नीचे एक विशेष प्रकार की ग्रन्थी होती है जो पिचुइट्री (Pituetry) कहलाती है। इस ग्रन्थी मे एक विशेष प्रकार का रस बनता है जो स्नायुओ द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त होकर शरीर को बढाता और बलशाली बनाता है। शिखा द्वारा इन ग्रन्थियो को अपना कार्य करने मे बडी सहायता प्राप्त होती है एव वे चिरकाल तक अपना कार्य करती रहती हैं। इससे मनुष्य न केवल दीर्घ काल तक स्वस्थ रह कर जीवन यापन करता है किन्तु उसकी ज्ञान शक्ति भी अक्षुण्ण बनी रहती है।

विगत वर्षो मे इस सम्बन्ध मे पाश्चात्य वैज्ञानिको ने जो खोज की है और वे जिस परिणाम पर पहुचे हैं उसका कुछ आभास उनके लेखो से अनूदित निम्न उद्धरणो से अच्छी तरह मिल सकता है।

सर चार्ल्स ल्यूकस—

'शिखा का जिस्म के उस जरूरी अंग से बहुत सम्बन्ध है

क्यों ?—

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन

महाकवि शेक्सपीयर
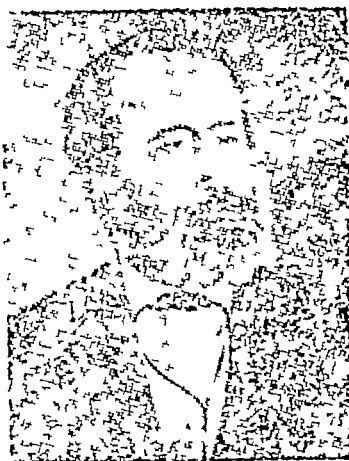
ऋग्वेदभाष्यकार डा० ग्रोटोलिग जर्मनी

बालों का समुन्नत होना बौद्धिक जीवन के साथ कितना गहरा सम्बन्ध रखता है ? पृष्ठ [८५८]

क्यों ?—

गोस्वामी तुलसीदास
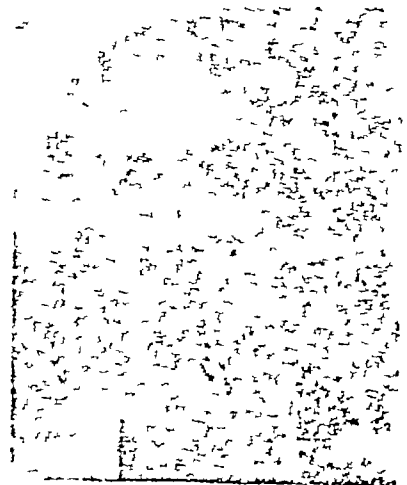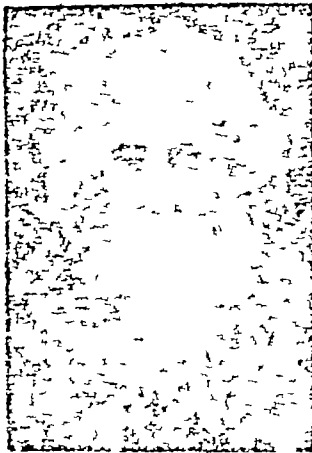
विश्वकवि टैगोर

योगीराज अरविन्द

वालो का समुन्नत होना बौद्धिक जीवन के साथ कितना गहरा सम्बन्ध रखता है ?

पृष्ठ [४५५]

जिससे ज्ञान वृद्धि और तमाम अ गो का सचालन होता है। जब से मैंने इस विज्ञान की खोजकी है तबसे मैं खुद चोटी रखता हू।

डा० हाय्वमन—

"मैंने कई वर्ष भारत मे रहकर भारतीय सस्कृति का अध्ययन किया है। यहा के निवासी बहुत काल से शिर पर चोटी रखते हैं जिसका जिक्र वेदो मे भी पाया ज्ञाता है। दक्षिण मे तो आधे सिर पर 'गोखुर' के समान चोटी रखते है। उन ो बुद्धिको विलक्षणता देखकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हू। अवश्य ही बौद्धिक विकाश मे चोटी बडी सहायता देती है। शिर पर चोटी या बाल रखने बडे लाभदायक है। मेरा तो हिन्दू धर्म मे अगाध विश्वास है। मैं खुद भी चोटी रखने का कायल हो गया हू ।

(गार्ड मैगजीन न० २५८, पृष्ठ १२२, सन १८६६)

उपर्युक्त वैज्ञानिक तथ्यो से पूर्ण परिचित होने के कारण ही न केवल भारतीय, किन्तु पाश्चात्य जगत् के भी प्राय सभी वैज्ञानिक, विचारक, सभ्रान्त लेखक एव कवि शिर पर शिखा ही नही रखते थे किन्तु उनके समस्त शिर पर आपको जटा सदृश लम्बे बाल ही दिखाई देंगे। स्मृतिकारो के शब्दो मे हम इन्हे 'पच शिखी' कह दे तो कोई अत्युक्ति न होगी। पाठको के अवलोकनार्थ हम कतिपय पौरस्त्य एव पाश्चात्य विद्वानो के चित्र दे रहे हैं जिन्हे देखकर पाठको को यह जानने मे देर न लगेगी कि बालो का समुन्नत होना बौद्धिक जीवन के साथ कितना गहरा सम्बन्ध रखता है।

(४) कुछ भारतीय विचारको के मतानुसार सम्पूर्ण मानव शरीर मे व्याप्त एक मुख्य नाडी है जिसे सुषुम्ना कहते हैं। प्रस्तुत चित्र मे लाल रग वाली नाडी को ध्यान से देखिये, यही सम्पूर्ण

शरीर मे व्याप्त सुषुम्ना नाडी है जो मस्तिष्क में जाकर समाप्त होती है। इसके उत्कृष्ट रन्ध्र भाग शिखा स्थल के ठीक नीचे खुलते हैं जैसा कि चित्र में भलोभांति देखा जा सकता है। यही स्थान ब्रह्मरन्ध्र है और बुद्धितत्त्व का केन्द्र है। कहा जाता है कि साधारण दशा मे जबकि हमारे शरीर के अन्य रोम पसीने आदि द्वारा शारीरिक ऊष्मा को बाहर फेंकते है सुषुम्ना केन्द्र के बालो द्वारा तेजो नि सरण होता है। उसी को रोकने के लिए शिखा में ग्रन्थी का विधान है जिससे वह तेज शरीर मे ही रुक कर मन शरीर व मस्तिष्क को अधिक उन्नत कर सके। इस विचार का अनुमोदन भी कतिपय पाश्चात्य दार्शनिको ने किया है, यथा—

सुप्रसिद्ध डा० आई० ई० क्लार्क एम० ए० डी० ने लिखा है—

'जब मैं चीन भ्रमण करने गया, वहाँ मैंने देखा कि चीनी लोग भी हिन्दुस्तानियो की तरह आधे शिर से ज्यादा बाल रखते हैं। मैंने जब से इस विज्ञान की खोज की है तब से मुझे विश्वास हो गया है कि हिन्दुओं का हर एक नियम विज्ञान से भरा पड़ा है। चोटी रखना हिंदुओ का धर्म ही नही सुषुम्ना के केंद्रो की रक्षा के लिए ऋषि मुनियो की खोज का विलक्षण चमत्कार है'।

इसी प्रकार मि० अर्ल थामन साहेब ने अलार्म मैगजीन के १९२१ के वार्षिकांक में पृष्ठ १९९४ पर लिखा है—

"सुषुम्ना की रक्षा हिन्दू लोग चोटी रखाकर करते है जबकि अन्य देशो मे लोग शिर पर लम्बे बाल रखकर या हैट लगाकर इसकी रक्षा का प्रयत्न करते हैं। इन सब मे चोटी रखना सबसे मुफीद है। किसी भी प्रकार हो सुषुम्ना की रक्षा करना ही सबसे जरूरी है।'

क्यों ?—
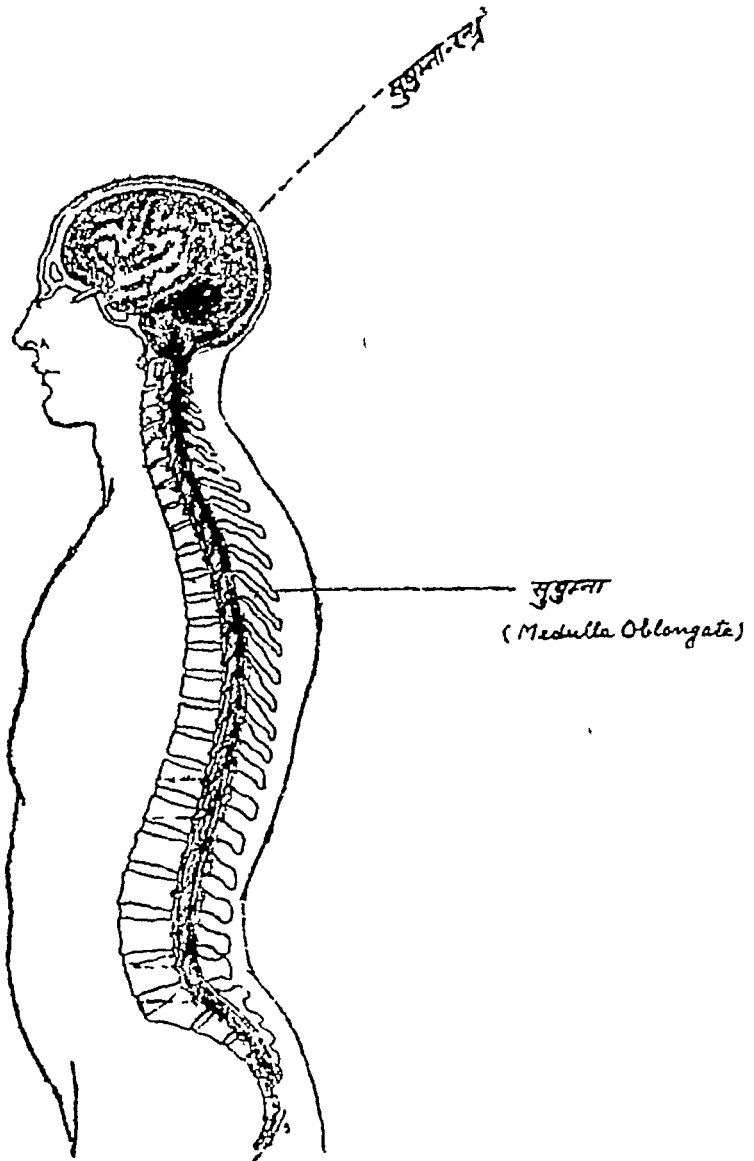
लाल रंग वाली नाड़ी सुषुम्ना है जो मस्तिष्क में शिखा स्थान के नीचे जाकर समाप्त होती है। [पृ० ४५६]

(५) मानव शरीर को प्रकृति ने यद्यपि इतना सबल बनाया है कि वह बडे से बडे आघात चोट आदि को सहन करके भी जीवित रह जाता है किन्तु फिर भी शरीर मे कुछ ऐसे स्थान हैं, जिन पर आघात होने से मनुष्य की तत्काल मृत्यु हो सकती है। ऐसे स्थानो को मर्म कहा जाता है। आयुर्वेद मे कई प्रकार के मर्म स्थानो का वर्णन किया गया है। शिखा के अधोभाग मे भी एक मर्म स्थान होता है जिसके लिए सुश्रुतकार ने लिखा है —

मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्ठात् शिरासंधिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिस्तत्रापि सद्योमरणम्। (सुश्रुत ६।७१)

अर्थात्—मस्तक के भीतर ऊपर को जहा पर बालो का आवर्त (भवर) होता है वह, सम्पूर्ण नाडियो और सधियो का सन्निपात (मेल) है उसे अधिपति मर्म कहा जाता है। यहा पर चोट लगने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

शिखा इस अत्यन्त कोमल तथा सद्योमारक मर्मस्थान के लिए प्रकृति प्रदत्त कवच है जो कि न केवल आकस्मिक आघातो से इस मर्म को बचाती है किन्तु उग्र शीत आतपादि से भी इसकी रक्षा करती है। विदेशो मे इसी मर्मस्थान को उग्र शीततापादि से वचने के लिए टोप (Hat) धारण किया जाता है जिसको कि नकल आजकल भारत के नवसभ्य समाज मे खूब हो रही है। किन्तु प्रकृति प्रदत्त चन्द तोले वजन वाले इस शिखा रूपी त्राण के मुकाबले लगभग आधासेर वजन का व्यर्थ भार सिर पर उठाये फिरना कितनी बुद्धिमत्ता है इसे स्वय समझा जा सकता है।

आप प्रश्न करेंगे कि हैट के मुकावले मे शिखा का क्या महत्व हो सकता है ? किन्तु वस्तु विज्ञान की दृष्टि से देखें तो शिखा मे

हैट से कुछ कम गुण न मिलेंगे। इस बात को आप चन्द उदाहरणो द्वारा अच्छी तरह समझ सकते हैं। ऊन को प्राय सभी व्यक्ति जानते और पहचानते है। ऊन क्या है—भेड़ के शरीर के बाल हो तो—ऐसे ही बाल जैसे हमारे या आपके सिर पर होते हैं। इसलिए इन दोनो में गुणो की समता होना कोई आश्चर्य नही है। सासारिक व्यवहार मे ऊन का खूब प्रयोग होता है और उसकी विशेषताओ से सारा संसार परिचित है। अत. इन्हे जान लेने पर हम सहज ही शिखा को विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।

(क) ऊन की प्रथम विशेषता है बाह्य शीत आदि से रक्षा-उदाहरणतया—पशुओ को लीजिए, प्रकृति ने पशुओ के शरीर पर इसलिये घने बाल दिये हैं कि वे सर्दी से अपनी रक्षा कर सकें बर्फीले पहाडो पर होने वाले रीछ आदि प्राणियों की रक्षा उनके बालो के ही कारण होती है अन्यथा उनकी मृत्यु निश्चित है।

(ख) सर्दी की तरह यह बाह्य गर्मी से भी शरीर को बचाता हैं—आपने देखा होगा बर्फ को गर्मी से बचाने के लिये ऊन के कम्बल या बोरी मे लपेट दिया जाता है जिससे वह पिघल न जाय, ऊनी वस्त्र मे लपटने से बाहर की गर्मी उस पर असर नही करती और वह वैसा ही बना रहता है।

(ग) ऊन बिजली के प्रवाह को बाहर से अन्दर और अन्दर से बाहर नही आने देता। इसीलिये यदि किसी आदमी को बिजली पकड़ ले तो उसे ऊनी कम्बल डालकर छुडाया जा सकता है क्योकि उसको स्पर्श करके विद्युत् प्रवाह बाहर ही रुक जाता है। बिजली के तार तथा अन्य यन्त्रो में इसीलिये ऊनी तथा रेशमी धागो का प्रयोग किया जाता है।

जब शरीर से वियुक्त हुए बालो मे (ऊन) में भी यह गुण सर्वदा विद्यमान रहते हैं तब शरीरस्थ बालो का इन गुणो से युक्त होना कोई आश्चर्यप्रद नही। फलत: यह कहना अत्युक्ति नही समझनी चाहिये कि शिखा द्वारा अधिपति मर्म की रक्षा सम्भव है।

(६) शिखा आर्यजाति का एक पवित्र सामाजिक चिह्न है, जिसने सैकड़ो सम्प्रदाय जाति उपजाति आदि भेदो मे विभक्त हुई भी इस जाति की एकता को अक्षुण्ण रखने मे प्रमुख भाग लिया है। जिसने भूमण्डल के लाखो वर्ग मील में फैले हुए विशाल हिन्दू समाज को सास्कृतिक एव धार्मिक एकता के सूत्र में पिरोकर एक बनाकर रखा है। यो तो सभी सभा सोसाइटियो ने अपने सदस्यो के लिये विभिन्न प्रकार के चिह्न निश्चित किये हुए है जिनके द्वारा तत्तत् समाज या पार्टी के मेम्बरो को सर्वत्र पहचाना जा सकता है, और उनमे परस्पर प्रेम तथा एकत्व की भावना का सचार होता है। जैसे मुसलमानो की तुर्की टोपी, ईसाइयो का क्रास, सिक्खो के केश तथा कृपाण, आर्य समाजियो की 'ओम्' वाली टोपियें, राजनैतिक आधार पर संगठित हुए समाजो मे जैसे—काग्रेसियों की गांधी टोपी, राष्ट्रीय स्वयसेवकसङ्घवालो की काली टोपी और नेकर खाकसारो की हरी वर्दी, आदि चिन्ह उक्त पार्टियों या समाज के सदस्यो के परिचायक चिन्ह हैं।

किन्तु जरा ध्यान से विचार करें—यह सब चिन्ह कृत्रिम होने के कारण जहां व्यय साध्य हैं वहा साथ ही साथ इनके खोये जाने का भी भय रहता है। एक समय ऐसा भी हो सकता है जब पुरुष अनिच्छा से ही कही पहुँच जाए और इन चिन्हो को साथ ले जाना भूल जाय। ऐसी दशा मे जब तक वह उस समाज मे अपनी

सदस्यता का कोई निश्चित प्रमाण न दे सके, तब तक आदर का पात्र नहीं हो सकता। किंतु शिखा आर्य जाति के लिए ऐसा सस्ता सरल प्राकृतिक चिन्ह है जिसकी न सम्भाल की चिन्ता न खोये जाने का डर। जो सर्वदा शरीर के साथ रह कर जहां जीवन काल में आर्यत्व की परिचायक बन कर मनुष्य को सामाजिक स्नेह और सहानुभूति की प्राप्ति कराती रहती है, वहां यदि किसी कारण से अज्ञात स्थान या अज्ञातावस्था में मृत्यु भी हो जाए तो शव की पहचान कराकर उसे दुर्गत होने से बचाकर अग्नि के समर्पण करवा सकती है।

१९४७ के भारतीय गृह विप्लव ने हिन्दू जाति की आंखों पर पड़े हुए परदे को हटाकर स्पष्ट दिखलाया कि शिखा जैसे सामाजिक चिह्न का क्या महत्व है। इससे पहले पाश्चात्य शिक्षादीक्षित हिंदूसमुदाय ने इसे व्यर्थ समझकर नाई की भेंट चढ़ा दिया था। चोटी के चन्द बालों का वह गौरवमय उज्जवल इतिहास, केवल चोटी के प्रश्न पर अपने अमूल्य जीवन की आहुति देने वाले हकीकत जोरावरसिंह और फतेहसिंह के वंशधरों की आंखों से ओझल होता जा रहा था। सदियों तक चलती हुई यवनों की दुधारी तलवारों के बीच भी जो बाल अक्षुण्ण रहे, उन्हें शिक्षित नामधारी हिन्दू स्वयं कटवा कर यवनों की नैतिक विजय की घोषणा करने लगे थे।

ऐसे समय में भारत में अचानक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ और गोरे शासक सदा के लिये यहां से विदा हो गये, किंतु उन्होंने देशमें साम्प्रदायिकताकी जो चिनगारी वर्षों से सुलगा रखी थी वह ज्वालामुखी बनकर फट पड़ी। भारत और पाकिस्तान—हिंदू एवं मुस्लिम आदर्शों के दो विभिन्न राष्ट्र! काफिरों और मोमिनों की दो बस्तियां? मिस्टर जिन्ना के चिर

आकाक्षित स्वप्न का सत्य और सुनहला प्रतिरूप पाकिस्तान ! फिर वहा हिन्दुओ के लिये क्या गु जाइश, फलत' एक ऐसा भीषण गृह विप्लव हुआ जिसे आज का मानव कभी नही भूल सकता। ऐसे समय मे हमने देखा चोटी और जनेऊ यह दो ही ऐसे चिह्न थे जिनके द्वारा शत्रु मित्र की पहिचान होती थी। उस समय पूर्वी पजाब और पश्चिमी बगाल की उस रक्त रजित भूमि मे इन दोनो चिह्नो के विना किसी व्यक्ति का वाहर निकलना खतरे से खाली नही था। प्रतिहिंसा पूर्ण हिन्दु जब चुन २ कर अपने शत्रुओ से प्रतिशोध ले रहे थे, तब चोटी और जनेऊ ही थे जो सादिग्ध व्यक्तियो को जान बचाने मे समर्थ होते थे।

हमने देखा दफ्तरो के वे फैशनेवल बावू और कालेजियेट छात्र जिन्होने चोटो को ओल्ड फैशन की निशानी कह कर अल विदा कह दी थी—अपने अनाहृत उपेक्षित सामाजिक चिन्ह को उस समय पुन अपना रहे थे। इस प्रकार अन्य किसी दृष्टिकोण से न सही, एक सामाजिक चिह्न के नाते ही सही, शिखा रखना प्रत्येक हिन्दू का परम कर्तव्य है।

शिखा और संसार की विभिन्न जातियें

शिखा रखने की प्रथा का यद्यपि आज ह्रास होगया है और हिन्दुजाति के अतिरिक्त अन्य जाति के पुरुष शिखा विज्ञान की अनभिज्ञता के कारण शिखाहीन हो गये है किन्तु एक समय था जब कि सभी देशो मे और सभी जातियो मे शिखा रखने की प्रथा विद्यमान थी, ईसाइयोके धर्मशास्त्र 'बाइबिल'मे सामसन् एगोनसटिस् (Samson Agonostis) के सम्बन्ध मे एक कथा आती है कि वह बड़ा प्रतापी राजा था। उसके शत्रुओ ने उसे पराजित

करने के लिये सभी प्रकार के उपाय किये किन्तु वे सफल न हो सके। अन्त-मे उन्हे मालूम हुआ कि उसने अपने शिर पर शिखा धारण की हुई है जिसके कारण वह अजेय है (At last they discovered that all his power lay on account of the tuft on his head) उन लोगो ने चालाकी से प्रसुप्त दशा मे उसकी शिखा कटवादी जिससे वह पराजित हो गया। इस कथा से पता चलता है कि ईसाइयो मे भी एक समय शिखा को बुद्धि वल का कारण समझा जाता रहा है।

पीछे दिये गये डा० आई० ई० क्लार्क के उद्धरण से चीन मे शिखा धारण करने की रीति का भलीप्रकार पता चल जाता है।

हिब्रू जाति के मान्य ग्रन्थ (तलमड्) मे इस प्रकार के कई वर्णन है जिनसे विदित होता है कि उस जाति मे भी शिखा रखने की पद्धति प्रचलित थी।

मुसलमानो ने शिर से चोटी को उडाया, किन्तु वे उससे पीछा न छुडा सके, यह उनकी टोपी फाडकर वाहर निकल आई है। उनकी टोपीको देखिये काले २ रेशमी धागो का चोटी सदृश गुच्छा आपको उनकी टोपी के ऊपर लटकता हुआ अवश्य दिखाई देगा। यह शिखा की नैतिक विजय नही तो क्या है ?

इस प्रकार धार्मिक, वैज्ञानिक, सास्कृतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक किसी भी दृष्टिसे विचार करने पर 'शिखा' का मानव जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान ठहरता है। आर्य जाति की तो लाखो वर्षो की परम्पराओ का इतिहास इसके साथ जुडा हुआ है। वीर शिवा गुरु गोविन्दसिंह हकीकत आदि की उज्ज्वल वीरताका इतिहास शिखा-सूत्र का इतिहास है। वीर वालक जोरावरसिंह और फतेहसिंह ने इसी की रक्षा के लिये दीवारो मे चुने जाकर हसते २ मृत्यु का आलिगन किया किन्तु शिखा-सूत्र को नही छोड़ा। इस

प्रकार के महत्त्वपूर्ण चिन्ह की ओर हमारी आज की उपेक्षा शोचनीय है, जिसका शीघ्र ही परिहार होना चाहिये और प्रत्येक हिन्दू को चाहे वह किसी जाति का क्यो न हो—इससे भी अधिक हम तो कहेंगे प्रत्येक मनुष्य को—बल आयु तेज एव बुद्धि की वृद्धि के लिये शिखा अवश्य धारण करनी चाहिये।

उपनयन संस्कार विचार

वैदिक स्वरूप

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रिस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभियन्ति देवाः॥
(अथर्व० ११।५।७)

अर्थ—आचार्य बालक का उपनयन सस्कार करके उसे ब्रह्मचर्य व्रत का आदेश देकर अपने पास रखता है। यह ब्रह्मचारी तीन रात्रि गुरु के पास रहता है और फिर जब वह द्विजत्व रूप दूसरा जन्म ग्रहण कर उत्पन्न होता है, तब उसे देखने के लिये देवता भी एकत्रित होते हैं।

आठवा सस्कार उपनयन या यज्ञोपवीत सस्कार है जिसकी महत्ता पूर्वोक्त सभी सस्कारो से अधिक है और आज के इस गये गुजरे जमाने मे जब कि लोग प्राय सस्कारो को भूल बैठे हैं, यह सस्कार आज भी किसी न किसी रूप मे सर्वत्र देखने को मिल सकता है। यही क्यो प्रगतिवाद के इस नये युग मे इस सस्कार का जितना प्रचार एवप्रसार हुआ है, उसको देखकर प्रत्येक वेदाभिमानी

का हृदय रोने लग जाता है। इस संस्कार का जितना प्रचार बनाम छीछालीदर वर्तमान समय में हुई उसकी सम्भावना शायद पूज्यपाद महर्षियो ने कभी की भी न होगी।

धर्मशास्त्रकारो ने ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के लिए इसका विधान किया था, दुःख है कि वे तो इसकी महिमा को भूलते जा रहे हैं किन्तु द्विजेतर दूसरी जातियोको जनेऊ क्या मिला एक जादू का डोरा मिल गया जिसे पहन कर वे एक ही क्षण में ब्राह्मण और न जाने उनमे भी ऊपर क्या से क्या बन जाते हैं। न किसी तप की आवश्यकता न संयम की! फूंक मारते ही सृष्टि परिवर्तन! इस प्रकार के प्रचार से कितना अनर्थ हो रहा है। इसका अनुमान सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी प० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ के निम्न उद्धरण से भलीभांति लगाया जा सकता है—

'सहस्रो अन्त्यजो को पकड पकड कर उनके गले मे यज्ञोपवीत डाले जा रहे है पर करोड़ो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यो के बालक यज्ञोपवीत के बिना ही शूद्र हुए जाते हैं, उनको यज्ञोपवीत देने की किसी को चिन्ता ही नही। इनकी शिक्षा दीक्षा की किसीको परवाह नही है। अधिकारी अनधिकारी का ध्यान नही, पात्र अपात्र का विचार नही। न जाने क्या हो रहा है और न जाने क्या होकर रहेगा। और रोग यह हो गया है कि यज्ञोपवीत के गले मे पडते ही ये लोग अपनी जाति आदि को पूछने पर भी ठीक ठीक नही बताते। इस प्रकार सब संकट हो रहा है। उद्धार चाहने वाले उपाय सोचते हैं पर अपाय नही सोचते।'

(आर्यसमाज इतिहास प्रथम भाग)

यज्ञोपवीत के अधिकारी अनधिकारी प्रश्न पर तो हम आगे विचार करेंगे, प्रकृत मे हमारे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि

यज्ञोपवीत सस्कार बडा महत्वपूर्ण एव आवश्यक सस्कार है और इसीलिए लोग इसकी ओर इतने अन्धाधुन्ध आकर्पित हो रहे है।

इस सस्कार को महर्षियो ने 'द्विजत्व' साधक के स्थान पर बैठाकर अन्य सस्कारो की अपेक्षा इसका विशेष गौरव प्रदर्शित किया है इसके बिना ब्राह्मण ब्राह्मण नही, क्षत्रिय क्षत्रिय नही और वैश्य वैश्य नही। द्विज माता पिता के शरीर से जन्म ग्रहण करने के बाद भी द्विज सम्बन्धी शास्त्रीय अधिकार प्राप्त करने के लिए इस सस्कार की अपेक्षा रहती है। जब तक यह सस्कार न हो जाय तब तक—

'न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जीबन्धनात्।

(मनु २-१७१)

अर्थात्—यज्ञोपवीत सस्कार हुए बिना द्विज किसी कर्म का अधिकारी नही'—मनु के इस वचन के अनुसार न उसे सन्ध्या वन्दनादि किसी कर्म मे अधिकार है और नाही उसे द्विज श्रेणी मे परिगणित किया जा सकता है। एक प्रकार से यह आचार्य एव वेद माता गायत्री के सहयोग से होने वाला दूसरा जन्म है। और क्योकि इस जन्म द्वारा, उपनीत वालक को विनश्वर स्थूल शरीर की अपेक्षा अविनाशी ज्ञानमय शरीर प्राप्त होता है इसलिए इस द्वितीय जन्म का महत्त्व पहिले जन्म की अपेक्षा अधिक ही है। यथा—

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥

(मनु २-१७०)

अर्थात्—मौञ्जी वन्धन सस्कार (यज्ञोपवीत) ब्रह्मत्वाधायक जन्म है जिसमे गायत्री माता और आचार्य पितृस्थानीय होता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर दाता माता पिता की अपेक्षा वेद रूपी अक्षुण्ण शरीर देकर मुक्तिपथ की ओर अग्रेसर करने वाले सावित्री एवं आचार्य रूपी माता पिता का गौरव स्पष्ट ही है। 'गरीयान् ब्रह्मद पिता' कह कर मनुजी महाराज ने आचार्य का जो अभिनन्दन किया है उसे युक्तियुक्त ही कहा जा सकता है।

किन्तु दु ख है ऐसे महत्वपूर्ण संस्कार का जो दुरुपयोग और उपेक्षा आज हो रही है उसे लिखते हुए लेखनी सहम जाती है, हृदय रोने लगता है और विश्व की सर्वश्रेष्ठ एवं सभ्यतम आर्य-जाति का नैतिक अव पतन शतसहस्रमुखी वन कर आंखो के सामने छा जाता है। हिन्दू जाति ने शिखा और सूत्र के सहारे ही अपने को जीवित रक्खा है। उसका सम्पूर्ण विगत इतिहास शिखा और सूत्र का ही इतिहास है। सभ्यताओ के उस सघर्ष काल मे आर्य जाति, इन्ही पावन प्रतीको के साथ आगे वढी। विधर्मियो ने सर्वदा अपने आक्रमणो का लक्ष्य शिखा-सूत्र को ही वनाया—यह वात इतिहास के परिचित पाठको से छिपी हुई नही है। वौद्ध नरेशो के राज्य काल मे यज्ञोपवीत सर्वदा उनकी क्रूर दृष्टि का लक्ष्य रहा और मुगल वादशाहो ने तो शिखा-सूत्र के विरुद्ध जो जिहाद वोला वह इतिहास को चिरस्मरणीय दुर्घटना रहेगी। १। मन यज्ञोपवीत प्रति दिन उतरवाकर ही भोजन करने वाले मुगल शासक जीवन भर यज्ञोपवीत के विरुद्ध लडते रहे किन्तु आर्य-जाति ने उसे न छोडा। चमकती दुधारो के वीच भी सूत के ये चन्द धागे जिस दृढता से आर्यजाति को वचाते रहे वह कुछ कम गौरवास्पद नही है, किन्तु आज ? सृष्टि के प्रारम्भ से आर्य शरीर की शोभा वढाने वाला वह यज्ञोपवीत आज कहाँ है ? हमारी ऐतिहासिक विजयो का प्रतीक

वह यज्ञोपवीत आज हमसे विदा हो गया । हमने स्वय उसे तुच्छ और व्यर्थ समझकर निकाल फेका। आज जब कि अन्य जातियाँ अपने सास्कृतिक तथा राष्ट्रीय चिन्हों को खोज खोजकर उन्हे पुन अपना रही है तब हम ही ऐसे बुद्धु है जो लाखो वर्ष पुराने अपने इस सस्कार को और इसके प्रतीक यज्ञोपवीत को उतार फेकने पर तुले हुए हैं। जो लोग यज्ञोपवीत धारण करते भी है उनमें आज ऐसे कितने हैं जो इसे स्वय तैय्यार करते हैं। रोजाना चर्खा चला कर अपने काते हुए सूत के ही वस्त्र पहिरने का व्रत लेने वाले कथित देश सेवक हिन्दू भी दो निचली धागे इस यज्ञोपवीत के लिए व्यय नही कर सकते। आज अन्य बाजारू सौदों की तरह जनेऊ भी आपको बाजार में बिकते हुए मिल सकते हैं। अधिकाश सज्जन शास्त्र विश्वासी होते हुए भी प्रमादवश इसे पहिरने पर बाध्य होते है। इन्हे हम तीन या छ तार के धागो का समूह मात्र ही कह सकते है जनेऊ नही। न इनके निर्माण में विधि का विचार है न पवित्रता का खयाल। मन्त्रो से प्रतिष्ठा की तो चर्चा ही क्या ?

यज्ञोपवीत धारण करने वालो मे आधी से अधिक सख्या उन लोगो की है जो इसे किसी खास लौकिक मतलब से ही पहिनते हैं। उन्हे न उसके धारण से उत्पन्न कर्तव्य भार का ध्यान है न उसके नियमोपनियमो का। उनके लिए तो यज्ञोपवीत हरवक्त गले मे पडा रहने वाला एक ऐसा सूत का डोरा है जो शास्त्रीय आज्ञा पालन के साथ २ उनके ट्रक, सन्दूको की चाबियो को सुविधापूर्वक सुरक्षित रखने के काम आता है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के शब्दो मे—

यज्ञोपवीत देख उनका धन्य भाग्य सराहिए।
पर चाबियो के बाधने को डोर भी तो चाहिए।

यह उनकी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति का अच्छा खासा साधन है। ऐसे ही लोगो पर व्यग्य कसते हुए कवि शिरोमणि शूद्रक ने अपने नाटक मे शर्विलक नामक चोर के मुख से कहलाया है—

"यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुकरणद्रव्यम् विशेषतो ऽस्मद्विधस्य चोरस्य कुत—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गम्।
एतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान्॥
उद्घाटनं भवति यन्त्रदृढे कपाटे।
दंष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनञ्च॥

(मृच्छ अ ३, १६)

अर्थात्—जनेऊ ब्राह्मण के वडे काम की चीज है और खास कर मुझ जैसे चोर के लिये, क्योकि यह सेध लगाने के समय दीवार नापने के लिए फीते का काम देता है। सोती हुई स्त्रियो और वच्चो के कसे हुए आभूपण इसकी सहायता से ढीले करके निकाले जा सकते है। वद तालो को खोलने मे तो यह खूव ही काम देता है (क्योकि अनेक प्रकार की चावियो को सुरक्षित रखता है) और यदि कही कोई कीडा साप विच्छु आदि काट जाय तो इसको लपेट कर विप को फैलने से रोका जा सकता है।

क्या यज्ञोपवीत धारण काम्य है?

यज्ञोपवीत के विपय मे आज अनेक भ्रान्तिया भी जन-

साधारण मे फैली हुई है। भगवान मनु के आदेशानुसार जबकि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य बालको का उपनयन ८,११,१२ वर्ष की अवस्था मे ही होना चाहिए था तब वह आज बीस पच्चीस वर्ष की अवस्था तक भी अनुपवीत फिरते रहते है। कुछ लोगो मे विवाह के समय ही यज्ञोपवीत करने का विधान है, कुछ महानुभाव रक्षा-बन्धन या अनन्त के डोरे की भाति इसे किसी खास २ मौके पर पहिनने की वस्तु माने हुए है। कितनो को तो यह कहते सुना गया है कि हमारे यहाँ तो अमुक तीर्थ स्थान पर जाकर अपने पुरोहित जी से जनेऊ लेने का रिवाज है, उनकी दृष्टि मे मानो यह भी तीर्थ यात्रा की एक निशानी ही है। आर्य-समाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द ने तो इसे विद्या चिन्ह कहकर मिडल पास कराने का सर्टिफिकेट ही करार दे दिया है। उनका मतलब है कि पढे लिखे लोगो को ही इसे धारण करना चाहिए, वे चाहे अग्रेजी मात्र ही पढे हो और सध्या का एक मन्त्र भी न जानते हो फिर भी इसे धारण कर सकते है। इसके विपरीत यदि कोई द्विज कम पढा लिखा है मुश्किल से सन्ध्या जानता है तो स्वामी जी के कथनानुसार उस बेचारे विद्याविहीन को इस विद्याचिन्ह को धारण करने का कोई अधिकार नही—कितनी विचित्र बात है! थोडी देर के लिये मान लीजिए यह विद्या-चिन्ह ही हो परन्तु स्वामी जी ने जो मनुस्मृति के अनुसार ही ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य बालको का ८, ११, १२ वे वर्ष मे उपनयन का विधान स्वीकार किया है—उस की सगति कैसे बैठ सकती है? बालक ने अभी पढना शुरू भी नही किया है उसे अभी गुरुकुल भेजने की तैय्यारी हो रही है और मजा यह है कि स्वामी जी बिना विद्या पढे ही उसके गले मे विद्या का चिन्ह सर्टिफिकेट लटका देने का विधान कर रहे है, यह भी एक ही रही।

देखा जाता है कि सैकडो उपनीत ब्राह्मणादि वर्ण भी निरे पानी पाण्डेय हैं और उन्हे द्विज ही कहा जाता है किन्तु बहुत से अनुपनीत शूद्रादि भी विद्वान् हैं पर द्विज नही। इसलिए यज्ञोपवीत को विद्या चिन्ह मानना अज्ञान और कपोल कल्पना के सिवाय और क्या हो सकता है ?

इसी प्रकार जो लोग इसे केवल हिन्दुत्व का चिन्ह मानते है-वह भी भूल पर है। सभी अन्त्यज विना यज्ञोपवीत के हिन्दु है ही, इसमे किसी को क्या सन्देह हो सकता है ? कहा जाता है एक वार महात्मा गाधी गुरुकुल कागडी के उत्सव पर गये थे। गाधी जी के गले मे यज्ञोपवीत न था। इससे वहाँ के उपाध्याय वर्ग ने महात्मा गाधी से इसका कारण पूछा। गाधी जी ने कहा पहिले मुझे इन चीजो के रखने के फायदे समझाइये। उन्होने कहा-यह दोनो हिन्दुत्व के चिन्ह है। कहा जाता है इस पर महात्मा गाधी ने हँसते हुए कहा—तव तो मुझे इन की कोई आवश्यकता नही है क्योकि इन चिन्हो के विना भी सारा भारतवर्ष मुझे हिन्दु जानता और मानता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि इन्हे केवल हिन्दुत्वज्ञापक चिन्ह मान बैठना भी उन महर्षियो के विज्ञान-सम्मत सिद्धान्तो के प्रत्यक्ष उपहास से कुछ कम नही है। इन्ही सब पूर्वोक्त भ्रान्त धारणाओ का ही परिणाम है कि लोगो मे यज्ञोपवीत के प्रति आस्था नही रही और उन्होने इसकी उपेक्षा शुरु कर दी। आज हम देखते हैं पुलिस या सेना मे कार्य करने वाला एक क्षत्रिय युवक वैशाख ज्येष्ठ की गर्मी मे पसीने से तर और गर्मी से व्याकुल होते हुए भी अपनी वर्दी (Uniform) को तो लादे फिरता है किन्तु डेढ तोले का यज्ञोपवीत उसे बोझा मालूम देता है। यही दशा उन लोगो की है जो गले मे चमड़े की

पेटिये डालकर फिरने मे न तो भार अनुभव करते न शर्म, किन्तु यज्ञोपवीत उनकी शान मे बट्टा लगाने वाला बन जाता है।

हिन्दु सस्कृति के इस पुनरुदय काल मे हमे इन सब बातो पर गौर करना होगा। पहिले किसी भी धार्मिक विषय मे प्रश्न करने पर लोग कहा करते थे कि हम भारतीय आज दास हैं, दासो का क्या धर्म ? किन्तु भगवान् के अनुग्रह से आज हम पुन स्वतन्त्र हैं तो क्या लाखो वर्षों से चली आने वाली उस सस्कृति को–जिसने सभी प्रकार के सक्रमण काल मे आर्य जाति को जीवित रक्खा–हमे न अपनाना चाहिए ? स्वतन्त्रता के इस प्रभात मे हमे अपनी इन सब विशृखल प्रवृत्तियो को शृखलाबद्ध करके वैदिक सस्कृति को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि हम पूज्य महार्षियो द्वारा प्रचलित सिद्धातो की वैज्ञानिक एव तथ्य व्याख्या जनता के सामने प्रस्तुत करे और उनके सम्बन्ध मे फैली हुई भ्रान्त धारणाओ का निराकरण हो।

यो तो यज्ञोपवीत के विषय मे इतनी 'क्यो' उपस्थित है और जन साधारण के मस्तिष्क को तग किया करती हैं कि यदि उन पर विशद विचार किया जाय तो एक वृहद् कार्य स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है किन्तु हम इससे सम्बन्ध रखने वाले प्रमुख प्रश्नो पर ही विचार करेंगे, यथा—यज्ञोपवीत बाये कधे पर ही क्यो ? पितृ कार्य के समय दाहिने कधे पर क्यो ? शौचादि के समय कान पर क्यो ? इसमे तीन ही तार क्यो ? ब्रह्मग्रन्थी क्यो ? निर्माण की विशेष प्रक्रिया क्यो ? ब्रह्मणादि का अमुक २ समय मे ही यज्ञोपवीत क्यो ? आदि २।

यह सब इस प्रकार की क्यो है जिनको समझे बिना वास्तव मे यज्ञोपवीत की महत्ता नही जानी जा सकती और जबतक किसी

वस्तु के तथ्य का हमे ज्ञान नही हो जाय—उसके महत्त्व को हम समझ न ले तब तक उस वस्तु के प्रति हमारी श्रद्धा हो भी कैसे सकती है, अगर होगी भी तो वह स्थायी नही हो सकती इसलिए अब हम इस विषय पर विशेष विचार प्रारम्भ करते हैं।

यज्ञोपवीत क्या है ?

यज्ञोपवीत शब्द 'यज्ञ' और 'उपवीत' इन दो शब्दो के सयोग से बना हुआ एक समस्त शब्द है जिस का अर्थ है—यज्ञ को प्राप्त कराने वाला। वेद मे—

यज्ञो वै विष्णुः—(शतपथ १।१।१।२)

—कह कर समस्त चराचर मे व्याप्त सगुण परमात्मा को यज्ञ शब्द से ही स्मरण किया गया है। इसलिए यज्ञोपवीत का शब्दार्थ 'परमात्मा को प्राप्त कराने वाला' है। स्मृतिसार मे यज्ञोपवीत शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—

यज्ञाख्यः परमात्मा य उच्यते चैव होतृभिः।
उपवीतं ततोऽस्येदं—तस्माद् यज्ञोपवीतकम्॥

इसके अतिरिक्त 'यज्ञेन संस्कृतमुपवीत' इस मध्यम-पदलोपी समास द्वारा यज्ञोपवीत शब्द का दूसरा अर्थ यज्ञ से पवित्र किया हुआ उपवीत='सूत्र' होता है। चूकि यह सस्कार यज्ञ पूर्वक होता है इसलिए द्वितीय अर्थ भी सगत हो जाता है। उपनयन भी इसी सस्कार का दूसरा पर्यायवाचक शब्द है जिसका अर्थ होता है-ऐसा संस्कार जिसके द्वारा बालक गुरु के समीप ले जाया जाय। कुछ व्याख्याकारो के मतानुसार **'यज्ञार्थ-उपवीतम्'**

=यज्ञोपवीतम्=यज्ञ के लिए जो सूत्र धारण किया जाय अर्थात् जिसके धारण करने पर मनुष्य को सर्वविध यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त हो उसे यज्ञोपवीत कहा जाता है।

इस विषय मे यह समझ लेना आवश्यक है कि उपरोक्त विग्रह से निष्पन्न यज्ञोपवीत शब्द का अभिप्राय यह कदापि नही है कि जैसे आजकल के सभ्य पुरुप सभा सोसायटी आदि मे जाते समय शोभा के लिए गले मे दुपट्टा दुशाला या चादर आदि डाल लेते है और फिर उसे उतार कर रख लेते है इसी प्रकार यज्ञोपवीत भी केवल यज्ञादि के समय पहिनने के काम आता है। स्मृतिकारो ने—"**सदोपवीतिना भाव्य सदावद्धशिखेन च**" कह कर—उसे सदा धारण किये रहने का विधान किया है। जिस से इस प्रकार की भ्रान्ति का भली भाति निराकरण हो जाता है। पिछले दिनो हमे ऐसे ही किन्ही "भैरवदत्त शर्मा 'गौड़' नामक भ्रान्त विद्वान् की 'वैदिक रहस्य' नामक पुस्तक देखने को मिली है, जो वैदिक मर्मज्ञो की श्रेणी मे परिगणित होने का लोभ सवरण न कर सके और व्यर्थ की बाते लिखकर अर्थ का अनर्थ कर बैठे हैं। आपने जो कुछ लिखा है उसका सार यही है-"कि प्राचीन काल मे यज्ञादि के लिए दीक्षित करते समय दीक्षित पुरुष को पीले लाल या सफेद रग का एक वस्त्र कन्धे से लेकर कटि पर्यन्त लपेटने के लिए दिया जाता था जो वाद मे प्रमाद तथा लोभवश वस्त्र के स्थान मे डोरा रूप हो गया। यज्ञोपवीत कोई सस्कार नही और नाही चतु सहिता मे उसके पहिरने का कोई मन्त्र ही विद्यमान है। यज्ञोपवीत का कोई मुहूर्त नही मिलता। उपनयन=विद्याध्यनार्थ गुरु गृहगमन-के समय यज्ञोपवीत धारण गृह्यसूत्रो की मर्यादा से बाहर है। हो सकता है यज्ञोपवीत का वर्तमान रूप जैनियो के ससर्ग से हम लोगो में

आ गया है। जैनेऊ, जिनेऊ, जनेऊ यह नामकरण ही इस बात का अच्छा परिचायक है।" इत्यादि

उपर्युक्त बातो मे कितना सार है पाठक इसे बिना विशेष विवेचना के ही समझ सकते हैं। महाशय जी ने इसी पुस्तक मे अन्यत्र आर्यसमाजियो द्वारा 'आश्वमेधिक' मन्त्रो पर किये गये आक्षेपो का समाधान भी किया है जिससे आपके सनातन धर्मानुयायी होने मे कुछ सन्देह नही रह जाता। ऐसी दशा मे आपने केवल चार संहिताओ को ही 'वेद' मानकर बालू की नीव पर अपने अपूर्वमत का जो दृढ प्राचीर खडा करने का प्रयास किया है वह कहा तक न्यायसंगत है? क्या चतु संहिता के अतिरिक्त ब्राह्मण, उपनिषद् आदि वेद नही है? यदि है तो फिर जब उनमे 'यज्ञोपवीत परम पवित्र' आदि दो दो मन्त्र विद्यमान है-स्वा० दयानन्द को भी अगत्या जिनकी शरण लेनी पडी और आज भी चारो संहिताओ को ही वेद मानने वाले आर्यसमाजी भी जिन मन्त्रो से लोगो को जनेऊ पहिराते हैं-तब चतु संहिता का ही इतना आग्रह क्यो?

यदि उपनयन काल मे यज्ञोपवीत धारण गृह्य सूत्रकारो की मर्यादा से बाहर होता और यज्ञोपवीत केवल वस्त्र स्थानीय ही होता तो कात्यायन गृह्यसूत्र के परिशिष्ट मे **'अथातो यज्ञोपवीत-क्रिया व्याख्यास्याम'** आदि से प्रारम्भ करके **'इत्याह भगवान् बौधायन.'** तक के लम्बे सूत्र मे यज्ञोपवीत निर्माण प्रकार पाया जाता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि यज्ञोपवीत धारण गृह्य सूत्रकारो की मर्यादा से बाहर है। यदि गृह्य सूत्रो मे ही यज्ञोपवीत न हो तो फिर होगा कहाँ? केवल लोक प्रसिद्ध 'जनेऊ'

शब्दसाम्य मात्र देखकर यज्ञोपवीत को जैनियो के ससर्ग से उत्पन्न हुआ अनुमान कर लेना भी हेत्वाभास पूर्ण होने से परास्त हो जाता है। जैन सप्रदाय मे 'जनेऊ' नाम का कोई सूत्र धारण भी नही किया जाता है। वस्तुत. 'यज्ञ' शब्द का ही अपर पर्याय 'यजन' है, सो पकार छोडकर 'जन' और उपवीत के 'उ' मात्र जोडने से 'जनेऊ' शब्द—यज्ञोपवीत का ही सक्षिप्त सस्करण है। जैसे पर्वतीय देशो मे पण्डित शब्द का सक्षिप्त सस्करण 'पत' आज भी प्रचलित है। इस प्रकार तो कल को कोई कहने लगेगा कि शिखा भी हिन्दुओ मे सिक्खो के ससर्ग से ही आई है क्योकि सिक्ख और शिखा मे काफी श्रुतिसाम्य है। यज्ञोपवीत के मुहूर्त वाला आक्षेप भी ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि मुहूर्त ग्रन्थो मे सर्वत्र विवाह सस्कार का मुहूर्त तो मिलता है परन्तु सप्तपदी का मुहूर्त कही भी नही मिलता। जब यज्ञोपवीत धारण उपनयन सस्कार का ही एक अग है तब उसके लिए पृथक् मुहूर्त की क्या आवश्यकता ? तात्पर्य यह है कि यज्ञोपवीत शब्द के "यज्ञ के लिये धारण किये जाने वाला उपवीत (सूत्र)" इस अर्थ से किसी को भी भ्रान्त नही होता चाहिए।

ब्रह्म सूत्र शब्द यज्ञोपवीत का ही वाचक है जिसकी व्याख्या करते हुए स्मृति प्रकाश मे लिखा है—

सूचनाद्ब्रह्मतत्त्वस्य वेदतत्त्वस्य सूचनात्।
तत्सूत्रमुपवीतत्वाद् ब्रह्मसूत्रमिति स्मृतम्॥

अर्थात्—चूंकि यह सूत्र द्विजाति को ब्रह्मतत्त्व तथा वेद-ज्ञान की सूचना देता है इसलिए इसे ब्रह्मसूत्र कहा जाता है।

"साकार परमात्मा को यज्ञ और निराकार परमात्मा को ब्रह्म कहा जाता है, दोनो को प्राप्त कराने वाला होने के कारण इसे यज्ञोपवीत या ब्रह्मसूत्र इन दोनो नामो से पुकारा जा सकता

है। इसी प्रकार यज्ञसूत्र सावित्री-सूत्र आदि भी इसी के नाम समझने चाहिये।

संस्कार का संक्षिप्त स्वरूप

इस सस्कार को उपनयन, यज्ञोपवीत, व्रतबन्ध मौञ्जीवबन आदि किसी भी नाम से यथेच्छ पुकारा जा सकता है। यह सब नाम यो ही नही पड गये हैं, किन्तु इस सस्कार के समय होने वाली तत्तत् क्रियाओ के कारण अन्वर्थ हैं। उपनयन का अर्थ है—गुरु के समीप प्राप्त कराना अर्थात् प्राचीन समय मे यह सस्कार करके वालक को विद्याध्ययन के लिए गुरु के सुपुर्द कर दिया जाता था। उसे सब प्रकार की उपयोगी शिक्षा देकर—राष्ट्र के लिए सदाचारी सभ्य एव सुशिक्षित नागरिक बना देना गुरु का कार्य होता था। वह वालक को जहाँ स्नेह पूर्वक पढाता था वहाँ उसके सदाचार का भी पूर्ण ध्यान रखता था, फलत. गुरुओ के आश्रमो से वालक पूर्ण सदाचारी एव विद्वान् वनकर निकलते थे। वालक को विद्याध्ययन के लिए भेजने के समय जब कि यह सस्कार होता था अच्छा खासा समारोह मनाया जाता था। आज भी जिन घरो मे इस सस्कार का प्रचलन है वहा इसका समारोह विवाह से कुछ कम नही होता। आगन्तुक इष्ट मित्र परिजन एव निमन्त्रित सज्जनो के हर्षोल्लास मे, विविध वस्त्राभरणालकृत कुल-वधुओ के मगल गान तथा तप पूत ब्राह्मणो के घन-गम्भीर वेदपाठ के वीच सम्पन्न होने वाले इस पावन सस्कार को होते हुए जिन लोगो ने देखा है वे ही इस समारोह के विस्मयकारी प्रभाव को जान सकते है।

यह सब समारोह और उत्सव मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखते है। आज भारतवर्ष मे जब वालक प्रथम बार स्कूल मे पढने भेजे जाते हैं, तो वे ऐसे घबराते हैं जैसे पशु बाड़े मे जाते हुए या

अपराधी जेल जाते हुए। मास्टर जी की शक्ल मे उन्हे हौवे का रूप दिखाई देता है किन्तु मनोविज्ञानवेत्ता उन महार्षियो ने बालक के हृदय मे विद्याध्ययन का चाव भरने, गुरु से भय की अपेक्षा प्रेम भाव हृदय मे रखने, एक शब्द मे कहे तो रोते भीकते नही किन्तु हसते २ पाठशाला मे जाने के लिए ही इस सस्कार का प्रचलन किया था। विविध प्रकार के समारोहो के बीच होने वाली इस सस्कार की विभिन्न क्रियाओ से बालक के हृदय मे विद्याध्ययन के लिए रुचि उत्पन्न होती थी और जब उसके खेल कूद के साथियो की ही तरह गुरु, बालक के दाहिने कन्धे पर हाथ रखकर प्रेमपूर्वक उसे—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

अर्थात्—हे बालक! मैं तेरे हृदय को ग्रहण करता हूँ। तुम अपने चित्त को सदा मेरे अनुकूल बनाना। मेरी वाणी को एकाग्र होकर श्रवण करना, देवगुरु बृहस्पति तुझे मुझ से सयुक्त करे।

—इत्यादि स्नेहभरी बाते कहता था तो बालक का अनायास ही गुरु से परिचय हो जाता था और वह उसे हौवा न समझ कर अपना अभिभावक समझने लग जाता था। इसके बाद आचार्य बालक को उस सप्रणव गायन्त्री मन्त्र का उपदेश देता है जिसकी उपासना से उसने अपने ब्रह्मचर्य जीवन को सफल बनाना है। हम पीछे कह आए हैं इस अवस्था मे गायत्री ही उसकी माता होती है जिसकी अगुली पकड कर वह चलना सीखता है और जिसके ज्ञान विज्ञान रूपी दोनो स्तनो का पान करके वह वलवान् और ज्ञानवान् हो जाता है।

आचार्य से दीक्षा ग्रहण करने के वाद ब्रह्मचारी भिक्षा के

लिए भेजा जाता है। यह क्रिया यद्यपि आज नाटक के तौर पर पूरी कर दी जाती है किन्तु महर्षियों ने इसे वैज्ञानिक दृष्टि से ही इस सस्कार मे सम्मिलित किया था। वैसे तो आजकल के भी सभी स्कूल, कालेज—चाहे वे डी० ए० वी० कालेज हो या फिर गांधी मैमोरियल कालेज–भिक्षा द्वारा उपार्जित धन मे ही सचालित होते हैं, जिसे आज की सभ्य भाषा मे चन्दा (Subscription) कहा जाता है और जिस भिक्षा के लिए आज छात्रो को नही, किन्तु उनके अभिभावको, सस्था के ट्रस्टी सदस्यो और दूसरे लोगो को घर घर 'नारायण हरि' करना पडता है, या फिर ऐसी भिक्षा को जनता से बलात् वसूल किया जाता है और उससे ऐसी सस्थाओ को चलाया जाता है। कुछ भी हो आज के वैज्ञानिक युग मे भी नामान्तर से हम इसी भिक्षावृत्ति से ही सस्थाओ को चलता हुआ पाते हैं, परन्तु चूकि इनमे पढने वाले विद्यार्थियो से फीस भी ली जाती है इसलिए वे अर्ध भिक्षार्जित स्कूल कहे जा सकते हैं। पूर्वकाल की सस्थाएँ-गुरुकुल ऋषिकुल —इससे कुछ भिन्न प्रणाली पर चलते थे। उनका संचालन मुख्यत जनता से प्राप्त भिक्षान्न पर ही होता था, उनमे गरीब, अमीर, राजा, रक सभी बालक बिना किसी भेद भाव के बिना किसी फीस के शिक्षा पाते थे। आचार्य सबको समान दृष्टि से देखते थे और उनमे भी परस्पर प्रगाढ प्रेम होता था। आदर्श मित्र कृष्ण और सुदामा ऐसे ही किसी आश्रम के सहाध्यायी थे, उनकी मित्रता का नवाकुर ऐसे आश्रम की छाया मे ही उगा और वृद्धि को प्राप्त हुआ। ऐसे आश्रमो मे शिक्षा पाने वाले छात्र अपनी उस शिक्षा का—जो उन्होंने राष्ट्र धन से प्राप्त की हुई होती थी—देश के लिए अधिक से अधिक उपयोग करते थे। राष्ट्र के इस ऋण को वे कम से कम पारिश्रमिक लेकर लोक सेवा

करके चुकाना अपना कर्तव्य समझते थे। इन्ही आश्रमो से शिक्षा प्राप्त स्नातक सफलता पूर्वक राज्यतत्रो का सचालन तक करते थे किन्तु उस समय भी उनके हृदय मे यह भाव जागरूक रहता था कि मैने यह सब शिक्षा जनता के अन्न से ही तो प्राप्त की है अतएव वह जनता के कर से इकट्ठे हुए राष्ट्र धन का उपयोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति और मौज मजा लूटने मे नही करता था वह न महलो मे रहता था न हजारो रुपये मासिक का व्यर्थ बोझ राष्ट्र पर ही डालता था।

आप आइये हमारे साथ और पुरातन भारत की एक झाकी देखिये। हम आपको दिखायेगे, प्राचीन भारत मे आश्रमो से निकलने वाले स्नातक बडे २ राज्यतन्त्रो का सञ्चालन करते हुए भी किस तरह रहते थे, कितना व्यय वे राष्ट्र का अपने निजी खर्च के लिए करते थे। हम आपको दूर नही ले जायेगे—न सत्ययुग कालीन लोमश के पास ले चलेगे जो कि सर्वाधिक दीर्घायु होते हुए भी अपने लिये झोपडी का झझट मोल लेना व्यर्थ समझते हैं, अधिक धूप या वर्षा के समय एक पलाश पत्र मात्र ही शिर पर रखकर आयु बिता देते है, न हम त्रेता कालीन वशिष्ठ और विश्वामित्र के पर्ण कुटीर तक ही लेजाने की इच्छा रखते है, द्वापर कालीन सान्दीपन के आश्रम तक भी नही ले जाते किन्तु केवल दो सहस्र वर्ष पूर्ववर्ती एक ऐसे तपोधन के दर्शन कराते है, जो भ्रू भग मात्र से वद्धमूल नन्द-साम्राज्य को धूल मे मिलाकर एक नगण्य वालक को भारत का समृद्ध सम्राट् बनाने की शक्ति रखते है।

हा सचमुच यह वन ही है—नगर से दूर—पर इतना दूर नही कि यहां सर्वसाधारण पहुँच न सके। यह सामने आप पर्णकुटी देख

रहे हैं न, यही है सम्राट् चन्द्रगुप्त के महामात्य आचार्य चाणक्य का निवास-स्थान–जहा से वे सम्पूर्ण–भारत की राजनीति का सचालन करते है। यह सामने आचार्य ही तो बैठे है, कौपीन धारण किये हुए कुशा के आसन पर। कुटिया मे क्या है ? हा सचमुच यह तो देखा ही नही, कभी आजकल की भांति बाहर से कुटी हो और अन्दर भोग-विलास एव ऐश्वर्य के सभी साधन हो। नही ऐसा नही है, अन्दर क्या है, यह देखिये कविवर भारतेन्दु के शब्दो मे—

कहुँ परे गोमय शुष्क, कहुं सिल परी शोभा दै रही।
कहुं तिल, कहूं जवरासि लागी बटुन जो भिक्षा लही॥
कहुं कुस परे कहुं समिध सूखत भारसों ताके नयो।
यह लखो, छप्पर महा जरजर होई कैसो झुकि गयो॥

(मुद्राराक्षस तृतीय अक)

अस्तु यह तो है अपने सामान्य भ्रूभङ्ग से अनेक राष्ट्रो के भाग्य निर्णय कर देने वाले ऋषि आश्रमो मे भिक्षार्जित अन्न से शिक्षा प्राप्त महामात्य चाणक्य का घर और आज अर्धभिक्षार्जित स्कूल कालेजो एव विश्वविद्यालयो से निकलने वाले इसी स्तर के किसी 'जनसेवक' की विदेशी ठाठ-बाट से पटी-कुटी बखूबी नई दिल्ली मे आकर देखने का प्रयत्न कीजिये। शायद किसी पूर्व जन्म के पुण्य से आपको दर्शन हो सके। अस्तु,

उपनयन संस्कार का अन्तिम किंतु महत्त्वपूर्ण भाग वे शिक्षाए है जो बालक को ब्रह्मचर्याश्रम मे प्रविष्ट होने से पूर्व दी जाती हैं और जो न केवल उसके विद्यार्थी जीवन को सफल बनाने मे सहायता

सिद्ध होती हैं अपितु इन्ही महत्त्वपूर्ण नियमो के दृढ स्तम्भो के ऊपर उसके अशेष जीवन का उच्च प्रासाद खडा होता है। आज विद्यार्थी जीवन प्रारम्भ करने वाले बालक को यह शिक्षाएँ कौन देता है और तत्परता से इनका पालन कौन करवाता है। इसका परिणाम स्पष्ट है आज के स्कूल कालेजो मे पलने वाली राष्ट्र की नई पौध अपनी सदाचार विहीन विश्रृखल प्रवृत्तियो के कारण अकाल मे ही मुर्भा जाती है। कघा शीशा तो आजकल हर वक्त विद्यार्थियो की जेव मे रहता है। स्कूल मे भी पुस्तको के साथ जाता है और जव तक दिन मे दो-चार बार वाल न सवार लिये जाय तव तक उन्हे सबर ही नही आता। जेवो मे रक्खे हुए अभिनेत्रियो के चित्र और फिल्मी गानो की पुस्तको की जवतक एक-दो बार भाकी न ले ले तब तक रोटी हजम नही होती। तरह-तरह के कुव्यसनो मे फसकर अपने स्वास्थ्य और माता-पिता की गाढी कमाई का सर्वनाश करके स्वच्छन्द घूमने वाले राष्ट्र के उन भावी कर्णधारो के आन्तरिक जीवन के चित्र देखकर हमे इन शिक्षाओ के महत्त्व का ज्ञान होता है जो इस सस्कार के अवसर पर आचार्य देता है।

"विद्यार्थी मधु मास का सेवन न करे, नदी आदि के अगाध प्रवाह वाले जल मे घुसकर स्नान न करे, अष्टविध मैथुन का त्याग करे, स्वाग, तमाशे, नाटक आदि न देखे। सुगन्धित पाउडर, सुरमा, सुगन्धित तेल आदि न लगावे। दुर्व्यसनो (ताश चौपड आदि) से सदैव दूर रहे। निन्दा-स्तुति, व्यर्थ वकवास, मिथ्या भाषणादि से अपने को अलग रक्खे।"

उपरोक्त नियमो की यदि पृथक् व्याख्या हो और इनकी लापरवाही के जो परिणाम आज स्कूल और कालेजो मे देखने मे

आते हैं—यदि जनता के सामने रक्खे जायँ तो एक स्वतन्त्र पुस्तक तैयार हो सकती है। इसलिए हमने संक्षेप में इन नियमों का दिग्दर्शन कराकर इस प्रकरण को यहीं समाप्त किया है।

यज्ञोपवीत कब से ?

यज्ञोपवीत की उत्पत्ति और प्रचलन का ऐतिहासिक निर्धारण मानव-बुद्धि से परे की वस्तु है क्योंकि यह कोई सौ दो सौ या हजार दो हजार वर्ष से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु नहीं है कि आज के इतिहास के पण्डित इन पर अधिकारपूर्वक अपनी लेखनी उठा सकें। इसका सम्बन्ध तो उस काल से है जबकि प्रलय के गर्भ में अनन्तकाल से प्रसुप्त मानव सृष्टि धीरे-धीरे जागने लगी थी, मानव में नव-चेतना का प्रकाश हुआ था और ज्ञान की प्रथम रश्मि से उसका हृदय आलोकित हो उठा था। सृष्टि के उस नवोदयकाल में आदिमानवों=महर्षियों के मानस-पटल पर उद्भूत हुआ वह ईश्वरीय ज्ञान ही आज 'वेद' नाम से पुकारा जाता है। यज्ञोपवीत की उत्पत्ति इस ईश्वरीय ज्ञान के साक्षात्कार से भी पूर्व हुई समझनी चाहिये, क्योंकि वेद में भी इस संस्कार के माहात्म्य के दर्शन होते हैं। हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में कतिपय वैदिक मन्त्र दे आये हैं जिनसे हमारे इस कथन का भली-भांति समर्थन हो जाता है।

यज्ञोपवीत धारण के पावन मन्त्र में भी यज्ञोपवीत की उत्पत्ति का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट वर्णन विद्यमान है जिससे हमें उसके काल निर्धारण में पर्याप्त सहायता मिल सकती है। वह मन्त्र है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ।

इस मन्त्र को यज्ञोपवीत धारण करने के समय प्राय सभी लोग बोला करते हैं किन्तु इसके अर्थ गाम्भीर्य पर कदाचित ही किसी ने ध्यान दिया होगा।

हम पीछे कह आए है कि यज्ञोपवीत सस्कार हुए विना किसी को भी वेद पाठ या गायत्री जाप का अधिकार नही है।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते। (मनु-२-१७३)

—भगवान् मनु के इस आदेशानुसार इस सस्कार के बाद ही मनुष्य को श्रुति स्वाध्याय का अधिकार मिलता है। यह बात प्राय सभी जानते हैं कि सृष्टि के आदि प्रवर्तक श्री ब्रह्मा जी महाराज है। महाप्रलय के उस भीपणकाल मे जबकि यह समस्त ब्रह्माण्ड जलप्लुत होता है, चारो ओर जल के अतिरिक्त कोई वस्तु प्रयत्न करने पर भी नही दिखाई देती तब '**ब्रह्म ब्रह्माऽभवत्स्वयम्**'' के अनुसार साक्षात् परब्रह्म ही श्री ब्रह्माजी महा-राज के रूप मे प्रादुर्भूत होकर पूर्व कल्पानुरूप वैदिक ज्ञान के सहारे ही सृष्टि का विस्तार करते हैं। वेद के सर्वप्रथम ज्ञाता प्रवक्ता और उपदेष्टा भी यही हैं। किन्तु प्रश्न हो सकता है कि विना यज्ञोपवीत सस्कार हुए ब्रह्मा को वेद ज्ञान और प्रव-चन का अधिकार कैसे मिला ? उनका यज्ञोपवीत सस्कार किसने सम्पन्न कराया ? क्या बिना यज्ञोपवीत के ही उन्होने वेद का स्वाध्याय और प्रवचन किया ? अगर ऐसा ही हो तो इसका तो अर्थ हुआ कि यज्ञोपवीत वाद के ऋषियो द्वारा आविष्कृत कोई सामाजिक या विद्या-सम्वन्धी चिन्ह मात्र ही है।

नही, वास्तव मे ऐसी बात नही है, यज्ञोपवीत धारण मे विनियुक्त इस सुप्रसिद्ध मन्त्र मे इन सव प्रश्नो का वड़ी सरलता से

सुस्पष्ट उत्तर दिया गया है । श्रुति कहती है—'यज्ञोपवीत परम पवित्र है, यह सृष्टि के प्रारम्भ मे ब्रह्माजी के साथ ही उत्पन्न हुआ है । यह आयु तेज बल को देने वाला है इसीलिए इसे धारण करना चाहिए ।"

मन्त्रार्थ से सुस्पष्ट है कि सृष्टिनायक श्री ब्रह्माजी महाराज यज्ञोपवीत धारण किए हुए ही प्रादुर्भूत हुए थे, इसीलिये उन्हे मर्यादानुसार स्वाध्याय का अधिकार प्राप्त हुआ और उसी वेद-ज्ञान के बल पर वे 'यथापूर्वमकल्पयत्' के अनुसार सृष्टि रचना मे समर्थ हो सके । इससे यह भी सुस्पष्ट हो गया कि यज्ञोपवीत वेद की ही भाति अनादि है उसका प्रारम्भ परवर्ती महर्षियो ने नही किया और नाही कभी सामाजिक या विद्या-चिह्न के रूप मे उसका आविष्कार हुआ है ।

आधुनिक गवेषको के दृष्टिकोण से—

हमने पीछे कहा था, कि यज्ञोपवीत की उत्पत्ति और उसके प्रचलन का ऐतिहासिक निर्धारण मानव बुद्धि से परे की वस्तु है किन्तु फिर भी कुछ आधुनिक विचारको ने इस दिशा मे कुछ निर्णय करने की जो उपहासास्पद चेष्टा की है और भाति-भाति की कल्पनाओ की उडान भरी है, उसका कुछ आभास स्वर्गीय श्री लोकमान्य तिलक के नीचे लिखे विचारो मे भली-भाति मिल सकता है । यह विचार केवल लोकमान्य के ही नही किन्तु भारतीय संस्कृति के विषय मे नवीन दृष्टिकोण से विचार करनेवाले पौरस्त्य और पाश्चात्य सभी विद्वानो के विचारो का सही प्रतिनिधित्व करते हैं । तिलक जी ने लिखा है—

"मृगशीर्ष नक्षत्र को वैदिक शब्दो मे प्रजापति और यज्ञ कहते हैं । किसी समय (तिलक के मत से लगभग ६००० ईसा

पूर्व) इस नक्षत्र से वर्ष का आरम्भ माना जाता था इसीलिये सस्कृत मे इस मास को 'अग्रहायरग' भी कहते है। वर्ष के आरम्भ से अन्त तक नाना प्रकार के यज्ञ किये जाते थे। मृगशीर्ष नामक नक्षत्र मण्डल मे कुछ तारिकाओ की स्थिति मेखला के आकार की है। मृगशीर्ष, या प्रजापति, या यज्ञ की इस मेखला को देखकर प्राचीन आर्यो ने मेखला तथा यज्ञोपवीत धारण करना आरम्भ किया था, पट्टा डोरी या कपडे का एक टुकडा जो यज्ञ के समय कमर बन्द के रूप मे कमर पर बाधा जाता था यही यज्ञोपवीत कहलाता था।" (ओरायन)

उपर्युक्त कल्पना मे कितना तथ्य है इसे पाठक अनायास ही समझ सकते हैं। हम नही पूछना चाहते कि आकाश मे चमकने वाले सूर्य चन्द्र आदि अन्य ग्रहो की नकल करके आर्यों ने तत्सदृश अन्य चिह्न भी क्यो न धारण किये ? प्रजापति तो वेदो मे सूर्य को भी कहा गया है और बार-बार कहा गया है, यथा—

प्रजापतिर्वै सविता　　(बृहदारण्यक)

—इसके अतिरिक्त यज्ञ यागादि प्राय दिन मे ही सम्पन्न होते है तब सूर्य के अनुकरण पर उन लोगो ने कोई चिह्न क्यो न धारण किया ? हम यह भी नही पूछना चाहते कि यज्ञ-यागादि का विधान करने वाले शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थो मे प्रस्तुत कल्पना की कोई झलक क्यो नही मिलती ? यदि यज्ञोपवीत उन नक्षत्रावलियो का अनुकरण मात्र ही था तो इसके निर्माण के लिए पृथक् विधि-विधान की क्या आवश्यकता थी। उन्ही ब्राह्मण ग्रन्थो मे—जिनके अनुसार वर्ष के आरम्भ से अन्त तक यज्ञादि हुआ करते थे–यज्ञोपवीत निर्माण का एक विशेष प्रकार

मिलता है जो स्पष्टतया इस बात का प्रतिपादक है कि यज्ञोपवीत किसी वस्तु का अनुकरणात्मक चिह्न नही किन्तु द्विजाति के उन सम्पूर्ण उत्तरदायित्वो, कर्तव्यभारो एव उदात्त भावनाओ का प्रतीक है जो ईश्वर ने उसे सौपे है। इसलिये ऐसी कोई भी कल्पना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कोई मूल्य नही रखती और सर्वथा हास्यास्पद ही है।

यज्ञोपवीत की व्यापकता

यज्ञोपवीत के सदृश ही सूत्रनिर्मित चिह्न विशेष प्राय सभी देशो और सभी जातियो मे पाये जाते है जो इस बात के सूचक हैं कि एक समय सभी जातिये आर्य-जाति का अभिन्न अग थी, किन्तु कालान्तर मे अशिक्षावश अथवा देश-विदेशो मे प्रसार आदि के कारण वे आर्यत्व से पतित हो गई किन्तु बहुत से रीति-रिवाज धार्मिक चिह्न आज भी भग्नावशेष अवस्था मे उन लोगो मे प्रचलित है। इनका क्या रहस्य है इस बात को तो वे लोग नही जानते, किन्तु रूढि रूप मे इन्हे धारण अवश्य करते हैं।

मुसलमान

मुसलमानो मे सूत्रात्मक यज्ञोपवीत की तरह गण्डे का प्रचलन है, जिसे मौलवी आयु-बल आदि की सिद्धि के लिये उन्हे पहिरने को देते हैं। इसके अतिरिक्त ताजियो के वक्त—जो कि एक प्रकार से मृतक श्राद्ध का ही विकृत रूप है—बाये कन्धे पर लाल कपड़े का एक टुकडा या डोरा, जिसे हम उपवस्त्र कह सकते हैं—रखना आवश्यक माना जाता है और ऐसा करना उन मृतात्माओ की सद्गति का हेतु समझा जाता है। यह हिन्दुओ के श्राद्धकालीन यज्ञोपवीत के अपसव्य का ही अनुकरण है। इसी

प्रकार हज्ज यात्रा के समय भी सफेद रग का वस्त्र-खण्ड गले मे बाधे रखना हाजी के लिये अनिवार्य है।

ईसाई

रोमन कैथोलिक ईसाई यज्ञोपवीत की ही भाति ऊन का बना हुआ एक सूत्र-विशेष हरवक्त अपनी कमर मे बाधे रहते हैं, जिसमे यज्ञोपवीत की भाति तीन ही ग्रन्थी लगाई जाती है। वे लोग इसकी पवित्रता का विशेष ध्यान रखते है और प्रोटेस्टैन्ट ईसाई पादरी भी कमर मे रस्सी बाधना धार्मिक अनुष्ठान मानते है। इङ्गलैण्ड की वर्तमान प्रथा के अनुसार वहा का राजा ही 'धर्माचार्य' भी होता है, तदनुसार 'धर्माचार्य' के रूप मे वर्तमान इङ्गलैण्ड के किसी भी बादशाह के चित्र मे तादृश रस्सी के दर्शन किये जा सकते है।

पारसी

पारसी लोग मन्त्र पाठपूर्वक सूत्रनिर्मित एक डोरा अपनी कमर मे पहिनते है और उसे अपने धर्म का मुख्य अग समझते है। भारतीयो की भाति उनके यज्ञोपवीत धारण का भी एक विशेष मन्त्र है। वह है—

फ्राते मजदा ओवरत् पौरवनिम् आयम्य ओं धनेम् स्तेहर पाए संघेम् मैन्यु—तस्तेश् बंधुहिस् दा एनम् भज दयास्निम् ॥

अर्थात्—मजदा या सनिन धर्म के चिह्न, हे तारका मण्डित कुश्ता! तुझे पुराने काल मे मजदा ने धारण किया है।

सिक्ख

अग्रेजो की कूटनीति के शिकार और वर्तमान में राजनैतिक अधिकारो की लिप्सा से मोहान्ध सिक्ख भाई आज चाहे यज्ञोपवीत धारण नही करते किन्तु सिक्ख सम्प्रदाय प्रवर्तक श्री गुरु नानक से गुरु गोविन्दसिह तक के सभी गुरु शास्त्रीय विधि से यज्ञोपवीत धारण करते रहे हैं। यह बात उनके जीवन चरित्रो से बिलकुल प्रमाणित हो जाती है, यथा—

गुरु नानक

(क) असविध श्री नानक गतिदानी।
उपदेशन को उचरत बानी॥
वदन वदन विप्रन वरि आई।
यज्ञोपवीत दियो पहिराई॥(ना० प्र० ४२)

छठे गुरु हरि गोविन्दसिंह

(ख) गुरु निदेश सुन विप्र तब शुभ जञ्जु कर धार,
कर पूजा गुरु पुत्र गर लागो प्रोहित डार।
हरि गोविन्द कह्यो हम गरे जञ्जु हरि अस पाई,
कुल प्रोहित कुलरीति कहि पाइओ गर हर्षाई॥
(गु. वि. पा अध्याय ५ अक ६)

६वें गुरु तेग बहादुर

तिलक जञ्जु राखा प्रभु ताका, कीनो बड़ो कलू मही साका।
(दशम ग्रन्थ विचित्र नाटक अ ५)

१०वे गुरु गोविन्दसिंह

पन्थ प्रकाश मे गुरु गोविन्दसिंह का विवाह कालिक शरीर सौन्दर्य वर्णन करते हुए लिखा है—

पीत पुनीत उपरना धोती जोती रवि नब छाजै ।
पीत जनेऊ मनो वदन शशि पै विजरी विजुरी भ्राजै ॥

बौद्ध

बुद्ध गया के प्रसिद्ध मन्दिर मे सुप्रतिष्ठित बुद्ध प्रतिमा को ध्यानपूर्वक देखने से भली-भाति जाना जा सकता है कि चतुर शिल्पी ने जहा पाषाण को टाककर शिरके वालो के गुच्छक और शरीर पर ओढा हुवा महीन उत्तरीय वस्त्र दिखाने का प्रयत्न किया है वहा उत्तरीय वस्त्र मे झलकता हुवा सव्य यज्ञोपवीत भी कलापूर्ण ढग से दिखाया है। लामा लोगो की कमर मे अनिवार्य रूपेण बन्धा ऊर्णामय रस्सा भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

उपनयन कब ?

स्मृतिकारो ने उपनयन के लिये वर्णो के आधार पर पृथक्-पृथक् समय का निर्देश किया है, यथा—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥(मनु २-३६)

अर्थात्-ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवे वर्ष, क्षत्रिय का ११वे वर्ष और वैश्य का बारहवे वर्ष मे उपनयन सस्कार करना

चाहिये । यदि किसी विशेष कारण से उपरोक्त समय मे न किया जा सके तो उससे दुगने अर्थात्–ब्राह्मण बालकका १६, क्षत्रिय का २२ और वैश्य का २४ वर्ष की अवस्था तक यह सस्कार सम्पन्न हो सकता है, जैसा कि मनुजी ने कहा है—

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ।।(मनु२०-३८

इसके बाद भी यदि यह संस्कार न हो तो फिर द्विज व्रात्य हो जाता है, अर्थात् सावित्री पतित हो जाने के कारण सस्कारा-नर्ह हो जाता है

उपरोक्त अवस्थाओ के साथ-साथ गृह्यसूत्रकारों ने उपनयन के लिये प्रत्येक वर्ण के लिये ऋतु विशेष का भी निर्धारण किया है, यथा—

वसन्ते ब्राह्मणं ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम् ।।

अर्थात्—ब्राह्मण बालक का वसन्त ऋतु मे क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु मे, और वैश्य का शरद ऋतु मे होना चाहिए ।

काल विभाग क्यों

यह प्रश्न सुसम्भव है कि जब काल एक है अखण्ड है दिन रात, चैत्र वैशाख, घड़ी प्रहर आदि सब व्यवहार सिद्धि के लिये मनुष्य कल्पित वस्तुएँ हैं, तब उपनयन के लिये आयु एव ऋतुभेद की क्या आवश्यकता ? शुभ कार्य–फिर उपनयन जैसा शुभ कार्य तो—'यस्मिन्कस्मिन्दिने मर्त्यो श्रद्धाभक्तिसमन्वित' के अनुसार किसी भी दिन क्यो न कर लिया जाय ?

नि सन्देह देशकाल की एकता और अखण्डता अमान्य नही हो सकती परन्तु 'देशकाल वैचित्र्यवाद' के अनुसार समस्त विश्व मे व्याप्त प्रकृति के उन अगणित चमत्कारो की ओर से भी वादी सर्वथा आख नही मू द सकता जिनके कारण एक ही भूमण्डल-उर्वर बजर, जलमय और शुष्क, समतल और ऊबड-खाबड आदि अनेक विभागो मे और एक ही काल दिन-रात, सर्दी-गर्मी वर्षा आदि विविध भागो मे स्वयमेव विभक्त हो जाता है। विदेशो की तो चर्चा छोडिये जहा साइबेरिया के वर्कहोयान्सक (Verk hoyansk) नामक स्थान मे तापक्रम, शून्य से भी ६५ अश तक कम हो जाता है और इस अश पर पहुचकर पारा भी जम जाता है। भारत को ही देखिए, ज्येष्ठ और वैशाख के झुलसते दिनो मे भी जहा लिहाफो व कम्बलो मे सोना पडता है ऐसे शिमला आदि ठण्डे प्रदेश और पौष तथा माघ के ठिठुरते महीनो मे भी जहा एक साधारण चादर मे आनन्द से सोया जा सकता है ऐसे मद्रास आदि गर्म प्रदेश इसी भारत-भूमि पर विद्यमान हैं। भूस्वर्ग काश्मीर जैसा रमणीय हरा-भरा प्रदेश–जहा आत्म-सौदर्य मे विभोर प्रकृति उन्मत्त सुन्दरी की भाति खिल-खिलाकर हसती ही रहती है इसी भारत मे है और राजपूताने का वह शुष्क रेगिस्तान–जहा मीलो तक सिवाय रेत के और कोई चीज दिखाई ही नही देती—भी यही है। यदि अगूरो का बाग लगाने वाला व्यापारी भूमण्डल की एकता के इसी सिद्धान्त से ही चिपटा रहे और मारवाड मे बाग लगवाए तो उससे वह कितना कमाएगा यह अच्छी तरह समझा जा सकता है। इसी से मिलती-जुलती बात काल के सम्बन्ध मे भी है, प्रत्येक वस्तु के विकास के लिये एक काल-विशेष प्रकृति की ओर से निर्धारित है जिसके

आने पर तत्तद् वस्तुएँ स्वभावत ही विकसित हो उठती है, यही इनका मौसम कहलाता है। आमो की बहार आषाढ और श्रावण मे ही होती है, नारगी और सन्तरो की पौष माघ में ही। गेहू की फसल चैत्र वैशाख मे ही पककर तैय्यार होती है आश्विन कार्तिक मे कदापि नही। यद्यपि काल तो एक ही रहता है किंतु प्रकृति उसमे कितना महान् अन्तर डाल देती है। यह सब बाते अमुक-अमुक देश-काल विशेष की महत्ता की निर्णायक है। इनका पूर्ण ज्ञान तत्तत् विषय के विशेषज्ञो को ही होता है सर्वसाधारण को नही।

धार्मिक विधि-विधानो मे समय-विशेष का महत्त्व प्राय सभी सम्प्रदायो और मतो मे मान्य है। स्वामी दयानन्द ने सस्कार विधि मे—

"जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रो से युक्त चन्द्रमा हो उसी दिन सीमन्तोन्नयन सस्कार करे"

—कहकर मुहूर्त के प्रति अपनी आस्था का परिचय दिया है। मुसलमान शुक्रवार को पाक मानते है और ईसाई रविवार को ही परमात्मा का विश्राम दिन होने के कारण पवित्र समझते हैं। जैन और बौद्ध अष्टमी एव चतुर्दशी तिथि मे विशेष प्रेम रखते हैं इसीलिये अशोक के समय मे चतुर्दशी के दिन किसी भी प्रकार की हिसा नही हो सकती थी।

उपनयन के लिये भी क्रान्तद्रष्टा महर्षियो ने अमुक २ वर्ण के लिये आयु एव ऋतु आदि का जो क्रम निर्धारित किया है वह भी कोरा धार्मिक विधानमात्र नही है किंतु सर्वथा प्राकृतिक विज्ञान पर आधारित रहस्यमय तथ्य है। यही वह समय है जिसमे किया हुआ कर्म अनन्त गुण फलदायक हो सकता है। पाठक नीचे दिये

गए हेतुओ का ध्यान पूर्वक मनन करेगे तो उन्हे ज्ञात होगा कि पूज्य महर्षियो ने कितनी गहराई मे बैठकर उन तत्त्वो की खोज की है जिनका मानवशक्ति के विकास के साथ गहन सम्वन्ध है।

१—बृहदारण्यक उपनिषद् मे महर्षि याज्ञवल्क्य ने महर्षि शाकल्य के प्रति ३३ देवता गिनाते हुए कहा है—

सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रि ँ शत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रि ँ शदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या एकत्रि ँ शदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रि ँ साविति ॥ (बृहदारण्यकोपनि० ९-२)

अर्थात्—तेतीस देवता कौन से है ? ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र और प्रजापति। देवताओ मे वसु ब्राह्मण स्वरूप हैं, रुद्र क्षत्रिय स्वरूप और आदित्य वैश्य स्वरूप। वसुओ मे सर्व प्रथम अग्नि की उत्पत्ति हुई है जैसा कि—"**अग्नि प्रथमो वसुभिर्नोऽव्यात्**" इस श्रुति से स्पष्ट ज्ञात होता है। अग्नि का ब्राह्मण वर्ण के साथ कई प्रकार का सम्वन्ध है '**ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्**' तथा '**मुखादग्निरजायत**' इन दोनो श्रुति वचनो मे विराट् के मुख से ब्राह्मण और अग्नि इन दोनो की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, इसलिये यह दोनो सहोदर भाई हैं। "**गुरुरग्निर्द्विजातीनाम्**' कहकर स्मृतिकारो ने अग्नि को द्विजाति का गुरु माना है और उपनिषदो मे उसे ब्राह्मण वर्ण का उपास्य देवता भी माना गया है। तात्पर्य यह है कि अष्ट वसुओ का ब्राह्मण के साथ सजातीय सम्वन्ध है। ब्राह्मण दैवराज्य मे इन अष्ट वसुओ के साथ मिलकर ही शक्ति सचय करता है इसलिये आठ वर्ष की अवस्था मे ही ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत उचित है।

रुद्र ग्यारह है। क्षत्रिय की भाति ये भी रजोगुण प्रधान उग्र प्रकृतियुक्त देवता हैं और उपनिषदो मे इन्हे क्षत्रिय जाति का उपास्यदेव वतलाया गया है इसलिये शक्ति सञ्चयार्थ किया जाने वाला यह सस्कार क्षत्रिय वालक का ११वे वर्ष मे जितना उपयुक्त हो सकता है उतना अन्य वर्षो मे नही।

आदित्य १२ हैं। वैश्य की भाति इनका कार्य अपनी सचित समृद्धि से ससार का पोषण करना है। ससार के सम्पूर्ण धन धान्य इन्ही की कृपा से फूलते फलते और पकते हैं, और है भी ये वैश्य वर्ण के उपास्य ही, इसलिये उपास्य देव के अनुकूल १२ वे वर्ष मे वैश्य वालक का यह मेधा-जनन सस्कार सम्पन्न हो तो उसके लिए कितना हितप्रद न होगा ?

२—पारस्कर गृह्य सूत्रकार ने छन्दो से सृष्टि विस्तार का प्रकरण लिखते हुए लिखा है—

गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम् ।

अर्थात्—गायत्री छन्द से ब्राह्मण की सृष्टि हुई, त्रिष्टुभ से क्षत्रिय की और जगती छन्द के योग से वैश्य की।

वृहदारण्यक उपनिषद् मे इन गायत्री आदि छन्दो की विवेचना करते हुए वतलाया गया है—

अष्टाक्षर ँ हवा एक गायत्र्यै पदम् । (वृ०उ०५-१४-१)

अर्थात्—गायत्री छन्द का एक पाद आठ अक्षर का होता है, सुतरा ब्राह्मण वालक के उपनयन के लिये आठवे वर्ष से उपयुक्त

समय दूसरा कौन हो सकता है ? जब गायत्री अष्टाक्षरपदा है तब उसे ग्रहण करनेवाला बालक भी क्यो न आठ वर्ष का ही हो ?

त्रिष्टुभ छन्द के प्रत्येक पाद मे ११ अक्षर होते है, उससे उत्पन्न क्षत्रिय का उपनयन ११वे वर्ष मे ही सम्यक् प्रतीत होता है।

इसी प्रकार जगती छन्द का प्रत्येक चरण १२ अक्षर का होता है इसलिये शास्त्रकारो ने वैश्य बालक के उपनयन के लिए बाहरवा वर्ष ही उपयुक्त समझा है।

३—उपनयन काल मे ऋतु निर्धारण भी तत्तद् वर्णों की प्रकृति के साथ सामञ्जस्य रखने के विचार से ही रक्खा गया है।

ब्राह्मण स्वभाव से ही शात होता है उसमे क्रोध नही होता लेकिन आत्म गौरव की उष्णता अवश्य होती है और वसन्त ऋतु ? वह भी ब्राह्मण की तरह शात ही, न उसमे पौष माघ का सा प्राणियो को सुन्न बना देने वाला भयकर शीत और न ज्येष्ठ आषाढ की प्राण पीडक गर्मी। ब्राह्मण प्रकृति के साथ कितना सुन्दर समन्वय ! ऐसे समय मे ब्राह्मण बालक का उपनयन करने पर उसमे द्विगुणित शक्ति का विकास होना स्वाभाविक है।

ग्रीष्म ऋतु ताप प्रधान है और क्षत्रिय बालक मे भी वह ताप-पराक्रम एव तेज स्वाभाविक रूप से निहित होता है। ग्रीष्म-ऋतु जैसी अनुकूल परिस्थितियो मे उसका विकास स्वभाव सिद्ध ही है, इसलिए क्षत्रिय बालक का उपनयन ग्रीष्म मे ही होना चाहिए।

धन धान्य परिपूर्ण शरद् ऋतु मे वैश्य प्रकृति का प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलकता है। व्यापार के लिये भी यही ऋतु सर्व श्रेष्ठ है। फलत वैश्य बालक मे विद्यमान इन गुणो के विकास के लिए शास्त्रकारो ने इसी ऋतु मे उसके उपनयन का विधान किया है।

उपनीत के लिए आवश्यक नियम

ससार मे प्रत्येक वस्तु की सफलता का रहस्य उसके नियम पालन पर ही निर्भर है। इसके विना इस वस्तु से लाभ न हो यह तो सुसम्भव है ही किन्तु कभी २ तो वह इतनी विपरीत फलदायक हो जाती है कि जिसकी हम कल्पना भी नही कर सकते। नियम का यह प्रतिवध—जिसे उग्र शब्दो मे 'अडगा' कहा जाता है—मनुष्य के लिए सर्वथा अपरिहार्य है। आप चाहे स्वस्थ हैं या वीमार, नियम की परिधि से वच नही सकते। वीमार होकर डाक्टर के पास जाइये, वीमारी की दवा के साथ २ वह आपको अनुपान के नियम, पथ्य परहेज आदि भी अवश्य वताएगा। अगर इस अनुपान आदि को रोगी वेकार समझे और उसका पालन न करे तो वह चाहे मकरध्वज भी खाये तो भी उसके के लिये हितकारी नही हो सकता। यज्ञोपवीत के लिए भी शास्त्रकारो ने इसी प्रकार कुछ नियम स्थिर किये हैं जिनका पालन उपवीतधारी के लिए आवश्यक है। आज लोग आक्षेप करते हैं कि आर्य जाति के सम्पूर्ण धार्मिक विधान एव वेद शास्त्र सव अर्थहीन हो गए है। जिस यज्ञोपवीत के विषय मे श्रुति डिडिम घोष के साथ कहती है कि—"यह वल आयु तथा तेज का देने वाला है इसे धारण करो" किन्तु उसके धारण करने वालो मे आज कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो पूर्णायु वलिष्ठ और तेजस्वी हो ? उन विदेशी राष्ट्रो के मुकावले मे जहाँ कि लोग यज्ञोपवीत का नाम भी नही जानते, भारतवर्ष—जहा कि यज्ञोपवीत का प्रचार है, स्वास्थ्य आयु आदि सभी दृष्टि से गिरा हुआ है। तव—"यज्ञोपवीतं वलमस्तु तेज." का पाठ क्या कोरा पुण्य पाठ नही है ? इस प्रकार के आक्षेप करने वाले व्यक्ति इस

बात को भूल जाते है कि उपवीत धारण करने वालो मे आज ऐसे कितने व्यक्ति है, जो यज्ञोपवीत धारण के साथ उसके नियमो के पालन के ऊपर भी तत्परता पूर्वक ध्यान देते है ? जब तत्परता एव सावधानी पूर्वक नियमो का पालन ही नही होता तो बल आयु एव तेज की वृद्धि कैसे हो ? जब अनुपान और पथ्य पर ध्यान नही तो दवा के गुणो पर सन्देह क्यो ? इसलिए कल्याणाभिलाषी सज्जनो को नियम पालन का पूरा ध्यान रखना चाहिए, तब वे देखेंगे कि महर्षियो के वचन तथा श्रुति का वह डिण्डिम घोष असत्य नही।

(१) शुद्ध स्वदेशी एवं हाथ के बने हों—

यज्ञोपवीत के लिए शास्त्रकारो का पहिला नियम है कि वह स्वदेशी सूत से अपने हाथ से शास्त्रीय विधि पूर्वक बनाया हुआ हो। उसका सूत भी–अधिक अच्छा तो यही है कि स्वय कातकर तैयार किया हो किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो ब्राह्मण की कन्या या सौभाग्यवती ब्राह्मण स्त्री द्वारा काता हुआ होना चाहिये, यथा—

ब्राह्मणेन तत्कन्यया सुभगया धर्मचारिण्या ब्राह्मण्या वा कृत सूत्रमादाय (कात्यायन-परिशिष्ट)

यह नियम उपवीत धारण करने वाले प्रत्येक व्यक्ति मे स्वावलम्ब की भावना पैदा करने वाला एव स्वदेशी वस्तुओ के प्रति अनुराग का सञ्चार करने वाला है। महर्षियो ने यज्ञोपवीत को बाजारू चीज नही बनाया कि कोई भी रद्दी छल्ली खरीद कर उसे गले मे डाल ले। बाजारू वस्तु मे उस विधि का और उन पवित्र भावनाओ का विचार कौन रखता है। जिस

प्रकार पिछले दिनो जब खद्दरधारियो की बाढ सी आगई और कांग्रेस के रचनात्मक प्रोग्राम के अनुसार सूत कातने वालों की सख्या कम हो गई तो महात्मा गाधी ने यह नियम बना दिया था—जो कि कल तक भी खद्दर भण्डारो मे चलता रहा है–कि खद्दर पहिनने का अधिकार केवल उसे है जो चर्खा कातकर अपने लिए सूत तैयार कर सके, इसी प्रकार यज्ञोपवीत का अधिकार स्वय तैयार करके पहिनने वाले द्विज को ही दिया गया है।

(२) सदोपवीतिना भाव्यम्

हम पीछे कह आये है 'उपवीत' कोई ऐसी वस्तु नही जिसे किसी खास अवसर पर धारण करे और शेष समय मे वह गले के डुपट्टे की भाति खूटी या ट्रक की शोभा बढाता रहे। वह तो सस्कार के दिन से लेकर मृत्यु पर्यन्त शरीर से अलग न होना चाहिये। चिता मे भी वह शरीर के साथ ही रहता है धर्मशास्त्रकारो ने केवल एक अवस्था ऐसी रक्खी है जिसमे उपनीत द्विज अपने यज्ञोपवीत को स्वय उतार देता है और उसे फिर कभी धारण नही करता। वह है स्मार्त सन्यासाश्रम–एक ऐसी परिस्थिति जब मनुष्य–'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' के नित्य सिद्धान्त की ओर अग्रेसर होता है। उसकी आत्मा देश एवं काल की परिधि को भेदकर शाश्वत् ब्रह्म मे लय होने के लिए प्रस्तुत होती है, केवल उसी दशा मे शास्त्रकारो ने यज्ञोपवीत और शिखा का परित्याग कहा है। अन्यथा तो द्विज को सर्वदा यज्ञो-पवीतधारी ही होना चाहिए। आज इस नियम की ओर से भी लोग उदासीन से हैं। कभी मिल गया तो पहिन लिया नही तो नही सही। कभी वह बाबूजी के कमीज के साथ धोबी को दे दिया जाता है और कभी खूटी की ही शोभा बढाता है। कभी

खण्डित अर्थात् टूटा हुआ ही गले मे पडा रहता है। घर मे सूतक पातक भी हो जाता है फिर भी वही पुराना यज्ञोपवीत गले मे पडा रहता है यही सब ऐसी बाते है जिनके कारण यज्ञोपवीत को हम सूत का डोरा मात्र बना देते है, इसलिये इन बुराइयो से बचना चाहिए। टूट जाने पर, घर मे किसी का जन्म या मृत्यु हो जाने पर, रजस्वला, चाण्डाल, शव आदि से स्पर्श हो जाने पर, श्रावणी, सूर्य चन्द्र ग्रहणादि के अनन्तर, यज्ञोपवीत को अवश्य बदल लेना चाहिये, यथा —

(क) सूतके मृतके क्षौरे चाण्डालस्पर्शने तथा।
रजस्वलाशवस्पर्शे धार्यमन्यन्नवं तदा (नारा० सग्रह)

(ख) मलमूत्रं त्यजेद्विप्रो विस्मृत्यैवोपवीतधृक्।
उपवीतं तदुत्सृज्य धार्यमन्यन्नवं तदा॥ (सायरण)

शौचादि के समय कान पर क्यों ?

गृह्यसूत्रकारो ने शौच लघुशका आदि के समय यज्ञोपवीत को कान पर लपेटने का विधान किया है, जैसा कि—

दिवासन्ध्यासु कर्णस्थो ब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः॥

—इत्यादि शास्त्रीय वचनो से स्पष्टतया प्रतीत होता है। शास्त्र के इस विज्ञान पूर्ण विधान के विषय मे प्राय अनेक प्रकार की शकाये आस्तिक जन के हृदय मे भी विद्यमान रहती हैं। प्राय कहा जाता है कि यज्ञोपवीत कान पर ही क्यो लपेटा जाय–और वह भी दाहिने पर ही क्यो ? क्यो न उसे शिर पर रख लिया जाय या कन्धे पर इस प्रकार डाल लिया जाय कि उसके अपवित्र होने का यदि कोई भय है तो वह भी दूर हो

इसलिए हम इस विषय पर कुछ पक्तियें लिखना आवश्यक समझते है ।

शास्त्रीय दृष्टि से

यो तो मानव शरीर का ऊपरी भाग शिर आदि ज्ञान का केन्द्र होने के कारण परम पावन माना जाता है किन्तु उसमे भी दाहिने कान को शास्त्रकारो ने विशेष महत्त्व दिया है, जैसा कि—

आदित्या वसवो रुद्रा वायुरग्निश्च धर्मराट् ।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवताः ।।

—इत्यादि अनेक उक्तियो द्वारा दाहिने कानमे आदित्य वसु रुद्र आदि देवताओका निवास स्थान बतलाया गया है । इसलिए दाहिने कान की पवित्रता तथा महत्ता के अभिप्राय से ही पूज्य महर्षियो ने यज्ञोपवीत को उस दशा मे जब कि सम्पूर्ण शरीर ही अपावन होता है पवित्रता के सबसे महान केन्द्र कान पर रखने का विधान किया है ।

स्वास्थ्य की दृष्टि से

शास्त्र विहित नियम प्राय अनेक दृष्टिकोणो को अपने साथ समन्वित करके चलते है इसलिए इस नियम को हम शारीरिक शास्त्र (Physiology) दृष्टि से परखना चाहते है । मानव शरीर को ध्यान से देखिए । मध्य मे वीर्यकोष है, यहा से चलने वाली लाल रग की नाडी—जिसे आयुर्वेद मे लोहितिका या रक्तवाहिनी कहा जाता है—दाहिने कान से होकर

मनुष्य के मल-मूत्रद्वार तक पहुचती है। यो तो मनुष्य शरीर के नवो दर्वाजो से अनेक प्रकार का मल निकलता रहता है किन्तु वीर्यरूपी मल जो कि शरीर रूपी भवन की नीव के समान है— मल या मूत्रद्वार से ही क्षरित हुआ करता है। प्राय शौच के समय जोर लगाने से या लघुशङ्का के साथ वीर्य अज्ञात रूप से स्खलित होने लगता है और ध्यान न देने पर यह एक भयङ्कर रोग का रूप धारण कर लेता है जिससे शारीरिक स्वास्थ्य नष्ट होकर मनुष्य जीवित ही मृतवत् हो जाता है, यदि इस नाडी को किसी प्रकार वेध दिया जाय या उसके प्रवाह को किसी भाति रोक दिया जाय तो फिर वीर्य के स्खलित होने का किसी प्रकार का भय नही रहता। क्रान्तदर्शी महर्षियो ने इन सब बातो का प्रत्यक्ष अनुभव करके इस नाडी के भेदन के लिए जहा एक ओर कर्ण-वेध की रीति प्रचलित की थी, वहा यज्ञोपवीत द्वारा उस नाडी को बाधने का स्वास्थ्यकर नियम भी प्रचलित किया था। इसके कारण वे वीर्यरक्षा मे तो समर्थ होते ही थे किन्तु यज्ञोपवीत की पवित्रता को भी अक्षुण्ण रखते थे।

लौकिक दृष्टि से

लौकिक दृष्टि से कान पर यज्ञोपवीत का होना, मनुष्य के अपवित्र हाथ पांव होने का एक चिन्ह है—जिसे देखकर दर्शक दूर से ही समझ सकता है कि अमुक व्यक्ति जब तक मिट्टी आदि से हाथ माज कर शुद्धि आदि न कर ले तबतक वह अस्पृश्य है। आजकल नयी सभ्यता मे पले हुए महानुभाव शौचोपरान्त शुद्धि का ख्याल नही रखते जिससे हाथो मे समाये मल के कीटाणु अनेक प्रकार के रोगो के कारण बनते हैं। यज्ञोपवीत ऐसी दशा

मे शुद्धि करने की प्रेरणा प्रदान करता है उसका यह मोटा लाभ है जिसे सर्व साधारण समझ सकते है।

यज्ञोपवीत निर्माण विधि–

यज्ञोपवीत है तो सूत के धागो से बना हुआ नौ तार का एक डोरा ही,—परन्तु यह नौतार एक विशेष विधि से बने हुए ही होने चाहिएँ, मनमाने तरीके से सूत के कुछ धागो को वटकर यज्ञोपवीत नही बनाया जा सकता—वह तो सूत का डोरा मात्र होगा—यज्ञोपवीत नही।

विशेष विधि क्यों ?

हमने पीछे बतलाया है कि यज्ञोपवीत द्विजाति के उन सम्पूर्ण उत्तरदायित्व, कर्तव्य भार, एव उदात्त भावनाओ का प्रतीक है जो ईश्वर ने उसे सौपी है। इसका सीधा अर्थ है कि यज्ञोपवीत महज एक सूत का डोरा नही किन्तु भावना सम्बन्धी अश से व्याप्त एक ऐसा सूत्र है, जो हमारे जीवन को श्रुति-स्मृत्यनुमोदित मार्ग से भटकने से रोकता है। यदि उसके भावना सम्बन्धी अग को हम सर्वथा भुलादे तो वह यज्ञोपवीत नही किन्तु सूत के चन्द धागो के अतिरिक्त कुछ न होगा। इन भावनाओ की जागृति के लिए ही शास्त्रकारो ने यज्ञोपवीत निर्माण की विधि निर्धारित की है और साथ ही यह भी व्यवस्था दी है कि प्रत्येक यज्ञोपवीत धारी स्वय अपने हाथ के परिमाण से यज्ञोपवीत का निर्माण करे। जब हम स्वय अपने हाथ से निर्माण करेंगे तभी उस विधि मे होनेवाली तत्तद् क्रियाओ के प्रति हमारे हृदय मे जिज्ञासा पैदा होगी जिसका समाधान हम आचार्य या कुल-गुरुओ की सेवा मे प्राप्त कर सकेंगे। इससे हमारे हृदय का अज्ञान ही दूर न

होगा अपितु यज्ञोपवीत धारण से हम कितना गुरुतर भार अपने कन्धो पर उठाने को प्रस्तुत हो रहे हैं, कितनी भारी जुम्मेदारी हमारे ऊपर आपडो है यह सब बाते भी हमे भली भाति ज्ञात होगी। यदि बिना परिश्रम या बिना किसी विशेष विधान के हम सूत से यज्ञोपवीत तैय्यार करे या बाजार से खरीदे तो इन सब भावनाओ की ओर हमारा ध्यान जाना सर्वथा असभव है।

वह कौन २ भावनाये हैं ? इसका विवेचन तो हम आगे करेंगे पहिले सक्षिप्त मे यज्ञोपवीत निर्माण विधि का वर्णन करना अनुचित न होगा। महर्षि कात्यायन कहते हैं—'

अथातो यज्ञोपवीतनिर्माणप्रकारं वक्ष्यामः। ग्रामाद्वहिस्तीर्थे गोष्ठे वा गत्वाऽनध्यायवर्जितपूर्वाह्णे कृतसंध्याष्टोत्तरशतं सहस्रं वा यथाशक्ति गायत्री जपित्वा ब्राह्मणेन तत्कन्यया सुभगया धर्मचारिण्या वा कृतं सूत्रमादाय भूरिति प्रथमां षण्णवतीं मिनोति, भुवरिति द्वितीयां, स्वरिति तृतीयां मीत्वा, पृथक् पलाशपत्रे संस्थाप्य, आपोहिष्ठेति तिसृभिः, शन्नो देवीत्यनेन सावित्र्याचाभिषिच्य वामहस्ते कृत्वा त्रिः संताड्य, व्याहृतिभिस्त्रिवलितं कृत्वा, पुनस्ताभिस्त्रिगुणितं कृत्वा, पुनस्त्रिवृतं कृत्वा प्रणवेन ग्रन्थि कृत्वोङ्कारमग्निं नागान् यमपितॄन् प्रजापतिं वायुं सूर्यं विश्वान् देवान् नवतन्तुषु क्रमेण विन्यस्य संपूजयेद्। देवस्येत्युपवीतमादाय, उद्वयं तमसस्परीत्यादित्याय दर्शयित्वा यज्ञोपवीतमित्यनेन

धारयेदित्याह भगवान्कात्यायनः ।

(कात्यायन परिशिष्ट)

अर्थात्—अब हम यज्ञोपवीत बनाने की विधि कहते हैं। यज्ञोपवीत बनाने वाले को चाहिए गाव से बाहर किसी तीर्थ-स्थान मन्दिर या गोशाला मे जाकर अनध्याय रहित किसी भी दिन सध्यावन्दनादि नित्यकर्म तथा यथाशक्ति गायत्री जप करके ऐसे सूत से यज्ञोपवीत बनावे जो किसी ब्राह्मण द्वारा या ब्राह्मण-कुमारी द्वारा अथवा सधवा ब्राह्मणी द्वारा बनाया हुआ हो। इस सूत को 'भू' इस मन्त्र का उच्चारण कर ९६ अगुष्ठ सहित चारो अगुलियो के मूल पर लपेटे और उसे उतार कर किसी ढाक के पत्ते पर रख दे। इसी प्रकार 'भुवः' इस शब्द का उच्चारण कर दूसरी वार, और 'स्व' इस शब्द का उच्चारण कर तीसरी वार हाथ पर लपेटे। अनन्तर 'आपोहिष्ठा' 'शन्नोदेवी' 'तत्सवितु' इत्यादि तीन मन्त्रो से उन्हे जल से भिगोकर वाये हाथ मे रख-कर तीन वार फटकारे। फिर तीन व्याहृतियो से उसे एक बटा देकर एक रूप बनाले। फिर उन्ही मन्त्रो से उसे त्रिगुणित करे और बटकर एक रूप बना ले उसको फिर त्रिगुणित करके प्रणव से उसमे ब्रह्मग्रन्थी लगावे। उसके ९ तन्तुओ मे ॐकार अग्नि आदि देवताओ का क्रमश आवाहन और स्थापन करे। 'उद्वय तमसस्परि' इत्यादि मन्त्र से सूर्य के सन्मुख करके 'यज्ञो-पवीत' इस मन्त्र से धारण कर ले।

कात्यायन से मिलती जुलती निर्माण विधि ही अन्य गृह्यसूत्रो मे भी मिलती है। महर्षि देवल आदि स्मृतिकारो ने भी इसका पूर्ण समर्थन किया है। इस विधि को पढकर साधारण व्यक्ति एक वारगी चकित रह जाता है, वह समझता है यह

व्यर्थ का गोरख धन्धा है जो श्रद्धालु जनता को भरमाने के लिए बनाया गया है, किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है । उपरोक्त सभी क्रियाएँ वैज्ञानिक एव गूढ अभिप्रायपूर्ण हैं जिनको समझ लेने पर हमे उन मेधावी महर्षियो की बुद्धि का कायल होना पड़ता है जिन्होने आज से लाखो वर्ष पूर्व इन तत्त्वो का प्रत्यक्ष अनुभव करके उससे मानव जातिको कृतकृत्य किया ।

९६ चप्पे क्यों ?

सब से प्रधान प्रश्न यह है कि यज्ञोपवीत का परिमाण ९६ चप्पे ही क्यो है ? ९५ या ९७ क्यो नही, एकाध ज्यादा या कम हो गया तो उससे क्या हानि ? कम से शायद कुछ हानि हो सकती है किन्तु 'अधिकस्याधिक फलम्' तो होना चाहिये ।

वादी का उपरोक्त प्रश्न ठीक है, किन्तु क्या सासारिक व्यवहार मे हम ऐसे उदाहरण नही देखते जहा एक निश्चित परिमाण ही कार्य की सफलता का कारण माना जाता है । उससे कम या उससे अधिक परिमाण से उसका फल सर्वदा विपरीत हो जाया करता है । रासायनिक विज्ञान (Chemistry) के विद्यार्थी भली प्रकार जानते हैं कि उसमे एक निश्चित परिमाण मे अमुक वस्तुओ का सयोग ही पदार्थान्तर की उत्पत्ति का कारण बन जाया करता है ।

उदाहरणतया—कार्बन के अणुओ मे एक निश्चित पृथक् २ क्रम और ताप उत्पन्न करके उसे हीरा, काला सीसा (Graphite) और चारकोल मे परिवर्तित कर दिया जाता है । यह तो प्राय सभी जानते हैं कि यदि दो दो तोले शहद और मक्खन मिला लिया जाय तो वह विप बन जाता है, कम या अधिक को मिलाने से कुछ नही बनता । इस प्रकार हम लोक मे देखते है कि एक

निश्चित परिमाण ही कार्य सिद्धि का निमित्त होता है। फलत यज्ञोपवीत मे ९६ चप्पो के परिमाण का सिद्धिदायक होना कोई लोक विरुद्ध बात नही है यह तो हुआ कम या अधिक को सम्मिलित करने के विषय पर विचार। अब ९६ ही क्यो ग्रहण किये जाये इस विषय मे शास्त्र सम्मत नीचे लिखे हेतुओ का अनुशीलन कीजिए।

(१) हमने पीछे कहा है गायत्री वेदमाता है। समस्त वेदो मे वह इसी प्रकार व्याप्त है जैसे माता पृथक् होते हुए भी मांस रक्त मज्जा आदि धातुओ के रूप से पुत्रो के शरीर मे सर्वदा व्याप्त रहती है*। गायत्री के चौवीस अक्षर होते हैं, चारो वेदों मे व्याप्त गायत्री छन्द के सम्पूर्ण मिलाकर २४×४=९६ अक्षर हो जाते हैं। चूकि यज्ञोपवीत एक ऐसा सस्कार है जिसमे द्विज बालक को गायत्री एव वेद दोनो का अधिकार प्राप्त होता है इसलिये इस सख्या को दृष्टि मे रखते हुए श्रुति ने ९६ चप्पे वाले यज्ञोपवीत को ही धारण करने का विधान किया है। निम्नलिखित कारिका मे आचार्यो ने इसी भावको व्यक्त किया है–

चतुर्वेदेषु गायत्री चतुर्विंशतिकाक्षरी।
तस्माच्चतुर्गुणं कृत्वा ब्रह्मतन्तुमुदीरयेत् ॥ (शिष्टस्मृति)

(२) हमारा शरीर २५ तत्त्वो से बना हुआ है, सत्वरजस्तम इन

टिप्पणी—आयुर्वेद के मतानुसार मानव शरीर मे विद्यमान पदार्थो मे से वीर्य, अस्थि ओज शिरा स्नायु आदि की उत्पत्ति पिता के शुक्र से होती है और रक्त मज्जा मास मेद की उत्पत्ति माता के रज से। वीर्य एव रजगत सभी गुण दोष सर्वदा मनुष्य शरीर के मूल मे विद्यमान रहते हैं और इसी मे कुल परम्परागत रोग एक से दूसरे के शरीर मे प्रविष्ट हो जाया करते हैं। (सुश्रुत ३–३९)।

गुणत्रय से यह सर्वदा व्याप्त रहता है। फलत २८ सख्यात्मक-समुदाय वाला यह शरीर तिथि, नक्षत्रादि विविध भागो मे विभक्त अनेक मानव सवत्सर पर्यन्त, इस ससार मे जीवन धारण करता है। यह जीवन लक्ष्यहीन नही है। 'खाओ पीओ मौज उडाओ' आज के सभ्य तथा प्रगतिशील मानव समाज का सिहनाद भले ही हो किन्तु जीवन के एक २ क्षण को प्रभु का अमित वरदान समझने वाले महर्षियो ने इसका सर्वात्मना सदुपयोग किया और ईश्वरीय ज्ञान वेद का अवलम्बन करके ब्रह्म प्राप्ति का शाश्वत् लक्ष्य मनुष्य के सामने रक्खा। अब यदि उपरोक्त सभी पदार्थो की सख्या का समन्वित योग किया जाय तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि यह भी ९६ ही होता है, यथा—

तत्त्व २५, गुण ३, तिथि १५, वार ७, नक्षत्र २७, वेद ४, काल ३, मास १२, इन सब का जोड़ ९६ हुआ।

सामवेद छान्दोग्य परिशिष्ट में इसी अभिप्राय को लेकर '९६ चप्पे क्यो' के प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है—

तिथिवारञ्च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्।
कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम् ॥

(३) 'लक्ष तु चतुरो वेदा लक्षमेक तु भारतम्' इस आप्त वचन मे वैदिक ऋचाओ की सख्या एक लाख बताई गई है। श्री भगवान् पतञ्जलि ने भी महाभाष्य मे वेद मन्त्रो की सख्या एक लाख बतलाई है। इन एक लाख मन्त्रो मे ८०००० मन्त्र कर्म-काण्ड सम्बन्धी हैं, १६०० उपासना काण्ड सम्बन्धी और ४००० ज्ञान काण्डसम्बन्धी। ब्रह्मचर्यावस्था—अर्थात् उपवीत होने के

अनन्तर वानप्रस्थ पर्यन्त प्रत्येक द्विजाति कर्म और उपासना का अधिकारी होता है और चतुर्थाश्रम—सन्यास मे चले जाने पर उसे ज्ञान का अधिकार मिलता है। वेद की उपर्युक्त मर्यादा के अनुसार चूकि उपनीत होने वाले व्यक्ति को ९६ हजार ऋचाओ का ही अधिकार प्राप्त होता है इसलिए उस उपवीत का परिमाण भी ९६ चप्पे होना युक्तिसगत ही है। शेष ४००० ऋचाओ के स्वाध्यायादि का जब अधिकार प्राप्त होगा तब यज्ञोपवीत की—जो प्रवृत्ति मार्ग के प्राणियो के लिए ही है कोई आवश्यकता नही रहती। इसलिए स्मार्त सन्यास धारण करने के समय उस मार्ग पर प्रस्तुत होने वाले व्यक्ति की शिखा और सूत्र दोनो वस्तुए दूर कर दी जाती हैं।

यज्ञोपवीत की लम्बाई मोटाई के विषय मे धर्मशास्त्र-कारो की व्यवस्था है—

पृष्ठवंशे च नाभ्याञ्च धृतं यद्विन्दते कटिम् ।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम् ॥
सिद्धार्थफलमानेन धार्यं स्यादुपवीतकम् ।
यशोहरमतिस्थूलमतिसूक्ष्मं धनापहम् ॥

अर्थात्—द्विजाति को ऐसा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये जो कन्धे के ऊपर से आता हुआ और नाभि का स्पर्श करता हुआ कटि तक ही पहुँचे, न इससे नीचे और न ऊपर। उसकी मोटाई सरसो की फली की तरह होनी चाहिये यदि उससे अधिक मोटा होगा तो वह यश नाशक होगा और पतला धन नाशक। यह व्यवस्था ९६ चप्पे का यज्ञोपवीत होने पर ही ठीक बैठती

है। ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम हरिद्वार की वैदिक प्रयोगशाला मे जब इस सिद्धान्त का इसी दृष्टि से परीक्षण किया गया तो यह देखकर आश्चर्य की सीमा न रही कि ९६ चप्पेवाला यज्ञोपवीत बिलकुल कटि पर्यन्त ही पहुँचा जब कि अन्य परिमाण वाले यज्ञोपवीत इस कसौटी पर पूरे न उतरे। उसकी मोटाई आदि के बारे मे जो कुछ कहा गया है वह कोई रहस्यमय उक्ति नही है। सभी लोग जानते है कि यज्ञोपवीत का इस परिमाण से अधिक मोटा होना अपने फूहडपन तथा अयोग्यता का निर्देशक होने के कारण जहाँ स्पष्ट ही यश का नाशक है, वहाँ बहुत पतला यज्ञोपवीत बार २ टूट जाने के कारण धन नाशक होगा ही।

(५) सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार मानव शरीर का आयाम ८४ अगुल से लेकर १०८ अगुल तक होता है जिसका कि मध्य-मान ९६ ही होता है। इस दृष्टि से यज्ञोपवीत के ९६ चप्पे होने ही उपयुक्त है।

तात्पर्य यह है कि विभिन्न आचार्यो द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणो से परखे गये उपरोक्त समाधानो का अनुशीलन करने के बाद प्रत्येक विचारशील पाठक इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि श्रुति-विहित स्मृत्यनुमोदित एव मेधावी महर्षियो द्वारा समर्थित यज्ञो-पवीत मान सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्त सर्वथा सोच समझकर ही निर्धारित किया गया है।

तीन सूत और त्रिवृत क्यों ?

तीन की सख्या ऐहलौकिक और पारलौकिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक सभी क्षेत्रो मे अपना विशेष स्थान रखती है। ऋग् यजु, साम-वेद तीन, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु,-लोक तीन,

सत्त्व, रज तम–गुण तीन, ब्रह्मा, विष्णु महेश–प्रधान देवता तीन, गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिण–अग्नि तीन, और यज्ञोपवीत के अधिकारी भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य–तीन ही। ऐसी दशा मे यज्ञोपवीत के निर्माण मे भी तीन सूत का उपयोग सर्वथा सुसगत ही है। जब यह समस्त विश्व ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अभिन्न निमित्तोपादान कारण से निर्मित है, इसके प्रत्येक कण मे त्रिगुण ओतप्रोत है तब यज्ञोपवीत का त्रिगुणात्मक तन्तुओ से निर्माण और त्रिवृतकरण कोई समझ मे न आने लायक बात नही है।

इसका अभिप्राय यह भी है कि इसे ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ तीन आश्रमो मे रहते हुए धारण किया जाता है। चतुर्थाश्रम मे पहुँचने पर जब मनुष्य स्मार्त ज्ञान मार्ग की ओर अग्रेसर होता है तब यज्ञोपवीत से उसे कोई प्रयोजन नही रहता।

चूंकि यज्ञोपवीत के धारण से मनुष्य देवत्व की ओर अग्रेसर होता है—मृत्युलोक से ऊपर उठता है, इसलिये उन तीन सूतो को महाव्याहृति मन्त्रो से ऊपर को ही ऐठा जाता है यह क्रिया मानो उसे ऊर्ध्व गमन की प्रेरणा देती है।

तीन सूत्र से निर्मित यह उपवीत उपरोक्त विधि से निर्मित होने पर अब नव तन्तुमय सूत्र बन जाता है। यह नवो तन्तु साधारण तन्तु नही किन्तु विभिन्न देवताओ के आवास स्थान होते हैं। गृह्य सूत्रकारो ने लिखा है कि यज्ञोपवीत तैय्यार हो जाने पर उसके नव तन्तुओ मे विधिवत् निम्नलिखित देवताओ का आवाहन प्रतिष्ठापन करे। अमुक २ देवताओ का यह आवाहन और प्रतिष्ठापन 'भावनावाद' के अनुसार हमारे हृदय मे तत्तद् देवताओ के विशेष गुणो का सञ्चार करेगा।—'मैंने तेज धृति शुचि आदि विविध गुण परिपूर्ण देवताओ से अध्यासित

उपवीत को धारण किया है। मैं तेजस्वी हूँ, मैं धृतिमान हूँ, मैं शुद्ध हूँ' आदि भावनाएँ हमारे चारित्रिक एव नैतिक विकास मे कितनी उपयोगी सिद्ध होती है इसे प्रत्येक विचारशील पाठक सहज ही अनुभव कर सकता है।

इन देवताओ की विद्यमानता से मनुष्य की मानसिक वृत्तिये विपथगामी न होकर शास्त्र निर्दिष्ट श्रेय मार्ग के प्रति प्रवृत्त होती हैं, कलुषित विचारो का दमन होता है और शुभ विचारो का उदय। जिस प्रकार राजा के सान्निध्य मे मनुष्य दुराचरण मे प्रवृत्त होते हुए भयभीत होते है इसी प्रकार इन देवताओ के सानिध्य से भी उसका मन पाप की ओर प्रवृत्त होने मे भय का अनुभव करता है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा भली भाति देखी जा सकती है कि जब मनुष्य विपथगामी होने लगता है तो सब से पहिले वह यज्ञोपवीत को ढोग समझकर बाहर फेक देता है। इससे उसका स्वच्छन्द मन भारमुक्त हो जाता है। जिन देवताओ के सान्निध्य से पाप करते हुए उसका हृदय कापता था, उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्तियो मे वाधा पडती थी उन्हे दूर करके ही उसका अज्ञ हृदय प्रसन्नता अनुभव करने लग जाता है। अब उसके सामने भक्ष्याभक्ष्य और कार्याकार्य का कोई बन्धन नही रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञोपवीत मे ऐसी कोई शक्ति अवश्य थी जो बार-बार उसके हृदय को टोकती थी और उसे पापाचरण मे प्रवृत्त होते समय रोकती थी।

यह ९ देवता कौन-कौन है इसके लिए सामवेदीय छान्दोग्य परिशिष्ट मे लिखा है—

ॐकारोऽग्निश्च नागश्च सोमः पितृप्रजापती।
वायुः सूर्यश्च सर्वश्च तन्तुदेवा अमी नव ॥

ॐकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च ।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता ॥
पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः ।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च ॥
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः ॥

निम्नलिखित कोष्ठक से आहवनीय देवताओं और उनके गुण विशेप का परिचय मिल मकता है ।

नाम तन्तु	अधिष्ठाता	गुण
१	ॐकार	ब्रह्मलाभ
२	अग्नि	तेजस्विता
३	अनन्त	धैर्य
४	चन्द्र	आह्लादकत्व
५	पितृगण	स्नेह
६	प्रजापति	प्रजापालन
७	वायु	शुचित्व
८	सूर्य	प्राणत्व
९	सर्वदेव	सर्वगुण

ब्रह्मग्रन्थि क्यों ?

यज्ञोपवीत निर्माण विधि मे पीछे बतलाया गया है कि यज्ञ-सूत्र के तैय्यार हो जाने पर उसमे प्रणव रूपी महामन्त्र का उच्चारण करता हुआ ब्रह्मग्रंथी लगादे । यह ब्रह्मग्रंथी ब्रह्मसूचक ग्रंथी होने के कारण ही ब्रह्मग्रन्थी कहलाती है । यह समस्त विश्व ब्रह्म

से प्रादुर्भूत हुआ है और अन्त मे उसी मे लय हो जायेगा। 'हरिरेव जगद् जगदेव हरि' के अनुसार यह समस्त संसार ब्रह्म की ही छाया माया है और उससे भिन्न ससार मे कुछ भी नही है। मनुष्य इस महान् तत्त्व को भुलाकर ही काम-क्रोध लोभ-मोहादि सासारिक प्रपचोमे लिप्त हो जाता है। इस सर्वदा स्मरणीय तत्त्वको प्रतिक्षण ध्यान मे रखने के अभिप्राय से ही यज्ञोपवीत अन्त मे ब्रह्मग्रन्थी पर समाप्त होता है। ससार मे प्राय यह परिपाटी प्रसिद्ध है कि जब हम किसी वस्तु को विशेषरूप से स्मरण रखना चाहते है तो उसके लिए कपड़े मे एक गाठ लगा लिया करते हैं। 'गाठ बाध लेना' ऐसे ही अर्थ मे एक सुप्रसिद्ध लोकोक्ति तक बन गई है। फलत ब्रह्मप्राप्ति रूप चरम लक्ष्य की स्मारक ही यह ग्रथी 'ब्रह्मग्रन्थी' कहलाती है। प्रणव रूपी महामन्त्र स्वय समस्त वेद राशिका सक्षिप्ततम रूप है। उसमे विद्यमान अ+उ+म् यह तीनो वर्ण सत्त्वरजस्तम तथा ब्रह्मा विष्णु रुद्ररूपी ब्रह्माण्ड-नियामक तीनो शक्तियो के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार समस्त आध्यात्मिक वाङ्मय मूलाधारभूत प्रणव से उस उपवीत मे ग्रन्थी बन्धन प्रणव जप द्वारा ब्रह्म मे लय होने की शास्त्रीय पद्धति का कितना सुन्दर निदर्शन है—यह अनायास ही समझा जा सकता है।

ब्रह्मग्रन्थी के ऊपर अपने-अपने गोत्र प्रवरादि के भेद से १, २, या ५ गाठ लगाने के शास्त्रीय विधान का तात्पर्य अपनी कुल-परम्परा से आती हुई शास्त्र मर्यादा की रक्षा है और है उन पुण्यात्माओ पूर्वपुरुषो का स्मरण जिनके हम उत्तराधिकारी हैं, जिनकी सुदीर्घ तपश्चर्या अटूट परिश्रम और सत्यनिष्ठा के कारण आज हम सम्मान के साथ जीवित है।

दो यज्ञोपवीत क्यों ?

(क) ब्रह्मचारिण एकं स्यात् स्नातकस्य द्वे बहूनि वा ।

(आश्वलायन गृह्यसूत्र)

(ख) यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि ।
तृतीयमुत्तरार्थे च वस्त्राभावे तदिष्यते ॥

(हेमाद्रि)

अर्थात्—(क) ब्रह्मचारी का एक यज्ञोपवीत होना चाहिए, स्नातक के दो या उससे अधिक । (ख) श्रौत स्मार्त कर्मो की निष्पत्ति के लिए दो यज्ञोपवीत धारण करने चाहियें, यदि उत्त-रीय वस्त्र न हो तो तीसरा धारण किया जा सकता है ।

धर्मशास्त्रकारो की उपर्युक्त व्यवस्था सम्बन्धी 'क्यो' का उत्तर (ख) भागोल्लिखित श्लोक मे ही दे दिया गया है । ब्रह्म-चर्यावस्थामें द्विज बालकका कार्य केवल अग्नि परिचर्या और गुरु शुश्रूषापूर्वक विद्याध्ययन है । कर्मकाण्ड के अन्य जटिल जजाल से उस वटुक को शास्त्रों ने सर्वथा दूर रक्खा है क्योकि ऐसा न करने से उसके अध्ययन मे विघ्न पडने की पूरी सम्भावना है जैसा कि आजकल भी विद्यार्थियो को सब प्रकार के राजनैतिक संघर्षों से दूर रखने का प्रयत्न किया जाता है । चू कि उस बालक को ब्रह्मचर्य्यावस्था मे रहते हुए गृहस्थाश्रम मे होने वाले काम्यकर्मादि नही करने पडते, इसलिए गृह्य सूत्रकारो ने उसे यज्ञ-वेदी पर एक ही यज्ञोपवीत धारण करने का विधान किया है । स्नातक हो जाने के उपरान्त मनुष्य को सभी प्रकार के श्रौत और स्मार्त कर्मो के करने की आवश्यकता पड़ती है इसलिए उभयविध कर्मों के प्रतिनिधि स्वरूप दो यज्ञोपवीत धारण करने

का शास्त्रीय नियम सुसंगत होता है। लोग कहा करते हैं कि दूसरा यज्ञोपवीत स्त्री के हिस्से का है। उनके इस कथन का तात्पर्य इतना ही हो सकता है कि चूं कि स्त्री के आ जाने पर-समावर्तनानन्तर गृहस्थमे प्रवेश कर लेने पर-ही यह दूसरा यज्ञोपवीत धारण किया जाता है अत लक्षणा से स्त्रीमूलक होने के कारण इस यज्ञोपवीत को स्त्री के हिस्से का कहना अनुपयुक्त नही। इसके अतिरिक्त सगुण और निर्गुण भेद से उभयविध ब्रह्म को प्राप्त कराने वाले होने के कारण दो ही ब्रह्मसूत्र धारण करने चाहिये।

स्त्री शूद्रोपनयन विचार

सभ्यता सस्कृति एव विभिन्न विचारो के इस सघर्पमय युग का विषाक्त प्रभाव सभी दिशाओ मे पड़ा है और उससे मानव हृदय मे अनन्तकाल से विद्यमान श्रद्धा एव विश्वासमयी भावनाओ की सुदृढ नीव भी एकबारगी हिल उठी है। लोग शास्त्रवाद से, तर्क–अनैकान्तिक तर्कवाद की ओर आ रहे हैं और प्राचीन समय से चली आने वाली सभी व्यवस्थाओ को छिन्न-भिन्न करके मन-माना आचरण ही आज का धर्म हो गया है। जन-कल्याण-विधायिनी श्रुति माता ने, क्रान्तदर्शी महर्षियो तथा स्मृतिकारो ने त्रैवर्णिक पुरुपो को यज्ञोपवीत धारण करने का आदेश दिया था उन्हे तो वह व्यर्थ भार प्रतीत हो रहा है और जिनको श्रुति ने उपनयन के कठिन नियमो से मुक्त कर सरल पद्धति से कल्याण का अधिकारी वनाया वे स्त्री शूद्रादि, आज यज्ञोपवीत धारण करने के लिये उतावले दिखाई पडते है।

उनके उपनयन और वेदाध्ययन को सिद्ध करने के लिये जहाँ एक ओर हृदयग्राही रोचक तर्कों का आश्रय लिया जाता है वहाँ

साथ ही वेद धर्मशास्त्र स्मृति-पुराण का आलोडन करके—उसमे लम्बी-चौडी डुबकियें लगाकर तत्सम्बन्धी प्रमाणो की पडताल करने मे भी आकाश-पाताल एक किया जा रहा है।

हमारे विचार मे यदि उपनयन सम्बन्धी इन निबन्ध मे उपरोक्त विषय पर प्रकाश न डाला जाय तो यह अधूरा ही रहेगा एतदर्थ इस पर भी लगे हाथो कुछ विचार व्यक्त करना अप्रासगिक न होगा।

आज के प्रगतिशील कहे जाने वाले सुधारको की ओर से कहा जाता है कि जब भगवान् की प्रत्येक वस्तु मनुष्यमात्र के लिये बनाई गई है, यथा—सूर्य, चन्द्र, तारागण, वायु, जल, जगल, पहाड, पशु-पक्षी इत्यादि, तब वेद से या वेदप्रोक्त उपनयनादि सस्कारो से जिनमे मनुष्यमात्र का कल्याण निहित है—स्त्री एव शूद्रो को क्यो वचित रखा जाता है ? ज्ञान पर ताला लगाना या उसे किसी की बपौती समझकर दूसरो को उसे प्राप्त करने से रोकना कहाँ तक उचित है ? इस प्रकार की कल्याणमयी पद्धतियो पर और सस्कारो पर मनुष्यमात्र का समान अधिकार होना चाहिए। ऐसा न करना जहा एक ओर स्त्री शूद्रो के प्रति घोर अन्याय है, वहाँ साथ ही वेद को उस आज्ञा का प्रत्यक्ष विरोध भी, जिसके द्वारा उसने मनुष्यमात्र के लिए ज्ञान के द्वार खोल रखे हैं। 'यथेमां वाच कल्याणीं' आदि अनेक मन्त्र और ऐतिहासिक साक्षिये इस बात के जीते-जागते प्रमाण हैं कि प्राचीनकाल मे प्रत्येक पुरुष को समान रूप से उपनयन वेदपाठ आदि का अधिकार था आदि-आदि।

उपरोक्त तर्को को सुनने और पढने का अवसर हमे प्राय मिलता ही रहता है। इधर स० २००२ मे जबकि हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के धर्मविज्ञान विभागके प्रोफेसरो द्वारा विश्व-

विद्यालय के फारसी के प्रोफेसर मु० महेशप्रसाद जी एम० ए० 'मौलवी फाजिल' की कन्या कल्याणीदेवी को वेद पढाना अस्वीकार कर दिया गया तवसे इस विषय की ओर लोगो का अधिक ध्यान आकृष्ट हुआ। इस घटना ने शात वातावरण मे एक क्रान्ति-सी पैदा कर दी, सुधारको और नवशिक्षित वेदज्ञाभिमानियो ने अखबार के कालम के कालम रग डाले। तरह-तरह की पुस्तके प्रकाशित की गई जिनका एकमात्र उद्देश्य उसके वेदाधिकार का समर्थन था।

इस आन्दोलन मे हमे दो प्रकार के व्यक्ति दिखाई पडते हैं। एक वे जो वेद धर्मशास्त्र आदि के नाम पर ऐसा करना चाहते हैं, दूसरे वे जो वेद शास्त्रादि को कोई प्रामाण्य न देते हुए तर्क के बल पर ही आरूढ हैं। पहिलो का कथन है कि वेद मे कोई इस प्रकार का वचन नही है जिससे स्त्री शूद्रो के उपनयन या वेदाध्ययन का निषेध हो, यह तो रूढिवादियो द्वारा प्रचलित सकुचित मनोवृत्तिपूर्ण सिद्धान्त है—जिसका कि किसी आर्षग्रन्थ से समर्थन नही होता। तदनुसार हम प्रथम इस प्रकार के प्रमाण उपस्थित करेगे जिनसे विदित होता है कि वेद से लेकर तदुपवृहण रूप स्मृति, सूत्र, पुराणादि सभी ग्रथो मे कितने स्पष्ट शब्दो मे स्त्री शूद्र के उपनयनदि का निषेध समुपलब्ध होता है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि उपनयन तथा वेदाध्ययन इनका परस्पर आश्रयाश्रयी भाव सम्बन्ध है। यज्ञोपवीत या ब्रह्मसूत्र की परिणति यज्ञ और ब्रह्म—अर्थात् वेद के अध्ययन मे है। सीधे शब्दो मे हम यो कह सकते है कि यज्ञोपवीत इसलिए किया जाता है कि उपनीत व्यक्ति को यज्ञ और वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त हो सके। यज्ञोपवीत और ब्रह्मसूत्र इन दोनो शब्दो से स्वय ही यह अर्थ ध्वनित हो रहा है। इसी प्रकार यज्ञ

और ब्रह्म=वेद की सार्थकता भी यज्ञोपवीत से ही है। विना यज्ञोपवीत के न यज्ञ किया जा सकता है न वेद-पाठ। किम्बहुना, यज्ञोपवीत, यज्ञ और वेद यह तीनो परस्पर समाश्लिष्ट हैं और एक-दूसरे के लिये सापेक्ष्य भी। इसलिए इनमे से एक वस्तु का भी विधान तीनो का विधान है और एक का निषेध तीनो का निषेध। इसलिये अधोलिखित निषेध वचनो में किसी एक का विधान या निषेध देखने पर इस प्रकार का सशय व्यर्थ है कि अन्यो का तो विधान या निषेध है ही नही।

निषेध परक प्रमाण

(क) स्तुता मया वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। (अथर्व० १९।७१।१)

(ख) सावित्री प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स मृतोऽधो गच्छति, तस्मात्सर्वथा नाचष्टे स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति।

(अथर्व०, नृसिंह पू० ता० १।३)

(ग) स्त्रीणां शूद्रांधपंगूनां वधिराः पतिताश्च ये।
क्लीबानां नैव काणानां वेदविद्याधिकारिता॥

(अस्यवामीय सूक्त आत्मानन्द भाष्य)

(घ) आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं वृणुते गर्भमन्तः।

(अथर्व० ११।५।३)

(ङ) ब्रह्मचारी एति समिधासमिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। (अथर्व० ११।५।६)

(च) वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ।।
(मनु० २।६७)

(छ) न वै देवाः सर्वेणैव संवदन्ते ब्राह्मणेनैव राजन्येन वा वैश्येन वा ते हि यज्ञीयाः ।

(ज) नैव कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ।।
(मनु० ११।३६)

(झ) तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः ।
(याज्ञ० शिक्षा १।२।१३)

(ञ) तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात् ।
(मीमांसादर्शन ६।१।२४)

(ट) सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति, शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्य अपेक्षितत्वात् । शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्य अध्ययननिराकरणेन कृतत्वात् । (१।३।३४)

(ठ) अयं स होता यो द्विजन्मा । (ऋ० १।१४६।५)

(ड) तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः । (ऋ० १।१४६।५)

(ढ) 'अपि तत्रभवान् वृषलं याजयति' अहो अन्याय्यमेतत् । 'कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयेत् । यच्च यत्र वा तत्रभवान् वृषलं याजयेद्, गर्हामहे

अन्याय्यमेतत् ।

(स्वा० दयानन्द लकारार्थ प्रक्रि० पृ० २६२, ६३, ६४)

(ण) स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा । (श्रीमद्भा०)

(त) ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला…

(संस्कार विधि पृ० २३७)

अर्थात्—(क) द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य को पवित्र करने वाली वेदरूपी माता मेरे द्वारा स्तुत होकर मुझे (ज्ञान की) प्रेरणा करे। (ख) गायत्री मन्त्र, ॐकार, यजुर्वेदोपलक्षित यज्ञादि का अधिकार स्त्री शूद्र के लिए अभीष्ट नही, यदि वे हठात् इनको ग्रहण करे तो मरने पर नरक को प्राप्त होते हैं। यदि आचार्य उन्हे इनका उपदेश दे तो वह भी नरक को प्राप्त हो। (ग) स्त्री शूद्र, अधा, लँगडा, बहरा, पतित, नपुंसक और काणा–इन्हे वेद का अधिकार नही। (घ) आचार्य ब्रह्मचारी को (ब्रह्मचारिणी को नही) उपनीत करके तीन रात्रिपर्यन्त अपने पास रखता है और फिर वह जब ज्ञानी बनकर बाहर आता है तब देवता भी उसके दर्शन के लिए लालायित होते हैं। (ङ) मृगचर्म मेखला-धारी दीर्घ श्मश्रुवाला ब्रह्मचारी (क्या स्त्री मेखला कौपीन धारण पूर्वक ब्रह्मचर्य धारण करती है और मूछ दाढी वाली होती है ?) यज्ञ के लिए समिधा लेकर आता है। (च) स्त्रियो का विवाह ही उनके यज्ञोपवीत संस्कार के समान है, पति-सेवा गुरुगृहवास स्थानीय है, और घर का काम-काज–भोजनादि बनाना ही अग्न्याधान है। (छ) देवता सभी से हवि ग्रहण नही करते, वे तो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य से दी हुई ही ग्रहण करते है, क्योकि इनका ही यज्ञ मे अधिकार है। (ज) कन्या, युवति स्त्री, थोड़ा पढा हुआ, मूर्ख, बीमार, सस्कारहीन को अग्निहोत्र मे 'होता'

नही वनाया जा सकता। (भ) विवाह को छोडकर स्त्रियो के शेष सभी सस्कार विना मन्त्र के ही होते हैं। (ञ) स्त्री, पुरुष के तुल्य नही हो सकती क्योकि वह ब्रह्मचर्य आदि कई बातो मे उससे भिन्न है। (ट) केवल 'उसमे ऐसा करने की ताकत है' इतनेमात्र से किसी को अधिकार नही दिया जा सकता, क्योकि शास्त्रीय विषय मे तो शास्त्रीय शक्ति की ही आवश्यकता है। स्त्रियो की शास्त्रीय सामर्थ्य तो यज्ञोपवीत के न होने से ही उनमे न रही फिर उनका यज्ञ मे अधिकार कैसा ? (ठ) जो, द्विज माता-पिता से उत्पन्न है वही 'होता' हो सकता है। (ड) इसलिए शूद्र का यज्ञ मे अधिकार नहो। (ढ) क्या तुम शूद्र को यज्ञ करवाते हो, यह तो बडा अन्याय है। आप शूद्रो को यज्ञ कैसे करवाओगे। आप जहाँ कही शूद्रो को यज्ञ करायेंगे हम उसकी निन्दा करेंगे, यह वडा अन्याय है। (ण) स्त्री शूद्र और पतित द्विजो को वेदत्रयी का अधिकार नही।

श्रुति स्मृति पुराण प्रतिपादित शतश प्रमाणो मे से उद्धृत इन कतिपय प्रमाणो को देखकर पाठक स्वय सत्यासत्य का निर्णय कर सकते हैं, कि स्त्री शूद्रो का वेदाऽनध्यन तथा उपनयनाभाव रूढिमात्र पर अवलम्बित है या शास्त्रीय प्रमाणो पर ? इन डेढ दर्जन प्रमाणों की उपस्थिति मे इस प्रकार की उक्तिये बालविजृम्भित ही नही किन्तु आर्ष साहित्य के प्रति अपनी अज्ञता का स्पष्ट प्रदर्शन भी है।

इन प्रमाणो के अतिरिक्त इस सम्बन्ध मे कुछ और भी बाते विचारणीय हैं जिनसे इस दिशा मे काफी प्रकाश पडता है।

(१) जैसा कि हम पीछे कह आये है उपनयन काल के सबध मे श्रुति की व्यवस्था है कि—'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्'। भगवान् कृष्ण ने—'ऋतुनां कुसुमाकरः' कह

कर वसन्त को अपनी विभूति बतलाया है, अत दैव सम्पत्तियुक्त ब्राह्मण बालक के उपनयन के लिए वसन्त ऋतु का, निदाघ के उत्तप्त सूर्य के सदृश प्रखर तेजस्वी क्षत्रिय बालक के लिए ग्रीष्म का और शरद् ऋतु की पोषक शक्ति के अनुरूप वैश्य पुत्र के लिये शरद् ऋतु का विधान तो शास्त्रकारो ने कर दिया किन्तु शूद्र के लिये उन्हे अनुकूल ऋतु ही नही मिली इसलिए उसके लिए कोई विधान नही किया गया। यदि आज उनका यज्ञोपवीत कियाजाय तो वह किस ऋतु मे हो और क्यो ? श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज भी—जिन्होने शायद स्त्री शूद्रो के उपवीत के लिए प्रथम वकालत की है उनके लिए किसी ऋतु का निर्धारण नही कर सके हैं और सस्कार विधि मे—

'ब्राह्मण पदाधिकारी बालकका वसन्त, क्षत्रिय पदाधिकारी का ग्रीष्म, और वैश्य पदाधिकारी बालक का शरद् ऋतु मे यज्ञोपवीत करे।' (स० वि० पृष्ठ ३३४)

—केवल ब्राह्मणादि तीनो वर्णों का ही यज्ञोपवीत कहकर रह गये हैं।

(२) इसी प्रकार—**'अष्टमेऽब्दे ब्राह्मणम्, गर्भैकादशे राजन्यम्, गर्भाद् द्वादशे वैश्यम्'** इस श्रुति द्वारा ब्राह्मणादि तीनो वर्णों की उपनयन कालिक अवस्था का विधान है, जिस पर स्वामी दयानन्द जी भी एकमत है। इसमे भी शूद्र बालक की अवस्था की कोई चर्चा नही, तब यदि उसका यज्ञोपवीत हो तो किस अवस्था मे हो और उसी मे क्यो ? यह प्रश्न भी असमाधेय ही है।

(३) श्रुति के आदेशानुसार उपवीत होने वाले व्यक्ति की

मुण्डन कराकर गुरु के सन्मुख यज्ञवेदी पर उपस्थित होना पडता है जहाँ आचार्य उसे ब्रह्मसूत्र पहिनाता है। उसके पुराने वस्त्रो को उतारकर उसे कौपीन दण्ड मेखला आदि ब्रह्मचर्याश्रम के चिन्ह धारण करने को दिये जाते हैं। तब आचार्य उसे अपने सान्निध्य मे ले लेता है और शास्त्रादेशानुसार ब्रह्मचर्य समाप्ति पर्यन्त उसे गुरुगृहमे रहकर विद्याध्ययन करना पडता है। श्रीस्वा० दयानन्द जी ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है—जिस दिन उपनयन करना हो उस दिन प्रात काल बालक को स्नानादि कराके .. आसन पर पूर्वाभिमुख बिठाये"। अब यहा प्रश्न होता है कि क्या श्रुति प्रतिपादित एव स्वामी दयानन्द जी से समर्थित यह क्षौर-मुण्डनादि कन्याओ का भी कराया जायगा। वे भी कौपीन मेखला दण्ड आदि धारण कर गुरुगृह मे रहेगी या उन्हे इस नियम से मुक्त कर दिया जायगा। यदि प्रथम वस्तु हो तो वह कहा तक सम्भव है। यदि दूसरी रीति का अवलम्बन करे तो उसके ग्रहण करने का शास्त्रीय वचन भी तो चाहिए। कदाचित् कहा जा सकता है कि—इन अगभूत कर्मो के अनुष्ठान किये बिना भी यज्ञोपवीत पहिनाया जा सकता है—किन्तु किसी प्रमाणभूत शास्त्रीय वचन के अभाव मे ऐसी व्यवस्था जहा कपोलकल्पित होने के नाते अमान्य है वहा साथ ही कर्म-वैगुण्य सम्पादक भी हो सकती है। ऐसी दशा मे किया हुआ कर्म फिर उपनयन नही रहा वह तो उपनयन का नाटक मात्र ही हुआ और विधिहीन होने के कारण तामस् ही कहा जायगा।

(४) लौकिक दृष्टि से देखने पर भी स्त्रियो के उपनयन और वेदाध्ययन का अनौचित्य स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, क्योकि स्त्री का स्त्रीत्व उन्हे प्राय. अपवित्र दशा मे रहने को बाध्य करता है

जिससे यज्ञोपवीत के नियमों का पालन उसके लिए कठिन बन जाता है। प्रतिमास रजस्वला होने पर, प्रसवकाल में, तथा बालकों के मलमूत्र आदि में ही स्त्री का समय व्यतीत होता है। स्त्री के जिस वक्षःस्थल पर ब्रह्मसूत्र लटकाना चाहते हैं वह तो धूलि धूसरित मलमूत्र दिग्धाग नवजात शिशु का दिन रात स्तनपान के समय क्रीडा स्थल बना रहेगा। क्यों न वह उस डोरी के साथ कुतूहल से कल्लोल करेगा ? तब—'यज्ञोपवीत परम पवित्रम्' कहां रहा ?

(५) प्रकृति ने स्त्री को अबला बनाया है। उसका कारण यह है, कि पिता के थोड़े शुक्र तथा माता के अधिक रज से कन्या का शरीर बनता है। शुक्र सप्तम धातु होती है और रज तृतीय। पहला सौम्य है दूसरा आग्नेय, अतः शुक्र की अपेक्षा रज सर्वदा निर्बल होता है। शुक्र से अस्थि आदि कठोर तथा शरीर को सबल बनाने वाली वस्तुएँ बनती हैं कन्या के शरीर में अस्थि आदि कठोर वस्तुओं की गौणता होती है और रजोमूलक कोमल वस्तुओं की अधिकता। अतः स्त्री प्रकृति से ही पुरुष की अपेक्षा निर्बल है। उसका शरीर अत्यन्त परिश्रम साध्य वेदाध्ययन और २५ वर्षपर्यन्त कठिन ब्रह्मचर्य के सर्वथा अनुपयुक्त है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है-शुक्र निरोध। कन्याओं में शुक्र स्थानीय रज होता है किन्तु उसका निरोध स्त्री के वश की बात नहीं। वह तो १२ वर्ष के बाद प्रतिमास प्राकृतिक नियमानुसार अवश्य क्षरित होता है। जब वह मुख्यार्थ में ब्रह्मचारी भी नहीं हुई, ऐसी दशा में ब्रह्मचर्याश्रम मूलक उपनयन तथा वेद में भी उसका अधिकार कदापि नहीं हो सकता। रज को पुष्प कहा जाता है, उसके प्रकट होने का तात्पर्य प्रकृति के इस इंगित की ओर है कि उसे अब फलवती होना चाहिये। प्रकृति का इंगित उसके विवाह में है, १२ वर्ष के बाद विद्याध्ययनार्थ गुरुकुल भेजने से नहीं। यदि

हठात् स्त्री को वेदाध्ययन मे प्रवृत्त किया भी जाय तो उस परिश्रम से उसके वे शारीरिक मज्जातन्तु—जिनकी सहायता से वह सन्तान प्रसव करती है निर्बल पड जाते हैं, जिसका परिणाम भावी सन्तान को भुगतना पडता है।

स्मृतिकारो ने जैसे अन्तिम वर्ण के अधिकार मे सेवा का काम सौंपा था तथा उसे वेदाध्ययन और यज्ञोपवीत रूप कठोर व्रत से मुक्त कर दिया था। वैसे ही स्त्री को भी पति, उसके परिवार एव सन्तति की सेवा का भार सौपकर इस कर्तव्य पालन से ही उसे यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययनजन्य फलप्राप्ति का अधिकार दे दिया था, इसी सेवा से वह परलोक सुधार के साथ सामाजिक सुधार भी करती थी।

(६) उदात्त अनुदात्त स्वरित आदि भेद से मन्त्रो का ठीक-ठीक उच्चारण शारीरिक तथा कण्ठ सम्पूर्णता विना सम्भव नही। वेदाध्ययनाधिकार मे इस तथ्य का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है—**स्त्रीणा शूद्रान्धपगूना'**—इत्यादि वचनानुसार जिनमे यह सम्पूर्णता जरा भी व्याहत दिखलाई पडी उन्हे वेदाधिकार से वञ्चित रक्खा गया है। श्रुति मे उच्चारण शुद्धता का पूर्ण ध्यान रखना अत्यावश्यक है अन्यथा—**'स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति'** इस महाभाष्योक्ति के अनुसार उसका जरा-सा भी अशुद्ध उच्चारण लाभप्रद होने की वजाय प्रत्यवायजनक बन जाता है। असख्य पीढियो से वेदोच्चारण मे अभ्यस्त द्विज बालको के कण्ठ मे जो सम्पूर्णता विद्यमान है वह शूद्र बालको के कण्ठ मे नही। हिन्दी पढे-लिखे अग्रेज हिन्दी का पर्याप्त अभ्यास करने पर भी दन्त्य अक्षरो का उच्चारण नही कर पाते। उनका—'बोलते हो' के स्थान मे—'बोलटे हो' उच्चारण प्राय प्रसिद्ध है। यही बात अन्य भापाओ के विपय मे भी है। अग्रेजी और अरबी का

जितना शुद्ध निर्विकार उच्चारण एक अग्रेज और अरब कर सकता है उतना हम लोगो से सम्भव नही। फलतः शूद्र बालको मे विशुद्ध और निर्विकार वेदोच्चारण की आशा करना शश-शृगायित है।

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।

स्वरितप्रभवाः शेषाः षडजमध्यमपञ्चमाः॥

अर्थात्—उदात्त मे निषाद गान्धार स्वर आते हैं, अनुदात्त मे ऋषभ धैवत और शेष षड्ज मध्यम पञ्चम—ये तीन स्वरित के अन्तर्गत होते है। ऐसी दशा मे कोकिलकण्ठी नारियो से ऋषभ धैवत स्वर कैसे निकलेंगे और असस्कृत शूद्र इनका कैसे प्रयोग कर सकता है? इसलिए दूरदर्शी महर्षियो ने उनके लिये वैदिकी व्यवस्था न कर पौराणिकी व्यवस्था ही की है, अत यह उनकी वचना नही, किन्तु महती कृपा ही समझनी चाहिए।

इस विषय पर इतना अधिक लिखा जा सकता है कि एक स्वतन्त्र ग्रथ तैय्यार हो जाय किन्तु विषय विस्तार भयात् हम अत्यन्त सक्षिप्त रूप से ही इस पर विचार करने के लिए विवश हैं। इस प्रकार प्रामाण्य और बुद्धिवाद द्वारा इस विषय पर विचार करने के अनन्तर हम उन प्रमाणो, नही नही प्रमाणा-भासो का भी परीक्षण करना चाहते हैं जिनको वेदवेत्ता होने का झूठा दावा करने वाले आधुनिक ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध पाश्चात्य-शिक्षा-प्रभावित भारतीय आलोचक जनता के समक्ष उपस्थित करके उसे पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न किया करते है। आश्चर्य यह है कि इस प्रकार के बुद्धिवादी, प्रामाण्यवाद मे कोई विश्वास न रखते हुए अपना मतलव सिद्ध करने के लिए जहाँ वेद, पुराणादि ग्रथो के अनेक प्रमाण उपस्थित करते हैं वहाँ उन ही प्रामाण्य

ग्रथो को 'प्रक्षिप्त' 'बीसवी सदी के अयोग्य' आदि-आदि अनेको सर्टिफिकेट देने मे भी देर नही लगाते। श्री प० दीनानाथ जी शास्त्री के शब्दो मे 'अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए ये लोग कभी किसी अप्रसिद्ध ग्रन्थ की टीका तक भी मान लिया करते हैं तो कभी प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक मूल ग्रन्थ को भी मानने से इन्कार कर दिया करते है। यदि ऋग्विधान, भूत-प्रेतादि का वर्णन कर दे तो इनके मत मे वह अप्रमाण हो जाता है और यदि कही स्त्री को जप-विशेष लिख दे प्रमाण हो जाता है', अस्तु अब पाठक उन प्रमाणाभासो का परीक्षण करे।

प्रमाणाभास-निरास

(क) यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय चारणाय च ॥

(यजु २६।२)

(दयानन्द भाष्यानुसारी अर्थ) हे मनुष्यो ! जैसे मै ईश्वर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अपने स्त्री सेवकादि और उत्तम लक्षण युक्त अन्त्यजादि के लिए भी ससार मे प्रकट की हुई चार वेदरूप वाणी का उपदेश करता हूँ वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार का उपदेश करे।

दयानन्द सरस्वती कृत उपरोक्त अर्थ को जब हम आलोचना की कसौटी पर कसते हैं तो हमे ज्ञात होता है कि या तो वे अपनी वेदानभिज्ञता के कारण इस अर्थ के करने मे पर्वतायमान भूल कर गये है या उन्होने वेदो का 'मुताअला' करने वाले अग्रेजीदा बाबुओ को बहकाने के लिये जान-बूझकर अर्थ का अनर्थ कर डाला है। यह अर्थ न केवल उनके उर्वर (?) मस्तिष्क

की नवीन कल्पनामात्र ही है किन्तु विरुद्धार्थता असम्भवता, पुनरुक्ति, वदतोव्याघात, आदि समस्त दोषो का एकत्र संग्रह भी इसमे वखूवी देखा जा सकता है। वेद जैसे प्रामाणिक ग्रन्थ का भाष्य करते हुए भी वे उसमे अपनी ओर से नये पद जोड़कर अर्थ विकृत करने मे नही चूके। इस मन्त्र मे 'हे मनुष्यो !' 'मैं ईश्वर' 'स्त्री सेवकादि' 'उत्तम लक्षण युक्त अन्त्यजादि' 'इस संसार मे प्रकट की हुई चार वेदरूपी वाणी को' 'वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करे' यह सभी शब्द स्वामी जी के अपने ही हैं, इन अर्थों को बतलाने वाले शब्द प्रकृत मन्त्र मे कोई भी नही हैं। इस विषय मे सबसे मजे की बात यह है कि स्त्री शूद्रो के वेदाध्ययन के समर्थन में उपस्थित किया जाने वाला यह मन्त्र आधा है। पूरा मन्त्र उपस्थित करने पर कही इस अर्थ की कलई न खुल जाय इसलिए इसे इतना ही उपस्थित किया जाया करता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्। अयं मे कामः समृध्यताम्। उपमा अदो नमतु। (यजु २६।२)

पूरे मन्त्र का अनुशीलन करने पर पता चलता है कि न तो इस मन्त्र का वक्ता ईश्वर है और नाही इसमे सबको वेद का समान अधिकार देने की गन्ध ही। किसी मन्त्र के वास्तविक अर्थ को समझने की कसौटी है, उस मन्त्र के ऋषि देवता और विनियोग का ज्ञान। इन तीनो वस्तुओ को जाने विना मन्त्र का वास्तविक अर्थ नही जाना जा सकता। प्रकृत मन्त्र का देवतादि निर्णय करते हुए स्वामीजीने अपने भाष्य मे लिखा है—

'यथेमा इत्यस्य लौगाक्षी ऋषि ईश्वरो देवता।' इससे हमे पता चला कि इस मन्त्र का साक्षात्कार करने वाला ऋषि लौगाक्षी है और देवता ईश्वर। देवता का क्या अर्थ होता है यह भी समझ लेना चाहिये। **"या उच्यते सा देवता"** या **"यत्काम ऋषिर्यस्या देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुति प्रयुङ्क्ते तद्दैवत स मन्त्रो भवति"**—इस निरुक्त वचनानुसार वेद मन्त्र मे प्रतिपाद्य विषय अथवा स्तोतव्य या सम्बोध्यमान देव का नाम ही देवता होगा। जो प्रतिपादक अथवा सम्बोधयिता होगा वह ऋषि होगा। सीधे शब्दो मे वर्णन करने वाला ऋषि और जिसका वर्णन हो वह देवता।

जब 'यथेमाँ' मन्त्र का देवता 'ईश्वर' है तो वह प्रतिपाद्य होगा प्रतिपादक नही, ऋषि से स्तोतव्य होगा स्वय स्तोता नही, ऋषि द्वारा उक्त होगा स्वय वक्ता नही। जब वह वक्ता नही तब —'मनुष्यो! जैसे मैं ईश्वर 'इत्यादि स्वामी दयानन्द कृत अर्थ कैसे सघटित हुआ। ऐसा अर्थ करने से तो ईश्वर इस मन्त्र का वक्ता अर्थात् ऋषि बन गया, देवता कहा रहा ? और फिर मन्त्र के उत्तरार्ध मे विद्यमान—**'प्रियो देवाना भूयासम्'**—देवताओ का प्यारा बनू, **'अय मे काम समृध्यताम्'**—यह मेरी कामना पूरी हो, **'माम् अद उपनमतु'**—वह फल मुझे प्राप्त हो यह सब कामनाए क्या आप्तकाम ईश्वर करता है ? और किस के प्रति ? कितना आश्चर्य है कि यह मामूली बात भी स्वामीजी और उनके अनुयायियो की विशाल बुद्धि मे न समा सकी।

इस बात का स्पष्टीकरण इससे अगले मन्त्र से और भी अच्छी तरह हो जाता है। **'यथेमा वाच'** यह यजु के २६वे अध्याय का दूसरा मन्त्र है। इससे अगला मन्त्र है-**'बृहस्पते अतियदर्यो'**

तदस्मासु द्रविण घेहि चित्रम्' (यजु: २६।३) इस मन्त्र का भी देवता स्वामीजी ने ईश्वर को ही माना है। इसलिए दोनो मन्त्रो से समान रूप से या तो ईश्वर वाच्य होना चाहिए या वक्ता। यह कदापि सम्भव नही, कि एक मन्त्र मे तो ईश्वर स्वयं वक्ता हो और अगले मे वर्ण्य या स्तुत्य हो। इस मन्त्र मे स्पष्ट ही ईश्वर से ऋषि प्रार्थना कर रहा है कि 'हे वृहस्पते मुझे धन दे।' क्या कोई इसका यह अर्थ करने का साहस कर सकता है कि 'हे वृहस्पति ! मैं ईश्वर तुझ से धन की याचना करता हूँ'—जैसा कि पूर्व मन्त्र मे किया है।

तात्पर्य यह है कि 'यथेमां वाच' मन्त्र के वक्ता चू कि स्वामी जी के मतानुसार लौगाक्षी ऋषि हैं इसलिए इस मन्त्र मे पठित आवदानि=कहूँ-क्रिया के कर्ता भी वही हैं। इस 'आवदानि' क्रिया का कर्म 'वाच=वाणी है। फलत वह लौगाक्षी कर्तृक वाणी हुई न कि ईश्वर कर्तृक चारो वेद रूपी वाणी। जब इस मन्त्र मे वेद रूपी वाणी की चर्चा ही नही रही तब इससे सबको वेदाधिकार मिलने का स्वप्न देखना कितना अविचारपूर्ण है, इसे सहज ही समझा जा सकता है। इस मन्त्र का अर्थ करने की धुन मे स्वामीजी ऐसे भूले है कि उन्हे ध्यान ही नही रहा कि वे तो ईश्वर को निराकार मानते हैं फिर उसके स्त्री सेवक नौकर चाकर आदि कहा से आयेंगे जो कि इस मन्त्र के भाष्य मे उन्होंने लिख मारे हैं।

सक्षेप मे—यह मन्त्र न ईश्वर प्रोक्त है और न सबके लिए वेदाध्ययन का ज्ञापक ही। वेद वाणी का तो यहा कोई प्रसग ही नही, न ही अधिकारी अनधिकारी चर्चा का यह स्थल है क्योकि ग्रन्थ के मध्य मे इस चर्चा का क्या प्रसग ? यहा तो ऋषि की ओर से परमात्मा के प्रति प्रार्थना की गई है कि जिस प्रकार मैं 'दीय-

ताम्, भुज्यताम्' यह जनहितकाहिणी वाणी, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, शूद्र आदि को कहू अर्थात्—'लीजिये खाइए' आदि कहने के योग्य बन सकू (ऐसी आप कृपा करें)। आशा है इन कतिपय पक्तियो से इस मन्त्र से वेदाधिकार सिद्ध करने वालो का समाधान हो जायेगा।

(२)–(क) यज्ञं दधे सरस्वती।

(ख) सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमानो।
सरस्वतीं सुकृतोऽह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वीर्यधात्॥

(ऋग् १०।१७।७)

उपरोक्त दोनो मन्त्रो मे पठित सरस्वती शब्द का अर्थ सामान्य मानुषी स्त्री करके इस मन्त्र से उन्हे यज्ञ मे बुलाना सिद्ध की जाने की चेष्टा की जाती है किन्तु यहां पठित सरस्वती शब्द 'वागधिष्ठात्री' देवता का अपर पर्याय है और उनका ही आवाहन विवक्षित है, मानुषी स्त्री का नही। वही यजमान के लिए वीर्य= पराक्रम देने वाली है।

३—तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवा पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः।

इस मन्त्र मे पत्नी के साथ यज्ञ मे जाने का विधान किया गया है जो सर्वथैव पान्य है। अवश्य ही उसे साथ लेकर यज्ञ करना चाहिए किन्तु इसमे वेदाध्ययन का तो कोई प्रसग ही नही। मन्त्र मे तो सोना पासे आदि भी पठित है क्या वे भी वेद पढते है।

४—अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः

का समाधान भी पूर्ववत् है और सनातन धर्म की दृष्टि से पत्नीशून्य यज्ञ अयज्ञ ही है। तभी श्री रामचन्द्र जी ने स्वर्ण की

प्रतिमा सीता को पत्नी की प्रतिनिधि बनाकर यज्ञ को पूरा किया था ।

५—प्रावृतां यज्ञोपवीतनीम् (गोभिल २ । १ । १)

कहा जाता है गोभिल के इस सूत्र मे स्त्री को यज्ञोपवीत वाली बताया गया है जिससे उसका यज्ञोपवीत सिद्ध होता है, किन्तु वस्तुत इसका अर्थ है 'वस्त्र को यज्ञोपवीतकी भाति पहिनी हुई ।' यह विवाह का प्रसग है । वर ने कन्या को एक वस्त्र दिया है जिसे उसे यज्ञोपवीत की तरह डाल लेना चाहिए । तभी श्री स्वामीजी ने इस की व्याख्या मे लिखा है—'ॐ **या अकृन्तन्** **अवयन्**' इस मन्त्र को बोलकर वधू को वर उपवस्त्र देवें, वह (वधू) उस वस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे ।' यहा वास्तविक यज्ञोपवीत की कोई कथा नही है ।

६—निर्मन्त्रास्तु क्रियाः सर्वा विवाहस्तु समन्त्रकः । (मनु)

कहा जाता है इस श्लोकमे स्त्रियो के विवाह के समय मन्त्र पाठ पूर्वक संस्कृत होने का विधान है । वादी के इस कथन से हम सहमत है परन्तु कतिपय मत्र विशेष के बोल लेने मात्र से उसे सम्पूर्ण वेद का अधिकारी समझ लेना भूल है । इस प्रकार के मत्र तो यज्ञोपवीत हुए विना यदि किसी बालक का पिता मर जाय तो उससे भी प्रेत कर्म मे बुलवाने का विधान है । क्या एतावता यह मान ले कि यज्ञोपवीत के विना भी वेद पढा जा सकता है ?

७—स होत्रं स्म पुरा नारी समनं वावगच्छति ।

कहा जाता है इस मन्त्र मे स्त्रियो को पुरुषो के समान यज्ञ मे जाने का विधान किया गया है, परन्तु वास्तव मे यह मन्त्र इन्द्राणी

के विषय मे है। नारी का अर्थ यहा इन्द्राणी से ही है, यह बात इसके उत्तरार्ध को पढने से स्पष्ट हो जाती है, यथा—वेधा ऋतस्य वीरिणी इन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः' स्पष्ट ही इस मन्त्र मे इन्द्र और उसकी पत्नी का वर्णन है।

८—अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर।
मानेकशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ ॥
(ऋ० ८। ३३। १९)

तथाकथित सुधारक अर्थ—जो स्त्रिया विद्याभ्यास करके उद्धृत नही होती जो अपने घुटने को ढककर चलती है और अपने पैर ऊ चा नीचा देखकर रखती हैं··· · वे योग्य आचरण वाली ब्रह्मा तक बन सकती है' यह अर्थ कितना सगत है इसे साधारण लघुकौमुदी पढा लिखा छात्र भी समझ सकता है। 'पश्यस्व' का अर्थ 'देखती है' किस व्याकरण के अनुसार शुद्ध हो सकता है यह वे ही जाने। यह अर्थ कपोल कल्पित है और 'तरुतारम्' से तार विद्या सिद्ध करने के समान है। इसका वास्तविक अर्थ है—'तू नीचे देख,ऊपर न देख, पैरो को ठीक रख, तेरे अग न दीखें, आत्मा ही तुझ मे स्त्री रूप मे प्रकट हुआ है।' यह स्त्री को शिक्षा दी जा रही है न कि उसे ब्रह्मा बनाया जा रहा है।

९—भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता (ऋ० १०। १०९। ४)

यहा जाया और उपनीता इन दो शब्दो को देख लोग भ्रम मे पड जाते हैं, वे नही सोचते कि यहा जाया शब्द के साथ 'भीमा' अर्थात् भयङ्कर विशेषण भी तो है उसकी क्या सगति होगी ? 'यज्ञोपवीत धारण करके ब्राह्मण की पत्नी भयङ्कर सबला बन

जाती है' इस अनर्थ से तो उपवीत वडी विचित्र वस्तु ठहरी जिसे धारण करते ही सौम्य भी पत्नी भयकर वन गई और परमात्मा का शुकर करो कि यह तो ब्राह्मण की पत्नी थी जो उपवीत की करामात से भयकर ही वनकर रह गई, यदि क्षत्रिय और वैश्य की होती तो शायद राक्षसी वन जाती ! वलिहारी ऐसे अर्थ की ।।

१०—ततः शैलवरः सोऽपि प्रीत्या दुर्गोपवीतकम् ।
कारयामास सोत्साहं वेदमन्त्रैः शिवस्य च ।। (शि पु)

कहा जाता कि यह श्लोक प्रमाणित करता है कि शिव और पार्वती का यज्ञोपवीत हुआ था ।

यह श्लोक पार्वती के विवाह प्रसग का है तो क्या उनका विवाह मे यज्ञोपवीत हुआ था । यज्ञोपवीत विवाह मे हुआ करता है या ब्रह्मचर्याश्रम मे ? यदि विवाह मे, तो वह स्त्री घरके काम करेगी या गुरुकुल मे पढेगी ? इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि दुर्गोपवीत नामक एक कर्म विशेप है जो शिव का हुआ था पार्वती का नही ।

११—यज्ञोपवीतमार्गेण छिन्ना तेन तपस्विनी ।
सा पृथिव्यां पृथुश्रोणी पपात प्रियदर्शिनी ।।
(वा० रा० ६ । ८१)

वाल्मीकि रामायण के उपर्युक्त श्लोक मे श्री रामचन्द्र जी के सामने रावण द्वारा मायामयी सीता का वध करने का उल्लेख है। वादीका कथन है 'उस समय सीता को यज्ञोपवीत के समीपसे काट दिया' किन्तु वास्तव मे सीता के गले मे यज्ञोपवीत की कोई चर्चा नही । इसका तात्पर्य है कि मायवी रावण ने सीता के

शरीर को बाये कंधे से लेकर दाहिनी कोख तक अर्थात् जैसे यज्ञो-पवीत पहिना जाता है उस ढग से अपने खड्ग से दो टुकडे कर दिया। यहा सीताके सूत्रमय यज्ञोपवीत आदि का कोई प्रसग नही।

१२–सन्ध्याकालमना श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदी चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी॥ (वा. रा.)

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए सभी टीकाकारो ने सीता को सन्ध्याकाल के समय किए जाने वाले कृत्य—स्नान भगवद्-ध्यान आदि के लिए ही उस सुन्दर नदी पर आने की सम्भावना परक अर्थ किया है। यह प्रात काल के समय की बात है। सीता-न्वेषण रत हनुमान जी सुन्दर जलवाली नदी को देखकर विचार कर रहे हैं, कि अगर सीता लका मे है तो अवश्य ही स्नानादिके लिए इस सरिता पर आएगी ही। सन्ध्या शब्द यौगिक है जिस का सीधा अर्थ है भगवान् की सम्यक् प्रकार से ध्यान करने की कोई भी पद्धति। सो इससे सीता का वेदाध्ययन कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

१३–अग्निं जुहोतिस्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला।(वा०रा०)

इस श्लोक मे 'जुहोतिस्म-हवन करती थी' इस पद को देखकर कुछ लोगो मे बडा भ्रम हो जाता है। श्री वाल्मीकि जी महाराज ने मूलमे ही इस भ्रमका निराकरण कर दिया है जिसका ज्ञान पूर्वा-पर प्रसग देखने से भली भाति हो जाता है। यह प्रसग श्री राम-चन्द्रजी के राज्याभिषेक समारम्भ समय का है जिसकी निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए कौशल्या ने ऋत्विजो को बुलाकर हवन कराया। इस श्लोक मे कहा गया है कि 'जब श्री रामचन्द्रजी

माता के पास पहुँचे तो उन्होने उसे हवन करवाती हुई देखा' जैसा कि अगले श्लोक के 'हावयन्तीं हुताशनम्' से महर्षि ने स्पष्ट कर दिया है। प्रकृत श्लोक मे भी अन्तर्भावितण्यर्थ 'हु' धातु का प्रयोग समझना चाहिए तब भ्रम का कोई कारण नही रह जाता।

१४—कुछ लोग गार्गी मैत्रेयी आदि ब्रह्मवादिनी एव वेदो का साक्षात्कार करने वाली ऋषिकाओ के उदाहरण देकर अपने इस पक्ष की पुष्ट करना चाहा करते है किन्तु इस प्रकार के अपवादो से सामान्य नियम का सर्वथा विनाश नही हो सकता। अपनी पूर्वजन्मोपार्जित अलौकिक प्रतिभा एव मेधा के कारण यदि किन्ही स्त्रियो के हृदय मे वेद का साक्षात्कार होगया हो तो एतावता क्या उनका गुरु सम्प्रदाय द्वारा विधिवत् वेदपाठ स्वीकार कर लिया जाय ? जहा तक मन्त्र साक्षात्कार का प्रश्न है तो अनेको ऋचाओ का साक्षात्कार कबूतर कुत्ती आदि को भी हुआ है। वेदमे 'कपोत सूक्त' 'सरमा सूक्त' आदि ऐसे ही सूक्त है, क्या इनसे हम समझले कि कबूतर और देवताओ की कुत्तो 'सरमा' ने गुरु चरणो मे विधिवत् बैठकर वेद का स्वाध्याय किया था ऐसा कहना महाभूल होगी। यह तो पूर्वजन्मार्जित अलौकिक मेधा के परिस्फुरण का ही प्रभाव था कि उनके हृदय मे भी मन्त्रो का साक्षात्कार हो सका। यह सर्वत्र सम्भव नही, इसलिए ऐसे उदाहरणो द्वारा स्त्री सामान्य को वेदाधिकारिणी ठहरा देना कहां तक सगत है इसे पाठक सहज ही समझ सकते है।

इस प्रकार हम यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन के विषय मे सागोपाग विवेचन करने के अनन्तर इस प्रकरण को यही समाप्त करते हैं। * * *

समावर्तन संस्कार विचार

वैदिक-स्वरूप

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ।।

(ऋ० ३ । ८ । ४)

जब पुरुष यज्ञोपवीत के अनन्तर पूर्ण ब्रह्मचर्य से युक्त होकर युवावस्था प्राप्त कर (समावर्तित हो जाने पर) सुन्दर वस्त्र धारण कर के गृहस्थाश्रम मे आता है इस नवजन्म को प्राप्त करके वह कल्याणयुक्त हो जाता है और धैर्यशाली विद्वान् पुरुष उसे उन्नति की ओर ले जाते है ।

गुरुगृह या शिक्षालय मे रहते हुए यथाविधि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करके शिक्षा सम्पूर्ण कर लेने पर शास्त्रकारो ने समावर्तन सस्कार का विधान किया है । यह आज भी किसी न किसी रूप मे प्रचलित है जिसे कन्वोकेशन (Convocation) या दीक्षान्त समारोह के नाम से स्मरण किया जाता है, किन्तु इसके वैदिक और वर्तमान-कालिक रूप मे आकाश पाताल का अन्तर है । आज इस अवसर पर दिये जाने वाले भाषणोमे स्नातक युवको के लिए का न कोई सयमित जीवन की शिक्षा न आदर्श-जीवन का कोई चित्रण ही । यही कारण है कि आधुनिक शिक्षणालयो–जिन्हे दूसरे शब्दो मे विलासिता तथा व्यसिनो का केन्द्र भी कहा जा सकता है—से निकलने वाला साक्षरवर्ग अपने चरित्र-दौर्बल्यके लिए काफी बदनाम है । आधुनिक शिक्षाके ये केन्द्र

चरित्रगठन ब्रह्मचर्य आदि की शिक्षा के सर्वथा अभाव के कारण देश के लिए बलशाली नागरिक उत्पन्न करने मे सर्वथा अक्षम हैं। इनसे निकलने वाले अधिकाश युवक युवावस्था मे ही जर्जर तथ' अस्थि पजर मात्रावशिष्ट देह यष्टि को पतलून और कोट के आवरण मे छिपाए देश मे क्षयवृद्धि के कारण बन रहे हैं।

गम्भीर दृष्टि से देखा जाय तो क्षय का मूल कारण सस्कार परम्पराओ के लुप्त होने मे ही है। ब्रह्मचर्य एव तपोबल सम्पन्न महर्षियो के आश्रमो का स्थान आज स्कूल और कालेजो ने लिया हुआ है। इनमे शिक्षा देने वाले रसिक एव सहृदय अध्यापक तथा प्रोफेसर महानुभाव ही जब स्वय विषय वासनाओंके दास होते हैं और सिनेमा नाच गाने आदि मनोरजक अवसरो पर बढ चढ कर अपनी रसिकता का परिचय देते है तब उनके शिष्यो मे ब्रह्मचर्य की भावना के स्वप्न देखना निरी मूर्खता ही तो है। फलत. स्कूल एव कालेजो के विषाक्त वातावरण मे पले हुए वे युवक जब शिक्षा समाप्त कर बाहर आते हैं तब अबाधगति से विषय भोग मे प्रवृत्त होकर क्षय को निमत्रण देते है। पुरातनकाल मे समावर्तन सस्कार के अवसर पर जहा स्नातक को एक सभ्य नागरिक बनने के लिए उपयुक्त शिक्षाये दी जाती थी वहा **'प्रजायै गृहमेधिनाम्'** का अनुपपम आदर्श उसके सामने रखकर उसे गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होने की अनुमति देते हुए भी सयम का पुनीत पाठ सिखाया जाता था।

इस सस्कार के अवसर पर निम्नलिखित क्रियाओ का विधान शास्त्रकारो ने किया है यथा—गृहयज्ञ, ८ घटो द्वारा दीक्षान्तस्नान, वस्त्रालंकार धारण एव दीक्षान्त उपदेश, यह सभी क्रियाएं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण है और अत्यन्त महत्वशाली हैं।

ग्रह पूजनादि के विषय मे हम पिछले अध्यायोमे पर्याप्त वर्णन कर आए हैं और बतला आए हैं कि हमारे इस मानव जगत् से दूर रहते हुए भी सूर्य चन्द्रादि ग्रह किस प्रकार इस पर अपना प्रभाव डालते है आदि २।

आठ घटों द्वारा जलाभिषेक—

आठ घटो द्वारा जलाभिषेक इस सस्कार का मुख्य अग है। यह आठो घट पूर्वादि आठो दिशाओ मे क्रम से रख दिये जाते है और अभिमन्त्रित जल से समावर्तन कराने वाले ब्रह्मचारी को स्नान करना पडता है। वेदमन्त्रो से अभिमन्त्रित यह जल आध्यात्मिक शक्ति से पूरित होने के कारण स्नातक को शक्ति-सम्पन्न तो बनाता ही है साथ ही उसको भावि गृहस्थ जीवन मे भी उन आठ मैथुनो से सावधान रहने की प्रेरणा देता है जो (अष्ट मैथुन) ब्रह्मचर्याश्रम मे उसके लिए सर्वथा त्याज्य थे। यद्यपि इस अवसर पर स्नातक, अपनी ब्रह्मचर्यावस्था के सम्पूर्ण कठोर नियमो को समाप्त कर गृहस्थ मे प्रवेश का अधिकारी बन रहा होता है, कोट कमीज, जूता, छतरी, अलकार, सुगन्धित तैल पुष्पमाला आदि वे सभी वस्तुये जो उसके लिए अभी तक सर्वथा त्याज्य थी स्वय गुरु द्वारा उसे धारण करवाई जा रही हैं किन्तु एतावता यह न समझ लेना चाहिये कि अब उसे सब बातो की खुली छुट्टी दी जारही है कि वह चाहे कुछ करे और अपने उस जीवन को 'सद्गृहस्थ' बनाने मे लगाने की बजाय विषय-लम्पट और आवारा बनाने मे लगादे। गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने पर भी उसे पर-स्त्री ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीडा, दर्शन आलिंगन, एकान्त वास और समागम रूप आठ मैथुनो से सर्वदा इसी प्रकार बचना

चाहिए, जैसे कि वह ब्रह्मचर्यावस्था मे बचता रहा है। इस महत्वपूर्ण शिक्षा को हृदयगम्य कराने के लिए ही शास्त्र ने ८ घटो के जल से स्नान करने का विधान किया है जिससे ८ की सख्या हृदय मे सर्वदा स्मरण रहे और युवकवर्ग उससे बचता हुआ अपने गृहस्थ को सुखमय बना सके।

इस महत्त्वपूर्ण शिक्षा से बेखबर रह जाने के कारण आधुनिक युवको का गृहस्थ जीवन दु खमय बन जाता है। विवाह के बाद घर मे आनेवाली भोली भाली पत्नी को जब मालूम पडता है कि पतिदेव को तो कालेज की जिन्दगी से ही 'ताक-झाक' का चस्का है और उसके घर मे होने पर भी न जाने किसके विरह के गीत गुनगुनाते रहते है तो उसके हृदय पर वज्र-पात हो जाता है। इससे ऊपर की यदि किसी घटना का उसे भान हो जाय तो फिर उसका हृदय इस गृहस्थी से फट जाता है घर मे क्लेश रहने लगता है और अन्त मे 'तू तू मै मैं' होने के बाद तलाक की नौबत आती है।

इस शिक्षा पर समुचित ध्यान न देने का दूसरा परिणाम यह होता है कि स्त्रियो के निरन्तर चिन्तन कथा सम्भाषण दर्शनादि विकारो से युवकवर्ग का चारित्रिक पतन हो जाता है और वह तरह २ की बीमारियो का ग्रास बन जाता है इसलिए इस आठ की सख्या पर सर्वदा ध्यान रहे यही इस क्रिया का उद्देश्य है।

वस्त्रालङ्कार-धारण

मानव जीवन मे वस्त्र अलङ्कारादि का उत्कृष्ट स्थान है। गर्मी वर्षा आदि से शरीर को बचाकर यह उसके विकास मे ही सहायक नही होते अपितु उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि मे भी

सहायक सिद्ध होते है। उत्तम-वस्त्र उत्तम जीवन स्तर के सूचक समझे जाते है और उनमे मनुष्य के विचारो, उसकी आर्थिक स्थिति आदि की पर्याप्त झलक देखने को मिल जाती है यह सुन्दर भाव किसी कवि ने—

'वासः प्रधान खलु योग्यतायाः'

आदि प्रसिद्ध पद्य मे व्यक्त किया है कि वस्त्रो से मनुष्य की परिस्थिति तथा योग्यता को पहिचाना जाता है और उसी से मनुष्य का आदर होता है। समुद्रने भगवान् विष्णु को तो सुन्दर पीताम्बरधारी देखकर अपनी पुत्री लक्ष्मी समर्पित की और भगवान् शकर को दिगम्बरत्व (वस्त्ररहित) के कारण हलाहल विष।

उपरोक्त सूक्ति मे कवि ने उत्प्रेक्षा द्वारा वस्त्रालकारादि के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाल दिया है। ब्रह्मचर्यावस्था के दश बारह वर्षों मे स्नातक को धोती कौपीन गाती आदि साधारण वस्त्रो मे ही रखा गया है। पुष्पमाला, अलकार, तेल, साबुन, अजन, दर्पण आदि वस्तुओ से उसका सख्त परहेज था। बारह वर्ष के दीर्घकालिक अभ्यासवश यदि स्नातक इन वस्तुओ के प्रति उपेक्षा तथा अरुचि का भाव रखने लग जाए तो यह कोई आ-श्चर्य नही होगा। किन्तु जिस जीवन मे अब वह पदार्पण कर रहा है उस जीवन मे ये वस्तुएँ उसके लिए हेय नही किन्तु ग्राह्य है। इनके विना एक सीमा तक अब वह अपने समस्तर समाज मे आदर का अधिकारी नही बन सकता, साथ ही उनके प्रयोग से होने वाले लाभ से वचित रहकर वह अपने शरीर की सुरक्षा को भी खतरे मे डाल देता है इसलिए उस सस्कार के अवसर पर आचार्य स्नातक को विधिवत् मन्त्र पाठपूर्वक वस्त्रादि धारण

करवा मानो अपने शिष्य को भावि गार्हस्थ्य जीवन मे इन वस्तुओ के प्रति अरुचि न रखने की शिक्षा दे रहा है।

इस अवसर पर पढे जाने वाले सभी मन्त्रो मे अमुक अमुक वस्तुओ के गुणो का पर्याप्त वर्णन मिलता है जिससे उनके महत्त्व को भली प्रकार समझा जा सके।

दीक्षान्त उपदेश—

यो तो आचार्य निरन्तर ही शिष्य को उपदेश देते रहे हैं किन्तु इस अवसर का उनका उपदेश अत्यधिक महत्वपूर्ण और गम्भीर है। उनके एक एक वाक्य मे समस्त जीवन के अनुभव का निचोड निहित है और उनके द्वारा दिया गया उपदेश चाहे हमे साधारण सी बाते मालूम पडे किन्तु इन साधारण सी शिक्षाओ मे मनुष्य जीवन को बनाने और बिगाडने की अतुल शक्ति विद्यमान है। आचार्य का यह सदुपदेश जो कि शिक्षा के रूप मे शायद अन्तिम वार दिया जा रहा है केवल इसी अभिप्राय से दिया जाता है कि स्नातक के हृदय मे सर्वदा स्मरण रहे और जीवन मे वह उसका उपयोग करे।

हम ग्रन्थ विस्तार भयान् इस उपदेश को उद्धृत करना उचित नही समझते, पाठक सस्कार पद्धतियो मे इसे देख सकते हैं।

विवाह संस्कार विचार

वैदिक-स्वरूप

(क) गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथा सः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ (अथर्व १४।१।५०)

(ख) ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः । मया पत्या प्रजावति, संजीव शरदः शतम् ॥ (अथर्व०)

अर्थात्—(क) हे शोभने मैं ऐश्वर्य की वृद्धिके लिए तेरे हाथ को ग्रहण करता हू, तू मेरे साथ वृद्धावस्था तक सुख पूर्वक निवास कर । भग अर्यमा सूर्य इन्द्र आदि देवताओ ने तुझे गृहस्थ धर्मके लिए मुझे दिया है । (ख) यह पत्नी मेरे द्वारा पोषणीया बने । हे शुभे ! देवगुरु बृहस्पति ने तुझे मुझे दिया है । हे प्रजावति, तुम मुझ पति के साथ सौ वर्ष तक कल्याणपूर्वक जीवित रहो ।

षोडश सस्कारो मे सब से मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण सस्कार 'विवाह' है । यह सस्कार न केवल सम्पूर्ण आश्रमो और वर्णों का मूल आधार है किन्तु समस्त सृष्टि का ही मूल कारण है । विशद दृष्टिकोण से देखने पर हम कह सकते है कि विवाह= स्त्रीत्व पुरुषत्वयुक्त दो विभिन्न पदार्थो का सयोग—एक प्राकृतिक सस्कार है जिसकी प्रक्रिया समस्त भूमण्डल मे नैसर्गिक रूप से विस्तृत है । जगत् के छोटे से छोटे अणु से लेकर बडे से बडे पदार्थ का उद्भव इसी प्रक्रिया द्वारा होता है । मानव, पशु, पक्षी, आदि की चर्चा ही क्या, वनस्पति ओषधि लता आदि उद्भिज्जो का जन्म भी इसी स्त्री पुरुष सयोगात्मक प्रक्रिया से ही होता है। मानव पशु पक्षी आदि स्थूल प्राणधारियो का सयोग तो प्रसिद्ध ही है किन्तु बहुत कम व्यक्ति इस बात से परिचित होगे कि सभी प्रकार के फल, अनाज, धान्य, फूल औषधि आदि भी स्त्री पुरुष वनस्पतियो के विवाह अर्थात् सयोग के ही परिणाम है। वृक्ष पौधे आदि भी स्त्री और पुरुष भेद से दो प्रकार के होते है। रज वीर्य की तरह इनके पराग या पुष्परेणु भिन्न २ प्रकार के होते है ।

ऋतुकाल मे प्रकृति वायु द्वारा या मक्खियो भ्रमरो आदि द्वारा उन विभिन्न परमाणुओ को सयुक्त कर गर्भाधान करती है और तव आगे फलादि उत्पन्न होते है। वहुत से पौधो मे एक मे ही दोनो शक्तियो का पृथक् २ निवास होता है और वायु के सचालन से उनका सम्मिलन हो जाता है और इस प्रकार वे फलादि देने मे समर्थ होते है।

इस प्रकार हम देखते है कि यह सम्पूर्ण भूमण्डल ही वैवाहिक भाव पर अवलम्वित है। जहा तक मानव जाति का सम्बन्ध है हम कह सकते है कि यह सस्कार शिक्षित से शिक्षित और असभ्य से असभ्य सभी जातियो मे भिन्न २ प्रकार के रीति रस्मो के वीच सम्पन्न होता है। इस अवसर पर सभी देशो मे समान उल्लास और प्रसन्नता देखने को मिलती है। प्रत्येक देश ने अपनी धारणा के अनुसार कुछ ऐसी क्रियाओ और रिवाजो का निर्धारण किया हुआ है जिसे विवाह कहा जाता है किन्तु यह क्रियाए और रीतिया वैज्ञानिक भित्ति पर स्थिर न होने के कारण अध्यात्मभाव की शून्यता के कारण न केवल दम्पति को विवाह के वास्तविक लाभ से ही वचित रखती है किन्तु उनमे परस्पर अनेक प्रकार की कलह तथा विरोध की सृष्टि करके गार्हस्थ्य जीवन को दु खमय भी वना देती है। यही कारण है कि भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशो ६० प्रतिशत विवाह सम्वन्ध असफल रहते है और वहा के गृहस्थ जीवन को शान्ति एव सुख के स्थान पर सघर्ष, पारस्परिक कलह तथा दु ख का ही सामना करना पडता है।

आर्य जाति के अतिरिक्त दूसरी जातियो मे इस वात को शायद कल्पना भी न की जासके कि विवाह का सासारिक सुख के अतिरिक्त अन्य कोई आध्यात्मिक उद्देश्य भी हो सकता है। वहा तो विवाह का एक ही उद्देश्य समझा जाता है वह है केवल

सासारिक भोगविलास और उसकी सिद्धि के लिए स्त्री पुरुष का शारीरिक सम्बन्ध=इन्द्रियतृप्ति पर्यन्त दो प्राणियोका स्वल्पकालिक लौकिक सम्बन्ध मात्र ही समझती है। परन्तु भारतीय ऋषियो ने इस सस्कार द्वारा न केवल दो शरीरो का ही सम्मिलन चाहा है किन्तु दम्पति के आत्मा, मन, प्राण, शरीर सभी का एकीभाव ही वैदिक विवाह सस्कार की अपनी विशेषता है। इसका उद्देश्य इन्द्रिय-तृप्ति जैसी तुच्छ वस्तु नही, किन्तु आदर्श गार्हस्थ्य धर्म द्वारा मोक्षलाभ करना ही है। आर्य दम्पति समझते है कि उन दोनो का (स्त्री पुरुष का) केवल इस जन्म का ही नाता नही है किन्तु वे जन्म-जन्मान्तर से एक दूसरे के सगी है और सर्वदा रहेगे। यही,—केवल यही भावना है जिसने अनन्तकाल से आर्य गृहस्थ को सुदृढ और सुखी बनाया है। इसी भावना के वश होकर दो अपरिचित प्राणी–जिन्होने कभी एक दूसरे को देखा भी नही होता इस पुनीत सस्कार के सपन्न हो जाने के अनन्तर एक दूसरे को सदा के लिए आत्म समर्पण कर देते हैं। उनकी आत्माएं प्रथम मिलन मे ही एक दूसरे को इतना स्नेह करने लगती है मानो उनका जन्म-जन्मान्तर का सम्वन्ध है। सक्षेप मे महर्षियो की दृष्टि मे विवाह, सासारिक सुख प्राप्ति के लिए इस जन्म मे किया जाने वाला स्त्री पुरुष का (Contract) ठेका नही और न ही सौदा ही, यह तो आत्म-त्याग सयम और आध्यात्मिक भावो का उज्ज्वल आदर्श है।

विवाह की विभिन्न रीतियां—

हमने पीछे कहा है कि यह सस्कार भिन्न २ देशो मे भिन्न २ रीति रस्मो के बीच सम्पन्न होता है। पाठको के अवलोकनार्थ

हम भिन्न २ देश, जातियो और मतो मे होने वाली एतत्कालीन रीतियो का संक्षेप दिग्दर्शन कराना उचित समझते हैं—

विलायत:—मे ईसाई वर वधू इस अवसर पर किसी चर्च मे उपस्थित होते हैं। पादरी के समक्ष वे अपने रूमाल अगूठी आदि बदलते हे और उससे बाईबिल सुनते है जीवन पर्यन्त भलाई बुराई, अमीरी गरीबी बीमारी और तन्दुरुस्ती मे एक दूसरे से मिला रहने, एक दूसरे को प्यार करने और एक दूसरे की खबरगिरी रखने की कसमे खाते हैं। स्त्री के बाए हाथ की अनामिका अगुली मे छल्ला पहिनाते हुए वर कहता है—'इस छल्ला से तुझे व्याहता हू और अपना 'दुनियावी माल' तुझे देता हूं, बाप बेटे और रूह उलकुदस के नाम से'। और इस प्रकार उनकी शादी की रस्म सम्पन्न हो जाती है।

आस्ट्रेलिया:—मे वैवाहिक रस्मो मे वधू का भाई जलता हुआ मशाल लेकर वर के घर जाता है और वर का भाई वधू के के घर पर। इसके अनन्तर उनका विवाह सम्पन्न हो जाता है।

बापर द्वीप:—मे शादी के लिए आवश्यक है कि वर, घने अन्धकारावृत कमरे मे छिपी हुई वधू को ढूढ निकाले। निश्चित समय के अन्दर यदि वह ढूढ निकाले तो शादी हो जाती है अन्यथा नही होती।

बलगेरिया:—मे दूल्हा और दुलहिन शादी से पूर्व एक सप्ताह तक अन्धेरे कमरे मे बन्द कर दिए जाते हैं। इसके बाद दोनो की सम्मति से विवाह सम्पन्न हो जाता है।

जेरुसलम:—मे इस अवसर पर वधू की आखो मे पट्टी

वांध दी जाती है और जब तक विवाह की सब रस्मे पूरी नही हो जाती तब तक नही खोली जाती ।

जापानः——मे स्त्रियो का सफेद कपडा पहिनना अच्छा नही समझा जाता, परन्तु शादी के अवसर पर वहा दुलहिन को सफेद वस्त्रो मे सजाया जाता है। इन कपडो का मतलब होता है कि लडकी अब परकीया हो चुकी है।

मिश्रः——मे विवाह की रस्म पूरी होने तक वर वधू एक दूसरे को बिलकुल नही देख सकते। इस नियम को पालन करवाने मे वहा अत्यन्त कठोरता बरती जाती है ।

कोर्यक और शबरः——नाम की जातियो मे विवाह की रस्म वधू द्वारा बेत की छडी से खूब पीटकर पूर्ण की जाती है। इस मारको वर, विवाहानन्तर सुखकी आशा मे खुशी २ सहते हैं।

तिब्बतः——मे इस अवसर पर वधू को वर का जूठा दूध पिलाया जाता है। उस देश मे विवाह का यही मुख्य नियम समझा जाता है।

महाशयों में विवाह संस्कार की मिट्टी पलीद

विवाह के इस आलोचनात्मक प्रसग मे आर्यसामाजिक विवाह प्रणाली पर दो शब्द लिखना अप्रासगिक न होगा।

पिछले दिनो हमे अपने एक मित्र की कन्या के विवाह मे उपस्थित होना पडा। मित्र महाशय उदारधर्मी थे किसी विशेष धर्म के प्रति उनका आग्रह न था परन्तु वर पक्ष वाले कट्टर समाजी विचारो के थे फलत आर्यसमाजी विधि से ही विवाह होना निश्चित हुआ। विवाह कार्य प्रारम्भ हो गया। वरपूजन,

मधुपर्क-प्राशन गोदान कन्यादानादि सभी विधियें सामने आई। वे ही मन्त्र थे और लगभग वही सब कुछ जैसा कि सनातन-पद्धतियोंमे देखता आ रहा था। रह-रहकर हृदय में यही विचार उठ रहा था कि गणेश पूजनादि आध्यात्मिक अंग को निकाल देने के अतिरिक्त आर्यसामाजिक पद्धति मे अन्य क्या विशेषता ? स्वामीजीने प्रत्येक दिशा मे अपनी डेढ चावल की खिचडी रावने का प्रयत्न क्यो किया ? तभी आर्यसमाज पुरोहित ने किन्ही मस्तराम जी को ऊची आवाज मे पुकारा और आगे आने के लिए कहा। मैंने देखा एक लट्ठधारी हट्टा कट्टा नौजवान बड़ी शीघ्रता से वेदी की ओर लपका जा रहा है। विचारो की सरणी टूटी; मन यह जानने को उत्सुक हो उठा कि इस सुख शान्तिमय मांगलिक वातावरण मे अचानक क्या उपद्रव उठ खडा हुआ जो ये महाशय लट्ठ लिए भीड को चीरते हुए आगे जा रहे हैं। मैं उत्सुकतावश खड़ा हो गया कोई विशेष बात नहीं थी, फेरो की तैयारी हो रही थी। रंग बिरंगे वस्त्रो मे सजी कन्या आगे खडी थी वर उसके पीछे, और इन दोनो के पीछे कन्धे पर पानी का घडा संभाले लट्ठधारी मस्तराम। इस दृश्य से हृदय मे बडा कुतूहल-सा हुआ और तव तो मेरे अचम्भेका ठिकाना न रहा जब मैंने देखा कि मस्तराम तो साथ २ फेरे भी ले रहा है। विवाह पढाने वाले आर्यपुरोहितने जो कि आरम्भ से ही समस्त वैवाहिक विधियो की व्याख्या करके उपस्थित जनता को स्वामी दयानन्द का भक्त बना डालने का शिरतोड प्रयत्न कर रहे थे—लट्ठधारी मस्तराम के सबन्ध में भी कहना आरम्भ किया—

'सज्जनो ! श्रीस्वामीजी महाराजने यह विधि सुरक्षाको ध्यान में रखकर बनाई है। जैसे राजा महाराजाओं के अङ्गरक्षक होते

हैं इसीप्रकार दूल्हा भी चू कि बारात का राजा होता है इसलिए उसके साथ भी एक दृढाग–लट्ठधारी पुरुष, सरक्षक होना चाहिए जो विवाह मे उपद्रव करने वालो का दमन कर सके। कदाचित् हवन की अग्नि वस्त्रादि मे न लग जाय, इसी कारण यह पानी का घडा साथ उठा रखा है जिससे आवश्यकता पडने पर उसे बुझाया जा सके। इसीलिए तो इसका नाम 'दृढ पुरुष' रखा गया है'

वर का राजा होना और लठ्ठधारी जवान अङ्गरक्षक होना किसी अश तक समझ मे आगया किन्तु राजा साहब के अपने अन्त पुर में एकान्त सेवन के समय भी 'बाडी गार्ड' महाशय का दाल भात मे मूसलचन्द बन जाने को प्रस्तुत होना तो समझ से परे की बात थी।

आग के भय को बात भी खूब कही गई! यदि वास्तव मे हवन की अग्नि भडक ही उठे और ईश्वर न करे मण्डप और शामियाने को छू जाए तो फिर उन लठ्ठधारी महाशय का एक छोटा सा पानी का घडा उसे कहा तक बुझा पायेगा? हमारा सुझाव है कि इसके लिए तो आर्यसमाजी भाइयो को पहले ही से कुछ माशकी तैनात रखने चाहिएँ तथा म्युनिसपल कमेटी मे सूचना देकर दमकल (Fire Brigade) को तैयार रहने का प्रबन्ध कर रखना चाहिए जिससे समय पर अग्नि दुर्घटना से रक्षा हो सके। विवाह मे उपद्रव मचानेवाले दल को दवाने के लिए भी एकमात्र बेचारा मस्तराम कहातक सफल हो पाएगा, इसके निमित्त तो पूर्व से ही कोतवाली मे 'नुकसेअमन' की रिपोर्ट करके पुलिस का एक सशस्त्र दल तैयार रखना चाहिए था। मस्तरात के बाडी-गार्ड होने और उसके लठ्ठ तथा पानी का घडा उठाने की तुक तो आर्यपुरोहित ने मिला दी परन्तु यह दोनो काम तो एक जगह

तैनात मस्तराम भी आवश्यकता पड़ने पर कर सकता था, परन्तु भावरी (फेरे) लेने के समय भी वर के साथ २ उसके अग्नि परि-क्रमा करने से तो आर्यसमाज में एक कन्या का दो व्यक्तियों से विवाहा जाना सिद्ध हो रहा है इस अनर्थ का भी कुछ समाधान है ? हो सकता है आर्यसमाज में नियोग की प्रथा का विधान है अत भावि उम्मीदवार पति का स्वत्व स्थापन करने के लिए पूर्व से ही यह उपक्रम किया जाता हो !

विवाह कितने हैं ?

विवाह विधि पर विचार करते हुए भगवान् मनु ने भिन्न २ जातियों एवं देशों में होने वाले विवाहों को अष्टविध विवाहों के अन्तर्गत परिगणित किया है। उनके नाम क्रम से ये हैं—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोधमः ॥ (मनु ३।२१)

अर्थात्—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये आठ प्रकार के विवाह हैं।

उपरोक्त आठों विवाहों में ब्राह्मादि पहिले चार विवाह–जिनमें कि सदाचारी गुणसम्पन्न वर को आदरपूर्वक बुलाकर गृहस्थ-धर्म पालन के लिए कन्या प्रदान की जाती है—श्रेष्ठ माने गए हैं। इसके अतिरिक्त आसुर आदि चार विवाह सर्वथा लोक-निन्दित और निकृष्ट ही हैं।

खेद का विषय है, कि भारतेतर अन्य देशों की भांति आज भारत में भी असुरादि अन्तिम चार प्रकार के विवाहों का प्रचार दिनानुदिन बढ़ता जा रहा है। मनु के—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तित.।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ।।

—के अनुसार पजाबादि कुछ प्रान्तो मे जहा एक ओर वर पक्ष वालो से हजारो रुपयो की रकम ऐंठकर–'कन्या विक्रय' द्वारा इस आसुर विवाह को पर्याप्त प्रोत्साहन मिल रहा है, वहा बगाल विहार आदि दूसरे प्रान्तो मे टीके और दहेज के रूप मे अच्छीखासी रकम कन्यापक्ष वालो से ऐंठने का उद्योग करके 'पुत्र-विक्रय' की एक नई सामाजिक कुप्रथा को पनपने दिया जा रहा है। यह बुराई धीरे २ सम्पूर्ण देश मे फैल रही है। और अन्य स्थानो पर भी लोग देखा देखी ऐसा करने लगे हैं। परिणाम स्पष्ट है, आये दिन न जाने कितनी मूक कन्याएं इस टीके और दहेज की वेदी पर वलि हो जाती हैं। इस सौदेबाजी का दूसरा परिणाम यह है कि एक ओर योग्य किन्तु गरीब युवक पाच हजार की रकम न होने के कारण सुशिक्षित और सभ्य पत्नी नही प्राप्त कर पाते, दूसरी ओर सुशिक्षित कुलीन एव गुण सम्पन्न कन्याए भी पाच हजार की रकम का टीका न दे सकने के कारण अयोग्य पात्रो को सौप दी जाती है, जहा वे जीवन्मृत दशा मे चार २ आसू रो रोकर इस आसुरी सामाजिक कुप्रथा के कारण हिन्दू समाज को कोसती हुई अपना जीवन पूरा करती हैं। आज के समय की सबसे वडी पुकार है कि, न केवल भारतमे ही किन्तु सम्पूर्ण ससार मे ही ब्राह्म विवाह का प्रचलन होना चाहिए जिसके लिए मनु के अनुसार न किसी विशेष रुपए पैसे की आवश्यकता है, न किसी अन्य आडम्बर की। चाहिए केवल एक विशुद्ध खद्दर का वस्त्र, तथा वन से अनायास ही प्राप्त हो सकने वाली पुष्प जल गन्ध आदि पूजन सामग्री। वर को

मागलिक वस्त्र पहिनाकर उसका विधिवत् पूजन सम्मान हो और उसे कन्यादान दे दिया जाए । यथा—

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥(मनु०)

यह है भारतीय विवाह का आदर्श और एक ऐसी प्रणाली जिसे अमीर और गरीव सव भली प्रकार निभा सकते हैं ।

ब्राह्म विवाह बनाम प्रेम विवाह

आधुनिक काल मे प्रेम विवाह (Love Marriage) या मनु के शब्दो मे 'गन्धर्व विवाह' का वर्णन किए विना यह प्रकरण अधूरा ही समझा जाएगा । आज सम्पूर्ण नवशिक्षित समाज मे यही 'गन्धर्व विवाह' लोकप्रियता को प्राप्त हो रहा है । अनेक प्रकार के उपन्यास कथा कहानी तथा ९० प्रतिशत चलचित्रो (Films) द्वारा इसकी महत्ता प्रदर्शित की जारही है और जनता को यह समझाने की कोशिश की जा रही है कि उचित या अनुचित किसी भी रीति से यदि किन्ही स्त्री पुरुषो का आपस में प्रेम—वासनामय आसक्ति, हो जाय तो उनका परस्पर विवाह सम्बन्ध न होने देना सामाजिक अत्याचार है । इस आशय को प्रकट करने के लिए अनेक प्रकार की काल्पनिक रोमाञ्चकारी कथाओ द्वारा इस प्रेम विवाह का समर्थन किया जाता है । यही नही किन्तु आजके पढे लिखे लोगो की धारणा हो चली है कि विवाह से पूर्व ही भावी दम्पतियो का आपस प्रेम सम्बन्ध होना आवश्यक है और तभी उनका विवाह होना चाहिए जव वे एक दूसरे को प्रेम करने लगे । सक्षेप मे आज के जड जगत् का यह वैवाहिक सूत्र वन गया है,

'चू कि अमुक का अमुक से प्रेम होगया है फिर चाहे वह वासना-मय और क्षणिक ही क्यो न हो—अत उन दोनो का विवाह हो जाना चाहिए ।' परन्तु आध्यात्म-प्रधान आर्य जाति का वैवाहिक सूत्र सदा से यह चलता आ रहा है—'क्योकि अमुक कन्या का अमुक वर के साथ अनुभवी अभिभावको की अनुमति से विवाह सबन्ध स्थिर हो गया है अत अब इन दोनो को जीवन भर एक दूसरे से स्थायी प्रेम करना चाहिए ।' सक्षेपत विदेशी जिसे चाहते हैं उसे व्याहते हैं,जबकि भारतीय जिसे व्याहते है उसे चाहते हैं।

'जहा प्रेम-वहा विवाह' धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है और बाह्य सौन्दर्य पर आश्रित होने के कारण स्थायी भी नही है। क्षणिक शारीरिक सौंदर्य या इसी प्रकार के अन्य गुणो की नीव पर खडा होने वाला यह गार्हस्थ्य रूपी प्रासाद स्थायी नही हो सकता। तथा परिस्थिति-वशात् उत्पन्न होनेवाला एक हल्का सा परिवर्तन ही इसे धूलिसात् करने के लिए वस है। जिन विदेशो के अन्धाधुन्ध अनुकरण पर आज प्रेम विवाह, उन्मुक्त प्रेम आदि समाज विरोधी-तत्त्वोका प्रसार हो रहा है इनके कारण उन देशो का गृहस्थ जीवन कितना कष्टमय वन गया है इसे हम देखकर भी नही देख पाते। इस प्रकार के सयम तथा आदर्शहीन क्षणिक प्रेम सम्बन्धो ने वहा विवाहको एक खेल वना दिया है-गुड्डा गुडिया का खेल, जो आज है कल नही। पतिदेव को वाहर काम पर जाने पर हर घडी यह सन्देह बना ही रहता है कि दफ्तर से लौटने पर बीबी मिलेगी भी या नही। इस प्रेमविवाह या उन्मुक्त प्रेम से जो भयङ्कर परिणाम निकलते है और समाज मे जिस अव्यवस्था का प्रसार होता है उसका अनुमान करना भी कठिन है। इस प्रकार के पाशविक प्रेम के परिणामो पर प्रकाश डालते हुए मोलकुस

(Molkus) महोदय ने 'लिटरेरी डाइजेस्ट' मे एक लम्बा लेख लिखा है। वे रूस के विषय मे लिखते है —

"यदि स्त्री पुरुष शादी करना चाहे तो बस 'इच्छा' ही कानून के लिए काफी है। वे चाहे तो उसे रजिस्टर मे दर्ज करादे चाहे न कराएँ यह भी इच्छा पर निर्भर है। सोमवार को शादी होती है तो मगल को तलाक। १६२६ मे १,००,००० स्त्रियो को उनके पति छोड गए, ६०,००० स्त्रियोके बच्चो को 'अपना' स्वीकार करनेवाला कोई नही मिला, १८,००० स्त्रियो ने अदालत मे दरख्वास्त दी कि उन्हे अपने पतियो से बच्चो के भरण पोषण के लिए खर्चा दिलवाया जाय। इस प्रकार २,०८,००० स्त्रियो का कुछ ठिकाना नही मालूम पडता। ये अक सरकारी कागजो के है और जो सख्या सरकारी कागजो मे आने से रह गई है उसका हिसाब ही नही। दो लाख आठ हजार स्त्रियो की सतान का भरण पोषण कौन करेगा ? रूस मे लावारिस बच्चे—जो इस प्रकार की सोमवार को शादी और मगलवार के तलाक से पैदा हुए हैं, ४० लाख की सख्या मे मौजूद हैं। (लिटरेरी डाइ० ६ अगस्त १६२७)

अभी हाल मे ही रूस की एक युवती ने १ घटे मे दो बार विधवा होकर ससार के सामने एक नया रिकार्ड रक्खा है और भारतेतर देशो की गार्हस्थ्य जीवन की अवस्था को नग्न रूप मे संसार के सामने उपस्थित कर दिया है। यथा—

एक घंटे मे दो बार विधवा

'लेनिनग्राड १३ जनवरी ५०

यहा की एक युवती ने १ घटे मे दो बार विधवा होकर

दुनियामे एक नया रिकार्ड कायम किया है। कहा जाता है उसका सैनिक पति बन्दीगृह मे था। युवती को सूचना मिली, कि वन्दी सैनिक छोड़ दिये गए हैं और उसका पति घर लौट रहा है। वह स्टेशन जाने को तैय्यार थी, तभी तार मिला कि उसके पति की मृत्यु होगई है। उस युवती ने तुरन्त अपने दूसरे प्रेमी से शादी कर ली, तभी किसी से पता चला कि वह सकुशल वापिस लौट रहा है। युवती अपने नये प्रेमी को छोड उसे लेने स्टेशन पर गई जहा जाने पर उसने देखा कि वास्तव मे उसका पति मर गया है और उसी नाम का दूसरा बन्दी सैनिक उन मुक्त वन्दियो मे विद्यमान है। वह घर लौटी तो देखा कि उसके निराश प्रेमी ने फांसी द्वारा आत्महत्या कर ली है।

(दैनिक 'अमरभारत' दिल्ली १५-६-५०)

सभ्य राष्ट्रो की सामाजिक दशा के उपरोक्त दयनीय चित्र हमारी आखे खोल देने के लिए पर्याप्त है। इनसे हमे शिक्षा लेनी चाहिए और विदेशी आदर्शो के अन्धाधुन्ध अनुकरण की दुष्प्रवृत्ति का परित्याग करना चाहिए। आज की सबसे वडी आवश्यकता यही है कि इस प्रकार के विचारो को वढावा देने वाले उपन्यास नाटको और सिनेमा चित्रो को सर्वथा रोका जाय और सर्वत्र विवाह के ब्राह्मरूप का ही प्रचार होना चाहिए। आर्य जाति ने दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि प्रेम मूलक विवाह न होकर विवाह मूलक प्रेम ही श्रेयस्कर है। महाभारत रामायणादि ग्रन्थ इस सिद्धान्त की पुष्टि करते है क्योकि क्षत्रियो मे प्रचलित स्वयम्वर प्रथा से होने वाले सभी विवाहो का परिणाम अन्तमे बुरा ही निकला। शकुन्तला दुष्यन्त, नल दमयन्ती की कौन कहे, सीता और द्रौपदी के स्वयम्वरो का परि-

णाम महायुद्ध के रूप मे जन-सहारक ही सिद्ध हुआ। संयोगिता के स्वयवर का कुपरिणाम तो जयचन्द और पृथ्वीराज के पारस्परिक विरोध की सीमा लांघकर समस्त भारत को अन्यून एक सहस्त्र वर्ष तक विदेशी दासता के अभिशाप रूपमे भोगना पड़ा।

विवाह कब ?

विवाह की अवस्था के विषय में आज ससार मे एक विचित्र हास्यास्पद स्थिति दिखलाई देती है। एक ओर हमे इस प्रकार के विवाह देखने को मिलते हैं जिनमे वर वधू की अवस्था इतनी छोटी होती है कि उन्हे उस विवाह मे सिवाय चहल पहल, सुन्दर भोजन और कुतूहल-जनक तमाशे के अन्य कुछ ज्ञात नहीं होता। दूसरी ओर विलवित विवाह की प्रवृत्ति ज़ोरो पर है जिसके अनुसार लडकियो को बीस-पच्चीस वर्ष की अवस्था तक बलात् कौमार्य मे रक्खा जाता है और उनके अभिभावक आंखो पर ठीकरी रखकर समय की गतिविधि से विल्कुल आँखें मूंदकर उन निष्पाप कन्याओ को दुराचरण के अन्धकूप मे स्वयं धक्का दे देते हैं। हमारी नम्र सम्मति मे यह दोनो ही प्रथाएँ शास्त्र-विरुद्ध होने के कारण समाज के लिए घातक ही नही सर्वथा विनाशकारी हैं। लेखक को जव अपने गांवों मे अशिक्षित ग्रामीणों के यहाँ दुधमुंहे बच्चे-बच्चियो का विवाह देखने का अवसर पड़ता है, मुहावरे की रीति से 'दुधमुहे' नही किन्तु वास्तव मे ही चार-पांच साल की दुधमुही कन्याओं को गोद में लेकर भावरें पढ़ते, या इससे भी छोटी अवस्था को होने पर लड़की के स्थान पर गुड़ की भेली से ही वर को भांवरे लेते देखकर उसके हृदय में जो अपार क्षोभ होता है उसकी सीमा का उस समय कोई पारावार नही रहता

जब उसे आधुनिक शिक्षित और सभ्य घरो मे यूरोप के शीत-प्रधान देशो के अनुकरण पर बीस-पच्चीस वर्ष की कुआरी कन्याओ को देखने का अवसर पडता है, या जब उसे समाचार पत्रो मे ऐसे विलम्बित विवाहोसे उत्पन्न होने वाली दुराचारपूर्ण घटनाओ के सम्बन्ध मे समाचार पढने को मिलते है।

प्रथम-कोटि के विवाह जहा वचपन मे अर्थात् समय से पूर्व ही बालकोमे कामभावको उदय करके उन्हे तथा उनकी भावीसतान को निर्बल बनाने के कारण बनते है, वहा दूसरी प्रकार के विवाह भी लडके-लडकियो मे समय पर कामभाव की प्राकृतिक प्रेरणाके उदय होने पर उसकी पूर्ति के वैध साधनाभाव मे अवैध व्यभिचार को प्रोत्साहन देकर समाज को खोखला बनाने मे कम सहायक नही सिद्ध होते। इसलिए यह आवश्यक है कि वैवाहिक अवस्था पर भी इस प्रघट्ट मे कुछ प्रकाश डाला जाय।

हम पीछे कह आए हैं कि विवाह एक प्राकृतिक संस्कार है और स्त्रीत्व पुंस्त्व नामक दो तत्त्वो के समिश्रण से सृष्टि विस्तार ही इसका फल। इसलिये हमे विवाह काल के निर्णय मे प्रकृति को ही प्रधानता देनी चाहिए। इस बात को दृष्टि मे रखकर अगर हम विवाह काल पर विचार करे तो सर्व प्रथम हमे देखना होगा कि लोक मे स्त्रीत्व या पुरुषत्व का विकाश किस अवस्था मे पूर्णरूप से हो जाता है। भिन्न २ देशो के जलवायु एव वातावरण के अध्ययन से पता चलता है कि इस विकास का काल सर्वत्र एक नही है। शीत प्रधान देशो मे स्त्रीत्व विकाश १२ से १६ साल की अवस्था के अन्दर होता है तो उष्ण प्रधान देशो मे १० से १४ साल की अवस्था मे। प्राय सभी व्यक्ति जानते हैं कि स्त्रीत्व के विकसित होने पर शरीर मे लावण्य वृद्धि, स्तनो का प्रादुर्भाव, हाव

भावो का उदय, इत्यादि लक्षणो के अतिरिक्त रजोधर्म का भी प्रारम्भ हो जाता है। मुख्य रूप से यह उसके गर्भधारण सामर्थ्य का सूचक चिन्ह है और प्रकृति की ओर से होने वाला एक ऐसा विचित्र परिवर्तन है जो उसे वचपन के आनन्दपूर्ण निश्चिन्त जगत् मे वरवस खेचकर चिन्ता हर्ष शोक से परिपूर्ण यौवन के मधुर द्वार पर ला खडा कर देता है। इस समय उसकी स्त्रीत्व-भावात्मक चैतन्यशक्ति जागृत हो जाती है। सांसारिक विषयो के सम्वन्ध मे उसके हृदय मे ज्ञानोदय होने लगता है। मादक अभिलाषाए धीरे २ उसके सामने एक रगीन दुनिया का नक्शा खेच देती है और तव स्त्री चाहती है एक ऐसे पुरुष का संसर्ग—जो उसकी अभिलाषाओ को साकार रूप प्रदान करे। कामशास्त्र मे लिखा है—

रजस्वला च या नारी विशुद्धा पञ्चमे दिने ।
पीड़िता कामबाणेन ततः पुरुषमीहते ।।

अर्थात्—ऋतुस्नाता नारी पाचवे दिन काम पीडित होकर पुरुष सम्वन्ध को चाहती है।

यह तो हुई स्त्रीभाव के विकास की चर्चा। पुरुषत्व विकास १८ वर्ष से प्रारम्भ होता है और लगभग २५ वर्ष की अवस्था में पूर्ण होता है। किशोरावस्था की समाप्ति और यौवन के प्रारम्भ के तीन चार वर्षो मे युवकवर्ग की वही स्थिति होती है जो नव-यौवना कन्याओ की। अवस्था का यह परिवर्तन जिसे हम कोई विशेष महत्त्व नही देते—वालको के जीवन मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नीतिकारो का कहना है कि इस समय वालको का हृदय दूध की प्रथम उफानी अवस्था मे से गुजरता है और जिस

प्रकार उस उफनते हुए दूध को उस समय यदि सावधानी पूर्वक कोई न सम्भाले तो उसका बिखर जाना अस्वाभाविक न होगा, वैसे ही यदि उस समय बालको के सदाचार पर कठोर नियन्त्रण न हो तो उनका उत्पथगामी बनकर किसी कुसगति मे फस जाना आश्चर्यजनक न होगा।

स्त्रीत्व और पुस्त्व विकास की इन अवस्थाओ को समझने के उपरान्त विचार का विषय यह है कि विवाह इस शारीरिक विकास के बाद किया जाय या पूर्व मे ही।

गहराई से इस प्रश्न को देखने पर हमे ज्ञात होगा कि कन्याओ के लिए विवाह की अवस्था 'रजोदर्शन' से तुरन्त पूर्वकी ही समुचित है, न इससे बहुत पहिले की और न बहुत बाद की ही। पुरुष की आयु यथेच्छ युवा हो और ब्रह्मचर्य पूर्ण कर चुका हो। इस प्रकार के विवाह से जहा पति पत्नी मे आयु भर प्रेम रहेगा वहा उनसे होने वाली सन्तान भी बलवान् हृष्ट पुष्ट और दीर्घजीवी होगी।

महर्षि सुश्रुत ने, जो कि शारीरिक विज्ञान के प्रमुख आचार्य है इस विषय का विचार करते हुए लिखा है —

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षीयां पत्नीमावहेत्। (सुश्रुत शारीरस्थान १०, सू०५८)

अर्थात्—पच्चीस वर्ष के पुरुष को बारह वर्ष की कन्या के साथ विवाह करना चाहिये।

हमे यहा इस बात को भली भाति समझ लेना चाहिए कि विवाह और गर्भाधान दो पृथक् २ सस्कार हैं और पृथक् २ अवस्थाओ मे ही किए जाते हैं। सुश्रुत आदि महर्षियो ने जहां

विवाह के लिए कन्या की उपयुक्त आयु १२ वर्ष स्वीकार की है वहा गर्भाधान के लिए १६ वर्ष की। उपर्युक्त उद्धरण से अनुपद अगले ही सूत्र मे महर्षि कहते हैं —

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्त पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं गर्भस्थ स विपद्यते ॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रिय ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

(सुश्रुत शारीरस्थान, १०, ५६-६०)

अर्थात्—यदि पच्चीस वर्ष से कम आयु का पुरुष सोलह वर्ष से कम आयु की स्त्री मे गर्भाधान करे तो वह गर्भ कोख मे ही मर जाता है। यदि किसी प्रकार सन्तान उत्पन्न भी हो जाय तो वह देर तक जीवित नही रहती, यदि जीवित रह भी जाय तो वह सदा दुर्बल ही रहेगी। इसलिए इससे कम अवस्था की स्त्री मे कभी गर्भाधान नही करना चाहिए।

आज लोग अज्ञान के कारण इस भेद को भूल गए हैं। उनके विचार मे विवाह मानो इस ग्राम्य व्यवहार के लिए पूरी स्वतन्त्रता मिलने का ही दूसरा नाम है। जो आलोचक 'शीघ्र विवाह' के कारण स्मृति-प्रणेता महर्षियोकी कटु आलोचना करते नही थकते उन्हे भी इस बात का पूरा ज्ञान नही कि महर्षियो को 'शीघ्र-विवाह' ही अभिमत है 'शीघ्र गर्भाधान' नही, यही एक रहस्य है कि जिस तक सर्वसाधारण की पहुँच नही। जरा विचार कीजिए कि क्यो सभी स्मृतिकार और सुश्रुत सरीखे शरीर शास्त्रके महान् ज्ञाता आचार्य, एक स्वर से विवाह के लिए दश बारह वर्ष की छोटी

आयु का ही समर्थन करते हैं और गर्भाधान के लिये १६ वर्ष से अधिक अवस्था का ? क्या कारण है कि रजस्वला होने से पूर्व विवाह न करने की दशा मे महर्षि ने —

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ॥

(यम संहिता)

—कहकर पिता को कन्या के रज पान जैसे घृणित पाप का भागी कहने मे भी हिचकिचाहट नही अनुभव की और विवाह के अनन्तर गर्भाधान के लिये १६ वर्ष से पूर्व की आज्ञा भी नही दी !

वस्तुत. बात यह है कि ऋतु दर्शन होनेके बाद स्त्रीके हृदय में काम वासना का उन्मेष होने लगता है, उसका मन पुरुष समागम के लिये उत्कण्ठित हो उठता है । ऐसी दशा मे आवश्यकता इस बात की है कि उसकी इन मानसिक प्रवृत्तियो को एक केन्द्र पर स्थिर किया जाय, वे इधर उधर न भटककर एक ही केन्द्र पर अवलम्बित रहे । यह तभी सम्भव है जब पहिले से उसका विवाह सम्पन्न हो चुके क्योकि उस दशा मे स्त्री के हृदय की सम्पूर्ण वासनाए और आकाक्षाए उसके पति पर ही आश्रित होगी । उसकी प्राप्ति की आशा मे ही वह अन्य चिन्तन छोड सकेगी । ऐसा न होने पर उसकी नैसर्गिक काम भावना एक अवलम्बन न पाकर जहातहा भटककर उसके पातिव्रत्य में हानिकारक सिद्ध हो सकती है । यदि जीवन की उस प्रारम्भिक दशा मे वह अपने मार्ग से च्युत होगई तो फिर सम्पूर्ण जन्म मे उसका सुधार होना बडा कठिन है। यही सब सोच समझकर महर्षियो ने रजोदर्शन से

तुरन्त पूर्व ही विवाह की आज्ञा दी है। विवाह के अनन्तर स्त्री अपने पिता के घर ही रहे और फिर उचित अवस्था आने पर उसे पति के घर भेज दिया जाय इसलिए द्विरागमन या गौने की प्रथा आज भी बहुत से देशो मे प्रचलित है जो कि इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के सर्वथा उपयुक्त है।

आज जिस अवस्था मे कुमारियो का विवाह किया जाता है उस अवस्था तक पहुचते २ उनकी पातिव्रत्य की पवित्र मानसिक पृष्ठभूमि प्राय मलिन हो चुकी होती है। उसपर न जाने कितने चित्र बन और बिगड चुके होते है ऐसी दशा मे उनमे पातिव्रत्य की सम्भावना करना व्यर्थ ही है। जब किसी भवन की नीव ही डगमगा जावे तब उसपर खडा होनेवाला भवन—चाहे दृढ चट्टानो से ही क्यो न तैय्यार किया गया हो—अवश्य ही पतनोन्मुख रहेगा।

ससार के सभी विचारशील पुरुष फिर चाहे वे भारतीय हो या वैदेशिक, विवाह की इस अवस्था के विषय मे एकमत हैं। भारतीय आचार्यो की सम्मति उद्धृत करने के बाद प्रकृत प्रसग मे कतिपय विदेशी विद्वानो की सम्मति उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा।

'It is not good for a man or woman to live alone Our tendency of the times is the apparently increasing avoidance of marriage or its postponement until an age when the adaptation of one individual of the couple to the other is difficult Because habits have became fixed so firmly that their adjustment is a difficult or

at laet, an annoying process. Oboviously, there fore, it seems to me that early marriages should be encouragad. (Thomas A. Edison)

श्री एडीसनमहोदय—जिनसे ससार 'ग्रामोफोन' मशीन के आविष्कारक के रूप मे भली भाति परिचित है लिखते है—"स्त्री या पुरुष के लिए अकेला अर्थात् अविवाहित रहना अच्छा नही है। आज के समय मे लोगो की प्रवृत्ति होती जा रही है कि विवाह बिल्कुल ही न किया जाय या देर मे किया जाय–इतनी देर मे कि वर-वधू की प्रकृति का सामञ्जस्य ही न हो सके। यह सब अनुचित है क्योकि बडी अवस्थाओ मे पहुचने तक उनकी आदते इतनी मजबूत हो जाती हैं कि बाद मे उनमे परिवर्तन करना कठिन ही हो जाता है। इसलिए मुझे यही अच्छा मालूम होता है कि शीघ्र विवाह को प्रोत्साहन देना चाहिए।

इसी प्रकार मिस्टर लेकी साहब ने अपने 'यूरोपीय आचार का इतिहास' नामक पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है—

The nearly universal practice of the custom of early marriages among the Irish peasantry has alone rendered possible that high standerd of female chastity that intence and jealous sensitiveness respecting female honour, for which among many failings and some vices, the Irish poor have long been pre-eminen in Europe

अर्थात्—आयर्लैण्ड के गरीब किसानो मे होने वाली 'शीघ्र-विवाह' प्रथा ने वहा की स्त्रियो में उच्चतम पातिव्रत्य और उसके

प्रति आदरभाव को बना रक्खा है अनेक दोपयुक्त होने पर भी वे आयरिश लोग वर्षो तक यूरोप मे सम्मान भाजन रहे हैं।'

इसी प्रकार अन्य भी बहुत से पाश्चात्य विचारको ने विवाह की आयु के विषय मे भारतीय शास्त्रकारो की दूरदर्शिता को स्वीकार किया है और माना है कि वास्तव मे यदि गृहस्थजीवन मे हम सच्चा प्रेम, सच्ची सुख शान्ति चाहते हैं तो हमे इसी प्रणाली का आश्रय लेना चाहिए।

विवाह क्यों ?

विवाह वह पुनीत और महत्वपूर्ण सस्कार है जिसने मानव-पशु को सच्चे अर्थों मे 'मानव' बनानेमे महत्वपूर्ण भाग लिया है। विवाह सस्था अत्यन्त प्राचीन है और हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि सभ्यता और सस्कृति के प्रथमोदय काल मे जब मानव वशधरो ने सामाजिक जीवन का सूत्रपात किया तभी विवाह प्रणाली का प्रारम्भ हुआ होगा। यह प्रणाली जिस राष्ट्र मे जितनी ही विकसित और उत्कृष्ट रूप में अपनाई गई, वह राष्ट्र उतना ही सभ्य सुसस्कृत तथा उन्नत बनता गया। विवाह सस्था के अभाव मे मनुष्य, पशु से भी बदतर होता, न उसकी कोई पत्नी होती न मां न बहिन न बेटी। अपनी भोगलिप्सा को पूरा करने के लिए वह कुत्तों की तरह स्त्री मात्र की तलाश मे भटकता फिरता बलात्कार करता, छीना झपटी करता, गुर्राता, लडता और बुद्धिमान खूखार जानवर से कही अधिक अपनी सारी बुद्धि का उपयोग विनाश के उपाय सोचने मे करता। उसके इस प्रकार के व्यभिचार से उत्पन्न मानव-पिल्ले गली २ ठोकरे खाते फिरते न उनका घर होता न दर न स्कूल न कालेज ! शिक्षा, सभ्यता, सँस्कृति, कला

विज्ञान से सर्वथा शून्य एक पशु-राष्ट्र ही हमारे मामने होता ! यह विवाह ही तो है जिसने मनुष्य को परिवार दिया, घर बसानेकी प्रेरणा दी, परिवार के भरण पोषणार्थ विविध कार्यों व पेशो को जन्म दिया और आज का हमारा यह सँसार बनपाया।

विवाह सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन का अँगमात्र नही है किन्तु इसका उद्देश्य इससे भी कही अधिक महान् गहन और दिव्य भावपूर्ण है । उसकी इस महत्ता और गम्भीरता तक पाश्चात्य जगत् पहुचे या न पहुचे किन्तु आर्य महर्षियो और दार्शनिको ने भारतीय जनता के सामने जो उद्देश्य रक्खे है उनकी प्रतिष्ठा सर्वथा लोकोत्तर आदर्शों पर की है।

विवाह के पांच उद्देश्य—

१—विवाह का प्रथम उद्देश्य सृष्टि विस्तार के लिए स्त्रीत्व और पुरुषत्व धारा का सम्मेलन है । हमने पीछे कहा है कि प्रकृति के अणु २ मे उपरोक्त दोनो शक्तिये विद्यमान रहती है और सृष्टि विस्तार के लिए इन दोनो का सम्मेलन प्राकृतिक प्रेरणा से होता है । यह सम्मेलन ही सृष्टि का कारण है और प्रवाहरूप से सँसार को अनन्तकाल तक जीवित रखता आया है ।

२—चौरासी लाख पशु पक्षी कीट पतँगादि योनि भोगकर ही मानवदेह प्राप्त होती है । इस योनि मे यद्यपि परमात्मा ने मनुष्य को दया करके सदसद्विवेकिनी बुद्धि प्रदान की है किन्तु अनेक योनियो मे पडा हुआ पशु सँस्कार उससे छूटता नही है, जिससे मनुष्य की प्रवृत्ति स्वच्छन्द आहार विहार की ओर स्वभावतया ही झुकी रहती है । प्रत्येक पुरुष के हृदय मे सँसार भर की स्त्रियो लिए और स्त्रियो मे सभी पुरुषो के लिए भोग भावना प्राकृतिक

रूप से विद्यमान रहती है। जब कभी उसे अवसर मिलता है वह अपनी इस पशु प्रवृत्ति को चरितार्थ करने में नही चूकता। इतिहास के पाठक जानते है कि यवन राजाओ ने अपने समय में सैकडो की तादाद मे सुन्दर स्त्रियो का अपहरण करके अपने हरमो को भर लिया था। अभी पिछले दिनो भारतीय गृह-विप्लव के समय कामान्ध नर-पशु ने स्त्री जाति पर बलात्कार अपहरण प्रधर्षणादि जो वर्वर अत्याचार किये हैं वे मानव-व्याप्त पशुता के नगे उदाहरण हैं। नर नारियो की इस पशु सदृश स्वच्छन्द तथा निर्वाध काम भावना को एक स्त्री व एक पुरुष मे वाध देना और अनेक प्रकार के शास्त्रीय नियमो द्वारा धीरे २ इसे निवृत्ति की ओर ले जाना ही विवाह का दूसरा उद्देश्य है।

३—विवाह का तोसरा उद्देश्य है प्रजोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्ति तथा वश रक्षा। पीछे लिखा जा चुका है कि विवाह का उद्देश्य भोग विलास नही किन्तु—'प्रजार्यं गृहमेधिनाम्' के अनुसार सन्तानोत्पत्ति ही उसका प्रयोजन है, प्रारम्भ मे दिये गए वेदिक उद्धरण मे—'मया पत्या प्रजावती' कहकर वेद ने प्रजोत्पादन ही विवाह का लक्ष्य माना है। शास्त्रदृष्ट्या मनुष्य पर तीन ऋण होते हैं १ देवऋण २ ऋषिऋण ३ पितृऋण। इनमे से यज्ञ याग देवपूजनादि द्वारा देवऋण से, शास्त्रो एव वेदो के स्वाध्याय से ऋपिऋण से मनुष्य मुक्त हो जाता है, शेप पितृऋण से मुक्ति प्रजोत्पादन द्वारा ही होती है। इसके अतिरिक्त चू कि आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु का ही अग है इसलिए सत् चित् आनन्द रूप तीनो गुणो की ओर उसकी प्रवृत्ति स्वभावत ही होती है। इनमे से सत् का ही प्रकृत विषय से सम्बन्ध है। सत् का अथ है सत्ता। मनुष्य अपनी सत्ता को सर्वदा अक्षुण्ण रखना चाहताहै

उसकी इस अभिलाषा का फल ही सन्तान है जिसे उत्पन्न करके वह सन्तोश अनुभव करता है। पुत्र उसका अपना ही रूप है और उसकी उपस्थिति से वह अपनी 'सत्' भावना को सफल समझता है। यही प्रवृत्ति विवाहमूलक वश परम्परा को जन्म देती है, जिसकी रक्षा के लिए—अनेक प्रकार के यज्ञानुष्ठानादि का आश्रय लेकर भी—मनुष्य सतत प्रयत्नशील रहता है।

४—मनुष्य स्वार्थी प्राणी है। अपने शरीर मे उसकी जितनी मोह ममता होती है उतनी और किसी वस्तु मे नही। विवाह द्वारा मनुष्य के इस ममत्व क्षेत्र को विस्तार मिलता है अब तक उसका जो प्रेम और मोह अपने शरीर मात्र मे था, वह क्रमश. पत्नी पुत्र कन्या सगे सम्बन्धो आदि परिवार मे विभक्त हो जाता है। इस प्रकार यह स्वार्थ परक प्रेम पहिले घर को चार दीवारी से प्रारम्भ होकर मुहल्ला, गली, नगर, प्रान्त, देश और समस्त विश्व मे व्याप्त होकर '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' के पुनीत आदर्श का व्यावहारिक रूप धारण कर लेता है। विश्वप्रेम ममत्व की अन्तिम श्रेणी है और इस पर पहुँचकर मनुष्य—'**यो माम् पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति**' के उच्च शिखर पर पहुँच जाता है। इसलिए स्वार्थ-परक प्रेम को विस्तृत कर उसका मुक्ति मे पर्यवसान ही विवाह का चौथा उद्देश्य है।

५—त्याग क्षमा धैर्य सन्तोषादि गुणो का सग्रह तथा अभ्यास विवाह का पाचवा उद्देश्य है। गृहस्थ मे रहते हुए दम्पती को एक दूसरे के हित के लिए स्वार्थत्याग, स्व-प्रतिकूल व्यवहार मे क्षमा, अत्यन्त कष्ट मे भी धैर्य आदि गुणो का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। यही गुण विकसित होकर मनुष्य को सामाजिक क्षेत्र मे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। गृहस्थ को

इस पाठशाला मे त्याग प्रेम आदि का पूर्ण अभ्यास कर जब दम्पती इनका प्रयोग ईश्वर प्राप्ति के अध्यात्म मार्ग मे करते है तो वे भगवत्प्राप्ति के अत्यन्त सन्निकट पहुच जाते हैं। यही उनके जीवन का लक्ष्य है।

विवाह संस्कार की रूपरेखा

कन्या के लिये योग्य सुशील स्वस्थ सुन्दर एव शिक्षित वर का निश्चय करने के उपरान्त शास्त्रीय विधि से उसका वरण होता है उसे वाग्दान (सगाई) कहा जाता है। इसके अनन्तर गुरु शुक्रास्तवर्जित मुहूर्त शास्त्र की दृष्टि से शुभयोग मे विवाह का दिन निश्चित किया जाता है (मुहूर्तादि के विषय मे इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र प्रकाश डाला जा रहा है) इसकी सूचना वर पक्षवालो को दे दी जाती है और तब दोनो घरो मे तैयारी प्रारम्भ हो जाती है। विवाह से पूर्व तदङ्गभूत कुछ शास्त्र मूलात्मक और कुछ देशाचार तथा कुलाचार मूलक कृत्य किए जाते है यद्यपि उनका स्वरूप अनेक रूप मे पाया जाता है अनेकता के कारण सब रूपो पर प्रकाश डालना असम्भव है तथापि बहुजन सम्मत विधियो की कुछ रूपरेखा लाभप्रद समझकर यहा प्रकट की जाती है।

हाथ

सात निर्गर्भा सुहागिन स्त्रिये मगलगान के बीच विवाह का वस्तु-सग्रहात्मक प्राथमिक कृत्य प्रारम्भ करती है जिसे हाथ कहा जाता है। यह प्रथा विवाहार्थ अन्नादि सग्रह का प्रतीक है और अभिभावको को विवाह की सब प्रकार की तैय्यारी के लिए प्रेरणा करती है। चू कि स्त्री विधाता की विषम प्रकृति का रूप है अत. विषम सख्याक स्त्रिया संगठित रूप से एकत्रित होकर इस महान्

कार्य का आरम्भ करती हैं। निर्गर्भा स्त्रिये इसलिए विशेष रूप से चुनो जाती है कि विवाह की तैयारी मे खूब परिश्रम कर सकें और थके नही। सुहागिन इसलिए कि खूब प्रसन्नता पूर्वक इस कार्य मे योग दे सके। विधवा आदि का ऐसे कृत्यो के समय अपने पूर्व सुखादि के सस्मरण से और भी विक्षुब्ध हो जाना अस्वाभाविक नही है।

हरिद्रा-हस्त (हलधात)

यह विवाह की पूर्ववर्ती मागलिक क्रियाओ का अग है, इसका उद्देश्य पितृगणो की वन्दना और नृत्य गीतादि के द्वारा मागलिकता की अभिवृद्धि करना है। इस अवसर पर घर मे विधिवत् पितृगणो की स्थापना की जाती है जिसे थापा कहते हैं। सब पारिवारिक और सजातीय बन्धु बान्धव इस अवसर पर एक दिन होकर पितृ अर्चना करते है। यह एक प्रकार से उन दिवगत महान् आत्माओ का आभार प्रदर्शन है जिनके उत्तराधिकारी बनकर वे लोग ससार मे सम्मान के साथ जीवन यापन कर रहे हैं। पितृवदना के अतिरिक्त इस दिन रात्रि भर जागरण का कार्य चलता है और स्त्रियो को इस जागरण मे आमोद प्रमोद का पर्याप्त अवसर मिल जाता है।

बान (तेल)

यह क्रिया एक तरह से वर या कन्या के शारीरिक सौन्दर्याधान के उद्देश्य से की जाती है। पहिले ही की तरह सात सौभाग्यवती स्त्रिया जो हल्दी आदि पीसकर स्वय उससे उबटन तैयार करती हैं। दही तेल दूर्वा इन तीनो वस्तुओ से वे वर कन्या का

सातवार अभिपेक करती हैं अर्थात् यह तीनो पदार्थ उसके शरीर पर लगाए जाते है। दही, शीतल हृद्य और शान्तिकारक है; तेल स्निह्य और कान्तिप्रद है। दही के साथ मिलकर वह प्रत्येक रोम मे प्रवेश करके खुश्की ताप अथवा त्वचा सम्बन्धी सभी दोपो के लिए रामवाण औपधि का कार्य करता है। जिस हरी दूर्वा से यह वस्तुए उसके शरीर पर लगाई जाती हैं, वह स्मृति शक्तिप्रद और नेत्र-ज्योतिवर्वक है, तेल मे संयुक्त करने से उसके गुण तेल मे आजाते हैं। इस प्रकार दहीआदि के द्वारा उनके शरीर को तरो-ताजा वनाने के वाद शारीरिक स्वच्छता के लिए उवटन का प्रयोग करते हैं। यह उवटन शरीर मे निर्मलता कोमलता तथा स्निग्ध कान्ति के लिए अपूर्व वस्तु है। सावुन की तरह खुश्की तथा रूक्षता से कोसो दूर है। वर वधू के शरीर मे स्थायी कान्ति (नूर) लाने के लिए इससे वढकर कोई पदार्थ नही।

स्नान के अनन्तर वर वधू के पाव मे रखडी अथवा रक्षासूत्र पहिनाने की प्रथा प्राय सभी प्रान्तो मे है। यह रक्षासूत्र कौडी सुपारी, पीली सरसो, लोहे का छल्ला आदि वस्तुओ से निर्मित होता है। वस्तु विज्ञान के अनुसार यह सव वस्तुए अदृश्य वाता-वरण जन्य हानियो से भावि-दम्पतियो की रक्षा के साथ उनकी विशेप स्थिति की परिचायक होती हैं। इसमे आवद्ध होने के वाद उन्हे कठिन परिश्रम साध्य कार्यो से छुट्टी दे दी जानी चाहिए, जिससे उनके शरीर मे अचानक कोई रोग या कष्ट न उत्पन्न हो जाय और व्यर्थ ही 'विवाह में बीज का लेखा' खड़ा हो। ज्योति. शास्त्रोक्त रीति से ५, ७ वार वान=सौन्दर्याधान के सम्पन्न हो जाने पर एक अपूर्व सौन्दर्य से उनका शरीर चमक उठता है। इस स्नान की अन्तिम क्रिया विशेष महत्त्व की है, वान का अन्तिम

स्नान जिस जल से होता है वह साधारण जल नही होता । यद्यपि इस अवसर पर घर मे पानी की कोई कमी नही होती, परन्तु फिर भी वर वधू के भाई एव भावज दोनो उनके स्नानार्थ कूएँ से जल खीचकर लाते हैं और तब स्त्रिये एक छलनी मे से उस जल को छानती हुई उन्हें स्नान कराती हैं ।

स्पष्ट है कि यह जलाहरण-क्रिया छोटे भाई बहिनो के प्रति ज्येष्ठ भ्राता के प्रेम, कष्ट सहन एव सद्भावना की प्रतीक है, किन्तु अभी लाये हुए जल को पुन छानने का क्या तात्पर्य ? वास्तव मे यह क्रिया भाई भावज के लिये एक शिक्षा है । आज तक बडे भाई के साथ वह कुमार या कुमारी जिस प्रकार रहते रहे है उसने चाहे उन्हे प्रेम से रक्खा है या उपेक्षा से, अच्छा खिलाया या बुरा इस बात को किसी ने नही छाना । किन्तु इस समय वे कुमार कुमारी अपने पावो पर खडे होने जा रहे है, गृहराज्य मे अब वे बराबर के भागीदार बनने जा रहे है ऐसो दशा मे बड़े भाई द्वारा कष्ट उठाकर लाये हुए विशुद्ध जल को भी छलनी द्वारा छानकर मानो समाज उसे चेतावनी दे रहा है कि भविष्य मे उसका प्रत्येक व्यवहार लोगो की बौद्धिक छलनी द्वारा छनकर ही पवित्र समझा जायेगा । छोटे भाई बहिन के प्रति आज से उसका जो विशेष उत्तरदायित्व बढ गया है उसका उसे सदैव ध्यान रखना चाहिए ।

मंडप पूजन (मंढा)

मढा या मण्डप पूजन की प्रथा थोडे बहुत भेद से प्राय· सभी प्रान्तो मे पाई जाती है, कही काष्ठस्तम्भ निर्माण के रूप मे, कही शामियाना आदि आदि लगाकर मण्डप निर्माण के रूप मे, और कही केले आदि से मण्डप निर्माण के रूप मे । परतु इन

मे सबसे अधिक वैदिक-विज्ञानपूर्ण एव भावनाभरित प्रथा का प्रचलन भारत के आर्यावर्त ब्रह्मावर्तादि भाग मे पाया जाता है जहा मढे का निर्माण चार सछिद्र शकोरो (मिट्टी के बरवो) द्वारा होता है। ये चारो पात्र एक विशेष विधि से एक सूत्र मे पिरोये जाते है और वे विवाह वेदी स्थान के ठीक ऊपर लटका दिये जाते है। इनका क्रम है—प्रथम पात्र अधोमुख, दूसरा ऊर्ध्वमुख-मिष्टान्न, दूर्वा, अक्षत तथा द्रव्य प्रपूर्ण। तीसरा अधोमुख उसे ढकता हुआ, और चौथा ऊर्ध्वमुख। तीन दिशाओ मे बंधी हुई तीन रस्सियो के सहारे ये वेदी पर लटके रहते है।

आज भी प्राय. प्रत्येक विवाह मे मढा होता है और पाधाजी इसे पूर्वोक्त रीति से बधवा भी देते हैं किंतु इसका क्या रहस्य है इसे बहुत कम व्यक्ति जान पाते है। रस्मी तौर पर यह सब क्रिया समाप्त कर दी जाती है। वास्तव मे यह चारो मृण्मय पात्र चारो आश्रमो के प्रतीक है जिनको मानव जीवनरूपी एक सूत्र मे पिरोया जाता है। अधोमुखी प्रथम पात्र ब्रह्मचर्य का प्रतीक है जिसमे ब्रह्मचारी की ससार से विरक्तावस्था, ज्ञान प्राप्ति के लिये उसका नम्रीभाव आदि का सुन्दर निदर्शन है। उस के ऊपर ऊर्ध्वाधोमुख रूप से संयुक्त रखे हुए दोनो पात्र उन गृहस्थ और वानप्रस्थ के प्रतीक है जिनमे दम्पति ने सयुक्तावस्था मे रहना है, किन्तु सावधान! उनकी यह सयुक्तावस्था खोखली=सारविहीन न होनी चाहिये; अन्यथा गृहस्थ जीवन नितान्त दु खमय हो जायगा, उसमे अन्न धन की पूर्णता होनी चाहिए, यह बात उसमे डाले जाने वाले खाद्य पदार्थ और द्रव्य से प्रदर्शित की जाती है, और अन्त मे होता है चौथा पात्र—ऊर्ध्वाभिमुख, शून्य, सन्यास का प्रतीक!—जिसमे कि पुरुष ससार की ओर पीठ

कर ऊर्ध्वाभिमुख, अपरिग्रहशील और एकाकी बनकर ब्रह्मप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। इन चारो आश्रमो के समूह रूप मानव जीवन का सम्बन्ध जिन रश्मियो—डोरो से होता है वे हैं ऋग् यजु साम लक्षण डोरे-जो वेद-त्रयी के नाम से मानव जीवन में अभिव्याप्त हैं।

मण्डप स्थापना के बाद कुमार कुमारी के हाथ मे उपाध्याय कगना—रक्षा ककरण पहनाता है और सात स्त्रिये इसमे एक एक ग्रन्थी लगाकर इसे और भी दृढ बना देती है। एक व्यक्ति भी सात गाठ लगा सकता था, परन्तु ऐसा न करके सात भिन्न २ स्त्रियो द्वारा बन्धन सूचित करता है कि वे उनकी-रक्षा, देखभाल का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले रही हैं। इन सात ग्रन्थियो द्वारा वर कन्या को भी सावधान किया जाता है कि वे गर्भाधान संस्कार से पूर्व तक शरीर की सातो धातुओ का बलपूर्वक निग्रह करे एक २ ग्रन्थी एक एक धातु के सयम = बधन की प्रदर्शक हैं।

घुड़चढ़ी

मातुल गृह से समागत वैवाहिक वस्त्रो से सुसज्जित वर शिर पर एक विलक्षण मुकुट धारण करता है जिसमे लोहे की एक सुई भी रक्खी जाती है, पर यह क्यो ? इस मुकुट मे यह सुई ! हा सचमुच लोहे की सुई ही तो है कितनी तीखी और बीधनेवाली। हा, भई यह भी आवश्यक है, यह फूलो का सेहरा और यह रग-बिरगा आभामय मुकुट केवल सुख और आह्लाद से भरा हुआ ही नही। गृहस्थ की जो जिम्मेवारी जो भार मुकुट द्वारा युवक के शिर पर रखा जा रहा है उसके अन्तर मे तो न जाने ऐसी कितनी सुइये छिपी हुई है, इसी दायित्व का प्रतीक यह कण्टकाकीर्ण ताज है। यह बात उस तीखी सुई द्वारा ही तो ज्ञात होती है।

घुडचढी को प्रस्थान करने से पूर्व कई प्रान्तो मे घोड़े की वाग वहनोई के हाथ मे पकडाने की प्रथा है। यह शायद इसलिए कि इस अनुभवहीन सवार के लिए लिए उनसे अधिक उपयुक्त पथ-प्रदर्शक कोई नही मिल सकता। वहनोई और साले का सम्वन्ध स्वभावत ही मधुरतापूर्ण होता है। इस रस्म से मानो वे कुमार को गार्हस्थ्य के इस नवीन मार्ग पर सुखेन चलने की उपयुक्त शिक्षा देने का उत्तर दायित्व स्वीकार करते है।

प्रस्थान काल मे वहिने अपने आचल की हवा से भाई के ऊपर आने वाली समस्त भावि वाधाओ को उडा देना चाहती हैं, अक्षतो की वर्षा द्वारा उसकी मगलकामना करती है और इस प्रकार मगलगान के वीच युवक अपनी मातृभूमि की परिक्रमा करता है, मन्दिरमे इष्टदेव की वन्दना करने जाता है और ग्राम देवता को अभ्यर्चना कर विवाह यात्रा के लिए प्रस्थान करता है। यही घुडचढी है।

द्वाराचार (ढुकाव)

आज रात मे विवाह होना है किन्तु उससे पूर्व वर को अभी कई परीक्षाओ मे से गुजरना है। ढुकाव या द्वाराचार इसी परीक्षा का ही दूसरा रूप है। वाग्दान से पहिले पिता या भाई ने ही तो वर को देखा था, लड़की के परिवार वालो ने–गली मुहल्ले वालो ने भी तो अभी उसे देखना है। विना उनके देखे और परखे पाणिग्रहण नही हो सकता। विवाह जीवन भर का सौदा है इस लिए इसे वडी परीक्षा के वाद ही तय करना पडता है।

घोडी आई, वर महाशय इसी पर चढ कर श्वसुर-गृह जायेंगे। आज तो नाई या दूसरे लोग वर को गोदी मे भरकर

घोडी पर बैठा देते है, जिसका परिणाम स्पष्ट है कि शारीरिक दृष्टि से अयोग्य और निर्बल युवको की कौन कहे अबोध बालको और खूसट बूढो तक की भी शादियें कर दी जाती हैं। इससे एक ओर तो व्यभिचार को बढावा मिलता है और दूसरी ओर उनसे होने वाली निर्बल सन्तान राष्ट्रीय निर्बलता का कारण बनती है। जिस समय इस प्रथा का सूत्र-पात हुआ था उस वक्त ऐसा न था। इस अवसरके लिए रथ, पालकी, बग्घी तागा या अन्य कोई सवारी बखूबी मिल सकती थी लेकिन नही, वर को घोडी पर ही जाना चाहिए। पूर्व काल मे प्रत्येक नगर गाव मे पचायत की ओर से ऐसी घोडियें पाली जाती थी, जो सदा तो किसी अन्धकार पूर्ण स्थान मे बधी रहती थीं केवल ढुकाव के समय वर की परीक्षा के लिए ही उस चचल घोडी का प्रयोग होता था। कुछ तो स्वभावत ही घोडे की चचलता प्रख्यात है इतने पर भी नानाविध बाजे गाजे बजाकर उसे अधिकाधिक चमका दिया जाता था और तब उस घोडी पर बैठकर वर को श्वसुर गृह जाना होता था। इस प्रथा से वर की वैवाहिक अवस्था का परीक्षण हो जाता था कि वह पूर्ण युवा हो चुका है? अभी बालक या निर्बल तो नही है ? यदि वह उस घोडी के उठते हुए वेग को, उसके अवस्थाजनित मद को, अपने पुरुषत्व से दबाकर उसे अपने नियत्रण मे रख सका तो वह उत्तीर्ण हो गया। तव देखनेवालो को निश्चय हो गया कि इसके घर जाकर लडकी गृहस्थ का सच्चा सुखोपभोग कर सकेगी।

घोडी पर चढकर वर ने वधू-गृह की ओर प्रस्थान किया, इस अवसर पर वह अकेला नही जाता सभी वरयात्री उसके साथ होते हैं अच्छा खासा जलूस बन जाता है और नगर के प्रधान २ मार्गों से होता हुआ जलूस आगे बढता है। इस प्रकार की यात्रा

का उद्देश्य जहा शोभा की अभिवृद्धि है वहा आगत महानुभावो और वर को नगर के उत्तमोत्तम वाजारो, सडको एव स्थानो को दिखला देना भी है।

अब द्वाराचार की रस्म शुरु हुई। द्वार पर पहिले से ही एक चौकी रखी हुई है वर के खड़े होने के लिए, जिससे वह ऊचाई पर होने के कारण सब को दीख सके। चौकी पर चढने के वाद उसके मुख पर पडा हुआ सेहरा हटा दिया गया। स्त्रिये वड़ी उत्सुकता से उसके रूप को देखने लगी। एक सुभगा आगे वढी उसके हाथ मे एक थाल है जिसमे प्रज्वलित दीप रखा हुआ है। स्त्रियो के मगलगान के वीच उसने वर की आरती की, कदाचित् अन्धकार के कारण सव ने वर को अच्छी तरह न देखा हो तो वह इस प्रकाश मे अच्छी तरह दीख गया। उसके मस्तक पर तिलक किया उसे कुछ खाने को दिया और अन्त मे सात सौभाग्यवती स्त्रियो द्वारा तैय्यार किये गये रग विरगे सूत्र (सतनाले) से कन्या पक्ष की निकटतम सम्वन्धिनी सुभगा ने वर को मिनना अर्थात् उसकी नाप तोल शुरू की। आज के विवाहो मे तो यह क्रिया भी रूढिमात्र रह गई है और उस सतनाले को सातवार वर के शरीर से स्पर्शमात्र कराके इसे पूरा कर दिया जाता है। किन्तु इसका वास्तविक तात्पर्य था वर की वक्ष स्थल की चौड़ाई, उस के परिणाह और कन्धो के उन्नतत्व आदि का विधिवत् नापलेना जिससे उसकी गार्हस्थ्य योग्यता का ठीक ज्ञान हो सके। कहना न होगा कि इस सतनाले मे कन्याके नाप तौल के अनुसार सात ग्रन्थी पहिले से वान्धी जाती थी, जिससे वर कन्या के नाप तौल का साम्य करके इस युगल जोडी का सामजस्य स्थिर किया जा सके। आज के युग मे जो ठिगने वरो के साथ उन्नत शरीर वाली

कन्याओ का, या फिर अत्युन्नत वरो के साथ छोटे कद की कन्याओ का विवाह करके 'ऊटके गले मे टल्ली' वाली कहावत को चरितार्थ किया जाता है उसी वैपम्य का परिणाम दम्पति को जीवन भर भुगतना पडता है।

ढुकाव या द्वाराचार की यह प्रथा विवाह का अत्यन्त आवश्यक अग है। यदि वर मे कोई ऐसा दोष हो जिसके कारण लडकी के जीवन नष्ट होने का खतरा हो तो विवाह रोक दिया जा सकता है। ऐसे सैकडो उदाहरण मिल सकने है कि बारात लडकी के नगर मे पहुँच जाने पर भी द्वाराचार के परीक्षण के समय वर के असफल होने के कारण वापस लौट आई।

विवाह-संस्कार

विवाह सस्कार के मुख्यतया ४ अग है (१) वर-पूजन (२) कन्यादान, (३) लाजा होम भावरे और (४) सप्तपदी।

श्रोत्रिय उपाध्याय द्वारा मढे के नीचे विवाह सस्कारार्थ दो वेदियो का निर्माण होता है—एक ग्रहवेदी और दूसरी यज्ञवेदी। उनके समीप ही पूर्वाभिमुख वरादि के लिए स्थान कल्पित होता है। पूर्वादि दिशा के सम्बन्ध मे हम पिछले अध्याय मे विचार कर चुके है। प्रारम्भिक पूजनादि के अनन्तर प्रथम वर का समन्त्रक पूजन किया जाता है। वधू-पिता वर के चरण प्रक्षालन करता है, बैठने के लिए आसन देता है अर्घ्य प्रदान करता है और तब दही मक्खन तथा मधु को सयुक्त कर तैयार किया हुआ पदार्थ—जिसे वैदिकी भाषा मे 'मधुपर्क' कहा जाता है—उसे पीने को दिया जाता है। यह सब क्रियाये युक्तिसगत ही है और

किसी अभ्यागत के आने पर उसके सत्कार के लिए को ही जाया करती है इसलिए इनके विषय मे कुछ वक्तव्य नही है।

कन्यादान

कन्यादान का ऊचा आदर्श केवल भारतवर्ष मे ही है अन्यत्र नही, भारतेतर देशो मे या तो कन्या विक्रय होता है या स्वयवरण। कन्यादान मे पिता या अन्य अभिभावक एक शङ्ख मे दूर्वा जल अक्षत पुष्पादि डालकर सङ्कल्प करता है। दोनों ओर के उपाध्याय उपस्थित जन समुदाय के सामने वर एव कन्या के गोत्र, प्रवर शाखा एव तीन पीढियो के क्रमिक व्यक्तियो का तारस्वरेण नामोच्चारण करते हुवे परिचय देते हैं। इस प्रकार का परिचय वे एक वार नही किन्तु तीन वार दोहराते हैं जिसका अभिप्राय यही है कि यदि उन दोनो के कुल गोत्रादि के सम्बन्ध मे किसी को कोई सन्देह हो तो वह व्यक्ति अब भी आपत्ति कर सकता है और विवाह रोका जा सकता है।

इस शाखोच्चार के अनन्तर सकल्प पूरा हो गया। प्रदाता ने कन्या का दक्षिण अगूठा वर के हाथ मे अर्पित करते हुए शङ्खस्थ जलादि की धारा उसके ऊपर डाल दी मानो इस क्रिया के द्वारा उसने उस पाणि-पीडन को और भी दृढ कर दिया। शखादि सभी पदार्थ मागलिक होने के साथ वस्तु-विज्ञान की दृष्टि से अनेक २ विशेषताओ से भरपूर हैं। शङ्ख के सम्बन्ध मे हमने अगले अध्याय मे विस्तृत प्रकाश डाला है, यहा इतना ही समझ लेना चाहिए कि वह असक्रमणशील परमाणुओं से बना हुआ पदार्थ है। उसमे डाली वस्तु उसी रूप में विद्यमान रहती है और वस्त्वन्तर से प्रभावित नही होती। कन्यादान के जिस पवित्र भाव से

उसमे जल डाल गया है उसका प्रभाव वर वधू के भावि दाम्पत्य-जीवन पर पडेगा और उनका प्रेम उसी शङ्खस्थ जल को धारा के समान सर्वदा निर्मल रहेगा। वनस्पति को दृष्टि से दूर्वा की अपनी कुछ विशेषताए हैं। एक स्थान पर उत्पन्न होने पर वह निरन्तर फैलती ही चली जाती है, उसे कितना भी काटो फिर हरी हो जातो है। उन दम्पतियो के प्रेम मे भो यही विशेषता होनी चाहिये। वह निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो और सदा हरे-भरे ही रहे—इस विचार दृढता के लिये उसका सान्निध्य नितान्त उपयोगी है। जल का तो कार्य हो वियुक्त वस्तुओ का एकीकरण है। बिखरे हुए मिट्टी के भिन्न-भिन्न परमाणुओ को सयुक्त कर जल विशाल भवनो का रूप दे देता है। शरीर मे विद्यमान मन जलीय अश से ही उत्पन्न है अत जल के माध्यम से ही कन्याप्रदाता अपनी हृद्गत भावना को वर के मन मे दृढ करता है।

लाजा होम, भांवरें

कन्यादान के अनन्तर वर द्वारा साधारण होम होता है और तब कन्या अपने भाई की सहायता से शमी के पत्तो से मिली हुई खीलो से हवन करती है। इस अवसर पर पढे जाने वाले सभी मत्र और सभी क्रियाएँ अतिशय भावात्मक और अर्थपूर्ण है। कन्या जब अजलि मे चरु लेकर पवित्र मन से अग्नि से प्रार्थना करती है कि—

"हे अग्ने! आप मुझे पितृगृह से वियुक्त होने की शक्ति प्रदान करें और पतिगृह मे दृढ बनाएँ।" एव जब वह—

'आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा।'

—कहकर अपने पति के दीर्घ जीवन की मगल कामना के साथ

अपने माता-पिता भ्राता आदि की वृद्धि के लिए आशीर्वाद मांगती है तो वहाँ एक स्वर्गीय दृश्य उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार वर जब अग्नि के समक्ष उसका पाणिग्रहण करते हुए कहता है—

(१) सौभाग्य हित पाणि-ग्रहण करता तुम्हारा मै यहाँ,
तुम मुझ दयित के साथ हो, जैसे बने वैसे यहाँ ॥
वृद्धत्व तक संसार-सुख, भोगो सदा मम साथ हो।
भग अर्यमा सविता पुरन्दर साक्ष्य यहाँ यथार्थ हो ॥
गार्हस्थ्य धर्मों की यहाँ नित पालना के हेतु वे।
तुझको मुझे है सौंपते सब सुखो के सेतु वे ॥

(२) पति मै तुम्हारा हूँ शुभे ! पत्नी हुई तुम मम यहाँ।
मै प्रेम पूर्वक हूँ तुझे स्वीकार करता तुम वहां ॥
कर प्रेम से स्वीकार मुझको प्रीति का आगार हो।
मै साम हूँ, ऋक् तू हुई, गृह धर्म का आधार हो ॥
तुम हो धरा आकाश हूँ मै, हम करें परिणय विमल।
फिर साथ मिलकर वीर्य भी धारण करें अति ही अमल
उत्तम प्रजा उत्पन्न कर निज राष्ट्र को करदें सुखी।
वृद्धत्व तक साथी रहें होवें सुखी नहि हों दुःखी ॥
हम हों परस्पर प्रेमयुत रुचियुक्त फिर मन से भले।
सौ वर्ष तक देखें सुनें जीवें सुखी हो निर्मले ॥

मूल मन्त्र—'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय'' शृणुयाम शरद. शतम्।'

—तो उपस्थित सभ्य मण्डल के समने भारतीय विवाह के ऊचे आदर्श की प्रेममयो मूर्ति आलोकित हो उठती है।

शमि-पत्र मिश्रित लाजाओ से हवन भी विशेषाभिप्राय से ही किया जाता है। शमी के गुणो का विचार करते हुए भाव-प्रकाशकार ने लिखा है—

शमी तिक्ता कटू शीता काषाया रोचनी लघु ।
कफकासभ्रमिश्वासकुष्ठार्शक्रमिजित्स्मृता ।।

अर्थात्—शमी–कटु, चरपरी, शीतल, कषैलो, रुचिकारक हल्की होती है और कफ, खासो, श्वास, कोढ, ववासीर के कृमियो की विनाशक है। इसीप्रकार खील, मधुर शीतल अग्निदीपक और रूक्ष है। पित्त, कफ, अतिसार, रुधिर विकार, प्रमेह, मेद रोग और प्यास को दूर करने वाली है। हम पीछे हवन के प्रकरण मे सिद्ध कर आये है कि अग्नि मे हुत होने पर प्रत्येक वस्तु का गुण लक्षगुणा हो जाता है। महर्षियो ने इसी अभिप्राय से इनको इस यज्ञ मे स्थान दिया है कि कदाचित् वर कन्या मे से किसी को इनमे से कोई रोग हो तो वह इसकी धूनि से अच्छा हो सके और वातावरण मे फैले हुए रोगो के कीटाणु भी सर्वथा नष्ट हो जाए।

इस के अतिरिक्त वनस्पति विज्ञान की दृष्टि से शमी मे स्वभाव से अग्नितत्त्व प्रबल होता है। कविकुल गुरु कालिदास ने अपने रघुवश महाकाव्य मे 'शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्'–कहकर इसी तथ्य का काव्य भाषा मे वर्णन किया है। इसलिए प्राचीन-काल मे यज्ञ यागादि मे अश्वत्थ-रूढ-शमी निर्मित अरणी से अग्नि उत्पन्न की जाती थी। सो चूँकि विवाह-सस्कार अग्नि के समक्ष हो रहा है इसलिये शमी की सहायता से उस अग्नि को

सुचारु रूप से प्रज्वलित रखना भी इसका प्रयोजन कहा जा सकता है ।

लाजाहुति के अनन्तर वर वधू को एक सुस्थापित पत्थर के टुकड़े पर पाव रखने के लिए कहता है और वह उस पर अपना दाहिना पाव रखती है । इस क्रिया का अभिप्राय इस काल मे पढे जाने वाले मन्त्र मे ही सुस्पष्ट कर दिया गया है कि–'भद्रे ! तुम इस पाषाण की हो भाति गृहस्थाश्रम मे दढ रहना, विचलित न होना आदि ।'

तदनन्तर वर, वधू को आगे करके तीन वार इसी प्रकार लाजा होम सहित अग्नि-प्रदक्षिणा करता है इसी को भावरे या फेरे कहा जाता है, चूं कि शास्त्रीय दृष्टि से विवाह का उद्देश्य धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप पुरुपार्थ चतुष्टय की प्राप्ति है, अत विवाह के समय चार ही प्रदक्षिणाये की जाती है । इनमे वर्म अर्थ एव काम की पूर्ति का मुख्य साधन चूं कि स्त्री ही होती है, अत उसे ही आगे करके यह प्रदक्षिणाएँ सम्पन्न होती हैं । किसी भी कार्य के निर्माण के लिये साधन पहिले प्रस्तुत किये जाते हैं और कार्य वाद मे । गृहस्थाश्रम मे किये जाने वाले यज्ञ याग, अतिथि-सुश्रूषा, तीर्थ व्रतादि गृहवर्मो मे स्त्री की उपस्थिति अनिवार्य होती है । विज्ञ पाठको से भगवान् राम का वह उपाख्यान छिपा हुआ नही है कि जनकनन्दिनी भगवती सीता के अभाव मे भगवान् रामने उनकी सुवर्ण-प्रतिमा को साथ लेकर ही यज्ञ सम्पन्न किया था । तात्पर्य यह है कि स्त्री गृहधर्म का अनिवार्य साधन है ।

अर्थप्राप्ति का साधन भी स्त्री है, यदि पुरुष हजारो रुपये रोज भी कमावे, किन्तु उसे सम्भालने वाली स्त्री न हो तो वह सब धन शीघ्र ही दुर्व्यसनो या प्रकारान्तर से नष्ट हो जाता है ।

इसी प्रकार यदि घर मे सुघड गृहिणी हो तो परिमित आय को भी इस रूप मे व्यय करती है कि मनुष्य को कभी अर्थ कष्ट नही भोगना पडता इसलिये अर्थप्राप्ति का साधन भी स्त्री हुई।

काम के विषय मे तो कहना ही व्यर्थ है, उसका प्रमुख साधन तो स्त्री है ही। अत शास्त्रकारो ने स्त्री को आगे करके धर्मार्थ काम सम्बन्धिनी तीन प्रदक्षिणाये करने का विधान किया है, अर्थात् इन विषयो में स्त्री को पुरुष का नेता स्वीकार किया है। वैसे भी स्त्रियो मे पुरुषो की अपेक्षा अधिक धार्मिक भावना श्रद्धादि, अधिक अर्थतृष्णा एव 'कामश्चाष्टगुण स्मृत' के अनुसार अधिक कामशक्ति होती है।

चौथी प्रदक्षिणा मोक्ष सम्बन्धी है। इस विषय मे स्त्री पुरुष का मार्ग-प्रदर्शन नही कर सकती किन्तु वह तो इस मार्ग मे पुरुष के लिये यत्किचित् विघ्नकर ही है। मोक्षमार्ग के पथिक बडे-बडे ऋषि महर्षि उसकी मनोहर छवि अनुपम रूप-लावण्य और मोह-मयी मूर्ति को देखकर ऐसे भूले कि अपने लक्ष्य से कोसो दूर जा गिरे, इसीलिये मोक्षमार्गी के लिये कहा गया है—

पदापि युवती भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥

मुमुक्षु भिक्षु का कर्तव्य है, कि चरण से भी काष्ठमयी भी युवति का स्पर्श न करे। हाथी जिस प्रकार हथिनी के अङ्गसंसर्ग मात्र से बन्धन को प्राप्त करता है, मुमुक्षु भी इसी प्रकार स्त्री को स्पर्श करने से सासारिक बन्धनो मे फिर जकडा जायगा। फलत चतुर्थ प्रदक्षिणा मे अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्रस्थान के समय पुरुष स्वय नेता बनता है और स्त्री उसके पदचिह्नो का

अनुगमन करती है और इस प्रकार हिन्दू विवाह की परिणति मोक्ष में ही होती है। इन चारो प्रदक्षिणाओ द्वारा मानो स्त्री-पुरुष अग्नि के समक्ष उपरोक्त पुरुषार्थ चतुष्टय की ओर प्रस्थान करने का व्रत ग्रहण करते हैं।

सप्तपदी

विवाह-सस्कारका चतुर्थ अग सप्तपदी है। सप्तपदीका अर्थ है सात कदम तक चलना, अथवा स्त्री को सात पद=स्थानो की अधिकारिणी बनाना। 'वह ऊचे पद पर प्रतिष्ठित है' वाक्य मे जिस प्रकार पद शब्द व्यक्ति विशेष के स्थान का सूचक है इसी प्रकार यहा भी पद शब्द का अर्थ गृहस्थ के साधनभूत उन स्थानो से है जिनकी रक्षा एव उत्तरदायित्व स्त्री ने वहन करना है।

यो तो अन्न सम्पूर्ण ससार के ही जीवन का साधन है किन्तु गृहस्थ का तो वह मुख्य अग है। गृहस्थी को जहा अपना और बाल-बच्चो का पेट भरना है वहा अतिथि अभ्यागत साधु ब्रह्मचारी सभी उसकी अन्न की मुट्ठी के सहारे ही तो ससार यात्रा निर्वाह करते है। इन सबका पालन भी तो गृहस्थी का कर्तव्य ही है। इसलिये वर-वधू को सर्व प्रथम अन्न की रक्षा, उसके सग्रहादि के लिये गृहस्थ की ओर चलने को प्रस्तुत करता है। शास्त्र कहता है—

'एकमिषे विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—हे सुभगे! विष्णु भगवान् तुझे अन्न (की रक्षादि) के लिये (गृहस्थ के) प्रथम स्थान को प्राप्त कराये। वधू इस कर्तव्यभार को सहर्ष स्वीकार करती है किन्तु वह स्पष्ट कर देना चाहती है कि इस भारको वह तभी स्वीकार कर सकती है जबकि

(पुरुष) उसे अपने घर के अन्न धनादि का एकाधिपत्य दे, इस लिए वह कहती है —

धनधान्यञ्च मिष्टान्नं व्यञ्जनाद्यं च यद् गृहे ।
मदधीनश्च कर्तव्यं वधूराद्ये पदेऽब्रवीत् ॥

अर्थात्—आपके घर मे जो धनधान्य शाक व्यञ्जनादि विविध खाद्य पदार्थ है उन्हे आप यदि मेरे आधीन करना स्वीकार करे तो मै इस भार को ग्रहण करने को तैयार हूँ, अस्तु,

(२) गृहस्थ का दूसरा साधन बल है । बल-वीर्य-सम्पन्न दम्पती ही गृहस्थ का सच्चा आनन्द उठा सकते है और राष्ट्र को स्वस्थ सन्तान देकर उसे बलशाली बना सकते है। इसलिए गृहस्थ की ओर दूसरा कदम बढाने की प्रेरणा देता हुआ वर कहता है–

'द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—हे सुभगे ! विष्णु तुझे बल प्राप्ति के लिए गृहस्थ के दूसरे स्थान को प्राप्त कराये । इस पर कन्या अपनी स्वीकृति देती हुई कहती है—

कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा ते मञ्जुभाषिणी ।
दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साऽब्रवीद्वचः ॥

अर्थात्—मैं आपके कुटुम्ब की रक्षा करूगी । सर्वदा मीठी वाणी बोलू गी दु ख मे धैर्यशीला और आपके सुख मे सुखी हू गी ।

(३) गृहस्थ का तीसरा साधन धन है जिसके बिना गृह-जीवन बिल्कुल फीका हो जाता है और मनुष्य उससे उद्विग्न हो उठता है । हम पीछे कह चुके है कि स्त्री के बिना पुरुष के कमाये हुए धन का उचित उपयोग नही हो सकता इसीलिए शास्त्रकारो

ने स्त्री को साक्षात् लक्ष्मी रूपा ही समझा है। तदनुसार गृहस्थ के तीसरे साधन धन की ओर स्त्री को प्रेरित करता हुआ वर कहता है —

'त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—विष्णु भगवान् तुम्हे धन के लिए तृतीय स्थान को प्राप्त कराये, इसपर भी वधू अपनी स्वीकृति देती है और उसके धन का सदुपयोग करते हुए पति-भक्त रहने का आश्वासन देती है।

(४) चतुर्थ पदाक्रमण का उद्देश्य गृहस्थ सम्बन्धी सुख प्राप्ति है। ससार के सभी प्राणियो का उद्देश्य सुख ही है, इसी सुख के लिए नाना प्रकार के दुःख उठाये जाते है। किन्तु गृहस्थ का सुख विलक्षण है और प्राकृतिक प्रेरणा से उचित समय पर उस सुख की अभिलाषा का जागृत होना अनिवार्य है इसलिए शास्त्र कहता है—

'चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—सासारिक सुख प्राप्ति के लिए विष्णु तुम्हे गृहस्थ के चतुर्थ स्थान को प्राप्त करायें। इस पर वधू एक पाव और आगे रखती हुई अपनी स्वीकृति प्रदान करती है और विश्वास दिलाती है कि—

लालयामि च केशान्तं गन्धमाल्यानुलेपनैः।
काञ्चनैर्भूषणैस्तुभ्यं तुरीये सा पदेऽवदत् ॥

अर्थात—मैं गन्ध माल्य, विविध प्रकार के वस्त्राभूषणादि द्वारा समुचित शृङ्गार करके आपका ही आराधन करूगी।

(५) वधू के पाचवे पदाक्रमण का उद्देश्य पशु-रक्षा है। गाय

भैंस, घोडा आदिपशु किसानो के तो परमोपकारक है ही किन्तु गोपालन तो प्रत्येक गृहस्थ के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भारत का आज का गृहस्थ गाय के ही अभाव के कारण सर्वथा निर्बल क्षीण और सतप्त है। विशुद्ध दुग्ध घृत के सर्वथा अभाव से भारत की वर्तमान सन्तति कितनी निर्बल हो रही है यह किसी से छुपा नही है। इसलिए शास्त्र ने गृहस्थ के इस पशु रूप साधन की ओर भी ध्यान दिया है। वर कहता है—

'पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—पशुओ की रक्षा के लिए विष्णु तुझे गृहस्थ के पाचवे स्थान को प्राप्त कराये। वधू पाचवे पग को आगे बढाती हुई इसे स्वीकार करती है।

(६) प्रत्येक ऋतु का विभिन्न प्रकार का आहार विहार होता है उस सबको समझकर तदनुकूल आचरण करने से ही मनुष्य स्वस्थ रह सकता है। यह ऋतुज्ञान ही स्वास्थ्य की कुजी है। अपने सम्बन्ध मे तो मनुष्य सावधान रह सकता है किन्तु बच्चो आदि के स्वास्थ्य के लिए ऋतुचर्या का भार स्त्री पर ही होता है। अतएव गृहस्थ के छठे साधन=ऋतुचर्या की ओर अग्रसर करता हुआ वर कहता है—

'षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वानयतु।'

अर्थात्—छहो ऋतुओ की अनुकूल चर्या की प्राप्ति के लिए विष्णु तुझे गृहधर्म के छठे स्थान को प्राप्त कराये। स्त्री इसके लिए भी अपनी स्वीकृति प्रदान करती है।

(७) इस प्रकार गृहधर्म के छहो स्थानो की अधिकारिणी हो जाने पर स्त्री पुरुष की पूर्ण रूप से अर्धाङ्गिनी बन जाती है—

घर मे वरावर की अधिकारिणी और पुरुप की श्रेष्ठतम सखा, दासी नही। जो लोग हिन्दू धर्म मे स्त्री की स्थिति के वारे मे तरह २ के आक्षेप करते हैं और समझते है कि हिन्दू धर्म मे स्त्री का पद दासी या पुरुप की वशवर्तिनी निकृष्ट नौकरानी का सा है उन्हे वेद के इस मन्त्र को आख खोलकर पढना चाहिए। सातवे पदाक्रमण के लिए प्रेरित करता हुआ वर कहता है—

'सखे ! सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—हे सखे ! अव तुम सखित्व की प्राप्ति के लिए सातवा पग आगे वढाओ, तुम सर्वदा मेरे अनुकूल रहो। विष्णु तुम्हे इस मित्र रूप सातवे स्थान को प्राप्त करायें। और तव वधू अपना सातवा कदम आगे वढाती हुई पुरुप की सहधर्मिणी सहचारिणी एव अभिन्न आत्मा वन जाती है।

विवाह सस्कार का अन्त वधू की सिन्दूर से माग भरने और उसे पुरुप के वामाग मे वैठाने की क्रिया द्वारा होता है। स्त्री अव पुरुप की अर्धाङ्गिनी वन चुकी है। मस्तक मे सौभाग्य सूचक मागलिक सिन्दूर की रेखा डालता हुआ वर, उपस्थित देवताओ विद्वानो एव गुरुजनो से उसके सौभाग्य के लिए आशीर्वाद की याचना करता है और वे सव हृदय से उसे आशीर्वाद देते हैं।

पति पत्नी दोनों खूब प्रेम पूर्वक गृहस्थाश्रम मे स्थिर रह सके अत. इस अवसर पर उन्हे विशेप रूप से ध्रुव दर्शन कराया जाता है। ध्रुव ससार मे स्थिरता का प्रतीक है—अपने कर्त्तव्य और निश्चय पर सर्वदा अडिग रहनेवाला ! वर वधू इस समय ध्रुव दर्शन करते हुए अपने स्वीकृत मार्ग पर दृढ रहने का पावन सन्देश प्राप्त करते हैं।

छन

संस्कार पूर्ण हो चुका है। अब वर को छन कहने के लिये अन्दर जाना है। यह 'छन' क्या है ? क्यो है ? यह सब प्रश्न प्रत्येक जिज्ञासु के मन मे उठते है। वास्तव मे 'छन' छन्द शब्द का अपभ्रंश है जिसका तात्पर्य कविता या पद्य से है। इस प्रथा का श्रीगणेश वर के साथ पारस्परिक परिचय के उद्देश्य से हुआ है। पारिवारिक नवयुवतिये कुमारिये आदि हास्य का द्वार खोलने से पूर्व वर की झिझक को मिटाने के लिए एव सबके साथ उसके परिचय के लिए के लिये छन्द श्रवण की रीति का आश्रय लेती है और उसे 'छन' सुनाने के लिए विवश करती है। यह एक प्रकार से वर को वाणी और ज्ञान की परीक्षा है। यदि वह शिक्षित है तो उसे कुछ कविताए, सूक्तिये अथवा छन्द तो अवश्य ही स्मरण होगे ? इस धारणा पर इसका जन्म हुआ था। आज उसका रूढी रूप है और इस अवसर पर कुछ-न-कुछ सुनाने के लिये सभी लोग एक-दो दोहे आदि कण्ठस्थ कर लेते है। अत रूढिरूप मे भी यह लाभप्रद ही है और पारस्परिक परिचय का अच्छा साधन कहा जा सकता है। इसी प्रकार वधू-गृह पर वर के लिए और भी कई अवसर ऐसे आते है जिनमे हास्य के साथ उसके बुद्धिकौशल, ज्ञान एव स्वभाव की परख की जाती है। उदाहरणतया—वधू का कंकण मोचन करने के समय उसे एक ही हाथ से कगना खोलना पडता है। यह कोई शास्त्रीय विधान नही है किन्तु उसको बुद्धि की परीक्षा के लिये ही ऐसा किया जाता है।

धान्य वर्षण

वधू-गृह पर विवाह संस्कार की अन्तिम क्रिया धान्यवर्षण है।

इसके साथ ही लगभग विवाह समाप्त हो जाता है और कन्या पतिगृह के लिए विदा हो जाती है। यह विवाह का उपसहारात्मक दृश्य है और दर्शक के हृदय को प्रेम, करुणा, आह्लाद और दु ख की विचित्र भावभगियो से आपूर कर देता है। वर्षो तक जिस घर मे पाली-पोसी गई, वडी हुई, जिन गलियो मे सहेलियो के साथ खेलते-खेलते वचपन वीता और यौवन आया, उन सवको सदा के लिये छोडकर लडकी आज पराई वनकर एक अपरिचित देश मे जा रही है यह दृश्य किसके हृदय को द्रवित नही कर देता। उमडते हुए आसुओ को रोककर उपस्थित जनसमूह रुधे हुए कठ से विदाई के गीतो के वीच धान्यवर्षण की रीति को पूरा करता है। यह शास्त्रीय प्रथा है और इसका उद्देश्य है उपस्थित गुरुजनो और अभिभावको की ओर से वर-वधू के प्रति मगल-कामना और शुभाशीर्वाद का प्रदर्शन। भारत कृषि-प्रधान देश है इसीलिये यहाँ की प्रथाओं मे धान्य आदि का सुन्दर समावेश मिलता है। किसी राजा-महाराजा का अत्यन्त स्वागत एव सत्कार करने के अवसर पर धान और खीलो का वर्षण यहाँ की पुरानी और शास्त्रीय प्रथा है। चक्रवर्ती सम्राट् दिलीप के वन मे प्रस्थान करने पर लताओ से हुई पुष्प-वृष्टि को महाकवि कालिदास ने—

'आचारलाजैरिव पौरकन्या'

—कहकर भारत की इसी प्रथा की ओर सकेत किया है। चूकि प्राणिमात्र का जीवन अन्न पर ही निर्भर है इसलिये ऐसे अवसरो पर धान्यवर्षण करके यह शुभकामना प्रकट की जाती है कि इन दोनो का गृहस्थ सदा अन्न धन से भरपूर रहे और सदा इसी भाति धान्यवृष्टि होती रहे। यह भाव वाणीमात्र मे प्रकट किया

जानें पर इतना प्रभाव-पूर्ण कभी न हो सकता था जितना कि क्रियात्मक रूप मे जनता के समक्ष प्रदर्शित करने पर होता है।

इसके अतिरिक्त शास्त्र-दृष्टि से यह वर-वधू का पूजन है, सभी उपस्थिन जन परिक्रमा के साथ धान्यवृष्टि करते हुए उनके चरणो मे मस्तक झुकाकर इस शास्त्र की रीति का पालन करते हैं। प्रत्येक बडा-छोटा—यहाँ तक कन्या के माता-पिता भी–इस अवसर पर इन दोनो की चरण-वन्दना करना अपना अहोभाग्य समझते है। क्यो न हो इस सस्कार के समय वे दोनो साधारण मानव-प्राणी नही किन्तु लक्ष्मी एव नारायण की युगल मूर्ति हैं, प्रकृति एव पुरुष की सजीव प्रतिमा, विशुद्ध एव निष्पाप ! तब क्यो न उनका अभिवादन किया जाय। इस प्रकार हम देखते है धान्यवर्षण उपरोक्त दोनो ही दृष्टिकोणो से विवाह का आवश्यक अग है और उपस्थित समाज के मनोभावो के प्रदर्शन का सुन्दर तरीका है।

गृह-प्रवेश

बारात सकुशल वापिस लौट आई, नव-वधू ने पति के नगर मे पदार्पण किया और उसके स्वागत का समारोह होने लगा। स्त्रियो ने मिलकर वधू को गाडी से उतारा और अपने हृदय मे उमडने वाले आनन्द को गीतो मे प्रकट करती हुई उसे घर ले चली। उसके शिर पर पीपल की हरी टहनी और नेता (विलौनी की रस्सी) से युक्त जलपूर्ण कलश रखकर द्वार पर लाया जाता है जहाँ उसका स्वागत एव अभिनन्दन होता है। द्वार पर प्रथम स्थापित ऊची चौकी पर खडा कर मा अपने वस्त्र के आचल से उसे मिनती है। शिर पर स्थित कलश के जल को उसके ऊपर वारकर स्वय पान करती है। कुछ जल पी चुकने के बाद

लाडला बेटा मा को सम्पूर्ण जल पीने से रोकना है। इस रस्म के अनन्तर दम्पती घर मे प्रवेश करना हो चाहते है, किन्तु वहिनें आगे आकर उनका द्वार रोक लेती है। समुचित दक्षिणा मिलने पर उन्हे घर में प्रवेश करने की अनुमति मिलती है। यह सव प्रथाएँ यद्यपि आज देखने सुनने मे हमे गोरखवन्धा-सी मालूम होती है, परन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि किसी समय ये वडे महत्त्व की रही होगी।

वधू शिरस्थ कलश, स्वास्थ्य, प्रेम, समृद्धि और मर्यादा का प्रतीक (Symbol) है। सभी परिजनो की यह कामना होती है कि नवागत-वधू जो कि प्रथम वार इस घर मे प्रवेश कर रही है अपने साथ स्वास्थ्य प्रेम आदि को लेकर आये। आक्सीजन या प्राणप्रद तत्त्वो से परिपूर्ण पीपल की हरी डाली स्वास्थ्य एव वल की प्रतीक है। जल स्निग्ध पदार्थ है, विखरे हुए कणो को एक रूप कर देना उसका कार्य है। यह वधू के उस प्रेम का प्रतीक है जिसके द्वारा उसने विखरे परिवार को सयुक्त कर रखना है। नेत्ता, पारिवारिक समृद्धि का सूचक है क्योकि वह उसी घर मे होता है जो दूध दही से भरपूर हो और वह पात्र जिसने प्रेमरूपी जल को धारण किया है मर्यादा का सूचक है। एक आदर्श भारतीय गृहस्थ को स्वास्थ्य, प्रेम, समृद्धि और मर्यादा इन्ही चार वस्तुओ की आवश्यकता होती है, सो प्रतीक-वाद का आश्रय लेकर परिजनादि, वधू से इन्ही चार वस्तुओ की कामना करते हैं और वधू भी मस्तक पर इन्हे धारण कर प्रवेश करती हुई इस शुभ कामना का अभिनन्दन करती है। इस अवसर पर वहिन द्वारा द्वारावरोध ननद और भौजाई के पार-स्परिक परिचय का साधन है अनेको स्त्रियों मे मिली हुई ननद का इस रस्म द्वारा सवसे भिन्न रूप मे परिचय हो जाता है तथा वह दाय भाग भी प्राप्त कर लेती है।

ग्राम परिक्रमादि

विवाहान्त मे वर, वधू को साथ लेकर देव दर्शनार्थ सम्पूर्ण मन्दिरो की यात्रा करता है। इस प्रथा का उद्देश्य देवदर्शन के साथ २ ग्राम के प्रसिद्ध दर्शनीय स्थानो का निरीक्षण तथा समस्त ग्राम समाज मे विवाह विज्ञापन भी है। इसी प्रकार इस समय मे सम्पन्न होनेवाली शिरगुन्दी आदि प्रथा का अभिप्राय भी वधूगुण परीक्षण ही है। अडौस पडौस से एकत्र हुआ स्त्रीसमाज शिरगुन्दी के बहाने वधू के गुणो की परीक्षा करता है। उसके सगीत तथा नृत्य को देखकर ललित कलाओ के प्रति उसकी रुचि तथा योग्यता को जाचा जाता है। इस रीति के साथ आनन्द और उल्लासपूर्ण यह सस्कार समाप्त हो जाता है।

वानप्रस्थ विचार

मनुष्य का जन्म केवल कोल्हू के वैल को भाति सदैव घर गृहस्थी मे जुते २ मर जाने के लिए नही हुआ है, किन्तु शास्त्र आयु को चार भागो मे बाटकर यथासमय सभी मानव कर्तव्यो के पालन का आदेश करता है। आयु का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य पूर्वक पठन-पाठन मे व्यतीत होना चाहिए और पूर्ण युवा हो जाने पर गृहस्थ बनकर आदर्श सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए—यह दूसरा भाग घर मे रहते भी विषयो से ग्लानि प्राप्त करने का साधन है। इन दोनो आश्रमो का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं, अब क्रम प्राप्त आयु का तीसरा भाग देशसेवा, जातिसेवा और आत्म कल्याण साधना मे व्यतीत होना चाहिए इसे 'वानप्रस्थ' कहते है।

शास्त्रीय स्वरूप

भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्ने ।
(अथर्व० १९ । ४१ । १)

(ख) गृहस्थस्तु यदा पश्येद् बलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् । (मनु०६।२

अर्थात्—(क) स्वर्ग सुख के वेत्ता तत्त्वज्ञ ऋषि, आत्म-कल्याण की इच्छा रखते हुए अनादिकाल से तपश्चर्या की दीक्षा मे निरत हुए । (ख) गृहस्थ पुरुष जब अपने देह की चमडी ढीली हुई तथा सफेद बाल देखे और घर मे पुत्र का भी पुत्र अर्थात् पौत्र उत्पन्न हो जाए तब वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करे ।

वानप्रस्थ क्यों ?

आज का मानव जीवन इलाहाबादी कवि अकबर के शब्दोमे-'बी ए. किया, नौकर हुए, पैन्शन मिली और मर गये'—केवल इतना ही शेष रह गया है। पाश्चात्य देशो मे तो इससे भी अधिक दयनीय दशा है, जहा होस्टल, होटल और होस्पीटल इन तीन स्थानो को छोड़कर चौथे स्थान की कल्पना भी नही की जा सकती । धनी, रक सभी होटल मे खाते हैं और होस्पीटल मे मर जाते हैं । परन्तु हमारे पूर्व पुरुषो ने केवल पेट भरने मात्रकी पाशविक प्रवृत्ति से ऊपर उठकर मानव जीवन के चरमलक्ष्य भगवत् प्राप्ति की साधना का भी स्वर्णिम पुरोगम बनाया था । यह ठीक है कि दुर्भाग्यवश आज हम लोग भी इस आश्रम के महत्त्व को भूलकर अनेक दु खो के भाजन बन रहे हैं, ससार की भेडोंके

गल्ले मे सम्मिलित होकर 'भै-भै' करने लगे हैं तथापि अन्य देशो की अपेक्षा इस गए वीते समय मे भी प्राचीन मुनियो का स्मरण दिलानेवाले कुछ न कुछ आदर्श वानप्रस्थियो के भी दर्शन किये जा सकते है। मानव जीवन को सफल बनाने की साधना के निमित्त एकान्तवास कितना उपयोगी है यह वात अनवरत जन-सघट्ट-सकुल सकीर्ण नगरो मे रहने वाले, विपकृमि-न्याय से तथैव जीवन बिताने के अभ्यासी लोगो की समझ मे नही आ सकती, परन्तु ससार के कटु अनुभवो के तमाचो से आकुलित अनेक धनी मानी सम्राटोको—पाश्चात्य देशो के भौतिक साधन-सम्पन्न अनेक धनकुबेरो तक को, गृहस्थ की विषम वागुरा के वन्धन से उन्मुक्त होकर हिमालय की गुफाओ की ओर भागते हुए देखते है तो वानप्रस्थ आश्रम की महत्ता का कुछ धुधला आभास अवश्य मिलता है। इसलिए वन प्रस्थान की प्रवृत्ति मनुष्य की व्याकुलित आत्मा की अन्तर्ध्वनि है उसे अनसुनी करके आमरण गृहपङ्क मे ही धसे रहना जीवन की विडम्बना है।

संन्यास आश्रम विचार

आयुष्य का चौथा भाग सब झझटो को छोडकर आत्म-कल्याण और केवल आत्मकल्याण की साधना मे व्ययित करना ही सन्यास आश्रम का आदर्श है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ।

(ख) चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्-मनु०

अर्थात्—(क) जिसदिन भी वैराग्य हो जाए, उसी दिन सन्यास ग्रहण करे (ख) आयु का चौथा भाग—सब कुछ छोडकर सन्यास मे बिताना चाहिए।

संन्यास क्यों ?

वानप्रस्थ आश्रम की विवेचना करते हुए गत पक्तियो में हम बतला चुके है कि ससार से ग्लान्त होकर सब कुछ छोड एकान्त सेवन की भावना मनुष्य की स्वाभाविकी अन्तर्ध्वनि है। वानप्रस्थ और सन्यास मे केवल इतना ही अन्तर है कि वानप्रस्थ जहा कुछ छोड़ने के आदर्श को अपनाता है वहां सन्यास सर्वस्व त्याग की पुनीत शिक्षा देता है, वास्तव मे दीर्घकाल तक सग्रहमय जीवन बितानेवाले गृहस्थ का एकदम सर्वथा त्यागी बन जाना मनोविज्ञान के अनुकूल नही हो सकता। अत सर्वसग्रही को सर्वत्यागी बनाने के लिए वानप्रस्थ का माध्यस्थ आवश्यक है, उसके सम्पन्न हो जाने पर सन्यास का विधान सर्वथा युक्तियुक्त है।

मृत्यु-सज्जा-विचार

हमें यह कहने मे तनिक भी संकोच नही, आज के संसार मे मनुष्यो को जीना तो आता ही नही, परन्तु शोक तो यह है कि उन्हे मरना भी नही आता। जीते हैं तो पशुओं को भांति हीन दीन दशा मे, और मरते हैं तो रोते झीकते, करुणा क्रदन करते और अपने किए अकृत्यो पर पश्चात्ताप करते। न जीते चैन न मरे चैन! परन्तु हमारे पूर्वज आज से सर्वथा विपरीत जीते थे तो आन और शान के साथ प्रज्वलित अग्नि की भांति चमकते हुए जीते थे, और मरते थे तो सर्वथा तैयार होकर सजधज और

हसी खुशी के साथ। जीवन मे अभ्युदय उनके चरण चूमता था और मरने पर नि श्रेयस हाथ बाधे आगे खडा मिलता था।

हमने इस ग्रन्थ मे जीवन को सार्थक बनाने के कुछ नियमों का दिग्दर्शन यत्र तत्र लिखा है परन्तु इस प्रघट्ट मे हम उस मृत्यु विधि विधान को क्यो की कसौटी कसकर खरा २ दिखा देना चाहते है जिसका कि खरीदार चाहते या न चाहते प्रत्येक प्राणी को बनना ही पडता है।

शास्त्रीय स्वरूप

गोमयोदकेन भूमिमुपलिप्य, कुशैराच्छाद्य, कृष्णतिलान् विकीर्य उत्तराशाशिरस्कं भूमौ उत्तानशायिनं महा-प्रयाणपथिकं विदध्यात्। शनैः गङ्गोदक-तुलसीदलमाचामयेद् यथाशक्ति आतुरदानं दीपदानञ्च कारयेत्। समुपस्थिता हरिस्मरणं हरिनामकीर्तनञ्च कुर्युः।

अर्थात्—गोमय जल से भूमि को लेपकर कुशाओ से अच्छादित करे, और काले तिलो को विकीर्ण करके। उस भूमि पर मुमूर्षू मनुष्य को उत्तर की ओर शिर करके सीधा लिटा दे। गङ्गाजल तुलसीपत्र सहित शनै २ मुख मे डाले यथाशक्ति आतुरकालीन दान और दीपक दान करवाया जाय। उपस्थित कुटुम्बी हरिस्मरण और हरिनाम कीर्तन करे।

गोबर से लेपन क्यों ?

'मरना कैसे चाहिये ?'—इस प्रश्न का सीधा और सक्षिप्त उत्तर यह है कि मनुष्य के शरीर मे जो—गुदा, लिंग, मुख, दो

कर्ण, दो नासिका, और दो नेत्र, ये नौ छिद्र प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं इनके अतिरिक्त कपाल मे एक गुप्त दशम द्वार भी है। इनमें उत्तरोत्तर ऊपर के द्वार से प्राणो का उत्क्रमण हो-यही एक प्रयत्न मृत्युकालीन समस्त विधियो का मूलभूत उद्देश्य है। मरने के बाद जीव की क्या दशा होगी, अर्थात् उसकी सद्गति होगी या दुर्गति ? इस परोक्ष रहस्य को इदमित्थ तो स्वय भगवान् या त्रिकालदर्शी महात्मा ही जान सकते हैं, परन्तु मरण कालीन प्राणो के उत्क्रमण का मनन करने से इस विषय मे प्रत्येक व्यसनी बुद्धिमान् को कुछ आभास अवश्य मिल जाता है।

यदि किसी भाग्यशाली मनुष्य के प्राण स्वयमेव कपाल का भेदन करके प्रयाण करते हैं तो वह सर्वोत्तम मोक्षगति को प्राप्त हुआ है—चौरासी के चक्कर से छूट गया है अब वह 'न स पुनरावर्तते' का अधिकारी बन गया है।

उत्तरोत्तर ऊंचे द्वार से प्राण प्रयाण से सद्गति क्यो होती है ? यह बात अनुपद आगे की पंक्तियो मे प्रकट की जाएगी, परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि मृत्युकालीन सब विधिये केवल इसी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये की जाती है। सो भूमि पर चित्त लिटाने की दशा मे मनुष्य के मलद्वार का भूमि से स्पृष्ट रहना अनिवार्य है और भूमि का आकर्षण सर्वथा अशक्त हुवे प्राणो को चुम्बक की भांति खीचकर गुप्तद्वार से निकलने के लिये बाध्य करे यह स्वाभाविक है, अत. इस दुर्गति से बचने के लिए मुमुर्षु मनुष्य के शरीर और भूमि दोनो के मध्य मे मध्य मे कोई ऐसा पदार्थ होना चाहिए जो कि—'शुचि' असक्रामक=नानकन्डक्डर (Nonconductor) हो। सो सभी वैज्ञानिक गोबर को शुचि द्रव्यो मे अन्यतम स्वीकार करते है, अर्थात्—बिजली का करण्ट

उसे पार करके दूसरे द्रव्यमे प्रवेश नही कर सकता। अत हमारे शास्त्रो मे गरीब अमीर सबको सर्वत्र सुलभ गोवर को ही भूमि लेपन के लिये उपयुक्त माना गया है। गोवर की विद्युत्-निरोध-कारिणी शक्ति लोक मे प्राय. प्रसिद्ध है, अनेक स्थानो मे आकाश से गिरने वाली बिजली गोबर के ढेर पर गिरने की दशा मे वही समा जाती है—यह लोकप्रवाद प्रत्यक्षदर्शी अनेक व्यक्तियो द्वारा समर्थित है। गोवर के ढेर मे से मिलने वाला लोह धातु के मूसले जैसा तैजस् पदार्थ अग्नि के सयोग से पुनरपि उड जाता है यह किवदन्ती भी निर्मूल नही।

इसके अतिरिक्त रोगीके स्थान मे कई दिनो तक अनेक विध मलों का सपर्क रहना स्वाभाविक है। कई प्रकार के सक्रामक रोगो के कीटाणुओ का विद्यमान होना भी अनिवार्य है, इसलिए मृत्यु समय उपस्थित रहनेवाले कुटुम्बी जनो की स्वास्थ्य सरक्षा के विचार से भी नानाविध कीटाणुओ को विनाश कर सकने की क्षमता रखने वाले तैजस् (फासफोरस) जैसे तत्त्वो से परिपूर्ण गाय के गोवर से चौका लगाना बहुत आवश्यक है।

कुशा आस्तरण क्यो ?

पूर्वोक्त स्थापना के अनुसार मुमूर्षु मनुष्य के शरीर और भूमि के मध्य मे शुचि पदार्थो का अन्तर होना चाहिए। इसके निमित्त जैसे गोवर का चौका आवश्यक है, इसी प्रकार 'द्विर्बद्ध सुबद्ध भवति' के न्यायानुसार सर्वजन सुलभ 'दर्भ' नामक घास को भी शुचि (असक्रामक=नान कैन्डेक्टर) होने के कारण विस्तर के नीचे विछाने का प्रयोग पूर्वोक्त भूमि आकर्षण की आशका को सर्वथा निर्मूल करके अनेक लाभो को प्राप्त करना ही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद (१६।३८।१-१०) में दर्भ के विशिष्ट गुणो का प्रतिपादन करने वाला पूरा सूक्त विद्यमान है जिसका कुछ दिग्दर्शन इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २०६ पर किया जा चुका है। तदनुसार दर्भ को दैवी गुणो से सयुक्त एक प्रकार का मणि स्वीकार किया गया है जैसे सुवर्ण अपनी भास्वर तैजस्विता के कारण संक्रामक कीटाणुओ का विनाशक माना गया है (परतु सर्वजन सुलभ न होने के कारण वह सब्यक रक उससे कुछ लाभ नही उठा सकते) वैसे ही दर्भ कुशा नामक घास भी तादृश दिव्य तैजस गुणो का आगार होने के कारण और सक्रामक कीटाणुओ की समूल सहारक होने के कारण रोगी के नीचे बिछाने का सर्व सुलभ लाभदायक पदार्थ है।

कर्म विपाक के तारतम्य से रक तो सम्राट् नही बनाए जा सकते परन्तु बडे से बडे धनी मानी सम्राटो को भी धार्मिक विधान मे सर्व साधारण की भाति धर्मानुष्ठान करने के लिये बाध्य किया गया है जिससे कल्पित वैषम्य को मिटा कर स्वाभाविक साम्य का सरक्षण किया जा सके यही कारण है कि धार्मिक अनुष्ठानो मे सोने के सिहासन के स्थान मे कुशासन और सुवर्ण निर्मित अगूठियो के धारण स्थान मे दर्भ निर्मित पवित्रियो के पहिनने का विधान किया गया है। मृत्यु के समय भी स्वर्ण निर्मित तख्त को त्याग कर कुशास्तरण का उल्लेख किया गया है। कहना न होगा यह दर्भ नामक घास सर्व साधारण गरीबो की स्वर्ण राशि है धर्मानुष्ठानो के समय बडे से बडे धनकुबेरो को भी जीवन मे अनन्त बार इसे वनो से ढूढ २ कर लाना पड़ा है और आज मरते समय भी इसी के विस्तर पर पांव फैलाने पर रहे हैं।

भूमि पर बिस्तर क्यों ?

कई अहिन्दू लोगो का कहना है कि "रोगी पुरुष निरन्तर कई दिन और महीनो तक मृत्यु शय्या पर पडे २ वैसे ही निढाल हो जाता है, उसका एक २ अग दुखने लगता है, मास चर्बी सूख जाने के कारण गुदगुदा बिछौना भी उसकी उभरी हड्डियो मे चुभने लगता है परन्तु ऐसी दशा मे जब कि उसे अधिक से अधिक आराम पहुँचाने की आवश्यकता होती है हिन्दू लोग जमीन पर लिटा कर मुमूर्षु पर घोर अत्याचार करते हैं।" वास्तव मे यह आक्षेप वही लोग करते है जो कि यह भी नही जानते कि दर असल मौत किस बला का नाम है। कहना न होगा कि आस्तिको की दृष्टि मे जड देह से चेतन अश जीव=रुह का जुदा होना ही मृत्यु है, जीव की सत्ता न मानने वाले नास्तिक लोग भी कम से कम स्वास प्रस्वास की प्रगति बन्द हो जाने का नाम तो 'मृत्यु' अवश्य स्वीकार करेंगे। सो मृत्यु के समय अन्य सब गौण कष्टो को छोडकर स्वाससचार के सौविध्य पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। यदि क्षणमात्र भी नासिका और मुख को बन्द कर दिया जाए तो जितनी वेदना इससे अनुभव होगी उतनी अन्य किसी अग की पीडा से नही हो सकती। यही कारण है कि अगो की पीडा को यथेच्छ सहन करता हुवा भी मनुष्य यथातथा जीता रहता है परन्तु स्वास नलिका के बन्द होते ही तत्काल मर जाता है। स्वास क्रिया के निरोध से कितना महा कष्ट होता है इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि ससार मे सब से बडा दण्ड फासी पर झुला देना माना जाता है। सो निवार के पलगो और गुदगुदे गदैलो पर प्राण प्रयाण के समय मुमूर्षु को लेटाए

रखना उसे फासी के तख्ते पर चढा देने के वरावर है क्योकि मृत्यु के समय सर्वथा निढाल हुवे मनुष्य की रीढ की हड्डी जव तक सीधो तनो न रहेगी तव तक स्वास क्रिया के निरोध के कारण मुमूर्षु को असह्य वेदना का सामना करना पडेगा । समतल भूमि ही उस समय एक ऐसा विस्तर हो सकता है कि जिस के आश्रय से उत्तानशायी मनुष्य की रीढ की हड्डी सर्वथा सीधी तनी रह सकती है । इस लिये विना कष्ट उठाए प्राणोत्क्रमण सभव वनाने के लिये सद्य मुमूर्षु मनुष्य को भूमिमाता की गोद मे लिटा देना ही उसकी अन्तिम सेवा करना है । यही कारण है कि आर्य संस्कृति के पुजारी लोग रातो जागकर पहिरा देकर भी अपने वन्धु को चारपाई पर नही मरने देते, यदि किसी भी कारणवश ऐसा हो ही जाए तो इस पाप को दूर करने के लिये विशिष्ट धर्मानुष्ठान द्वारा प्रायश्चित्त करते हैं । इसलिये भूमि के विस्तर पर ही प्राणोत्सर्ग होना चाहिए ।

चौकी तख्त क्यों नहीं ?

यदि रीढ की हड्डी को सीधी रखने के लिये ही भूमि का विस्तर आवश्यक है तो यह लाभ तो चौकी और तख्त पर लेटा देने से भी प्राप्त हो सकता है । वडे लोगो के यहाँ ऐसी ही व्यवस्था क्यो न रहे ?

हम पीछे कह चुके है हमारे समस्त धर्मानुष्ठान मुष्टिमेय धनी मानियो को सामने रखकर नही निश्चित किये गये किन्तु वहुसख्यक सर्व साधारण गरीवो की स्थिति को लक्ष्य मे रखकर लिखे गये हैं, सो यदि शास्त्रो मे चौकी या तख्त पर लेटाने की विधि होती तो सर्व साधारण गरीवो को उन के जुटाने मे

बडी परेशानी उठानी पडती, फिर मृत्यु का कौन ठिकाना कब कहा आ जाय ? सो चौबीसो घन्टे घर, वन, रण-क्षेत्र सभी स्थानो मे चौकी तख्त को पीठ से बाधे मनुष्य घूमा करे यह कहा तक सभव है ! महामारी आदि विपत्तियो के समय तो चौकी तख्त वाली विधि पर आचरण ही नही हो सकता, अत शास्त्र ऐसी अधूरी विधिये लिखने की भूल नही कर सकते । सो सर्वत्र सर्वजन-सुलभ पृथ्वीमाता की पवित्र गोद को छोड कर मरने के समय भी कृत्रिम बडप्पन की शेखी बघारना मानवता का घोर अपमान करना है ।

इसके अतिरिक्त कई बार यह भी देखा जाता है कि कुटुम्बी जन मुमूर्षु का पहरा देते हुवे भी ठीक मृत्यु के समय असावधान हो जाते है तब मुमूर्षु ही किसी तरह स्वयमेव चारपाई से नीचे उतर कर भूमाता की गोद मे सदा के लिये सो जाता है अत प्राकृतिक रीति से जमीन का विस्तर ही अन्त मे काम दे सकता है, चौकी तख्त आदि कृत्रिम साधन तो केवल विड़म्बना मात्र है ।

उत्तर दिशा को शिर क्यों ?

हम इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २९४ पर अहोरात्रचर्या अध्याय के शयन प्रकरण मे यह सिद्ध कर चुके है कि 'जीवन काल मे मनुष्य को दक्षिण दिशा को पाव करके कभी नही सोना चाहिए'— परन्तु मृत्यु के समय इस के विपरीत दक्षिण दिशा की ओर पाव कर के ही मुमूर्षु को लेटाने की शास्त्रविधि है, और प्राय ऐसा ही किया भी जाता है, इस का क्या हेतु है यह यहा प्रकट करते है ।

हम पीछे कह आए हैं कि मरणकालीन सब विधियों का मूल सिद्धान्त यही है कि 'प्राणों का प्रयाण उपरितन दशम द्वार से हो—और यदि ऐसा न हो सके तो कम से कम नाभि से नीचे के भाग में होने वाले गुदा और लिंग के द्वार से तो न होने पाए। सो इसी बात की सिद्धि के लिये जहां पूर्वोक्त अन्यान्य प्रयत्न किये जाते हैं उन्हीं में से एक यह भी प्राकृत प्रयत्न है।

कहना न होगा कि उत्तर को शिर और दक्षिण को पांव करके मुमूर्षु को लेटाने की दशा में ध्रुवाकर्षण के कारण दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर निरन्तर चलने वाला विद्युत् प्रवाह कम्पास यन्त्र की सूई की भान्ति मनुष्य के निकलते हुवे प्राणों को नीचे के छिद्रों की ओर खींच लेजाने में सहायक सिद्ध होता है। इस तरह हम प्रकृति प्रवाह को मरण काल में अपना सहायक बनाने में सफल होते हैं और ध्रुवाकर्षण के दिव्य प्रवाह से लाभान्वित होते हैं, यही मुमूर्षु के उत्तर दिशा को शिर और दक्षिण दिशा की ओर पांव करने का अन्यतम हेतु है।

चित क्यों लेटाएँ ?

मुमूर्षु को बाईं दाईं किसी करवट न लिटा कर उत्तानशायी सीधा चित लेटाने का यह रहस्य तो जल्दी ही समझ में आ सकता है कि सीधा चित लेटने की दशा में रीढ़ की हड्डी सीधी तनी रहती है और इस तरह स्वास नलिका भी अन्त तक खुली रहती है, यह दोनों बातें प्राणोत्क्रम के समय मुमूर्षु को बिना किसी कष्ट के मरने में सहायक सिद्ध होती हैं, बाईं करवट लेटाने से दाईं नासिका से और दाईं करवट लेटाने से बाईं नासिका से श्वास प्रश्वास का संचार होता है यह कोई

भी जिज्ञासु स्वय लेट कर अनुभव कर सकता है इस तरह किसी भी करवट लेटने से चन्द्र या सूर्य दोनो स्वरो मे से केवल एक स्वर ही चल पाता है दूसरे का निरोध रहता है। स्वर विज्ञान के अनुसार चन्द्र से शीतता और सूर्य से उष्णता का सचार होता है यह बात हम इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २८९ पर लिख आए है। सो मृत्यु काल मे किसी एक स्वर का निरोध अथवा गर्मी या ठण्डक इन दोनो मे से किसी एक का होना मुमूर्षु के लिए लाभदायक नही उल्टा कष्ट-कारक है, परन्तु सीधा चित लेटाने की दशा मे दोनो स्वरो मे श्वास चलने की स्वतन्त्रता तथा शीतोष्णसमता का अवकाश रहता है जोकि उस समय सापेक्ष्य है इसलिए मुमूर्षु का उत्तान शयन–सीधा चित्त लेटाना ही उचित है।

शिर के नीचे घुटना क्यों ?

प्राय सभी देशों मे मुमूर्षु के शिर के नीचे उस का पुत्र और कारणवशात् उस के अनुपस्थित होने की दशा मे अन्य कोई निकट सम्बन्धी बाया घुटना उपबर्ह—सिरहाने—तकिये की भाति रखता है इस प्रथा का आधार वेद का–'**आच्या जानु दक्षिणतो निषद्य**' [यजु १९–६२] अर्थात् बाया घुटना झुका कर दाई ओर बैठे। यह मन्त्र हो सकता है। इससे मुमूर्षु के प्रति जहाँ सम्मान और श्रद्धा का भाव व्यक्त होता है वहा अन्तिम समय मे श्वास के वेग के साथ बढता हुवा कफ का जो वेग कण्ठ मे पहुँचकर घुरघुरायमान होने लगता है और श्वास की स्वाभाविक गति मे रुकावट होने लगती है—वह भी घुटने पर ऊचे उठे शिर के कारण कुछ-न-कुछ शान्त होने लगता है। साथ ही

जब कण्ठवर्ती उदान वायु की शक्ति के प्राय क्षीण हो जाने के कारण मुमूर्षु स्वय अपने कफ को बाहिर निकाल सकने की क्षमता नही रखता तब अनन्यमनस्क समुपस्थित घुटने की टेक देने वाला व्यक्ति अपने हाथ से मुमूर्षु के मुख मे पहुँच जानेवाले कफ को निकाल डालने की आवश्यक सेवा भी कर सकता है। जब मुमूर्षु की मृत्युकालीन करुणापूर्ण दशा को बार-बार देखता हुवा सहृदय पुत्र एकमात्र अवलम्ब सर्वार्तिहरणक्षम भगवान् के पवित्र नाम को उस समय अनन्यमनस्क होकर स्वय कहता है तब बुझते हुवे दीपक की भान्ति मृत्यु से पहिले एक बार सर्वथा स्मृतिसम्पन्नता–जिसे लौकिक भाषा मे 'सभाला लेना' कहते है–की दशा मे मुमूर्षु को भी हरिस्मरण दिलाने का कल्याणमय कार्य करता है। यह सब बाते कार्यान्तिर व्यापृत व्यक्ति द्वारा सम्भव नही किन्तु सब काम काज भूलकर मुमूर्षु सपृक्त व्यक्ति द्वारा ही सुसम्भव है। इसलिए शिर के नीचे घुटना देने का यह प्रथा अनेकविध लाभो से परिपूर्ण है। ससार मे यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'क्या अमुक व्यक्ति मरने के समय मेरे शिर के नीचे गोडा देगा जो मैं उसके लिए इतना मरूं खपू ? कहना न होगा मुमुर्षु व्यक्ति शिर के नीचे घुटना देने वाले व्यक्ति को अतीव प्रियतम मानता है और एकमात्र इसी आशा से वह सौ अकृत्य करके भी सन्तान का पालन-पोषण करना अपना कर्तव्य बना लेता है। दुर्भाग्यवश मुमूर्षु की यह अन्तिम साध भी यदि पूरी न हो सके तो यह 'हतोऽपि निहतः पुन'।

मुमूर्षु स्वयं अपना भला कर सकता है ?

अब तक प्रयाणकालीन जिन शास्त्रीय विधि विधानो का उल्लेख किया गया है वे सब के सब प्राय. कुटुम्बी जनो द्वारा सम्पादनीय ही हो सकते है, अर्थात्-भूमिलेपन, कुशास्तरण उत्तरशिरस्क उत्तान शयन और जानुप्रदान, आदि कृत्य मुमूर्षु स्वय अपने लिए नही कर सकता ये सब बाते कुटुम्बी जनो की कृपा पर ही आश्रित हैं। दुर्भाग्यवश यदि वे न करना चाहे तो मुमूर्षु लाचार है ! विवश है ! दूसरो के हाथो मे बिका है परन्तु शास्त्र जब किसी को विवशता पूर्ण जीवन बिताने का आदेश नही करता तो वह विवशतापूर्ण—मरने देने को भी बाध्य नही कर सकता। अत शास्त्र मे कुछ ऐसे विधि विधान भी विद्यमान है जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन की भान्ति अपने मरण को भी स्वयमेव सुतरा सुधार सकता है।

मृत्यु का मूल सिद्धान्त 'उपरितन द्वार से प्राणोत्सर्ग करना' हम कहते आ रहे हैं। इस एकमात्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कृत्य किये जाते है इनका भी किंचित् दिग्दर्शन हो चुका है परन्तु अपनी मृत्यु को स्वय मनुष्य किन विधियो के आचरण से सुधार सकता है, अब प्रसग प्राप्त इस विषय पर प्रकाश डाला जाता है। हम इसी ग्रन्थ के 'सन्ध्या से पारलौकिक लाभ' प्रकरण पृष्ठ २१६ मे लिख आये हैं कि सन्ध्यावन्दन प्राणायाम से जहा आयु बढती है वहा इससे मरणकाल मे दशम द्वार से प्राण निकाल सकने का भी अभ्यास बढता है। इसीलिए वेद शास्त्र की आज्ञा है कि मृत्युकालीन उस कठिन घडी को सरल बनाने के लिए बाल्यकाल से ही हमे दशम द्वार का भेद जानने के लिए नित्य अधिकारानुसार सन्ध्यावन्दन प्राणायाम, और राम नाम जाप

करना चाहिये। जो व्यक्ति नित्य विधिवत् प्राणो का नियमन करता रहेगा बढते २ उसका अभ्यास इतना परिपक्व हो जाएगा कि प्राण प्रयाण के समय भी विना किसी भौतिक साधन के अपने प्राणो को सुगमता से खीच कर ब्रह्मरन्ध्र की ओर उत्क्रमण करने मे समर्थ हो जाएगा। यह नित्य कर्म वैसा ही कृत्य समझना चाहिए जैसा कि प्रत्येक सैनिक असली युद्ध की तैय्यारी के लिए घर मे, नित्य प्रति कवायद परेड, (कृत्रिम युद्ध) करता है। जो योद्धा नित्य परेड मे मनोयोग नही देगा और इसे व्यर्थ समय अपव्यय समझेगा, वह वास्तविक सग्राम मे विजयी नही हो सकेगा, सतत अभ्यास के विना समय पर चौकडी चूक जाएगा। ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रणायामादि नित्य कर्म निरन्तर न करेगा, इसे कोरा ढकोसला वता कर उपेक्षा करेगा वही मृत्यु के समय दूसरो की कृपा का मोहताज अवश्य वनेगा। इसलिये अपनी मृत्यु को स्वय सुधारने का अमोघ उपाय अधिकारानुसार नित्य प्रति सन्ध्या वन्दनादि कर्मो का विधिवत् सम्पादन करना समझना चाहिए।

गंगाजल और तुलसीदल क्यों ?

जव रोगो का उपचार कर २ थक जाते हैं, और यह भान होने लगता है कि अव रोगी का शरीर न रहेगा तव सव वुद्धिमान् एक स्वर से यही कहने लगते हैं कि अव मुख मे 'गगाजल, और तुलसीदल डालो'।

गगाजल और तुलसीदल का यह अन्तिम उपचार धार्मिक और आयुर्वेदिक दोनो ही दृष्टियो से लाभप्रद है, आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से तुलसोदल त्रिदोषघ्न महौषधि है। इस मे पारद

और सौवर्ण तत्त्वो का समावेश है, किसी भी रोग के शमन मे इसका प्रयोग लाभदायक ही सिद्ध हो सकता है। गङ्गोदक के गुणो पर तो आज पाश्चात्य वैज्ञानिक आश्चर्य चकित है, वह चाहे अभी तक यह समझने मे समर्थ नही हो सके कि अखिर समस्त रोगो के किटाणुवो का सद्य विनाश कर सकने की क्षमता गङ्गोदक मे क्यो है ? परन्तु वे अनेक बार प्रत्यक्ष अनुभव कर के इतनी बात मुक्तकण्ठ से कहने को तैय्यार है कि करण चाहे कुछ भी हो परन्तु गङ्गोदक मे सर्व-रोग-कीटाणु-सहारिणी दिव्य शक्ति अवश्य है। अब तो फ्रास अदि अनेक देशो के विशिष्ट होस्पिटलो मे फिल्टर किया गङ्गोदक अनेक नामो से औषधियो की भाति वर्ता जाता है। सो उभय-दृष्टि से ही तुलसीदल और गङ्गाजल मुमूर्षु का परम कल्याण कारक है। यदि रोगी को अच्छा होना है तो इन दोनो वस्तुओ से वढकर अन्य कोई औषधि नही हो सकती और यदि आयु परिसमाप्त हो चुकी है तब भी इन दोनो वस्तुओ से बढकर अन्य कोई कल्याणकारिणी महौषधि नही हो सकती।

नाम स्मरण क्यों ?

श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थो मे प्राण प्रयाण के समय ॐकार के जाप की बडी महिमा लिखी है यथा—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ।।

अर्थात्—ॐ यह एक अक्षर ब्रह्म है। जो इस का जाप करता हुवा तथ मेरा स्मरण करता हुवा देह त्याग करता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

गो० तुलसीदासजी आदि सन्तो ने तो नाम को नामी से भी बडा माना है। वस्तुत नाम है भी ऐसा ही–यह बात कहने सुनने और ऊहापोह द्वारा सिद्ध करने की नही किन्तु एकबार स्वय करके देखने की है। हमारा अनुभव है कि जब अन्य सब लौकिक उपाय छूछे पड जाते है और मनुष्य अपने आपको अनाथ, विवश निराश्रित सा पाता है, उस समय यदि सौभाग्यवश भगवन्नाम स्मरण की सुबुद्धि आजाए तो डूबते को थाह सी मिल जाती है। मृत्यु के समय भी मनुष्य अपने आप को सर्वथा अनाथ और विवश सा ही अनुभव करता है। पसीना गिरने की जगह खून बहाने वाले इष्ट मित्र सगे सम्बन्धी सभी उस समय लाचार और निराश से दीख पडते हैं। ऐसे वक्त मे सिवा भगवन्नाम-स्मरण के और क्या अवलम्ब हो सकता है ? नि सदेह वे मनुष्य धन्य हैं जो उस समय असीम शोक सागर की उत्ताल तरगो के थपेडो से मझधार मे डूबती हुई अपनी जीर्ण शीर्ण जीवन नैय्या को चतुर खिवैय्या बलदेव के भैय्या कन्हैया के हाथ मे सौंप कर उसी के पवित्र नाम की रट लगाते हुवे हसते २ प्रस्थान करते हैं।

ॐ—या राम नाम ?

कुछ लोग यह भी जिज्ञासा किया करते हैं कि गीता मे ॐकार के जाप का विधान है परन्तु आज कल तो अधिकाश लोग राम नाम का ही जाप करते हैं इसका क्या रहस्य है ?

ॐकार की बहुत बडी महिमा है। इसका दिग्दर्शन हमारे 'ॐकार और शिवलिंग' नामक पुस्तक मे हुवा है, यह वेदो का बीज भूत

महामन्त्र है, साक्षात् ब्रह्म है, परन्तु शास्त्र-रीत्या इस के जाप मे अधिकारी अनधिकारी का भी विचार परमावश्यक है। शास्त्र मे श्रद्धा रखने वाला कोई भी व्यक्ति ऐसी तो कल्पना भी नही कर सकता है कि वह ॐकार की महिमा-सूचक श्रुतियो पर तो विश्वास करे और अधिकार विशेष प्रतिपादक वाक्यो की उपेक्षा करने लगे। अत मृत्युकालीन स्थिति मे मुमूर्षु पवित्र न रह सकेगा यह ध्यान मे रखकर शास्त्रो ने सर्व साधारण के कल्याणार्थ ॐकार के समान फलदायक किन्तु अधिकार विशेष बधन से सर्वथा निर्मुक्त 'राम' नाम को अधिक महत्व दिया है।

कहना न होगा कि प्रयाण काल मे ॐकार के उपासु जाप का विधान इसलिये है कि 'ॐ ॐ' ऐसा उच्चारण करने मात्र से प्राणो की ऊर्ध्वगति स्वयमेव होने लगती है। इस तरह इस मत्र के जाप से भी उपरितन द्वार से प्राण प्रयाण के मूल सिद्धात का ही सरक्षण होता है, सो जैसे ओकार का उच्चारण प्राणो की उर्ध्वगति करने की क्षमता रखता है वैसी ही बल्कि उससे भी कुछ अधिक तारक मन्त्र 'राम' नाम रखता है। शब्द स्फोट के सिद्धातानुसार प्रत्येक अक्षर के उच्चारण से एक खास प्रकार का वातावरण उत्पन्न होता है। त्रिकालज्ञ महर्षियो ने अपनी 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा द्वारा जब इस तत्त्व को अनुभव किया तो उन्होने अधिकार विशेष की सीमा मे आबद्ध ओकार के स्थान मे सर्व-जन-सुलभ, 'राम' नाम का प्रचार किया।

दीप दान क्यों ?

मृत्युकालीन दानों मे दीप दान का बहुत महत्त्व है, अनेक देशो मे बडी तत्परता पूर्वक इस के करने की परिपाटी पाई जाती है यह क्यो ? इसका रहस्य बडा ही मननीय है।

विज्ञान का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि प्रत्येक अंग अपनी अंगी के पास पहुँच कर ही विश्राम लेता है। जैसे ऊपर को फेंका मिट्टी का ढेला पुन भूमाता की गोद मे बैठ जाता है और पानी का रेला अनवरत गति से प्रवाहित हो कर अपने उत्पत्ति-स्थान समुद्र मे पहुँच कर ही विश्राम लेता है, इसी प्रकार अग्नि का गोला भी अबाध गति से चलता चलता अग्नि तत्त्व के एक मात्र उद्गम केन्द्र सूर्य पिण्ड तक पहुँच कर ही रुकता है। सो मरने वाले प्राणी का जीवात्मा वाग् आदि सत्रह तत्त्वो के सूक्ष्म शरीर मे प्रविष्ट हो कर अपने सद्य त्यक्त शरीर से निराश हो कर जब लोकान्तर जाने को उद्यत हो जाता है, उस समय उस मे मार्ग खोजने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। किधर जाऊं ? कहाँ जाऊँ ?—बार २ ऐसा सोचता है। सो उसकी इस प्रवृत्ति को कार्यान्वित करने के लिये तात्कालिक दीपदान बहुत सहायक सिद्ध होता है। दीपक मे होने वाला पार्थिव तत्त्व बत्ती की भस्म या काजल के रूप में अवशिष्ट पड़ा रहता है और जलीय तत्त्व धूमशिखा बन कर बादलों में विलीन हो जाता है, परन्तु विशुद्ध आग्नेय तत्त्व मुमूर्षु के स्थान से चल कर सूर्य मण्डल पर्य्यन्त पहुँच कर ही शान्त होता है। इस तरह दीपदान से जीवात्मा को अभिमत प्रशस्त मार्ग की उपलब्धि होती है कर्मानुसार उसे जिस लोक मे भी पहुँचना है यह अर्चि-मार्ग ब्रह्माण्डवर्ती उन सब लोक लोकान्तरो को लांघता हुवा सर्वोत्कृष्ट उपरिवर्ती द्युलोक पर्यन्त पहुँचता है। जीवात्मा इस के द्वारा कर्म्मानुसार यथेष्ट लोक को पहुँच जाता है। श्रीमद्-भगवद्गीता आदि ग्रन्थो मे अर्चिमार्ग की बहुत प्रशंसा की है,

हमारे शास्त्रो मे सर्व साधारण व्यक्ति के लिये भी केवल टका भर गोघृत के व्यय से अपने घर से लेकर उद्दिष्ट स्थान पर्य्यन्त 'अर्चिमार्ग' बना देने की यह दीपदान-विधि कितनी सस्ती, कितनी सरल एव कितनी महत्त्वपूर्ण है यह मनन किये ही बनती है।

अन्त्येष्टि संस्कार विचार

अन्यान्य अहिंदू मतो मे जहाँ मृत शरीर को जमीन में दफना देने=गाड देने मात्र की प्रथा पाई जाती है वहाँ आर्य शास्त्रो मे भूमि में गाडना, अग्नि मे फूकना, जल मे बहाना और निर्जन वन मे छोड़ देना—ये चार प्रकार की विधिये पाई जाती हैं। 'किस दशा मे कौन विधि वर्ती जाए एतदर्थ भी शास्त्रो मे सूक्ष्म विचार किया गया है। जैसे अजातदन्त बालको, कुष्टियो और वैखानस सन्यासियों के देह भूमि मे दबा देने चाहिएं। शीतला आदि सक्रामक रोगो से मरने वाले व्यक्तियो के देह जलमे प्रवाहित कर देने चाहिएँ। परमहस वर्णाश्रमातीत महात्माओ के देह को वन मे विसर्जित कर देना चाहिए और सर्व साधारण के देह को अग्नि मे भस्म कर देना चाहिए। वनो मे विसर्जित करने वाली प्रथा तो केवल पारसी मत मे दीख पडती है, अन्यान्य सभी प्रथाएँ नियमानुसार आज भी हिंदू जाति मे यत्र तत्र सर्वत्र प्राय देखने मे आती हैं।

शास्त्रीय स्वरूप

(क) भस्मान्तँ शरीरम् (यजु ४०।१५)

(ख) ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः (यजु)

अर्थात्—(क) अन्त मे भस्म हो जाने वाला यह शरीर है। (ख) जिन पितरो के देह गाडे, वन मे फेंके, आग मे जलाए, और जल मे वहाए गए है।

शव को जलाना ही क्यों चाहिये ?

मुसलमान सज्जन आक्षेप किया करते हैं कि हिंदू लोग अपने प्यारे कुटुम्वियो के देह को वडी वेरहमी के साथ आग मे फूक डालते हैं, इस्लाम ऐसी वेवफाई की इजाजत नही देता। मालूम होता है मौलाना साहिव को अपनी दफनाई हुई लाशो की अन्तिम दुर्गति का राज मालूम नही। हिन्दू तो शुद्ध पवित्र अग्नि की चिता मे एक वार ही अपने सम्वन्धियो के देह को भस्मसात कर डालता है, परन्तु मुसलमान तो मिट्टी मे दवे, गले, सड़े अगणित कीडे पेड देहो को कण कण करके भयङ्कर कीडो की जाठराग्नि मे—दोज़ख की आग मे-जलाता है। कहना न होगा कि अन्त मे हिन्दु और मुसलमान दोनो को अग्नि की ही शरण लेनी पडती है अन्तर केवल इतना है कि हिन्दू विशुद्ध अग्नि मे और मुसलमान कीडो की जाठराग्नि मे अपने सम्वन्धियो के केलवरो को स्वाहा करता है। इसलिए सर्व साधारण व्यक्ति के देहो को गाडने के वजाए जलाना ही अधिक अच्छा है।

जलाने की प्रथा को अव तो दूसरे देशो के अहिन्दू विचारक भी महत्त्व देने लगे है, कई आधुनिक परलोक-विद्या-विशारदो का तो यहा तक कहना है, कि "जव तक मृत शरीर अविशष्ट रहेगा तव तक उस मे से निकलने वाला जीवात्मा व्यामोह में वहीं

भटकता रहेगा—उसे तिल तिल गलता सडता देखकर देर तक असह्य कष्ट अनुभव करता रहेगा और लोकान्तर गमन का अपना भावि पुरोगम निश्चित न कर पाएगा। परन्तु जलाने की दशा मे कुछ घन्टा मिनटो के अन्दर ही शरीर के भस्मसात् हो जाने पर एक बारगी ही 'आख फूटी पीड़ भागी' के अनुसार निर्द्वन्द्व होकर लोकान्तर गमन का अगला प्रोग्राम निश्चित कर सकेगा। इसलिये मृतशरीर को ठिकाने लगाने वाली सब क्रियाओ मे दाहकर्म ही सब से सस्ता, सरल और कल्याण-कारी है।

लन्दन के सुप्रसिद्ध विचारक सर टोम्पसन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'माडर्न क्रीमेशन-इट्स हिन्ट्री एण्ड प्रैक्टिस' मे यह सिद्ध किया है, कि इटली आदि देशो मे प्राचीन काल मे शवदाह की प्रथा विद्यमान थी। इग्लैड के एक दूसरे महा-विद्वान् सर हर्बर्ट स्पेसर ने तो मृत्यु से पूर्व अपने सम्बन्धियो को वसीयत की थी कि उनके मृत देह को जलाया जाए, ऐसा ही किया गया, जिस का भारी प्रभाव समस्त पाश्चात्य जगत् पर पडा। अब तो यह प्रथा यूरोपीय देशो मे इतनी अधिक प्रचलित हो गई है कि खास लण्डन में ही कई सरकारी श्मशान बनाने पडे हैं। इग्लैड के सुप्रसिद्ध नाटककार महा कवि बर्नार्डशा ने-जिन का कि गत वर्ष देहान्त हुवा था—अपनी वसीयत में अपने शव का दाह करने की हिदायत की थी।

कबरो के कारण ससार की कितनी उपयोगी भूमि आज व्यर्थ हो रही है इस ओर यदि प्रगतिशील लोग ध्यान दें तो इससे मानव समाज का बहुत बडा उपकार हो सकता है। अकेले भारत की ही लाखो बीघा जमीन मुर्दे मियाओं के कलेवरो ने काबू कर

रखी है यदि इस गाड़ने की कुप्रथा का अति शीघ्र अन्त न किया गया तो एक दिन समस्त ससार ही कवरिस्तान के रूप मे परिणत हो जाएगा। हर एक मरने वाले के लिये कम से कम तीन गज जमीन व्यर्थ वना डाले तो इसका अन्तिम परिणाम खेतो के अभाव मे संसार का भूखो मरना और वेघर-वार हो कर समुद्र मे डूव मरना ही हो सकता है।

कपाल क्रिया क्यों ?

मृतक शरीर के इस हद्द तक जल जाने पर कि उसकी कपालास्थि परिपक्व होने लगे तव अर्थी के लम्वे डडे से कपाल स्थान को तीन वार स्पर्श करते हुवे व्रह्मरन्ध्र स्थान को अति चोट से फोड दिया जाता है जिसे कपाल क्रिया' कहते हैं। कई लोग इसमे मे भी निष्ठुरता की गंध सूघने का प्रयास करते है। परन्तु वास्तव मे यह प्रथा पिता के ससमरणीय वात्सल्य और पुत्र के अवश्य करणीय भावि कर्तव्य कर्मो का प्रणवद्ध निदर्शन है।

हम अन्यत्र यह सकेत कर आए है कि मुमूर्षु मनुष्य अपने जीवन काल मे स्वयमपि अपनी सद्गति की साधना मे सफल प्रयत्न कर सकता है। उन प्रयत्नो मे सर्वोत्तम और सर्वथा अमोघ प्रयत्न यह है कि वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी रह कर अपना समस्त जीवन समाप्त करदे। नि सदेह यह व्रत अन्त तक निभाना है तो वहुत कठिन। परन्तु जो भाग्यशाली निभाने मे कृतकार्य हो जाय वह विना किसी उपायान्तर के, एक मात्र साधना के वल से मोक्ष का अधिकारी हो जाएगा। प्राय दशवर्ष की अवस्था के वाद स्त्री शरीर मे, सोलह वर्ष की अवस्था के वाद पुरुष शरीर मे रज और वीर्य का प्रादुर्भाव होने लगता है। (स्वाभाविक

मासिक ऋतुस्राव को छोडकर) यदि सोहलवे वर्ष तक स्त्री और चौबीसवे वर्ष तक पुरुष अष्टविध मैथुन से बचकर उसे नष्ट न होने दे, तो वही वीर्य समस्त शरीर की पोली हड्डियो मे भरपूर हो जाएगा। मलेरिया टी० बी० आदि घातक रोगो के जो कीटाणु आज वीर्य्यहीन खाली अस्थियो में अपने घोसले बनाकर सदा के लिये डट जाते हैं, वही नैष्ठिक ब्रह्मचारियो के वज्रसन्निभ शरीर मे कही अणु मात्र भी खाली स्थान न मिलने पर निराश होकर लौट जाते है। कदाचित् यही अखण्ड ब्रह्मचर्य्य यदि जीवन भर बना रहे तो शरीरान्तर्वर्ती यह सातवी धातु=शुक्र नामक पदार्थ 'ओज.' रूप मे परिणत हो जाता है, जो ब्रह्मचारी की वाणी, नेत्र आकृति सब से अभिव्यक्त होने लगता है। इसी के बल से महात्माओ की वाणी से निकला हुवा एक साधारण शब्द भी अपनी ओजस्विता के कारण श्रोताओ मे जीवन फूक देता है। नेत्रो की तेजस्विता के सामने सिंह व्याघ्रादि हिंसक जगली जानवरो की कौन कहे—यदि मूर्खतावश कोई हत्यारा मनुष्य भी प्राण लेने के इरादे से सामने आए तो वह भी स्वयमेव परास्त होकर पानी २ हो जाता है। अनेक सतप्त प्राणी केवल दर्शनमात्र करने से शान्ति अनुभव करने लगते है। इसी ओज को अहिन्दू लोग 'जलाल' 'नूर' आदि नामो से स्मरण करते है। चित्रकार दिव्य चित्रो के मुख के चारो ओर कुण्डलाकृति प्रभा बनाकर इस तत्त्व को अभिव्यक्त करते है। सो ये ओज-सम्पन्न व्यक्ति प्राण प्रयाण के समय बिना किसी अन्य साधना के अपने प्राणो को कपाल फोड़कर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा निकालने मे समर्थ होते है और अपने ही पुरुषार्थ द्वारा मोक्षभागी बन जाते है।

परन्तु साधारण घर गृहस्थी लोग 'पुत्रेण लोकाञ्जयति' इत्यादि शास्त्राज्ञाओ पर विश्वास रखते हुवे अपने उस अमूल्य रत्न वीर्य को सन्तानोत्पादन कृत्य मे व्ययित कर देते हैं जिससे कि अन्त काल मे कपाल फोडकर प्राण निकाल डालने की वह योग्यता अपने हाथो खो वैठते है। अव जव पिता का देहान्त होता है तो पुत्र पिता के उस वात्सल्य भाव को स्मरण करके—जो कि उसने अपने मोक्ष को भी न्यौछावर करके पुत्र के उत्पादन मे दिखाया था—वार २ विह्वल हो उठता है, इस असीम वात्सल्य का आना पाई कुछ भी मूल्य चुकाने लिए श्रद्धा का समुद्र ठाठे मारने लगता है तव वह हाथ मे वास उठाकर समागत समस्त बान्धवो के सामने पिता के कपाल को तीन वार छूता हुवा प्रतिज्ञा करता है कि—"पूज्य पितृदेव ! यदि आप मुझसे अयोग्य पुत्र के उत्पादन मे अपना वीर्य्य न वहाकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहते तो आज उस ब्रह्मचर्य्य के वल से तुम्हारे कपाल को स्वय भेदनकर प्राण निकलते और आप मुक्त हो जाते। परन्तु वात्सल्यवश आपने मेरे उत्पादन के लिए अपनी मुक्ति को भी न्योछावर कर दिया, अव मैं भरी जनता मे यह तीन वार प्रतिज्ञा करता हूँ कि शास्त्र विहित और्ध्व-दैहिक कर्म्म कलाप द्वारा इस कमी को पूरा करूँगा ! पूरा करूँगा !! पूरा करूँगा !!! यही कपाल क्रिया का वास्तविक भाव है।

सचैल स्नान क्यों ?

मृतक के साथ श्मशान भूमि तक जाने वाले सम्बन्धियो को वस्त्र प्रक्षालन पूर्वक स्नान अवश्य करना चाहिये। शास्त्र कहता है कि—

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ।
स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्धयति ॥
(मनु०-१०३)

अर्थात्—स्वजातीय अथवा विजातीय मृत व्यक्ति के साथ इच्छा से श्मशान तक जाकर पुरुष सचैल स्नान, अग्नि स्पर्श और घृत के प्राशन से विशुद्ध होता है।

मृतक को न जाने किन २ रोगो से क्लिष्ट होकर शरीर त्यागने के लिये विवश होना पडा है। उन अनेक सक्रामक रोगो के कीणाणु सर्वथा शरीर दग्ध हो जाने से पूर्व शव मे सश्लिष्ट ही रहते हैं, अत शव वहन करने वाले व्यक्तियो को खासकर, तथा ससर्ग मे आने वाले शवानुगामी सम्बन्धियो को भी सचैल स्नान करना ही चाहिए। देहली जैसे बडे नगरो मे कुछ दिन से ऐसी कुप्रथा पड गई है कि कुछ कार्यव्यस्त सम्बन्धी अपनापन प्रकट करने के लिए थोडी दूर तक मृतक को कन्धा देकर पुनः कार्य मे पूर्ववत् सलग्न हो जाते है। वस्त्र प्रक्षालन की कौन कहे स्नान करना भी आवश्यक नही समझते, तथा कुछ व्यसनी शवानुगमन करते हुवे और श्मशान भूमि तक मे भी बीडी सिगरेट पीते रहते है। ये दोनो कुप्रथाएँ अनेक सक्रामक रोगो के कीटाणुओ को निमन्त्रित करने के बराबर है जिनका परिहार होना नितान्त आवश्यक है।

अग्निस्पर्श और निम्बपत्र चवर्ण क्यों ?

मनु के उपरोक्त आदेशानुसार कुरुक्षेत्रादि धार्मिक प्रदेशो मे श्मशान तक जाने वाले समस्त सम्बन्धी सचैल स्नानके अनन्तर घर लौटने से पूर्व अग्निस्पर्श करते है। इस प्रथा के महत्त्व पर अधिक

लिखने की आवश्यकता नही, प्रत्येक बुद्धिमान् स्वय अनुमान कर सकता है कि अग्नि स्पर्श से समस्त सक्रामक बीमारियो के कीटाणु भस्मसात् हो जाते हैं अत इसका सस्पर्श बहुत ही लाभ-प्रद है। निम्ब परमोत्तम सशोधक पदार्थ है। जब किसी शव को किसी विशेष घटना के कारण देर तक रखना अनिवार्य होता है तो उसे निम्बपत्रो से ढाप रखते हैं, इस क्रिया से उसके सड़ जाने का भय नही रहता। ऐसी स्थिति मे निम्बपत्र चवर्ण और घृत-प्राशन रहे सहे सक्रामक रोगो के कीटाणुओ के खतरे से सर्वथा उन्मुक्त हो जाने का वैज्ञानिक साधन है।

अस्थियों को गंगा में क्यों डालें ?

शास्त्रो मे वर्णन आता है, कि मृतक की पचाग अस्थिये गगा मे प्रवाहित करनी चाहिये। यथा —

यावदस्थीनी गंगायां तिष्ठन्ति पुरुषस्य च ।
तावद्वर्षसहस्राणि ब्रह्मलोके महीयते ॥ (शख० ७)

अर्थात्—मृतक की अस्थिएं जब तक गगा मे रहती हैं तब तक मृतात्मा शुभ लोको मे निवास करता हुआ आनन्दोपभोग करता है।

मा गगा के सम्बन्ध मे तो हम तीर्थ महिमा के प्रसंग मे आगे यथा स्थान लिखेगे, परन्तु यहाँ इतना जान लेना परमावश्यक है कि मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा अपने शरीर की भस्मी मे भी मोह रखता है। जब तक सम्बन्धी उस भस्म को टिकाने नही लगाते तब तक मृतात्मा इसी चक्कर मे पड़ा रहता है और अपनी परलोक यात्रा को आरम्भ नही करता। इसीलिए हिन्दू शास्त्रो मे तत्काल शव का दाह कर दिया जाता है और ज्यो ही चौथे

दिन भस्म हाथ छूने लायक ठडी हो पाई कि उसे उठाकर किसी निकटस्थ नदी नद मे प्रवाहित कर दिया जाता है। इस तरह मृतात्मा की धूल भी अवशिष्ट नही रहने दी जाती। केवल पचाग अस्थिये जिन्हे कि धार्मिक परिभाषा मे 'फूल' कहा जाता है—गगा माता के प्रवाह में स्थापित करदी जाती है, जिनके कारण मृतात्मा को ऐसे विलक्षण आनन्द का अनुभव होने लगता है कि मानो मै स्वय ही मा गङ्गा की पवित्र गोद मे बैठा हुआ कल्लोल कर रहा हूँ।

इसके अतिरिक्त गगादि नदियो मे अस्थियो के डालने का एक अन्य तथा स्थूल लाभ भी है जिसे सभी वैज्ञानिको ने एक मत से स्वीकार किया है। अस्थियो के वैज्ञानिक परीक्षण से यह सिद्ध हुआ है कि उनमे फास्फोरस अत्यधिक मात्रा मे होता है जो खाद के रूप मे भूमि को अत्यन्त उपजाऊ बनानेकी क्षमता रखता है। आज तो इससे काफी मात्रा मे खाद तैयार किया जाने लगा है। निरन्तर वहते रहने से नदियो का जल और विशेषत गगा जैसी महानदी का जल—जिसे कैलाश से लेकर बगाल की खाडी तक लगभग १४०० वर्गमील का मार्ग तय करना पडता है और जो सहस्रो वर्गमील भूमि को सीचकर उपजाऊ तथा हरा भरा बनाता है—अपनी फास्फोरस शक्ति को खो देता है। वह भूमि को उतना अधिक उपजाऊ बनाने मे समर्थ नही रहता। इसमे प्रचुर मात्रा मे अस्थि डाल देने से अस्थिगत फास्फोरस जल मे समिश्रित हो जाता है और वह भूमि को उर्वरा करने मे सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार के अस्थि विसर्जन के कृत्य से एक भारतीय सस्कृतिका पुजारी जहा जीवन दशा मे अपने तन को मातृभूमि की सेवा एव समृद्धि में लगाता है, वहा मरने पर

अपनी अस्थियो को भी मातृभूमि की समृद्धि के लिए समर्पित कर सत्पुत्र का कर्तव्य पालन करता है।

कहना न होगा कि पिता माता की अस्थियो को फूल नाम से स्मरण करना जहा मृतात्माओ के प्रति अगाध श्रद्धा और समादर का सूचक है वहा वैज्ञानिक हेतुसे भी समर्थित है। सभी जानते हैं कि प्रत्येक वृक्षमे पुष्पोद्गम होने के अनन्तर ही फलोदय होता है। सो हिन्दू परम्परा मे चू कि सन्तान को फल नाम से स्मरण करते है अत सन्तान रूप फल, माता पिता की जिन अस्थियो के सार से समुद्भूत् है उन्हे 'फूल' नाम से स्मरण करना युक्तिसगत ही है।

राष्ट्रपिता गाधीजी की भस्म का राष्ट्र-धन-व्यय से भारत के समस्त तीर्थो मे वहाया जाना इस वात का प्रवल सकेत है कि जीवन काल मे भले ही कुछ लोग धार्मिक भावनाओ की, पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा के दूपित प्रभाव से उपेक्षा करने की भूल कर देते हो, परन्तु रोम २ मे रमी हुई आर्य परम्पराओ की आस्था अन्त मे अपना अमिट प्रभाव प्रकट किये विना नही रहती। इस प्रकार गर्भाधान से अन्त्येष्टि पर्यन्त समस्त वैदिक सस्कारों का सक्षिप्त निरूपण करने के अनन्तर हम इस अध्याय को यही करते हैं।

गर्भाधान कर्म से लेकर मृत्युकाल तक सकल विधान।
क्या ? कब करना ? धर्म-रीति से शास्त्रविहित धर्मानुष्ठान।
यद्यपि हैं अदृष्ट-फल-मूलक तो भी दृष्ट-लाभ-विस्तार।
हेतु पुरस्सर सिद्ध किया अध्याय तीसरे मे यह सार॥

प्रकीर्णाध्याय:

(चौथा अध्याय)

वैदिक्यो या मुहूर्ताद्या, नाना शास्त्रमताः क्रियाः ।
हेतुवादैः परिष्कृत्य, प्रदर्श्यन्तेऽत्र सप्रमाः ॥

विगत अध्यायो मे वे सिद्धान्त— जो ध्रुव की भाति सदैव अटल हैं तथा प्रात काल से शयन पर्यन्त की समस्त शास्त्रीय विधियो का और गर्भाधान से लेकर औध्वंदैहिक क्रिया पर्यन्त उसके समस्त सस्कारो का सप्रमाण और सयौक्तिक वर्णन किया जा चुका है । ध्यानपूर्वक मनन करने पर तत्तत् क्रियाओ की इति कर्तव्यता का सहेतुक 'क्यो' तत्त्व सम्यक् विदित हो जाएगा, सम्प्रति इस अध्याय मे अवशिष्ट समस्त विशेष क्रियाओ पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा । हम इस अध्याय का श्रीगणेश तो मुहूर्त वर्णन से कर रहे है परन्तु विषय की सकीर्णता के कारण इसकी परिसमाप्ति होने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता इसलिए ग्रन्थ का कलेवर, भगवत्कृपा और हमारी शक्ति जहातक अनुकूल रहेगी वहा तक 'जस जस सुरसा वदन बढावा, तासु दुगुण कपि रूप दिखावा' के न्यायानुसार न 'क्यो' का अन्त है न ही उसके समाधान का परला किनारा है । सो बहुत कुछ लिखने पर भी यह अध्याय अपूर्ण ही रहेगा, आशा है यह अपूर्णता भी

महामहिम अनन्त भगवान् के मूर्तरूप सनातन धर्म की अनन्तता की ही परिचायक सिद्ध होगी। जिसे अनुभव करते हुवे विज्ञ पाठक भी हमारे साथ—'असितगिरिसम०' से आरम्भ करके 'तदपि तव गुणानामीश ! पार न याति' तक के पुण्य पाठ मे सहर्ष सम्मिलित होगे।

मुहूर्त विज्ञान

वेदादि शास्त्रो मे—सूत्र ग्रन्थों मे और तदुपजीवी ज्योतिष शास्त्रो मे प्रत्येक शुभाशुभ कर्म के लिए तदनुकूल काल साधन विज्ञानके आधार पर मुहूर्त साधन का विस्तृत विधान विद्यमान है तदनुसार प्रत्येक हिन्दू गर्भाधान आदि सस्कारो की कौन कहे-नूतन वस्त्र पहिनने जैसी छोटी २ क्रियाओ से लेकर मरण तक के लिए सर्व प्रथम वडी सावधानी से मुहूर्त सधाता है। आज के इस नास्तिकता पूर्ण वातावरण मे भी मुहूर्त साधनेकी प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा मे पाई जाती है। विवाह आदि का मुहूर्त न सधने पर, घर मे सब सामग्री तैय्यार रहते भी—वह न हो सकेगा यह मर्यादा अभीतक भी यथाकथञ्चित् सुरक्षित है।

अन्यान्य मतों में मुहूर्त साधना

मुहूर्त साधने की भावना अन्यान्य मतो मे भी पाई जाती है, वे भी अमुक दिनमे अमुकसमय मे ही अमुक कार्य करने को महत्त्व देते हैं। ईसाई रविवार को पवित्र मानते हैं-बाईबिल के लेखानुसार छ दिन मे खुदाने सृष्टि रचना कर डाली, सातवें दिन थककर विश्राम किया। उनका विश्वास है कि वह दिन रविवार

यानी 'सन्डे' था। इसलिए ईसाई सम्प्रदाय मे यह दिन, खेल कूद विश्राम, ईश्वर प्रार्थना और रङ्गरलिया मनाने का दिन ही समझा जाता है। गुड् फ्राइडे=शुभ शुक्रवार और ईस्टर के दिनो को भी पवित्र मानते है, पहिली अप्रैल को तो हमारी होली की भाति सधा सधाया मागलिक दिन मानते हैं।

इसी प्रकार मुसलमानो मे भी शुक्रवार को पवित्र दिन माना जाता है, इसकी पवित्रता की थ्यूरी भी ईसाइयो के समान ही है, परन्तु इनकी मान्यता मे विश्राम का दिन (जुम्मा) अर्थात् शुक्रवार था। 'अकरम' के अढाई दिनो मे ये लोग नकाह, खतना आदि कोई शुभ सस्कार नही करते। हमने 'अकरम' के दिनो का अनुसन्धान करके देखा तो वे दिन हमारे गणित के अनुसार वृश्चिक राशि पर चन्द्रमा की स्थिति के दिन हैं। अर्थात्-विशाखा नक्षत्र का अन्तिम चरण तथा अनुराधा और ज्येष्ठानक्षत्र सम्पूर्ण यही 'अकरम' है। अकरम शब्द भी सीधा अकर्म्म का ही रूपान्तर है जो इवरानी भाषाओ की खरोष्ट्री लिपि मे हल अक्षर के उच्चारण की व्यवस्था न होने के कारण स्वाभाविक है। यहां यह भी जान लेना अनावश्यक न होगा कि मुसलमान चान्द्र सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, इसीलिए इनका वर्ष, सब त्योहार चन्द्रमा पर अवलम्बित है, इसीलिए आधे चान्द का चिह्न इनका सर्वप्रिय 'मार्का' है। सो वृश्चिक का चन्द्रमा नीच राशि का चन्द्रमा होता है इसलिए वह वर्जित है। मौलाना साहिब के फरिस्ते भी चाहे अकरम के मनहूस होने का रहस्य न जानते हो परन्तु हम उन्हे भी इसका कारण वतला देते है। नीच उच्च क्या है?—इसका तत्त्व यहा नही बतलाया जा सकता, यह ज्योतिष ग्रन्थो से जानना चाहिए। सो मुसलमान भी 'मुहूर्त'-जिसे वे 'स्यायत' कहते है-सुतरा मानते है।

आर्य्य समाज के स्वामी दयानन्द ने तो सस्कार विधि मे प्रत्येक संस्कार के आरम्भ में अमुक नक्षत्र अमुक दिन होना आवश्यक स्वीकार किया है और उसके लिए सूत्र ग्रन्थो के अनेक प्रमाण भी उद्धृत किए है। हम स्वामी दयानन्द जी के ही शब्दो को यहा उद्धृत करते है—

(क) शुक्ल पक्ष मे जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रो से युक्त चन्द्रमा हो उसी दिन सीमन्तोन्नयन सस्कार करे।

(सस्कार विधि पृष्ठ ५०)

(ख) उत्तरायण शुक्ल पक्ष मे जिस दिन आनन्दमङ्गल हो उस दिन यह (चूडाकर्म) सस्कार करे।

(स० वि० ७३)

(ग) यज्ञोपवीत का समय-उत्तरायण सूर्य्य, ब्राह्मण का वसन्त क्षत्रिय का ग्रीष्म, वैश्य का शरद ऋतु मे—

(स० वि० पृ०८०)

जैन बौद्ध तो मुहूर्तो मे हमारी ही भाति आस्था रखते हैं। इससे सिद्ध होगया कि मुहूर्त साधने की परिपाटी न्यूनाधिक प्राय. सभी सम्प्रदायो में पाई जाती है। यद्यपि ऐसी स्थितिमे कोई भी मुहज्जव हमसे 'क्यो' पूछनेका मिजाज नही रखता, क्योकि—'ययोरेव समो दोष परिहारस्तयो सम' इस न्याय के अनुसार इसका उत्तरदायित्व उन पर भी हमारी तरह ही आयद होता है। तथापि वे विचारे अपने कल्पित एव अवैज्ञानिक मुहुर्तो का क्या रहस्य बतला सकते है! अत हम उपर्युक्त न्याय के बहाने से अपने पाठको को निराश नही कर सकते सो 'शृणुध्वं मुनयः सर्वे'—

शास्त्रीय स्वरूप

वेद मे नव ग्रहो और अट्ठाइस नक्षत्रो से शुभ होने की (नाम निर्देश पूर्वक) प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद के [१९वे काण्ड के ७, ८, ९,] पूरे के पूरे सूक्त इस रहस्य से भरे है। हम दिङ्मात्र यहा दिखाते है यथा—

(क) सुहवमग्ने ! कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।... ... ...आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आवहन्तु। (अथर्व० १९।७।२-५)

(ख) शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
(अथर्व० १९।९।१०)

अर्थात्—(क) हे अग्निदेव ! कृतिका नक्षत्र हमारे लिए कल्याणकारक हो, तथा रोहिणी मृगशिर. आर्द्रा भी शुभ हो। (ख) चन्द्रमा और उससे सम्बद्ध समस्त ग्रह तथा राहु सहित सब सौर ग्रह कल्याणप्रद हो।

वैज्ञानिक विवेचन

हम पीछे 'अण्ड-पिण्ड-वाद' की व्याख्या मे यह सिद्ध कर चुके हैं कि हमारा यह मानव पिण्ड वस्तुत ब्रह्माण्ड का ही सक्षिप्त सस्करण है तदनुसार पिण्डको सबल बनाने के निमित्त जितने सस्कार किवा पौष्टिक शान्ति कृत्य किए जाते हैं उनके लिए ब्रह्माण्डगत मूल स्रोतो की अनुकूलता भी सर्वथा अनिवार्य है। जैसे नगर के प्रत्येक घर मे बिजली फिट हो परन्तु यदि पावर

हाउस की मूल लाइन बन्द हो तो वत्ती के स्विच को सौ बार दवाने पर भी प्रकाश न होगा, अत हमारी वत्ती जगने के लिए पावर हाउस की लाइन की अनुकूलता आवश्यक है।

बडे बडे नगरो मे जहा पानी के नल लगे रहते है कभी २ जल सकोच के समय मानुषपालती की ओर से नल खुलने का समय नियत हो जाता है। सो सब जलार्थी अपने २ वर्तन लिए जल खुलने के समय की प्रतीक्षा मे घडी की ओर ताकते रहते हैं कि कब वह मुहूर्त आए जब वर्तन टू टी के नीचे रक्खा जाए, क्योकि असमय मे टू टी के नीचे वर्तन रखने से कुछ लाभ नही। एक देहाती की दृष्टि मे विजली की वत्ती मे प्रकाश है परन्तु नागरिक जानता है कि प्रकाश का खजाना तो पावर हाउस है उसी के करन्ट से वत्ती जल सकती है, पखा चल सकता है, और अमुक यन्त्र मे प्रगति आ सकती है। इसी प्रकार वाटर वर्क्स (पानी की प्रधान टकी) का भेद न जानने वाला मूर्ख ही यह मान सकता है कि दीवार मे लगा यह भूतनाथ कान मरोडते ही पानी की धारा वहा देता है। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। विजली के लिए शक्तिभण्डार (पावर हाउस) और जल के लिए जलभण्डार (वाटर वर्क्स) ही सब कुछ हैं।

यद्यपि कई वार हमारी अपनी असावधानी से वत्ती का फ्यूज जल जाने पर या लाट्टू के विकृत हो जाने पर भी पावर हाउस का करण्ट हमे लाभ नही पहुँचा सकता, अत हमारे अपने यन्त्र का भी ठीक रहना परमावश्यक है, परन्तु उपजीव्य और उपजीवी भाव से पावर हाउस उपजीव्य है और हमारी वत्ती तदुपजीविनी है, उपजीव्य सदा मुख्य होता है। ठीक इसी प्रकार मानवपिण्ड शरीर इन्द्रिय, मन, वुद्धि, चित्त, अहकार, प्राण

जीव, आदि जितनी वस्तुएँ है ये उपजीवी की भाति किसी विशेष शक्ति द्वारा सञ्चालित यन्त्र मात्र हैं। उनका सचालन करने वाली शक्ति ब्रह्माण्ड मे जहा तहाँ व्याप्त है वे ही सब हमारी उपजीव्य है, वैदिक विज्ञान परिभाषा मे उन्ही का नाम देवता है।

मुहूर्त इन्ही ब्रह्माण्ड व्याप्त देवताओ की सानुकूलता परीक्षण की एक विधि मात्र है। जिसके ज्ञान से हम तत्तत् कार्य से सबध रखने वाली दैवी शक्ति का अपने साथ सामञ्जस्य प्राप्त करने मे सफल हो सकते है।

मिस मियो की मरम्मत

हम 'अण्ड पिण्डवाद' में यह सिद्ध कर आए है कि हमारे शरीर का सब कुछ इन्ही देवताओ की देन है। यदि गवारू भाषा मे सीधा कहना चाहें तो यू कह सकते हैं कि जो शक्तियां हमे सब कुछ देती हैं वे ही 'देवता' है और हम लेने वाले है इसलिये हम 'लेवता' हैं। सो मनुष्य पदे २ उन देने वाली शक्तियो का मोहताज है। मिस मेयो के शब्दो मे हम 'देवताओ के गुलाम' हैं। अमेरिका की यह उच्छृखल छोकरी जो कई बच्चो की जननी हो जाने पर भी आयु भर मिस=कुमारी ही बनी रहने का दावा करती है—किसी दिन हमे मिल जाए तो फिर हम उसे बताए कि कि बाप की बिटिया! तू स्वयं बता कि तू देवताओ की गुलाम है या नही ? हमारा दावा है कि तू तब तक देख भी नही सकती जब तक देवता कृपापूर्वक तुझे दृष्टि प्रदान न करे। यदि तुझे अभिमान हो कि तू अपनी ही आखो से देखती है तो आ अमावस को रात मे तुझे जगल की सैर कराएँ।'

'माई लार्ड! उई री मैय्या!'—'हैं २ यह क्या ? अभी तो दश

कदम ही चल पाई थी ! क्या हुआ ? मियो मिस्ट्रस ! बोलती क्यो नही । ओहो ! सूखे लक्कड से टकरा गई ! खोपडी फूट गई । तुमने देखा क्यो नही, तुम तो अपनी आखो से देखा करती हो ! तुम सूर्य चाद और टिमटिमाते तारो की या लालटेन टौर्च=अग्नि देवता की गुलाम थोडे ही हो ! सच बताओ ! क्या वे अपनी बिल्ली जैसी पीली पीली चमकीली आख घर भूल आई ! ठण्डा, गरम, दूर का निकट का कोई तो चश्मा लगाकर देखो !'

हमारा दावा है कि मनुष्य अपनी आख से नही देखता, किंतु वह मेरे त्र्यम्बक भगवान् के ही अग्नि सूर्य चन्द्र रूप तीनो नेत्रो मे से किसी एक की सहायता से देख पाता है । भाद्रपद की सघन मेघाच्छन्न अमावस की आधी रात मे जब कि सूर्य, चन्द्र, तारे और अग्नि प्रकाश इनमे से कोई भी मेरे नेत्रो को सहायता नही दे रहा है, तब आख का चमडा और पाव की तली का चमडा दोनो निर्विशेष चमडे ही हैं । क्या अब भी अपनी आखो से देखने का अभिमान दूर नही हुआ ? क्या अब भी केवल भारतीय हिन्दुओ को ही देवताओ के—'गुलाम' बताकर अपनी इस नाम की पुस्तक मे अपनी मूर्खता का परिचय दोगी ? अरी अमेरिका की खरी छोकरी ! यदि अब भी तू न समझी तो कल तुझे एक बक्से मे बद करेंगे—फिर देखना कि वायु देवता की कृपा के बिना थोडे समय मे ही तेरे प्राण पखेरू उड़ते हैं कि नही ? तू तो चौबीस घण्टे मे अन्यून, इक्कीस हजार छ सौ बार वायु देवता की दासता स्वीकार करने के लिये विवश है तब कही इतने स्वास ले पाती है ।

मानव पिण्ड—शामिल बाजा

कहा जाता है कि एक बार किसो महाराजा के दरबार में गाना

बजाना हो रहा था, परन्तु महाराज किसी शासन सम्बन्धी अड-चन की उधेड बुन मे पडे आज इस आनन्द मे भी गम्भीर मुद्रा बनाये सुस्त बैठे थे। चतुर मन्त्री ने राजा को आनन्द विभोर करने के लिए विनोदार्थ चारपाई का एक पावा कन्धे पर रखकर एक डण्डे से सरङ्गी की भाति वजाना आरम्भ किया। ज्यो ही राजा का ध्यान इधर गया वह इस चेष्टा पर खिलखिला उठे और सब गाने बजाने वालो से बोले कि आप लोग अपने २ बाजे बन्द करो, हम यह नया बाजा सुनना चाहते हैं। बजन्त्री बन्द हो गए, मन्त्री भी अपने पावे सेरवे को रोककर बैठ गये। राजा ने जब आग्रह किया कि तुम्हारा वाजा सुनने के लिये ही तो सब बाजे वन्द किये हैं, तुम क्यो बन्द करते हो ? बजाओ। मन्त्री ने विनोद पूर्वक कहा--श्रीमान् जी। इस बाजे का नाम 'शामिल वाजा' है, इसकी यह तारीफ है कि जब बाजे वजाते हैं तभी यह बजता है अकेले नही बजता। राजा इस उत्तर पर और भी हसा।

दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि वह 'पावा सेरवा' तो नाम मात्र का ही बाजा था, सब बाजो की ध्वनि मे ही इसको भी प्रतिष्ठा बनीरहती थी, स्वतन्त्र इसकी कुछ भी सत्ता नही थी ठीक इसी प्रकार यह मानवपिण्ड भी शामिल बाजे की भाति अपनी कुछ भी स्वतन्त्र सत्ता नही रखता किन्तु सूर्य चन्द्र आदि ब्रह्माण्ड के बाजे जब बजते है, तभी यह भी इनकी छाया मे यथा तथा सिसकता रहता है। यदि एक क्षण के लिये भी वे बद हो जाये तो यह भी कोरा खट्वाग ही शेष रह जाता है, तभी तो शिव भगवान् हर वक्त इसे अपने हाथ मे सभाले रहते हैं। कदाचित् क्षणमात्र के लिये भी यह उनके हाथ के आश्रय से छूट जाए तो फिर शस्त्र

नही रह सकता, खट्वाग को शस्त्र (कार्य साधक) बनाने की शक्ति त्रिशूली मे ही है।

अथर्व वेद के १९ वे काण्ड का ४३ वा पूरा सूक्त का सूक्त इस रहस्य से भरा है। यथा —

(१)··· अग्निर्मेधा दधातु मे, (२)··· वायुः प्राणान् दधातु मे, (३)···चक्षुः सूर्यो दधातु में, (४)··· मनश्चन्द्रो दाधातु मे, (५)···बलमिन्द्रो दधातु मे, (६)···ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। (अथर्व० १९ । ४३ । १-८)

अर्थात्—अग्निदेव मुझे मेधा=धारणा शक्ति प्रदान करे वायु प्राण, सूर्य नेत्र, चन्द्रमा मन, इन्द्र बल, और ब्रह्मा ब्रह्म, प्रदान करे ।

गुरु शुक्रास्त वर्जित क्यों ?

गुरु और शुक्र के अस्त हो जाने पर प्रायः सभी शुभ कर्म खासकर विवाहादि स्त्री सम्बन्धी कृत्य वर्जित है, क्यो ?-इसलिये कि 'अण्डपिण्ड सिद्धान्त' के अनुसार मानव पिण्ड मे 'ज्ञान' गुरु की देन है और 'वीर्य' (काम=स्त्री सम्बन्धी सब चेष्टाए) शुक्र की देन है सो जब ये दोनो महाग्रह अस्त हों तो 'ज्ञान दुर्बल' और 'हीन वीर्य' मनुष्य जो कुछ भी करेगा वे सब कृत्य अज्ञान विजृम्भित तथा क्लैब्यपूर्ण होंगे। सही मस्तिष्क वाला बलवान् मनुष्य ही सब कृत्यो को औचित्य की भित्ति पर स्थिर करने मे समर्थ हो सकता है इसीलिये आज के कानून मे भी किसी रहन व, बसीहत नामे के परिलेख मे कानूनन यह लिखना अनिवार्य है कि—'मुझ लिखने वाले का मस्तिष्क सही है और अपनी होश

हवास मे यह परिलेख लिख रहा हूं—कहना न होगा कि हमारे ऋषियो ने केवल वाचिक प्रतिज्ञामात्र से यह स्वीकार करना पर्याप्त नही समझा किन्तु उन्होने तत्तत् ग्रहो के अस्त-कालीन समय मे किए हुए कार्यो को धर्म शास्त्रीय कानून के अनुसार अकृत्य समझा क्योकि ऐसे समय मे मनुष्य के मस्तिष्क के सही न होने मे ब्रह्माण्डीय वातावरण प्रत्यक्ष प्रमाण है।

कदाचित् कोई अक्ल का कोल्हू यह शका कर बैठे कि सूर्य और चन्द्र के अस्त हो जाने पर तो रात मे धडाधड विवाह होते हैं परन्तु इन छोटे २ तारो के अस्त हो जाने पर अमुक कृत्य करने से आफत का पहाड आ पडेगा ! यह क्या पोप लीला है !!

हम यहा यह बता देना चाहते है कि अस्त से तात्पर्य यहा आखो से ओझल हो जाना नही है, किन्तु सूर्य पिण्ड के अत्यन्त सन्निधान मे जाकर उसके मण्डल मे विलीन हो जाना है, सूर्य कभी अस्त नही होता, वह तो रात मे केवल आखो से ओझल मात्र हो जाता है। उसे उपचारात् अस्त कह देते हैं। इस प्रकार का अस्त तो गुरु शुक्रादि का भी वर्जित नही। चन्द्रमा भी अमा-के दिनो मे ही 'अस्त' रहता है तब भी विवाहादि शुभ कृत्य नही होते। मङ्गल बुध और शनि का किसी आध्यात्मिक तत्त्व से सम्बन्ध नही किन्तु उनका स्थूल मानवपिण्ड से सम्बन्ध है। यह 'अण्ड पिण्ड वाद' मे सिद्ध कर आए है। उनका मन, बुद्धि अन्त करण पर कुछ प्रभाव नही पडता।

सिंह गत गुरु में विवाह क्यों न हो ?

तेरह वर्ष के बाद जब वृहस्पति सिह राशि मे आता है तब विवाह नही होते, क्यो ?—इसलिये कि—'अण्ड पिण्ड वाद' के

अनुसार सूर्य पिण्ड से पचास कोटि योजन सब ओर परिधि वाले आकाश प्रदेश को एक ब्रह्माण्ड कहते है और,उपरितन कटाह को 'द्यौ' कहते हैं। इन दोना कटाहो को ज्योति शास्त्र के अनुसार ३६० विभागो (अशो) मे बाटा जाता है सो उनमे से आधे १८० अश भूमण्डल द्वारा दृश्य रहते हैं और आधे अदृश्य। यही कारण है कि हम एक मैदान मे जब खडे होते है तो क्षितिज से बनने वाले कटाह को अपने शिर पर छतरी की तरह देखा करते हैं। यही तीन सौ साठ अशो वाला आकाश, नक्षत्र गणना के अनुसार २७ भागो मे विभक्त है। सवा दो नक्षत्रो के एक समुदाय का नाम ज्योति शास्त्रीय परिभापा के अनुसार 'राशि' है अर्थात्—एक अर्व योजन प्रमाण वाले ब्रह्माण्ड के तीन सौ साठ अशात्मक गोल के तीस अश परिमित प्रदेश को एक राशि कहते हैं। इस तरह कुल ब्रह्माण्ड बारह राशियोमे विभक्त है, उनमे से केवल छ राशि ही पृथ्वी मण्डल पर दृश्य रहती हैं और छ अदृश्य रहती है। एक अहोरात्र मे क्रमश बदलती हुई ये बारह राशिये एक चक्र मे सब दृश्य और सब अदृश्य हो जाती हैं। क्षितिज पर प्रथम ही जब सूर्य दीख पड़ता है उस स्थान को उदयाचल मानकर सूर्य राशि के अनुसार उस समय वही लग्न माना जाता है। इस तरह सूर्यास्त के समय सातवाँ और आधीरात के समय दसवा लग्न आता है। 'प्रत्यक्ष और परोक्षवाद' की विवेचना के प्रसग मे हम ग्रहो का पश्चिम की ओर जाना सिद्ध कर आए है, तदनुसार उदयाचल पर यदि मेप राशि है तो वृष निश्चित ही उसके अधोभाग मे अवस्थित है तभी सूर्य आदि ग्रहो का पश्चिम से पूर्व की ओर जाना सम्भव है इस तरह क्रमशः मेष वृष आदि द्वादश राशियो का चक्र है।

इस प्रसङ्ग मे यह प्रकट कर देना भी आवश्यक है कि अश्विनी भरणी कृत्तिका रोहिणी आदि सत्ताइस नक्षत्रो और मेष वृष आदि द्वादश राशियो के जो नाम नियत किए गए हैं वे भी भारतीय ऋषियो के अलौकिक वेद विज्ञान के ज्वलन्त उदाहरण हैं। अकारण ही उन्हे वैसा नही कहा जाता किन्तु जिसका जैसा नाम है आकाश मे उसका वैसा ही तारागण निर्मित स्वरूप भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। मृगशिर नक्षत्र को प्राय किसान भी जानते हैं, वे उसे हिरणी नाम से स्मरण करते है। कहना न होगा कि मृगी और हरिणी दोनो समान शब्द हैं। वे प्राय कहा करते है कि आगे २ हिरणी दौडती है पीछे २ कुत्ता और शिकारो। नि सन्देह मृगशिर के तीन तारे और उसके पीछे मृग व्याध (जिसे 'अमरकोश'कार ने '**इल्विलास्तच्छिरोदेशे तारका निवसन्ति या**' ऐसा कहते हुवे 'इल्विला' के नाम से स्मरण किया है) इसीप्रकार के जान पडते है। इन की स्थिति को व्यक्त करने के लिए इस से उत्तम अन्य कोई नाम नही हो सकता। इसी प्रकार इस हिरणी से पश्चिम की ओर कुछ ऊपर 'रोहिणी' नक्षत्र दीख पडता है। रोहिणी का अक्षरार्थ है, 'यान'=गाडो। सो यह नक्षत्र भी पांच तारो का एक समूह है जो ठीक गाडी के ढाचे की भाति अग्रेजो के अक्षर V के समान है। इसी प्रकार अन्यान्य सब नाम सार्थक हैं।

हमारो इस सब विवेचना का तात्पर्य यह है कि पाठक द्वादश राशियो से परिचित हो जाए। अब द्वादश राशियो की स्थिति समझ मे आजाने पर यह भी जान लेना चाहिए कि सूर्यादि ग्रहो की क्रमिक अवस्थिति पृथ्वी से दूरी के अनुपात से इस प्रकार मानी जाती है—

भूमेः पिण्डः शशांकोज्ञ कविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षाः।

अर्थात्—भूमि, चन्द्र, वुध शुक्र, सूर्य मगल, वृहस्पति, शनि और नक्षत्र इस क्रम से सव ग्रहो की कक्षा है।

राहु केतु स्वतन्त्र ग्रह नही, छाया ग्रह है इसलिए हमारी इस स्थापना मे उनका नाम नही आता है। यही कारण है कि उनको वार गणना मे अधिकार नही मिला। सो जैसे सात मुख्य ग्रहो के नामो पर सात ही वार नियत हुए है—जिनका रहस्य आगे प्रकट किया जायगा—इसी प्रकार उक्त द्वादश राशियो मे भी सूर्य और चन्द्रमा को एक २ राशि का आधिपत्य मिला है और मङ्गल वुध गुरु शुक्र और शनि इन पांचो को दो दो राशियो का स्वामित्व प्राप्त है। राशिचक्र को एक किले की भाति समझ लेना चाहिए जिसके द्वार के पूर्व पार्श्व मे सिंह राशि अवस्थित है, और माला की भाति क्रमशः कन्या, तुल, वृश्चिक आदि राशिए मण्डलाकार मे कोट बनाती हुई अन्त मे द्वार के पश्चिम पार्श्व मे अवस्थित है। इन दोनो राशियोंको सम्भाले तो ये दोनो वीर (सूर्य चन्द्र) खड़े है। सिंह के पीछे कन्या और कर्क के पीछे विलोम क्रम से मिथुन अवस्थित है, अपनो कक्षा के अनुसार यहा वुध की स्थिति है अत वही इन दोनो का सरक्षक है। कन्या के पीछे तुल है और उधर मिथुन के पीछे विलोम क्रम से वृष है। वुध के वाद शुक्र की कक्षा है अत यहां वह विराजमान है और इन दोनो राशियो की रक्षा करता है। तुल के पीछे वृश्चिक और दूसरी ओर वृष के पीछे मेष की स्थिति है, इन दोनो की रक्षा अपनी कक्षा के अनुसार मंगल करता है। वृश्चिक के पीछे धन और दूसरी ओर मेष के पीछे मीन अवस्थित है। अपनी कक्षा के अनुसार इन

दोनो का अधिष्ठाता गुरु है, धन के पीछे मकर और दूसरी ओर मीन के पीछे कुम्भ का होना स्वाभाविक है अत पृथिवी से सुदूर ब्रह्माण्ड की अन्तिम कक्षा मे शनि महाराज विराजमान है, इन दोनो का स्वामित्व आपके सुपुर्द है । बस ! यही राशि और उनके स्वामियो का विवेचन है । एतावता मेष का स्वामी मङ्गल ही क्यो ? वुध क्यो नही ? इत्यादि समस्त 'क्योओ' का भी यहा समाधान हो जाता है ।

हा, तो प्रश्न है कि सिह के बृहस्पति मे विवाहादि शुभ कृत्य क्यो नही होते ? हम कह चुके है कि सिह राशि का पति सूर्य है जब सूर्य की राशि मे गुरु आएगा तो उस समय आधिभौतिक दृष्टि से मानवपिण्ड की सूर्य सम्वद्ध आत्मा मे ज्ञान के केन्द्र गुरु का प्रवेश होगा । ऐसे ज्ञान साधना के अपूर्व अवसर से लाभ न उठाकर उसे विवाह आदि सासारिक प्रवृत्तिवर्धक रजोगुणी कृत्यो मे अपव्ययित करना वैसा हो है जैसा कि सन्ध्या वन्दन के समय मे गप्पशप्प हाकना और ब्रह्म मुहूर्त मे नीद लेना । शास्त्र मे ये दोनो कृत्य समय से लाभ न उठाने के कारण पाप हो कहे गए है । इसी प्रकार पूरे तेरह वर्प के वाद सिहगत गुरु का सुयोग आता है आयु भर मे गिनती के ही ऐसे अवसर आ सकते है । विवाहादि लौकिक प्रपञ्च तो आयुभर ही चलते रहेगे, अत आत्मा और ज्ञान के अपूर्व सगम को सब प्रपञ्च छोडकर परमार्थ साधना मे ही बिताना चाहिए [इसीलिए सिह गत बृहस्पति मे गोदावरी का कुम्भ पर्व नियत है] सिह गत गुरु मे विवाह निषेध का यह एक आधिभौतिक कारण वताया जा सकता है ।

आधिदैविक दृष्टि से—

आधिदैविक दृष्टि से गुरु समस्त देवताओ का गुरु होने के

नाते सूर्यदेव का भी पूज्य गुरु है। जब शिष्य के घर मे गुरु का आगमन हो तो शिष्य को गुरु सेवा से अवकाश कहा ? हमारे ब्रह्माण्ड का नियन्ता सूर्य है, उसकी साक्षी मे हमारे सब कर्म सम्पन्न होते है। इसीलिए सूर्य का अन्यतम नाम 'कर्मसाक्षी' भी है। सब कर्म करने के अनन्तर सूर्य को अर्घ्य अञ्जलि देते हुए- 'कर्मसाक्षिणे नम ' कहकर ही आस्तिकजगत् प्रणाम करता है।

सूर्य के घर सिह राशि मे गुरुदेव के पधारने पर सुयोग्य शिष्य को साक्षी देने की फुरसत कहा ? जैसे जज साहिब के यहा अमुक आवश्यक कृत्य होने के कारण उस दिन मुकद्दमे न हो सकेंगे किन्तु आगे की तारीख पड जायगी। ठीक इसी भाति जब सूर्य भगवान् गुरुसेवा रूप अपने घरेलू आवश्यक कार्य मे व्यस्त है तब वे साक्षी देने की स्थिति मे नही हैं। वेद भगवान् ने सूर्य भगवान् की छुट्टी की दरख्वास्त पर सदा के लिए लिख दिया कि जब कभी गुरुदेव पधारे आप उनकी सेवा के लिए स्वतन्त्र हैं, यदि पावाजी हजार वार भी आवाहन करे तो वेशक न जाए। उसी दिन से शास्त्र मे भी इस भगवदाज्ञा का उल्लेख हो गया।

धन मीन के सूर्य में मलमास क्यों ?

धन और मीन राशि के सूर्य मे भी विवाहादि कृत्य नही होते। पौप और चैत्र को इसी कारण से मलमास कहने की प्रथा प्रसिद्ध है। यहा भी सिंह गत वृहस्पति वाला विज्ञान ही पूरा का पूरा घटता है अन्तर केवल इतना है कि सिंह गत वृहस्पति मे शिष्य के घर मे गुरु पधारता है और धन मीन राशि के सूर्य मे गुरुदेव के घर मे शिष्य पहुच जाता है। हम पीछे सिद्ध कर आए हैं कि धन और मीन ये दोनो राशि वृहस्पति

के घर; हैं। सो बात बराबर है, शिष्य के घर में गुरु पहुँच जाए तब भी शिष्य सेवा में व्यस्त रहता है, और जब शिष्य स्वय गुरु-गृह में पहुंच जाए तब तो कान खुजलाने की भी उसे फुरसत नही हो सकती। गुरुजी तो पूरे वर्ष भर शिष्य के घर में रहते है, अत शनैः २ खूब सेवा करने का लम्बा अवसर है। अत गङ्गा और गोदावरी आदि नदो के तट पर रहने वाले सज्जन ऐसे समय में विवाहादि कृत्य करे तो कुम्भ पर पधारे हुवे गुरुदेव के अनुगामी सूर्य भगवान् यथा तथा साक्षी देने का समय निकाल भी लेते है इसी आशय से गङ्गा और गौदावरी के मध्यभाग को छोडकर अन्यत्र सिह गत गुरु मे विवाह हो जाने का शास्त्र मे अपवाद पाया जाता है। जिस की क्यो 'देश-वैचित्र्यवाद' से समाहित हो सकती है। परन्तु धन और मीन मे तो सूर्य केवल एक मास ही ठहरता है। जब कि देव वर्ष की गणना से हमारा एक वर्ष देवताओं का एक दिन ही होता है तब हमारा एक मास तो पलक झमक मे ही बीत जाएगा, ऐसी स्थित मे सूर्य का साक्ष्य कथमपि सम्भव नही।

मीन के सूर्य में उपनयन क्यों ?

मीन के सूर्य मे अन्य सब कृत्य जहां वर्जित है वहा ब्राह्मण कुमार के उपनयन सस्कार के लिये मीन बहुत प्रशस्त है, यह क्यो ? इसलिए कि 'उपनयन' का तात्पर्य है शिष्य का गुरु के उप= समीप नयन=प्रापण। यही इस सन्कार का प्रधान लक्ष्य है। जब गुरुदेव के घर मे स्वय शिष्य पधारे हो ऐसे अवसर पर यदि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन' के अनुसार ससार के अन्यान्य

शिष्य भी गुरु के समीप जाएं तो यह 'यथा राजा तथा प्रजा' का ही उदाहरण होगा।

परन्तु यह आज्ञा केवल ब्राह्मण बालक के लिए ही है—यह क्यों ?—इसलिए कि 'देश वैचित्र्यवाद' और 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान के अधिष्ठाता बृहस्पति पिण्ड का, ज्ञानके मुख्य अध्यक्ष ब्राह्मण वर्ण पर विशेष प्रभाव पड़ता है, मीन गुरुदेव का घर है सूर्य के मीन राशिमे स्थिति उसके भावि उच्चतम पद की सूचक है। जिस प्रकार सूर्य आदि ग्रह अमुक राशि के स्वामी माने जाते हैं इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनि—क्रमश, मेष, वृष, मकर, कन्या, कर्क मीन और तुला राशि मे आजाने पर 'उच्चस्थ, माने जाते हैं। इनकी यह उच्चता भी 'देश वैचित्र्यवाद' सिद्धान्त के अनुसार आकाश के तत्तत् प्रदेश-वैलक्षण्य पर आधारित है। जब कोई ग्रह अपनी उच्च कही जानेवाली राशि से पहिली राशि मे अवस्थित हो जाता है तो उच्चाभिलाषी कहा जाता है। जैसे मेष का सूर्य उच्च होता है तो मीन का उच्चभिलाषी कहा जा एगा। इसी प्रकर चन्द्रमा वृष का उच्च का होता है तो मेष राशि का उच्चाधिकारी कहा जाएगा। सो मीन का सूर्य उच्चाभिलाषी है अर्थात् वह अपने उच्चतम स्थान मेष राशि पर आरूढ होने का उम्मदवार हो गया है इस लिए मीन के सूर्य मे ब्राह्मण कुमार का उपनयन भी उसको ज्ञान के उच्च पद पर आरूढ करने का द्योतक है। परन्तु क्षत्रिय और वैश्य का परम ज्ञानी बन जाना उन्नतिसूचक नही किन्तु क्षत्रिय का वीर बनना और वैश्य का व्यवसायी बनना ही उसके वर्ण धर्म की दृष्टि से परम उन्नति का आदर्श है क्योकि क्षत्रिय और वैश्य तो ज्ञानी बन

जाने पर अर्जुन और समाधि वैश्य की भाँति युद्ध व्यवहार से उपरत होकर 'भैक्ष्यमपीह लोके' कहने पर उतारू हो जाएगे। जिसे उनकी उन्नति नही पतन ही समझा जाएगा, अत मीन राशिस्थ सूर्य का केवल ब्राह्मण कुमार पर ही अनुकूल प्रभाव पडेगा अन्य वर्ण के बालक पर नही। इसलिए मीनस्थ सूर्य में केवल ब्राह्मण कुमार का ही उपनयन विज्ञान सगत है अन्य का नही। एतावता धनस्थ सूर्य, गुरु भवनस्थ होता हुआ भी उच्चाभिलाषी न होने के कारण ग्राह्य नही हुआ, 'क्यो' का यह छोटा सा पुछल्ला भी इससे समाहित हो जाएगा।

आर्यसमाज में विचित्र विवाह मुहूर्त !

आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने प्राय· सब सस्कारो में बीना सीग पूछ हिलाए गृह्यसूत्रो मे लिखे तत्तत् मुहूर्त को ही स्वीकार किया है, परतु विवाह मुहूर्त जहा—'**उदगयन आपूर्यमाण-पक्षे पुण्यनक्षत्रे**'—यह प्रमाण देकर उत्तरायण शुक्ल पक्ष और पुण्य नक्षत्र मे माना है वहां अनुपद ही '**संस्कार विधि**' पृष्ठ १२३ मे—'जब कन्या रजस्वला होकर शुद्ध हो जाए, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो उसमे विवाह करने के लिए प्रथम ही सब सामग्री जोड रखनी चहिये'—यह भी लिखा है। स्वामी जी की इस दूसरी आज्ञा के अनुसार आर्यसमाज में विवाह का शुभ मुहूर्त (रजस्वला होकर चौथे दिन ऋतुस्नाता कन्या के विचार से) ऋतुकाल की पाँचवी रात निश्चित ही प्रशस्त है। परन्तु यहा कोई भी विद्वान् यह भली प्रकार समझ सकता है कि यह मुहूर्त साधना कन्या के माता पिता या सस्कार कराने वाले

आर्योपदेशक एवं स्वय कन्या के भी अपने हाथ की बात नही। प्रकृति के ही नियन्त्रण से ऋतुस्राव होता है, वह ठीक किस दिन होता है यह पहिले से ही निश्चित नही किया जा सकता। कई वार खान पान और गर्मी सर्दी के तारतम्य से दो दिन आगे दो दिन पीछे भी हो सकता है और होता है—यह प्रत्येक गृहस्थ अपने २ घर मे स्वय अनुभव कर सकता है। ऐसी स्थिति मे आर्यसमाजी पिता पहिले से ही अपनी कन्या के विवाह का दिन निश्चय करने मे सर्वथा असमर्थ हैं। सव जानते हैं कि विवाह सस्कार का दिन महीनो पहिले निश्चित करना अनिवार्य है, क्योकि प्राय. दूर-देशस्थ वरपक्ष वालो को सूचना देना, एतदर्थ सगे सम्वन्धियो को निमन्त्रण पहुचाना, यह सव व्यवस्था लम्वे समय की अपेक्षा रखती है। और जव तक विवाह की कोई निश्चित तिथि ही न हो, तो निमन्त्रण क्या दिया जाएगा ? इसलिए आर्यसमाज के सामने चौथे दिन का मुहूर्त साधना सर्वथा असाध्य है क्योकि वह चौथा दिन आगे पीछे कभी भी आ सकता है।

व्यावहारिक रूप मे जव समाजी विवाह साधने वैठे तो उसे सर्व प्रथम घरवाली या स्वय कन्या से ही यह पूछना होगा कि अनुमानत. वह चौथा दिन कव पडेगा। कन्या ऋतुधर्म का दिन ही जानती है भावीके लिये वह वेचारी क्या गारन्टी दे सकती है। कल्पना करो, अगत्या पिछले अनुभव के आधार पर भावी दिन भी अमुक फर्ज किया और तदनुसार सवको निमन्त्रण दिया गया। अव यदि खान पान के वैपम्य मे तीन दिन पूर्व ही ऋतु आगये तो वारात आने से पहिले ही मुहूर्त टल जाएगा अर्थात् ऋतु स्नान की चौथी रात्रि तीन दिन पूर्व ही हो चुकेगी। क्या ऐसी दशा मे वरात को कहा जाएगा कि महाशयो ! वे रङ्ग लौट जाइये ! इस वार तो

'चास' टल चुका है आगे कृपा कीजिये । उस समय वर और उसके निजी अभिभावकोंको तो जाने दीजिये, परन्तु केवल मिठाई उडानें के लिये दफ्तर से 'विदाउट पे' छुट्टी लेने वाले बाराती महाशयो पर क्या बीतेगी ? इसका अनुमान स्वामी जी ने भी न किया होगा ।

अब इसके दूसरे पहलू पर विचार कीजिए ! कल्पना करो पूर्व ऋतु के आधार पर निर्धारित चौथा दिन, दो चार दिन आगे बढ जाए, तब बारातको पूरे एक सप्ताह तक रोकना अनिवार्य होगा। इस राशनिंग के महर्घतापूर्ण समय मे दर्जनों आदमियो को भोजन खिलाने मे कन्या के पिता का साल भर का वेतन चट हो जाएगा । यहा यह समाधान कुछ अर्थ नही रखता कि नगर का नगर में ही वर निश्चय कर लिया जाए, जिस दिन कन्या रजस्वला हो जाए उसी दिन तत्काल वर पक्ष को सूचना दे दी जावे । इस तरह बारात वापिस जाने या अधिक दिन ठहरने का खतरा नही होगा। परन्तु समाधाता महाशय को यह मालूम नही कि स्वामी दयानन्दजी के मतानुसार तो भारतीय कन्या का काबुल, कन्धार, अमेरिका आदि दूर देशो में विवाह करना प्रशस्त है, वे एक ही नगरस्थ वर कन्या के विवाह के समर्थक नही ।

हमने शान्त चित्त से और निष्पक्षपात से स्वामी जी के इस चौथे दिन वाले मुहूर्त की इतिकर्तव्यता पर खूब विचार किया कि बेचारे महाशयो के लिए कोई रास्ता निकल ही आए, परन्तु हम सोचते २ थक गए इस अनोखी पहेली का कुछ भी हल न मिल सका अन्त में—यही निश्चय करना पडा कि स्वामीजी का न विवाह हुआ और नाही वे सन्यासी होने के कारण कभी बारात गए । ऐसे शास्त्र और लोकव्यवहारानभिज्ञ व्यक्ति की व्यवस्था विवाह प्रसग मे मानना निरे निठल्ले का ही काम है ।

यात्रा विज्ञान

वेदादि शास्त्रो मे यात्रा कालीन मुहूर्त साधने का उल्लेख विद्यमान है। प्रत्येक मनुष्य को यात्रा करनी पड़ती है, इसलिए इस प्रसङ्ग मे भी सर्व साधारण को उचित परामर्श देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

शास्त्रीय स्वरूप

वेद कहता है कि—

(क) यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे···ममैतानि शिवानि सन्तु।

(ख) स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु। सुहवमग्ने स्वस्त्यमर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन्।

(ग) अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम्। सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान् परातान्त्सवितः सुव।

(अथर्व० १९। ८। १-३)

(घ) उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शन्नो दिविचरा ग्रहाः।

(ङ) नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु··। (अथर्व० १९।९।७-९)

(च) शं नो भगः अर्यमा धाता···अग्निः इन्द्रः रुद्रः सोमः · शन्नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः। अदितिः विष्णुः · पूषा·· वायुः···सविता शन्नः पर्जन्यः।

(अथर्व० १९। १० २-१०)

(छ) इन्द्रः…प्राच्याः दिशः पातु, धाता दक्षिणायाः, अदितिः प्रतीच्याः सोमः…उदीच्याः दिशः पातु ।

(अथर्व १८ । ३ । २५-२८)

(ज) ये ते पन्थानो बहवो जनायना, रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे । यैस्सञ्चरन्ति उभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ।

(अथर्व० १२ । १ । ४७)

अर्थात्—[क] अन्तरिक्ष और द्यु स्थान मे जो नक्षत्र विद्यमान हैं वे सब मेरे लिये शुभ हो [ख] प्रात.काल, साय, दिन शुभ हो ! सुन्दर मृगमाला नीलकण्ठ आदि पक्षी शकुन प्रद हों। हे अग्निदेव जाकर यात्रा से प्रसन्नता पूर्वक पुन लौट आऊ [ग] पीछे से चारों ओर से रोक टोक का वचन, निन्दा क्लेश, छीक (सामने से आते हुए) खाली घडे यात्रा के समय दूर हो [घ] पृथ्वी और अन्त-रिक्ष सम्बन्धी (भूकम्प, अन्धड, दुर्दिन, विद्युत्पात आदि) उत्पात दूर हो आकाशस्थ ग्रह मण्डल अनुकूल हो [ङ] तारे टूटना, उल्कापात शान्त हो,

[च] (पूर्वाफाल्गुनी नामक नक्षत्र का अधिष्ठाता) भग देवता, (उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र का अधिपति) अर्यमा, (रोहिणी का) धाता, (कृतिका का) अग्नि, (ज्येष्ठा का) इन्द्र (आर्द्रा का) रुद्र (मृगशीर्ष का) सोम (पुनर्वसु का) अदिति, (श्रवणाका) विष्णु, (रेवती का) पूषा, (स्वाति का) वायु (हस्त का) सविता, (शतभिषज् का) वरुण=पर्जन्य, ये सब नक्षत्र देवता चारो दिशाओ मे मेरे लिए शुभप्रद हो। (उक्त नक्षत्रो के स्वामियो का यह उल्लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यसमाज प्रवर्तक द्वारा

रचित 'संस्कार विधि' के नाम करण सस्कार से लिया गया है) [छ] इन्द्र पूर्व दिशा मे, धाता दक्षिण मे, अदिति पश्चिम, और सोम उत्तर दिशा मे रक्षा करे। [ज] जो वहुत से मनुष्यो द्वारा चलने योग्य मार्ग हैं और जो रथ गाड़ी आदि के चलने योग्य रास्ते हैं, जिन मार्गों से भले वुरे सभी तरह के लोग यात्रा करते हैं वे सव रास्ते शत्रु और चोर डाकुओ से रहित एव कल्याणकारी हों—हम, यह चाहते है।

उपर्युक्त प्रमाणोमे किस प्रकार सुस्पष्ट रीति से यात्रा के समय ग्रह नक्षत्र, तिथि और तत्तत् दिशाओ के स्वामियो का उल्लेख करते हुए मुहूर्तचिन्तामणि आदि ग्रन्थो मे लिखो मुहूर्त व्यवथा का समर्थन किया है यह कोई भी हृदय रखने वाला व्यक्ति सम्यक् समझ सकता है। प्रसङ्गोपात्त मृगमाला, शकुनादि का, तथा टोक छीक, खाली घडा मिलने का भी सुस्पष्ट उल्लेख होने से इन सव शकुनो की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

वैज्ञानिक विवेचन

हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि 'अण्ड-पिण्ड-वाद' सिद्धान्त के अनुसार तत्तत् ग्रह नक्षत्र पिण्डो का मानव पिण्ड पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है और यात्रा के समय भी उन सव की अनुकूलता सापेक्ष्य है। अपनी २ कक्षा मे जिस प्रकार ग्रहो की अवस्थिति है, इसी प्रकार शनि कक्षा से ऊपर नक्षत्र कक्षा का स्थान है। ग्रहो की भांति नक्षत्रो मे भी अनेक वैचित्र्य विद्यमान हैं जिन्हे 'देश वैचित्र्यवाद' और वस्तु वैचित्र्यवाद' के अनुसार भली भाति मनन किया जा सकता है, जो नक्षत्र जैसा विशेष गुण रखता है और मानव पिण्ड पर उसका जैसा प्रभाव पडता है तदनुसार ही उस २

नक्षत्रके देवता के नाम की कल्पना की गई है। यह कल्पना कोरी कल्पना नही बल्कि 'यथा नाम तथा गुण.' के अनुसार जिस देवता का जैसा नाम है वह वैसा ही फलदायक है। जैसे कृतिका नक्षत्र का अधिष्ठाता अग्नि है तो, उक्त नक्षत्रकी कक्षा आग्नेय परमाणुओ से व्याप्त रहती है। भरणी नक्षत्र का देवता यम=मृत्यु है तो आकाश का यह प्रदेश सहारक गैस से उपप्लुत रहता है। इसी प्रकार शतभिषज् का देवता वरुण=पर्जन्य है, तो उक्त नक्षत्र के चारो ओर जलीय परमाणुओ के सघन पटल सदैव परिव्याप्त रहते हैं।

हमने 'अण्डपिण्डवाद'मे सिद्ध किया है कि मानव पिण्ड का सब कुछ उक्त ब्रह्माण्डवर्ती तत्तत् पिण्डो की ही देन है, हमारी अमुक शक्ति का मूल स्रोत उक्त ग्रह नक्षत्रात्मक पिण्ड ही हैं। जैसे 'पावर हाउस' की खराबी से समस्त नगर मे अन्धेरा छा सकता है और 'वाटर वर्क्स' की खराबी से शहर भर प्यासा मर सकता है ठीक इसी प्रकार उक्त पिण्डो की अनुकूलता किंवा प्रतिकूलता से मानव पिण्ड परिपुष्ट और उपद्रुत हो सकता है।

जैसे लोक मे प्रत्यक्ष है कि ग्रीष्म ऋतु में सामने का सूर्य यात्री को चकाचौध करता है और शिरदर्द आदि अनेक व्याधियो का कारण बन जाता है इसी प्रकार अन्यान्य अमुक ग्रह और अक्षत्र भी अपने से सम्बद्ध तत्त्व पर बुरा या भला प्रभाव अवश्य डालता है। हम उसे सूक्ष्म होने के कारण चाहे सहसा अनुभव न कर पाते हो, परन्तु कोई भी सिद्धान्तवादी हमारी इस स्थापना=मान्यता से इन्कार नही कर सकता। अन्तर केवल इतना है कि सूर्य शारीरिक दृष्टि से दाये नेत्र पर प्रभाव डालेगा तो चाद बाये पर डालेगा, वह आत्मा को प्रभावित करेगा तो चाद मन को उद्वेलित करेगा। मगल रक्त सचार='ब्लड प्रसर' को उत्तेजित

करेगा, बुध बोलती बन्द कर देगा—कई बार प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि बडे २ प्रगल्भ वक्ता अमुक समय मूक हो जाते हैं, समय पर उचित बात भी कहना भूल जाते हैं। अपनी इस अतर्कित मूकता के कारण वे कई प्रकार की हानि भी उठा लेते है, समय निकल जाने पर जब दूसरे लोग कहते हैं कि आज तुम चुप क्यो हो गए ? तब वक्ता स्वय भी अपनी भूल पर बहुत पश्चात्ताप करता है, परन्तु—'समय चूकि पुनि का पछिताने' कहना न होगा कि उसकी इस प्रवृत्तिमे 'दैव' ही हेतु है। वैज्ञानिकोकी दृष्टि मे कोई भी कार्य निर्हेतुक नही होता हमारे महर्षि भी 'सति मूले तद् विपाक.' सिद्धान्त के पक्षपाती हैं। समस्त अज्ञात कारणो का ही एक समष्टिनाम 'दैव' है। आस्तिक समुदाय सक्षेपमे किसी भी अज्ञात हेतु को दैव कहकर सतोष करते हैं। परन्तु वैज्ञानिकदृष्टि से जब उस अनेकता का विश्लेषण किया जाता है तो वह एक ही 'देव' अनेक नामो से सामने आता है। इसी व्यष्टि के अनेक नाम ग्रह, नक्षत्र, पञ्च महाभूत आदि कहे जा सकते हैं।

अहिन्दुओं पर प्रभाव क्यों नहीं ?

यहा एक आशङ्का यह भी की जा सकती है कि अहिन्दु लोग यात्रा मुहूर्त के बखेडे मे नही पडते, उन पर कुछ भी बुरा प्रभाव नही पडता। हम ऐसी आशङ्का करने वालोंसे पूछना चाहते है कि हमने 'अण्ड पिण्ड' व्यवस्था के अनुसार जिस सिद्धान्त की स्थापना की है तुम पहिले उसका खण्डन करो, और यह सिद्ध करो कि सूर्यादिका मानवपिण्ड पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता, तब हम तुम्हारी क्यों का उत्तर देने के लिए बाध्य है। यह बात कोई भी भौतिकविज्ञान-वेत्ता सात जन्म मे सिद्ध नही कर सकता। फिर

जब विवश हो कर यह स्वीकार कर लिया जाता है, कि मानव पिण्ड पर ब्रह्माण्ड की तत्तद् वस्तुओ का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है तब अहिन्दू उस प्रभाव से कैसे बरी माने जा सकते हैं। अत हम उच्चैस्तरा कहेंगे कि प्रभाव तो यवन म्लेच्छ नास्तिक और आस्तिक सभी पर समान रूप से पडता है, परन्तु मुसलमान उसे 'खुदा की मर्जी' कह कर, ईसाई 'आरडर आफ गाड' कह कर और नास्तिक इत्तिफाकिया = बाई चास 'ऐक्सीडैण्ट' बता कर, सन्तोष कर लेते है। इनमे नास्तिको का उत्तर एक दम 'अवैधानिक, अननेचरल और मूर्खतापूर्ण है अर्थात् उन्होने बिना कारण ही कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करते हुवे अपनी बुद्धिका स्वय दिवाला पीट डाला है। ईसाई मुसलमान आदि ईश्वरवादी लोगो ने खुदाका नाम लेकर कुछ कारण तो बताने की चेष्टा की है, परन्तु वे यह जानने मे असमर्थ है कि आखिर-'खुदा की मर्जी, भी विना कारण ही किसी पर गजब कैसे ढहा सकती है। यदि इतना अन्धेर हो तो फिर खुदा की न्यायशीलता मे अन्तर पड़ता है।

ऐसी स्थितिमे भारतीय ऋषियोकी ईश्वरवादिता इस प्रकार की अन्याय मूलक नही, किन्तु वे तो यह मानते है कि ईश्वर **'कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं प्रभु'** होते हुवे भो 'कर्म फल दाता' है। मुसलमान ईसाई आदि पुनर्जन्म मे विश्वास न रखने वाले मतवादियो से जब भी हमारा 'पुनर्जन्म—जिसे वे मसला तनासुक' कहते है, शास्त्रार्थ=मनाजरा हुवा, तो हमारे यह प्रश्न करने पर कि अमुक बालक जन्म से ही अन्धा पैदा हुवा देखा गया, सनातनधर्म की रीति से तो उसकी यह अन्धता पूर्वजन्मकृत पाप का परिणाम है,परन्तु पुनर्जन्म न मानने वालोके यहा केवल खुदाकी गल्ती या गैरइन्साफीके सिवा इसे और क्या कहा जा सकता

है, बस ! यह सुनते ही बडे २ मौलाना और पादरी बगले झांकने लग जाते हैं। हमारे भारतीय वैदिक विज्ञान मे ईश्वर की इच्छा भी हमारे कर्म के अनुसार ही होती है वह इत्तिफाकिया, और 'वाई चास' नही होती। जैसे नास्तिक ने पहिले ही उत्तर मे बुद्धि का दिवालियापन प्रकट कर दिया तो इन खुदा-परस्त मोमिनो ने भी जिरह करने पर दूसरे ही प्रश्न का उत्तर देते हुवे 'मूल कारण' अन्वेषण की अपनी अक्षमता स्वीकार करली। हम पुनः डके की चोट उद्घोषित कर देना चाहते हैं कि यात्रा का मुहुर्त न साधने पर अमुक बुराईके शिकार तो सभी होते हैं, परन्तु अपनी अज्ञतावश उस बुराई को अकारण समझ लेना या असली मूल-कारण को छोड कर एक मात्र बेचारे ईश्वर पर सब भार लाद देना-यह बात दूसरी है। हम सिद्धान्त रूप से नक्षत्रो का प्रभाव मानने के लिये सब मतवालो को बाध्य कर सकते हैं। अस्तु ! हम कतिपय यात्राकालीन प्रसिद्ध बातो पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं।

दिक् शूल क्यों ?

शनौ चन्द्रे त्यजेत्पूर्वां दक्षिणाञ्च दिशं गुरौ।
सूर्ये शुक्रे पश्चिमाञ्च बुधे भौमे तथोत्तराम् ॥

अर्थात्—शनि सोम को पूर्व मे, गुरु को दक्षिण मे, सूर्य शुक्र को पश्चिम मे, और बुध मङ्गल को उत्तर दिशा में जाना निषिद्ध है इन वारो को उक्त दिशा मे दिक्शूल होती है।

वार क्रम विज्ञान

वार क्या है ? वे सात ही क्यो हैं ? और इन का यही क्रम क्यो है ?- इस सम्बन्ध मे यह जान लेना आवश्यक है कि

हमारे ब्रह्माण्ड का प्रधान अवलम्ब सूर्य भगवान् हैं। इसी भाति अनन्त कोटि ब्रह्माण्डो के भिन्न २ सूर्य है जिन पर तत्तत् ब्रह्माण्डो की अवस्थिति होती है। जैसे शासन तन्त्र को चलाने के लिए प्रधान शासक के साथ अनेक सहयोगियो का मन्त्रीमण्डल भी रहता है, इसी प्रकार सूर्य के साथ चन्द्र आदि छ ग्रह भी हमारे ब्रह्माण्ड के अन्यतम सरक्षक हैं। इन्ही सात प्रधान ग्रहो के नाम पर सात वार नियत किए गए हैं। यह हम पूर्व ही कह चुके है कि राहू केतु छायाग्रह होने के कारण इस गणना मे नही आते। नक्षत्रो के नाम पर सत्ताइस नक्षत्र नियत हैं। इनका यह क्रम क्यो है ? अर्थात् सूर्य के बाद चन्द्र और चन्द्र के बाद मङ्गल क्यों है ? यह भी एक रहस्यपूर्ण विज्ञान है। मौलाना से यदि पूछा जाए कि पहिले इतवार क्यो फिर पाचवा जुम्मेरात क्यो ? और फिर तुम्हारा सर्व प्रधान वार जुम्मा—विचारा छठे नम्बर पर अपमानित क्यो ? बस वे मिमियाते नौ दो ग्यारह हो जाएँगे।

इसी तरह पादरी साहिब भी 'सन्डे' के बाद 'मडे' और 'मडे' के बाद 'ट्यूजडे' के क्रम पर कुछ नही कह सकेंगे। शङ्काऽऽतङ्क-पङ्काब्धि-मयङ्क, दयानन्दी और 'माई ओपीनियन' के प्रबल पुजारी नास्तिक भी इस सम्बन्ध मे 'मौनावलम्बन' के सिवा कुछ न कह सकेंगे।

परन्तु भारतीय ऋषियो ने वार क्रम के सम्बन्ध में लिखा है कि—

(क) मन्दामरेज्यभूपुत्राः सूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः ।
परिभ्रामन्त्यधोऽधस्थाः सिद्धविद्याधरा घनाः ॥

(सूर्य सिद्धान्त १२-३१)

(ख) मन्दादधः क्रमेण स्युश्चतुर्था दिवसाधिपाः ।
वर्षाधिपतयस्तावत् तृतीयाश्च प्रकीर्तिताः ॥
ऊर्ध्वक्रमेण शशिनो मासानामधिपाः स्मृताः ।
होरेशाः सूर्यतनयाद् अधोऽधः क्रमशस्तथा ॥
(सूर्यसिद्धान्त १२ । ७८-७९)

अर्थात्—(क) शनि, बृहस्पति, मङ्गल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्र इस क्रम से एक दूसरेके नीचे २ ये सब ग्रह पृथ्वीसे दूर अवस्थित हैं । अर्थात् चाद पृथ्वी से सबसे निकट है और शनि सबसे दूर है । चन्द्र और पृथ्वी के बीच क्रमश मेघ, विद्याधर और सिद्ध विचरते हैं । (ख) शनि से नीचे २ क्रमश. प्रत्येक चौथा ग्रह दिन का अधिपति होता है, (अर्थात्—शनि कक्षा से नीचे चौथी कक्षा में सूर्य है, सो शनि के बाद सूर्यवार होगा और सूर्य से चौथी कक्षामे चन्द्रमा अवस्थित है तीसरा वार चन्द्र होगा । पुन. चन्द्र से चौथी कक्षा मे भौम आता है, यही चौथा वार होगा, भौम से चौथा बुध आता है, अत क्रम प्राप्त यही पाचवा वार होगा, और बुध से चौथा पुन बृहस्पति और उससे चौथा शुक्र, बस ! सातो वारो का क्रम आगया ।) इसी क्रम से नीचे २ तीसरा ग्रह वर्ष का अधिपति होगा, और चन्द्र के ऊर्ध्व क्रम से अर्थात् ऊँचे २ क्रम से महीनो के अधिपति होंगे और शनि से नीचे २ क्रम से 'होरा' के अधिपति होगे ।

प्रस्तुत चित्र से यह तत्त्व भली भाति समझ में आ जाएगा—

चौथा ग्रह ही वाराधिपति क्यों ?

जिस वार मे सूर्योदय होता है उस समय 'होरा' भी उसी ग्रह

क्यों ?—
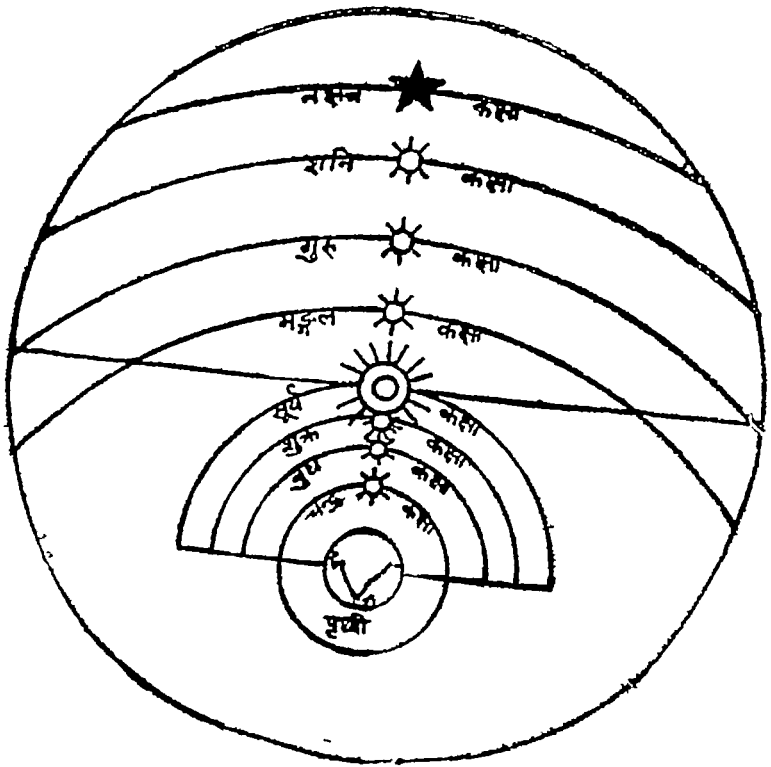
शनि, बृहस्पति, मङ्गल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्र,-इस क्रम से ग्रह कक्षा है। [पृ० ६५२]

की रहती है। एक अहोरात्रि मे बारह लग्न होते है। और आधे लग्न को खगौलिक परिभाषा मे 'होरा' कहते हैं। इस तरह अहोरात्र मे चौबीस 'होरा' होती है नवीन गणना के अनुसार होरा को ही घन्टा भी कह सकते हैं। एक घन्टा पूरी अढ़ाई घड़ी का कल्पना किया गया है परन्तु हमारे गणित मे तो बाल की भी खाल उतारने की परिपाटी है, क्योकि हम गणित जैसे विषय मे भी 'फरज' करने की प्रवृत्तिको कोरी मूर्खता समझते हैं।

'होरा' पूरी अढाई घड़ीकी न होकर वह लग्नके परिमाण के अनुसार न्यून किंवा अधिक भी होती है। सो जिस वार में सूर्योदय हुआ उस समय लो उस ही ग्रह कक्षा के अनुसार होराए होगी। इस तरह सात ग्रहो के तीन चक्र हो जाने पर २१ होराए समाप्त हो जाएगी। चौथे चक्र मे तीन ग्रहो की होरा बीतते २ चौबीस घन्टे का अहोरात्र समाप्त हो जाएगा। अत. पुन: नये अहोरात्र के समय क्रम प्राप्त चौथे ग्रह की होरा का अवसर है अत वही वाराधिपति बनेगा, इसीलिए यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि ऊपर से नीचे क्रम से चौथा ग्रह आगामी दिन का वार माना जाएगा। यही सूर्य, चन्द्र, भौम, आदि वारो के क्रम का वैज्ञानिक हेतु है।

वर्ष और मासाधिपति की विवेचना का दिक्शूल से कोई सम्बन्ध नही है, अत. हम यहा अनावश्यक और अप्रासङ्गिक विस्तार से पराङ्मुख होते हुए पुन. प्रकृत विषय पर आते हैं। हा ! तो वार क्रम जान लेने पर यह भी जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर ये प्रधान चार दिशाएँ हैं। पूर्व की आग्नेय, दक्षिण की नैऋत्य, पश्चिम की

वायव्य और उत्तर की ऐशान्य, ये चार विदिशाएं हैं। सब मिलाकर साधारणतया आठ दिशाए कही जाती है। अपनी २ कक्षा की विशेषता के कारण उक्त आठो दिशाओ के अधिपति माने गए हैं, जैसे पूर्व का अधिपति सूर्य, आग्नेय का शुक्र, दक्षिण का मगल, नैऋत्य का राहु, (जो छायाग्रह होने के कारण स्थान और अपनी उच्चता के सम्बन्ध से बुध का प्रतिनिधि है) पश्चिम का शनि, वायव्य का चन्द्रमा, उत्तर का बुध और ऐशान्य का वृहस्पति।

दिक्शूल का रहस्य यह है कि अमुक दिशा को जाते हुए जो वार पडे, यदि वही वार पीठ की दिशा किवा विदिशा का स्वामी हो तो उस वार को उस दिशामे दिक्शूल समझना चाहिए। अर्थात् दिशा किवा विदिशा के अधिपति को पीठ देकर यात्रा करना वैसा ही है जैसा कि किसी प्रार्थी का राजा के सामने, किंवा भक्त का प्रतिमा के सामने पीठ देकर खड़े होना। नि सन्देह यह चेष्टा उपास्य का एक प्रकार का अपमान ही है।

अब जरा दिक्शूल विषय को उदाहरण पूर्वक समझिए। यदि हम शनिवार को पूर्व दिशा को जाएं तो शनि महाराज की अधिष्ठित पश्चिम दिशा हमारी पीठमे पडेगी, इसलिए शनिवार को पूर्व मे दिक्शूल हुआ। इसी प्रकार गुरुवार को दक्षिण को प्रस्थान करे तो गुरुकी दिशा ऐशान्य हमारी पीठमे रहेगी। रविवार को पश्चिम मे जाते हुए सूर्याधिष्ठित दिशा पूर्व, हमारी पीठ मे होगी और भौमवार को उत्तर मे जाने पर भौम की अधिष्ठित दक्षिण दिशा हमारी पीठमे रहेगी। इसी प्रकार आग्नेयीके स्वामी शुक्र को पश्चिम मे जाना, नैऋत्य के स्वामी राहु=तत्प्रतिनिधि बुध को उत्तर मे जाना, वायव्य के स्वामी चन्द्र को पूर्व मे जाना और ऐशान्य के स्वामी गुरु को दक्षिण मे जाना वर्जित है। राहुके

प्रतिनिधि-भूत बुध के कारण जहा इस दिन उत्तर मे जाना वर्जित है, वहा उत्तर का स्वामी होने के कारण इस दिन दक्षिण को भी जाना निषिद्ध है। इस तरह यह दोनो ओर जाने मे त्याज्य होने के कारण **'सर्वत्र निन्द्यो बुधवारदोषः'** इस प्रवाद का पात्र बना है। कहना न होगा दिक्शूल की भाति यात्राकलीन विधि-निषेध भी जहां प्रमाण मूलक है वहा किसी न किसी वैज्ञानिक हेतु से भी परिपूर्ण है। ग्रन्थ विस्तार भयात् हम इस प्रसङ्ग में अधिक बातो पर प्रकाश डालनेमे असमर्थ है। अत. पाठक, अण्ड पिंड'—देश वैचित्र्य और वस्तु वैचित्र्य आदि वादो के अनुसार स्वय तत्तत् विषयो के विज्ञान को कल्पना करके श्रीमती 'क्यो' का विसर्जन करें।

क्या मरना भी महूर्त में ही

मुहुर्त विज्ञान उपक्रम मे हमने यह भी चर्चा की थी, कि न केवल विवाहादि शुभ कृत्यो के लिये हम मुहुर्त साधते हैं अपितु हमारे पूर्व पुरुष तो आज की भाति बिना मुहुर्त मरने तक के लिए भी प्रस्तुत नही थे। अर्थात् मरने का भी मुहुर्त साध कर तभी मरते थे और यदि कदाचित् मुहुर्त नही बनता था तो वे अपना मरना भी स्थगित कर देते थे।

आर्य जाति के गौरव पूर्ण इतिहास ग्रन्थ महाभारत मे वर्णन आता है कि महाभारत के सग्राम के समय जब नौ दिन में ही भीष्मपितामह द्वारा कौरवसेना का सचालन करते हुए पाडवो की आधो से अधिक सेना वीरगति को प्राप्त हो चुकी तो पाडवो ने मिलकर मन्त्रणा की कि जबतक भीष्मजी नही मरते तवतक पाडवो की विजय असम्भव है। श्रीकृष्ण भगवान् ने प्रस्ताव किया कि भीष्म के मरने का उपाय महाराजा युधिष्ठिर भीष्मपितामह से

ही पूछें। सदाकी भांति रातमे जव युधिष्ठिर भीष्म जी के चरण चापने गए तो–सकोचवश पूछ न सके। भीष्मजी ने स्वयं उनको उन्मना सा देखकर कारण पूछा और आखीर युधिष्ठिरजीने कड़ा हृदय करके कह ही डाला–पितामह आपके जीते हमारी विजय असम्भव है। यदि आप धर्म की जीत चाहते हैं तो शीघ्राति-शीघ्र निर्वाण प्राप्त कीजिए। भीष्मजी वहुत हसे और वोले कि अच्छा पुत्र, ज्योतिपियो को वुलाकर मुहूर्त दिखाइए, मुझे मरने मे कुछ आपत्ति नही। अन्यतम पांडव सहदेव महा ज्योतिर्विद् थे, तत्काल मुहूर्त साधने वैठे, परन्तु दक्षिणायन के कारण मुहूर्त अभी महीनो नही वनता था। सहदेवजी ने सत्य वात प्रकट की तो युधिष्ठिर निराश होकर युद्ध से उपरत होने की वात सोचने लग पड़े।

अन्त मे नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्मजी ने कहा कि पुत्र ! यद्यपि तुम्हारी जल्दीमें मैं विना मुहूर्त प्राण त्यागने के लिए तय्यार नही तथापि जिससे तुम्हारा काम वन जाए ऐसा उपाय वता देता हूँ। कल रणस्थल मे मेरे सामने 'शिखडी' को खडा कर देना, मैं उसे भूतपूर्व स्त्री समझकर पीठ मोड लूगा, तव तुम यथातथा मुझे गिरा देना, इसतरह तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जाएगा और मैं मुहूर्त की प्रतीक्षा करूगा। अगले दिन ऐसा ही किया गया। यह कथा सभी जानते हैं कि उत्तरायण काल की प्रतीक्षा मे भीष्म जी शरशय्या पर वहुत समय तक पडे रहे, और अनेक धर्मोपदेश देते रहे। जव गीताप्रोक्त प्राण त्याग का सुमुहूर्त आया तभी प्राण छोडे।

इस प्रकार आर्य जाति में अनेक महापुरुष 'स्वच्छन्द मृत्यु' हुए हैं। मरने के मुहूर्त के सम्वन्ध मे श्रीमद्भगवद् गीता मे सुस्पष्ट लिखा है कि—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।
(ख) धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति योगी प्राप्य निवर्तते ।।

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ८।२४-२५)

अर्थात्—(क) अग्नि, ज्योति· दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छ मास—इस मुहूत मे जो ब्रह्मवेत्ता परलोक को प्रयाण करते है, वे ब्रह्म को प्राप्त होते है । (ख) धूम रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छ मास—इस मुहूर्त मे जो योगी शरीर छोडते है वे चन्द्रलोक तक जाकर पुनः मृत्युलोक मे जन्म लेते है ।

उपर्युक्त प्रमाणो में उत्तरायण शुक्लपक्ष और दिन को मृत्यु के लिये उपयुक्त समय बतलाया है, दक्षिणायन, कृष्णपक्ष और रात को अनुपयुक्त बतलाया है । पहिले मुहूर्त मे शरीर त्याग से मोक्ष और दूसरे मे मरण से 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' का वही जटिल जाल ! यद्यपि कुछ भाष्यकारो ने उक्त श्लोको की व्याख्या मे अर्थान्तर करने का भी प्रयत्न किया है, परन्तु ऐसे सुस्पष्ट शब्दो की विद्यमानता मे तथा श्री भीष्म जी द्वारा उत्तरायण की प्रतीक्षा मे शरशय्या पर पडे रहने की प्रत्यक्ष गाथा की उपलब्धि मे अर्थान्तर कल्पना केवल बुद्धि की अजीर्णता का ही परिपाक कहा जा सकता है ।

वैज्ञानिक विवेचन

उत्तरायण शुक्लपक्ष और दिन मे मरने से मोक्ष क्यो मिलता

है, इसका कारण 'अण्डपिण्ड' सिद्धान्त के अनुसार भली प्रकार मनन किया जा सकता है। मृत्यु के समय यदि प्राण शक्ति का प्रावल्य हो तो वह जीवन उन्मुक्त हो जाता है, क्योंकि प्राण शक्ति का सम्बन्ध सूर्य पिण्ड से है। अत उत्तरायणादि के समय सूर्य के आकर्षण से जीव ब्रह्माण्ड पिण्ड से पार निकल जाता है। सूर्य के आकर्षण के सामने अन्य किसी ग्रह नक्षत्र का आकर्षण उसे पुन पृथ्वी की ओर खीचने मे समर्थ नही है, यही मुक्ति है। इसी प्रकार दक्षिणायन कृष्णपक्ष और रात के समय मनोमय चान्द्र शक्ति का प्रावल्य रहता है, अत उस समय मरने वाला प्राणी ब्रह्माण्ड परिधि से पार नही जाता। चन्द्र पिण्ड तक पहुँच कर पुन पृथ्वी पर जन्म लेता है, क्योकि चन्द्र पिण्ड भूपिण्ड के अत्यन्त निकट है।

इस प्रसग मे यह प्रश्न हो सकता है कि भला ! यात्रा विवाह आदि कृत्यो मे तो मुहूर्तसाधना का कथित फल—सानन्द पुन घर लौटना, दम्पति मे सौमनस्य रहना—आदि यथाकथञ्चित् स्वीकार भी किये जा सकते है, परन्तु जब मरना ही पड रहा है अर्थात् सब कुछ छोडकर जीवनलीला ही परिसमाप्त हो रही हो, ऐसी स्थिति मे—'अमुक समय मरना और अमुक समय नही मरना'—इस प्रकार की पोपलीला का क्या फल हो सकता है ? और फिर मृत्यु तो कोई काम्यकर्म भी नही है कि जब चाहो मरो ! और जब चाहो न मरो—चलते फिरते हार्ट फेल हो जाए, मिनटो मे लीला समाप्त !!

कहना न होगा कि ऐसे प्रश्न करने वाला सज्जन इस भ्रम मे है कि शायद शरीर परित्याग के साथ मनुष्य जीवन सर्वथा और

सर्वदा परिसमाप्त हो जाता है। परन्तु उसे यह विदित नही कि जिसका नाम मृत्यु है वह तो केवल स्थूल शरीर मात्र के वियोग का नाम है—'**वागादि पञ्च श्रवणादि पञ्च पुर्य्यष्टकं सूक्ष्म-शरीरमाहु**' के अनुसार मर जाने के बाद भी सत्रह तत्त्वो से बना सूक्ष्म शरीर और तदवच्छिन्न जीव आमुक्ति तथैव बना रहता है। ऐसी स्थिति में जीवन काल मे मुहूर्त साधने से जो लाभ हो सकते हैं, उससे कही अधिक लाभ उपयुक्त मृत्यु से हो सकते है। अथच मुहूर्त न साधने पर जीवन मे जो हानिये हो सकती हैं, उससे कही अधिक मृत्युकालीन असमय के कारण हो सकती है। भारतीय शास्त्रो के अनुसार जीवन का प्रमाद इतना भयावह नही जितना कि मृत्युकालीन हो सकता है।

वास्तव मे मृत्यु एक ऐसा प्रसग है कि जिससे हमारा भावि जीवन बनना या बिगडना दोनो सम्भव है। यदि कोई पुरुष विधिवत् मर जाता है तो वह गीता के पूर्वोक्त शब्दो मे मुक्त हो जाता है। सदा के लिये जीवन मरण के बन्धन से छूट जाता है। और यदि जीवन भर ठीक रहते हुए भी प्रारब्धवश मृत्यु के समय चौकडी चूक जाए, तो मृत्युकालीन भावना के अनुसार ही उसे दानव, मानव, शूकर, कूकर बनने के लिए बाध्य होना पडता है। इसीलिए—'**यं य वापि स्मरन् भावम्**' '**अन्तमता सो मता**' 'बार २ मुनि जतन कराही, अन्त राम कही आवत नाही' आदि २। शास्त्रवचन सार्थक होते है।

अभिवादन विज्ञान

प्राय सभी देशो सभी जातियो और सभी वर्गके लोगो मे एक दूसरे का सम्मान सत्कार अभिवादन करने की परिपाटी अभी तक प्रचलित है। मुसलमान इसे दुवा, सलाम और ताजीम के

नाम से स्मरण करते हैं, ईसाई 'ऐटिकेट' वोलते है अन्यान्य भाषाओ मे अन्यान्य नाम हो सकते है। यद्यपि इसकी अवश्य-करणीयता मे किसी भी सभ्य व्यक्ति को विप्रतिपत्ति नही है, सभी इसको समान रूप से स्वीकार करते है, परन्तु इसकी अनुष्ठान पद्धति एक दूसरे से वहुत विभिन्न देखी जाती है। ऐसा मालूम पडता है कि इसके वास्तविक-वैज्ञानिक स्वरूप को विना समझे स्वभावतः लाघवतावादी मानव समाज ने अभिवादन मे क्रमश इतना लाघव कर डाला है कि जिससे इसका असली उद्देश्य ही विलुप्त हो गया है। यदि हम अभिवादन प्रथा के क्रमिक ह्रास का अध्ययन करे तो यह निश्चित हो जायगा कि अभिवादन का आज का विकृत रूप लाभप्रद न होकर उल्टा अनेक हानियो का प्रसारक वन गया है। कहना न होगा कि समस्त सभ्यता और संस्कृतियो की प्रसव भूमि एकमात्र भारतवर्ष है, यह तथ्य सभी ऐतिहासिक मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति मे किसी भी प्रथा का विशुद्ध रूप भारतीय शास्त्रो मे ही ढूढा जा सकता है। अन्यान्य लोगो मे भले ही अभिवादन को केवल परम्परागत शिष्टाचार मात्र माना जाता हो, परन्तु भारतीय शास्त्रो मे तो इसे एक आवश्यक धर्मानुष्ठान स्वीकार किया गया है। इसीलिये हमारे शास्त्रो मे इसका स्वरूप, विधि और इतिकर्तव्यता का विस्तृत वर्णन विद्यमान है। यथा—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) **अग्निमीडे ।** (ऋग्वेद १।१।१)

ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः । (अथर्व)

नमस्ते भक्तवत्सल ! (वाल्मीकीय रामायण)

(ख) उरसा शिरसा दृष्ट्या, मनसा वचसा तथा ।
पद्भ्यां कराभ्यां जानूभ्यां, प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते ॥
(आह्निक सूत्रावलि)

(ग) प्रणमेद्दण्डवद् भूमौ (रणवीर भक्तरत्नाकर-पाद्मे)

(घ) ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥
(मनु० २।७१-७२)

(ङ) उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्यं
सव्येन पादावभिवादयेत् । (पैठीनसि कुल्लूकभट्टीये)

(च) ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य बर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥
(मनु० २। १२०-१२१)

अर्थात्—(क) मैं अग्निदेव की वन्दना करता हू । सब से महान् ब्रह्म को नमस्कार करता हू । हे भक्तवत्सल राम, आपको नमस्कार हो (ख) [देव प्रतिमा के सामने] छाती, शिर, नेत्र, मन, वचन, हाथ, पाव, और घुटने इन आठो अङ्गो द्वारा किये गये प्रणाम को साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं। (ग) दड की भाति भूमि मे पडकर प्रणाम करे । (घ) वेद के स्वाध्याय के आरम्भ मे और अन्त मे सदैव गुरु के दोनो चरण ग्रहण करने चाहिये । अपने बायें हाथ से गुरु का बाया चरण और अपने दाये हाथ से गुरु का दाया चरण स्पर्श करना चाहिये (ड) अपने

दोनो हाथो को उत्तान=ऊपर की ओर सीधा रखते हुए दक्षिण से दक्षिण और वामसे वाम पादका स्पर्शपूर्वक अभिवादन करना चाहिए। (च) क्योकि सामने आते हुवे वृद्ध पुरुष को देखकर युवकोके प्राण स्वभावत ऊपरको उत्क्रान्त होते हैं, अत जब युवा उठकर अभिवादन करता है तभी वे प्राण पूर्ववत् प्रतिष्ठित होते हैं। [आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्दकृत अर्थ] अभिवादन करने का जिसका स्वभाव है, और विद्या वा अवस्था मे वृद्ध पुरुषो का जो नित्य सेवन करता है, उसकी अवस्था, विद्या, कीर्ति और बल इन चारो की नित्य उन्नति हुआ करती है। इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिए कि आचार्य माता-पिता, अतिथि, महात्मा आदि अपने बडो को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे

उपर्युक्त अभिवादन और प्रत्यभिवादन व्यवस्था को हम चार भागो मे विभक्त कर सकते है।

१—ईश्वर का अभिवादन=यज्ञ वेदपाठ स्तोत्र पाठ आदि साधनो से होना चाहिए, और तत्प्रतिमाओ को साष्टाग प्रणाम करना चाहिए।

२—आयु ज्ञान-यश और बल-वृद्ध गुरुजनो को पाद-स्पर्शपूर्वक प्रणाम करना चाहिये, [यदि प्रणम्यजन साक्षर हैं तो स्व-नाम उच्चारण आदि सब विधान करणीय है अन्यथा नही। वय प्राप्त ब्रह्मचारियो के लिए वन्दनीय युवतियो का चरण स्पर्श वर्जित है]।

३—समान गुण वयस्को को परस्पर अपने इष्ट देवता को 'जय' क्रियान्वित नाम ग्रहणपूर्वक सम्मान करना चाहिए। जैसे जयगोपाल, जय हिन्द।

४—गुरुजनो को प्रत्यभिवादन मे आशीर्वाद देना चाहिए।

अभिवादन क्यों करे ?

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि आखीर अभिवादन करना ही क्यो चाहिए ? इससे क्या लाभ होता है ? क्यो व्यर्थ कवायद परेड की जाय ? इत्यादि प्रश्नो के समाधान से लिए सर्वप्रथम हमे सभी मत-मतान्तरो की प्रणाम विधियो पर तुलनात्मक ढग से विचार करना होगा, तभी हम वास्तविक तथ्य पर पहुच पाएगे।

ईसाई प्रथा अव्यवहार्य

सर्वप्रथम शिष्टाचार की पुतली मिस मेयो के भाई बान्धवो की ही प्रणाम-विधि पर विचार करते है। ईसाइयो मे—प्रात -काल परस्पर 'गुड मार्निग' मध्याह्न मे 'गुड नून' दिन ढले 'गुड ईवनिङ्ग' और रात मे 'गुड नाइट' करते हैं। इन सब वाक्यो मे प्रथम 'गुड' शब्द के माने है अच्छा=सुन्दर और शेप शब्दो के अर्थ हैं क्रमश प्रात , मध्याह्न, अपराह्न-और रात। यदि एक-दूसरे को 'गुड मार्निग' कहता है तो, इसका सीधा अभिप्राय है कि 'प्रात काल मुबारिक !' दूसरा भी उसे कहता है, 'तुझे भी प्रात काल मुबारिक !' इस तरह जिह्वा मात्र हिलाने से लाभ दोनो मे से किसी को कुछ नही हुआ। कदाचित् वे 'ईसा' 'गाड्' कुछ भी कहते तो खुदाका नाम मुखसे निकलनेके कारण मुख ही पवित्र होता। परन्तु 'गुड मार्निग' और गुड नाइट' मे तो सार ही कुछ नही। अब जरा इसकी व्यावहारिकता पर भी विचार कीजिए। मान लीजिये कि रात मे हमारे किसी मित्र के यहा किसी प्रियजन की मृत्यु हो गई, अथवा डाका पड गया, चोरी हो गई या मोटर ऐक्सीडैन्ट मे हमारा मित्र मरणासन्न हो

गया। हमे प्रात काल जब इस अनर्थकारी काण्ड की सूचना मिली तो मानवता के नाते हम उनके कष्ट मे सहानुभूति प्रकट करने पहुँचे, और जाते ही 'शिष्टाचारानुरोधात्' तपाक से बोले 'गुड मार्निग' अर्थात् आज का यह प्रभात तुम्हारे लिये मुबारिक=सुहावना है। अब सोचिये, हमारी यह उक्ति जले पर नमक छिड़कने से क्या कम होगी ? मैं सच कहता हू कि यदि किसी दु खित पुरुष को कोई मनुष्य ढाढस न देकर, उसके कष्ट मे स्वय भी चार आसू न गिराकर—उल्टा उसे कहे कि इस कष्ट-प्राप्ति पर तुझे 'बधाई', तो यदि वह दु खित पुरुष चिढकर वक्ता का शिर तोड डाले, तो कानून उसे उचित ही समझेगा। क्योकि कानून की दृष्टि मे किसी के जजबात भडकाना, मानो उसको अपराध करने के लिए विवश करना है। इसलिए ईसाइयो की सत्कार-पद्धति जहा निष्प्रयोजन व्यर्थ और अविचार-विजृम्भित है, वहा व्यवहारवादके अनुसार अव्यवहार्य भी है।

मुस्लिम प्रथा रोगों का घर

एक मुसलमान दूसरे को 'अज सलामालेकम' कहता है, तो उत्तर मे दूसरा बोलता है 'वालेकम सलाम ! इनके शब्दो पर हमें इतनी आपत्ति नही, जितनी कि—उपर्युक्त शब्द बोलते हुए एक-दूसरे के हाथ को अपने हाथ मे थामकर घर्षण करने मे है। इस मुसलमानी प्रथा को ईसाइयो ने तो अपनाया ही था, अब देखा-देखी हिन्दुओने भी परस्पर हाथ मिलाना आरम्भ कर दिया है। नि सन्देह यह प्रथा एक-दूसरे की सक्रामक बीमारियो के आदान-प्रत्यादान मे बडी खतरनाक सिद्ध हुई है। कलतक हमारी चिल्लाहट की परवाह नही की गई थी, परन्तु अब तो पाश्चात्य देशो के अनेक प्रतिष्ठित वैज्ञानिको ने घण्टा घोष के साथ यह

घोषणा की है कि एक वार सेक हैण्ड — अर्थात् हाथ से हाथ मिलाने मे हम क्षण मात्र मे दूसरे के शरीर मे व्याप्त सक्रामक बीमारियो के कितने कीटाणुओ को अपने शरीर मे ग्रहण कर लेते है और अपने कितने ऐसे कीटाणुवो को दूसरे के शरीर में पहुंचा देते है इसका लेखा जोखा करके ठीक सख्या, अधिक से अधिक शक्तिशाली अणुवीक्षण यन्त्र भी बताने मे असमर्थ है। पाश्चात्य देशो मे अब यह प्रथा घटने लगी है। समझदार लोग प्राय दस्ताने पहनकर हाथ मिलाने लगे है, परतु प्रश्न तो यह है कि जिह्वा से 'अज सलामालेकुम' और 'वालेकुम सलाम' कहने से लाभ क्या हुआ ? इससे अच्छा तो अल्लाताला, रहीम और करीम आदि खुदा के नाम ही बोल दिये जाते तो कुछ तो फायदा होता !

आर्यसमाजी गए बीते ?

अभिवादन प्रथा के सम्बन्ध मे सबसे गए बीते आर्यसमाजी है। कहने को तो वे अपने आपको बडे तर्कतोमर तीसमारखा समझते है, परन्तु वास्तव मे वे सुस्पष्ट असत्य पर भी आमरण हठ ठानने वाले जटिल जन्तु हैं, जो सौ वार कहने सुनने और समझ लेने पर भी अपने दुराग्रह को छोडने के लिये प्रस्तुत नही होते। फिर चाहे उनकी इस प्रवृत्ति से आर्यसमाज के चौथे नियम का भले ही दिवाला पिट जाए ? और स्वय उनको भी कितनी ही हानि क्यो न उठानी पडे !! हा ! स्वामी दयानन्दजी ने तो सस्कार विधि मे प्रमाण पुरस्सर पदे २ अभिवाद नमस्कार पाव छूना लिखा है, परन्तु एक आध स्थान मे श्रीमती 'नमस्ते' भी कही से आ टपकी है जो स्वामी दयानन्दजी की मृत्युके पश्चात् उनके चतुर चेलो की चञ्चल चञ्चु का चमत्कार जान पडता है। हम कतिपय

उदाहरण देकर अपनी इस स्थापना को प्रमाणित करना चाहते है। यथा —

१—यह वामदेव्य-गान होने के पश्चात् नमस्कार सत्कार करे।
(स० वि० सामान्य प्रकरण पृष्ठ ६१)

२—वधू 'भवन्त अभिवादयामि' ऐसा वाक्य बोलकर पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे। (स० वि० गर्भाधान पृष्ठ ४३)

३—बालक पिता को नमस्कार कर हाथ जोड के कहे।
(स० वि० वेदारम्भ पृष्ठ ९४)

४— ' 'भवन्त अभिवादये —ऐसा वाक्य बोल कर आचार्य का वन्दन करे, आचार्य—'आयुष्मान् विद्यावान् भव सौम्य !' ऐसा आशीर्वाद दे। (स० वि० वेदारम्भ पृष्ठ ९५)

५—बडो को नित्य नमस्कार । (स० वि० वेदारम्भ पृ० १०५)

६—आचार्य को अनेक धन्यवाद दे नमस्कार करता हू।
(स० वि० समावर्तन पृ० ११३)

७—'अह भो अभिवादयामि' इस वाक्य को बोल के दोनो वधू वर वृद्धो को नमस्कार करे। (स० वि० विवाह पृ० १३६)

८—वे [सस्कार मे पधारे वृद्ध जन] 'सर्वे भवन्तोऽत्रानन्दिता सदा भूयास्तु ' इस प्रकार आशीर्वाद दे। (स वि. पृ. २१२)

इन प्रमाणो के अतिरिक्त एक प्रबल प्रमाण स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा छपाया गया स्वामी दयानन्द जी का पत्र व्यवहार सग्रह है जिसमे उनके लिखे सैकडो पत्र हैं। हमने सब पत्र पढे, परन्तु स्वामी दयानन्द जी ने अपने किसी पत्र मे भी कभी किसी व्यक्ति को 'नमस्ते' नही लिखा, किन्तु सब मे प्राय 'आनन्दित रहो' ऐसा ही लिखा है। अब पाठक स्वय विचार करे कि इतने प्रबल प्रमाणो

की विद्यमानता मे भी आर्यसमाजियो का 'नमस्ते' चिल्लाने का दुराग्रह कितना हठपूर्ण है। यहा यह पूछा जा सकता है कि आखिर नमस्ते मे वह क्या इतना बडा दोष है जो सनातनधर्मी सदासे इसके प्रति बगावत करते चले आए है—आइए हम समझाते है ।

'नमस्ते', 'नम ' और 'ते' इन दो शब्दोके सम्मेलन से बना है। 'नम ' का अर्थ है नमना=झुकना=शिर नीचा करना, और 'ते' का अर्थ है 'तेरे लिए'। 'नम.'अव्यय है और 'ते' युष्मत् शब्दकी चतुर्थी का एकवचन है। अब कोई बुद्धिमान् स्वय सोच सकता है कि गुरुजन यदि अपने से छोटे को नमस्ते कहे तो इसमे नम शब्द बाधक है। क्योकि ससार की सभ्यता मे पुत्र के सामने माता पिता का, गुरु के सामने शिष्य का और पत्नी के सामने पति का शिर झुकाना=नमना न केवल शास्त्र के अपितु व्यवहारवाद के भी सर्वथा विपरीत है। अब इसके दूसरे पहलू पर विचार करे, यदि छोटा पुरुष अपने गुरुजनो को नमस्ते कहने चले तो इसमे एकवचन 'ते' शव्द बाधक है, अर्थात् अपने वृद्ध जनो को तू कहना सभ्यता का दिवाला पीटना है। किसी देश या जातिकी सभ्यता बडो को 'तू' कहने की आज्ञा नही दे सकती। ऐसी स्थिति मे 'नमस्ते' यह वाक्य न छोटे को बडा कह सकता है न बडे को छोटा बोल सकता है, दोनो रीतियो से यह हेय है।

हमारी इस स्थापना को पूरी सुने बिना ही प्राय महाशय बीचमे ही चट बोल उठा करते हैं कि वेद मे बार बार 'नमस्ते' आता है और '**नमो ज्येष्ठाय, कनिष्ठाय च नम.**' आदि मन्त्रो मे तो छोटे बड़े सबको 'नम ' कहनेका सुष्पष्ट विधान है, कौशल्याजी ने अपने

पुत्र राम को 'नमस्ते' की है—इत्यादि २ अनेक उदाहरण देकर स्वामी दयानन्दजी के पूर्वोक्त लेखो को कपाल क्रिया करना चाहा करते हैं। इन सब उक्तियो के उत्तर मे हमारा एक जवाब है कि-भारतीय साहित्य मे ऐसा एक उदाहरण भी उपलब्ध नही हो सकता जहा मानव कोटि के माता पिता गुरुजनो को कभी किसी ने नमस्ते अर्थात्—'तू' कहकर स्मरण किया हो ! आप जितने उदाहरण दे रहे हैं या दे सकते है वे केवल ईश्वर को लक्ष्य कर के ही कहे गए हैं। एकेश्वरवादी की दृष्टि मे जब ईश्वर भिन्न कोई पदार्थ ही नही है, तब ज्येष्ठ कनिष्ठ की कौन कहे—जड चेतन सभी कुछ तो उसका ही विराट् रूप है। ऐसी स्थिति मे किसी मनुष्य विशेष की ज्येष्ठता कनिष्ठता का अप्रासङ्गिक राग अलापा जायेगा तो आगे 'नमः श्वभ्यः' तस्काराणां पतये नम ' आदि मन्त्रो मे महाशय कुतुबुद्दीन को और चोरो के चौधरी को भी तो नमस्कार की गई है। क्या दयानन्दी इसका अनुकरण करके रास्ते मे मिले महाशय गधे कुत्तो को भी 'नमस्ते' कहा करेंगे ? श्री कौशल्या माता का वह वचन तो हमने स्वय ही अपने प्रमाणो मे उद्धृत किया है, उसमे विद्यमान 'भक्तवत्सल !' शब्द ही महाशयो की तसल्ली के लिये पर्य्याप्त है अर्थात् वह पुत्र समझकर नही बल्कि भगवान् समझकर ही वहा 'ते' शब्द का प्रयोग कर रही हैं।

शायद ! पाठक अभी तक यह समस्या न सुलझा पाए हो कि यदि अपने से बड़े को 'नमस्ते' कहना अपमान जनक है,तब बडो से भी बड़े भगवान् को वेद में बार २ 'नमस्ते' आता है, जिसे आप भी स्वीकार करते है—इसका तात्पर्य ? वास्तविक बात यह हे कि जैसे गुरुजनो से 'तू' कहना शोभा नही देता,

ठीक इसी प्रकार ईश्वर को आप=भवान्-अर्थात् बहुवचन से सम्बोधित करना भी शोभास्पद नही। क्योकि ईश्वर एक है= अद्वितीय है। उर्दू वाले भी 'तू खालिक है तू सर्जनहार है' इत्यादि शब्दो मे उसे तू तू कहकर ही पुकारते हैं। अग्रेजी मे ईश्वर को ही 'दाऊ लार्ड' कहा जाता है, एव भारतीय साहित्य मे 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' ऐसा ही कहा जाता है। सो जहा हम यह नियम बना रहे हैं कि अपने से बडो को तू बोलना पाप जनक है वहा—ईश्वर इस नियम का अपवाद है। अर्थात्—ईश्वर को 'तू' बोलना ही शोभास्पद है। एतावता ईश्वर कोटि मे आया हुआ 'नमस्ते' का प्रयोग पुरुष कोटि के प्रश्न का समाधान नही कर सकता।

'तू' शब्द कहाँ बोला जा सकता है इस सम्बन्ध मे सस्कृत साहित्य का एक बहुत प्रसिद्ध श्लोक चला आता है। यथा—

बाल्ये सुतानां सुरतेऽङ्गनानां स्तुतौ कवीनां समरे भटानाम्।
त्वंकारयुक्ता हि गिरः प्रशस्ताः.....................॥

अर्थात्—बाल्यावस्था मे अबोध पुत्रो द्वारा, सुरतकालीन बेतकल्लुफी के समय स्त्रियो द्वारा, स्तुति पाठ मे कवियो द्वारा और रणागण मे योद्धाओ द्वारा 'तू' कहा जाना ही प्रशस्त है।

नमस्ते कहना पाप !

अपने से बडे को 'तू' कहने पर जो पाप होता है धर्मशास्त्र मे उसका सुस्पष्ट प्रायश्चित लिखा है, यथा—

(क) हुँकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः।
स्नात्वानश्नन्नह शेषमभिवाद्य प्रसादयेत्॥

(मनु० ११। २०४)

(ख) गुरुं हुँकृत्य त्वंकृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः ।
श्मशाने जायते वृक्षो गृध्रकङ्कादिसेवितः ॥
(स्मृतिसंग्रह)

अर्थात्—(क) ब्राह्मण को 'हु' कहे जाने पर और किसी गुरुजन को 'त्व' कहे जाने पर वक्ता को स्नान करके दिन भर भोजन नहीं करना चाहिए, और चरण स्पर्श पूर्वक अभिवादन करके उनसे क्षमा मागनी चाहिए। (ख) [यदि यह प्रायश्चित न किया जाएगा तो] गुरुजनो को हुँ तू वोलने वाला व्यक्ति, श्मशान भूमि मे वृक्ष योनि को प्राप्त होगा, जिस पर गीध, चील, कव्वे वैठा करेंगे।

महाभारत मे भी एक ऐसी गाथा आती है कि जिसमे 'तू' शब्द को मृत्युदण्ड के समान माना है। प्रसग यह है कि महाभारत सग्राम मे एक दिन अर्जुन दूसरे मोर्चे पर युद्ध कर रहे थे और युधिष्ठिरादि दूसरे मोर्चे पर। इस दिन कौरवो ने अर्जुन की अनुपस्थिति मे युधिष्ठिरादि की वहुत दुर्गति की। सायकाल जव अर्जुन वापिस लौटे तो दिन भर के प्रहारो से तग हुए युधिष्ठिर ने अर्जुन को निहोरा देते हुए कहा कि तेरे जीते जी हमारी यह दुर्गति ! तेरे 'गाण्डीव' को धिक्कार है ! यह सुनते ही अर्जुन वहुत खिन्न हुवा, क्योकि अर्जुन की यह अटल प्रतिज्ञा थी कि जो मेरे गाण्डीव धनुप का अपमान करेगा मैं उसका वध कर डालूगा। प्रतिज्ञा पालन के लिये अर्जुन पिता के समान ज्येष्ठ भ्राता का वध करने के लिये उद्यत हो गया। और स्वय भी प्रायश्चित्तार्थ जलने को चिता पर चढने की तैय्यारी कर ली। वडा अनर्थ होने लगा तव अनेक ऋषि मुनि और स्वय भगवान् कृष्ण, धर्मशास्त्र की कोई ऐसी व्यवस्था ढूढने लगे कि जिससे

अर्जुन की प्रतिज्ञा भी पूरी हो जाए और दोनो के प्राण भी बच जाएँ। अन्त मे सर्व सम्मति से यह निर्णय हुवा कि 'वध' केवल शिर काटने से ही नही होता वल्कि शास्त्र दृष्टि से विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों का विभिन्न रीति से वध होता है। जैसे राजा का वध करना हो तो—

'आज्ञाभंगो नरेन्द्राणाम्'

अर्थात्—राजा की आज्ञा न मानना ही उस का वध है। यदि स्त्री का वध करना हो तो—

'पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्रवध उच्यते'

अर्थात्—स्त्री से पत्नी का सम्वन्ध न रखना ही विना शस्त्र स्त्री का वध करना है। ब्राह्मण का वध भी—

'वपनं द्रविणादानम्'

—के अनुसार उसका शिर मूडकर धन छीनकर अपमान पूर्वक देश से निकाल देने मात्र से सम्पन्न हो जाता है। बस ! ठीक इसी प्रकार गुरु पिता माता ज्येष्ठ भ्राता आदि गुरुजनो का वध भी—

'त्वंकारञ्च गरीयस'

—के अनुसार उनको 'तू' कह देने मात्र से सम्पन्न हो जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार तब अर्जुन ने युधिष्ठिर को कहा —'सर्व अनर्थो का मूल तू ही है। तूने ही जूवा खेला, तूने ही द्रोपदी को हारा' इत्यादि २। कहना न होगा कि इस ऐतिहासिक तथ्य से यह भली भाति सिद्ध हो जाता है कि वडो के प्रति 'तू' शब्द का प्रयोग उनका वध करने के वरावर होता है। ऐसी दशा मे 'नमस्ते' कहने वाले महाशय स्वय तो श्मशान के वृक्ष वनेगे ही, साथ ही वह गुरुजनो का भी तो वध करते हैं।

प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि जब लडाई झगड़ा आरम्भ होता है तब —

'रंज की जब गुफ्तगू होने लगी,
आप से तुम, तुम से तू होने लगी।

अर्थात्—पहिले आप २ बोलते है, फिर तुम २ बोलने लगते हैं फिर एक वचन तू तू पर ही उतर आते हैं, और तू तू के बाद क्रम प्राप्त डण्डे सोटे का ही अवसर है। इसलिये नमस्ते 'कहना' भी वह अक्षम्य अपराध होगा जिसके उत्तर मे यदि डण्डा चल जाए तो निर्हेतुक न होगा। 'नमस्ते' के उत्तर मे ऐसे काण्ड न होने का एक ही कारण है कि महाशयो के सौभाग्य से सर्व साधारण संस्कृत व्याकरण से अपरिच्चित हैं, वे नही जानते कि 'ते' क्या बला है ? क्या हम आशा करे कि महाशय लोग ठण्डे दिलसे हमारे इस लेख पर ध्यान देकर (यदि वे नमस्ते से चिपके ही रहना पसन्द करते है, और इस पुरानी बीमारी से किसी प्रकार पिण्ड छुड़ा नही सकते तो) कम से कम 'नमस्ते' से पूर्व 'ओं' शब्द और अधिक सयुक्त कर लिया करें। जिससे यह गुरुजनों के प्रति न होकर ईश्वर के लिए हो जाए, और इस तरह वे इस अक्षम्य पाप से बच सके।

अन्यान्य मतो और नास्तिक समाज की प्रथाओ का विभिन्न विवेचन करने से यह एक ही विषय—'बाढे कथा पार नहिं लहऊ' का निदर्शन बन जाएगा। इसलिए यही कहना पर्य्याप्त होगा कि साष्टांग प्रणाम और चरणस्पर्श से क्रमश. घटते २ यह प्रथा आज कहां जा पहुची है, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि हिन्दू तो अब भी कम-से-कम दोनो हाथ जोडकर शिर झुकाना आवश्यक समझते हैं, परन्तु मुसलमानो ने दोनो हाथो के स्थान मे

केवल एक हाथ ही मस्तक की ओर करना आरम्भ किया। फौजी लोगो ने केवल डेढ अँगुली मात्र को ही वडे अन्दाजे के साथ मस्तक की ओर उठाना काफी समझा। अब कुछ दिनसे सबकुछ छोडकर केवल जाति या पेशे का नाम मात्र ग्रहण करना ही चल पडा है—जैसे ब्राह्मण को आते देखकर 'पडित जी २ !' उत्तरमे लालाजी २ ! या वैद्यजी ३ ! और मुनीम साहिब ! का बोल बाला है। ससार उत्तरोत्तर सक्षेप की ओर बढ रहा है। परन्तु इस सक्षेप से मानव समाज किन २ अलभ्य लाभो से दिनोदिन वञ्चित होता जारहा है यह सर्वसाधारण को कानोकान खबर नही।

सनातन धर्मी प्रथा

समस्त मतवालो की अभिवादन की प्रथाओ का निरूपण करने के अनन्तर अब हम क्रम प्राप्त सनातनधर्मी प्रथा और उससे होनेवाले वैज्ञानिक लाभो का दिग्दर्शन कराते है।

साष्टांग प्रणाम क्यों ?

हम पीछे कह आए है कि मन्दिरो मे देवप्रतिमाओ के सामने साष्टाग प्रणाम करने का विधान है। इससे सर्व प्रथम तो यह लाभ है कि मन्दिर मे जानेवाले राजा, रङ्क सबका अहङ्कार समूल नष्ट हो जाएगा। क्योकि जब तक हमे अपने किसी प्रकार के भी बड-प्पन का अभिमान बना रहता है तब तक साष्टाग प्रणाम करनेकी श्रद्धा ही नही होती ! साथ ही दर्शक लोग खास कर स्त्रिए बडी सजधज के साथ वेषभूषा बनाकर मन्दिर मे जाती है इससे सर्व-साधारण के मन मे विकार उत्पन्न होता है। देव स्थानो और धार्मिक उत्सवो मे जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सीधे सादे किन्तु शुद्ध और स्वच्छ वस्त्र पहिन कर जाना चाहिए। यदि साष्टाग

प्रणाम करनेकी परिपाटी को तत्परतापूर्वक प्रोत्साहन दिया जावे तो स्वभावत ही तडक-भडक वाले चमकीले कीमती वस्त्रो के मलिन हो जाने के भय से भक्त लोग साधारण वस्त्र पहिनकर ही मन्दिरो मे आने लगेगे जिससे विकारमय वातावरण का मूल ही समाप्त हो जाएगा।

इससे एक लाभ और होगा, आज हम जिस समता या साम्यवाद के स्वप्न देख रहे हैं—परन्तु हमारी मनमानी कार्य-प्रणालीके दोपसे समता के स्थान मे अवाछित 'एकाधिनाय-कत्व'=Dictetorship का बोलवाला होता जा रहा है-उस समता की उर्वरा प्रसव भूमि ये मन्दिर ही है। जिस भगवान् ने राजा रङ्क दोनो को ही समान मूत्र की नाली से उत्पन्न किया और अन्त मे भी समान अग्नि जल मिट्टी मे मिला देने की व्यवस्था की, उस समोऽहं सर्वभूतेषु' कहने वाले प्रभु के द्वार मे भी स्व स्व अधिकारानुसार सबको समान रीति से ही साष्टाग प्रणाम करना चाहिये। साष्टाग प्रणाम मे हमारे शरीर का प्रत्येक अङ्ग, दृष्टि और मन सब कुछ ही प्रभु के सामने सुतरा झुक जाता है, अर्थात्—हम सर्वात्मना आत्मनिवेदन कर देते हैं। कहना न होगा कि नवधा भक्ति का अन्तिम उज्ज्वल रूप 'आत्म-निवेदन' ही है, जिसकी प्राप्ति का उच्चतम ध्येय उक्त साष्टाग प्रणाम मे निहित है।

हम पीछे सिद्ध कर आये हैं कि पार्थिव आकर्षण का मानव पिण्ड पर समधिक प्रभाव पडता है। जब हम साष्टाग प्रणाम करेगे तो हमारा पिण्ड एकबारगी नीचे से ऊपर तक पृथ्वी पिण्ड से स्पृष्ट होने के कारण पार्थिव विद्युत् से भरपूर हो जाएगा। अब हम जब खडे होकर प्रभु प्रतिमा को सस्पृह दृष्टि से देखेंगे तो वैज्ञानिक पूजाविधान के द्वारा प्रतिमा मे व्याप्त हुए दैवी

गुण हमारे पिड मे भी विकसित हो जाएगे। हमारी इस स्थापना को यो समझना चाहिए कि जैसे सूर्य की किरणो मे सर्वत्र व्याप्त अग्निस्फुलिङ्ग, सूर्यकान्त=आतशी शीशे के सान्निध्य से अपने निकटवर्ती द्रव्यो को भी प्रज्वलित कर देते है, ठीक इसी प्रकार सर्वव्यापक प्रभु की विश्व मे परिव्याप्त अनन्त शक्तिये प्रतिमा पीठ के सान्निध्य से भक्तो के हृदयो को भी सशक्त बना देती है। परन्तु सूर्यकान्त के सम्पर्क मे आने वाले वे ही पदार्थ प्रज्वलित हो पाते है जो कि स्वय भी अग्निस्फुलिङ्ग ग्रहण कर सकने की योग्यता रखते हो। पाषाण, जल, लोह जैसे समधिक ठोस पदार्थों पर झटिति आतिशी शीशे की किरणो की अभिव्यक्ति नही हो सकेगी, किन्तु रुई, घास, फूस जैसे ज्वलनशील पदार्थों पर ही हो सकेगी। ठीक इसी प्रकार भक्तो को भी प्रतिमा के दैवी गुणो को अपने पिड मे प्रस्फुटित करने के लिए प्रथम तादृश योग्यता सम्पादन करने की आवश्यकता है। साष्टाग प्रणाम इस योग्यया सम्पादन का अन्यतम साधन है।

चरण छूकर क्यों ?

अब गुरुजनो की चरण स्पर्शपूर्वक की गई वन्दना का रहस्य समझिये। हमारे यहा प्रणाम करना अन्यान्य पन्थोकी भाति एक निरर्थक व्यापार नही है। किन्तु मनु आदि महर्षियो ने इसके चार लाभ प्रकट किये हैं। यथा–प्रथम आयुवृद्धि। दूसरा-विद्यावृद्धि, तीसरा—यशोवृद्धि और चौथा—बलवृद्धि। ये चार पदार्थ कैसे मिलेगे, इसका वैज्ञनिक हेतु हमारे प्रणाम करने की विधि मे सुरक्षित है। हम 'अण्ड पिड' सिद्धान्त मे और विद्युत् आकर्षण प्रघट्ट मे यह सिद्ध कर आये हैं कि प्रत्येक मानव पिड मे 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' के अनुसार विभिन्न प्रकार की शक्तियो का समावेश

रहता है। वह वैद्युत् शक्ति ऋणात्मक और धनात्मक अर्थात् नैगिटिव और पौजिटिव नामसे दो प्रकार की है जिसका निरूपण भी पीछे हो चुका है । मानव-पिंड के वायें अङ्ग मे नैगिटिव का आधिक्य और दाये अङ्ग मे पौजिटिव का वाहुल्य पाया जाता है। यह वात सभी जानते है कि अर्धाङ्ग पक्षाघात रोग मे मनुष्य का ऊपर से नीचे तकका वरावर आधा-आधा अङ्ग शिथिल हो जाता है। अर्थात् एक पाव, एक हाथ और एक आख आदि २ सर्वथा जड प्राय हो जाते है, और दूसरी ओर के पाव हाथ नेत्र पूर्ववत् प्रगतिशील वने रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मानव शरीर मे आधो आध दो धाराए विद्यमान हैं। जव हम किसी गुरुजन को प्रणाम करने चले तो स्वभावत सामने वाले व्यक्ति के दाये और वाये अङ्ग हमारे दाये और वाये अङ्गो से ठीक विपरीत होगे, ऐसी स्थिति मे हमारे ऋषियो ने हाथ घुमाकर दाये हाथ से दाये पाव का और वाये हाथ से वाये पाव का स्पर्श करने का विधान किया है। जिससे प्रणामकर्ता और प्रणम्य दोनो पिण्डो की नैगिटिव और पाजिटिन दोनो धाराए समान रूप से सम्मिलित हो सके ।

गुरुजन—आयु , ज्ञान, यश और वल इन चारो गुणो से अथवा किसी एक या अधिक गुण से परिपूर्ण है, और प्रणाम करने वाला निश्चित ही आयु ज्ञान यश और वल की पूर्णता का सुपात्र इच्छुक है। जैसे विद्युत् उत्पादक यन्त्र=डैनुमा मे सञ्चित विद्युत् अपने सम्पर्क मे आने वाले सुस्पृष्ट दूसरे यन्त्र मे प्रवाहित हो उठता है, अथवा 'पावर हाउस' से स्विच मिला देने पर हमारी वत्ती जल उठती है, पखा चलने लगता है, ठीक इसी प्रकार प्रणम्य गुरुजन मे जो भी विशिष्ट गुण होगे वे चरण स्पर्श के कारण प्रणाम करने वाले मे

सक्रमण कर जाएगे। उधर गुरु जन शास्त्र विधि के अनुसार प्रणाम करने वाले के मस्तक पर अपना दाया हाथ रखकर आशीर्वाद देगे जिससे प्रणम्य और प्रणामकर्ता दोनों मे अमुक गुणो से परिपूर्ण वैद्युत् प्रवाह एक आवर्त=सरकल के रूप मे सञ्चालित हो उठेगा।

जैसे दीपक से जला दीपक पूर्व दीपकके प्रकाश आदि समस्त गुणो का आधार बन जाता है, परन्तु इससे पूर्वदीपक मे कुछ न्यूनता नही पडती, ठीक इसी प्रकार गुरुजनो के समस्त गुण हमारी प्रणाम पद्धति के अनुसार प्रणामकर्ता मे विकसित हो जाते हैं, और इससे प्रणम्य गुरुजनो की शक्ति मे कोई न्यूनता नही पडती। हा ! वाचिक आशीर्वाद मे शक्ति अवश्य व्ययित होती है इसीलिये शापानुग्रह करते हुए हमारे पूर्वज बहुत फूक-फूककर पाव रखते थे। अब भी शास्त्र-विश्वासी विद्वान् किसी को दीक्षित शिष्य बनाने मे पात्रापात्र के विचार से आनाकानी अवश्य करते है।

दाये हाथके सस्पर्श से, स्पृष्ट मनुष्य के अनेक दोषो का मार्जन किया जा सकता है, और स्पर्श करने वाला व्यक्ति अपने ओज का उसमे आधान कर सकता है। यह वैदिक सिद्धान्त है और वर्तमान युग के शारीरिक विज्ञान निष्णात विद्वान् इसका सर्वात्मना समर्थन करते है यथा—

अयं मे हस्तः भगवानयं भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥ (अथर्व ४।१३।६)

अर्थात्—यह हाथ अधिक गुणकारी है, मेरा यह हाथ सब रोगो की दवा ही है, और यह मेरा हाथ स्पर्श से शुभ=आरोग्य करने वाला है।

आशा है पाठकगरण तुलनात्मक दृष्टि से सभी पन्थो को अभिवादन पद्धतियो पर विचार करते हुवे गुण दोप विश्लेपरणपूर्वक भारतीय वैदिक पद्धति की सार्थकता, वैज्ञानिकता और अवश्यकरणीयता का भली प्रकार मनन करेंगे। हमारी इस प्रणाम पद्धति की वैज्ञानिकता मे यही एक प्रबल प्रमाण पर्याप्त है कि ऋषियो ने दाये हाथ से दाया पाव और वाये हाथ से वाया पाव छूने की जो व्यवस्था दी है वह अहैतुकी नही हो सकती।

गो महिमा

वैदिक वाङ्मय मे गाय की लोकोत्तर महिमा का विस्तृत उल्लेख विद्यमान है तदनुसार सभी सम्प्रदायो के हिन्दु अन्यान्य विपयो मे मतभेद रखते हुवे भी गौ का समान आदर करते है। यह आदर केवल परम्परागत अन्धविश्वास पर अवलम्बित हो सो बात नही किन्तु गाय की उन लोकोत्तर विशेषताओ पर अवलम्बित है जो कि भगवान् ने अपनी अनन्त सृष्टि मे एकमात्र इसी जीव को प्रदान की हैं। यद्यपि गाय के विषय मे 'हमारा गोधन' नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक में हम बहुत कुछ लिख चुके है तथापि 'क्यो ?' मे गोमाता का सर्वथा उल्लेख ही न होना जहा ग्रन्थ के गौरव को घटाने का कारण बनता है वहा पाठको को भी गोमहिमा के पुण्यपाठ से प्राप्त होने वाले असीम लाभो से वञ्चित रखने का हेतु बनता है। एतदर्थ हम यहा गोमहिमा का सक्षिप्त दिग्दर्शन करते है यथा—

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) गोस्तु मात्रा न विद्यते (ऋग्वेद)

(ख) यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरंचित्
कृणुथा सुप्रतीकम् (अथर्व ४।२१।६)

(ग) सर्वे देवाः स्थिता देहे (बृहत्पाराशस्मृति ३।३३)

(घ) मातरः सर्वभूतानां गोषु पाप्मा न विद्यते ।(महाभारत)

(ङ) गावो नो परमा मित्ता (ब्राह्मण धम्मिय सुत्त १३।१४)

अर्थात्—(क) गाय द्वारा होने वाले लाभो की कोई गणना ही नही है। (ख) गाय का दूध बलिष्ठ बनाता है, और बेडोल मुटापे को हटा कर सननाग बना देता है । (ग) गाय के देह मे सब देवताओ का निवास है। (घ) गाय सब प्राणियो की माता है, गव्य पदार्थो मे यक्ष्मा बीमारियो के कीटाणुवो को दूर करने की शक्ति विद्यमान है (ड) गाय मानव समाज की परम मित्र है।

वेदो मे गाय को माता कहा गया है यह श्रद्धातिरेक के कारण नही किन्तु वस्तुत ही गाय मानव समाज की माता है, क्योकि यदि चद महीने वर्ष या दो वर्ष स्तन पिलानेवाली जननी मा है तो फिर आजीवन दूध पिलाने वाली और मरने पर पावो की रक्षार्थ अपना चर्म प्रदान करने वाली करुणामयी पुत्रवत्सला गौ, माता नही तो और क्या हो सकती है । इसके अतिरिक्त चौरासी लाख योनियो मे भटकता हुआ जीव मनुष्य योनि मे उत्पन्न होने से पूर्व गो जाति मे ही जन्म लेता है, क्योकि तमोगुण और रजोगुण प्रधान सर्प, सिंह आदि योनियो के अनन्तर पशुओ मे सर्वाधिक सत्त्व प्रधान जन्तु केवल गाय ही है इसीलिये भी गौ मानव समाज की जननी है ।

पञ्चगव्य-पान क्यों ?

मत्स्य, कुक्कुट, सूकर जैसे मलभोजी जानवरो के मद्धा-

शयो तक का माँस भक्षण करने वाले कई अहिन्दू गाय के दूध, दही, घृत, गोमूत्र और गोमय द्वारा वैज्ञानिक विधि से निर्मित पञ्च गव्य के पान पर कटु आक्षेप किया करते है। परन्तु वे स्वय नित्य मधु मक्खियो की वमन=शहद और वारहसिगे की भस्म तथा हिमालय के वानरो की विष्ठा=शिलाजीत तथा मनुष्य की विष्ठा से निर्मित नौसादर को तोलो के भाव से खरीद २ कर खाते है।

वास्तव मे वस्तु विशेष की पवित्रता और अपवित्रता उसके तत्तद् गुणो पर ही निर्भर है। यकृत और प्लीहा की खरावी को दूर करने के लिये 'गोमूत्र' के गुणो का परीक्षण हमने स्वय किया है। वैद्य और डाक्टरो की वहुमूल्य औषधिये जिस रोग को चार वर्ष तक सेवन करने पर भी दूर न कर सकी, वही रोग गोमूत्र सेवन से चन्द दिनो मे काफूर हो गया। गोमय मक्खी, मच्छर, रोग कीटाणुओ तथा सील सीमक आदि दोषो को दूर करने मे अमोघ है। इसमे गन्धक और पारद के तात्त्विक अश प्रचुर मात्रा मे होते है। नये अनुसन्धान मे गोवर से एक विशेष प्रकार की गैस उत्पन्न की गई है और उससे विजली पैदा करके गावो को प्रकाशित करने का प्रयोग चल रहा है।

प्रभु के अनन्त धन्यवाद के साथ इस भाग को हम यही समाप्त करते है। अस्तु,

सुकवि तुलसी की विदित भणन्त,
अमित हरि औ, हरि कथा अनन्त।
सहैतुक कतिपय कहे सुकर्म्म,
यही अध्याय तुर्य्य का मर्म ॥

क्यों ?

(धर्म-दिग्दर्शन—पूर्वार्द्ध)

इस ग्रथ को पढने से आपको उन प्राकृतिक एव सार्वभौम सिद्धातो का पता लगेगा कि जिनको समझ लेने के बाद ब्रह्माण्ड भर की कोई भी शका अवशिष्ट नही रहती ।

इससे आपको प्रात जगने से लेकर पुन शयन पर्यन्त की समस्त दैनिक क्रियाओ का, तथा गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त समस्त सस्कारो की इतिकर्तव्यता का एव मूहूर्त अभिवादन आदि २ नित्य व्यवहार मे आने वाले अनेक विषयो का सप्रमाण सयौक्तिक अथच विज्ञानपूर्ण रहस्य विदित हो जाएगा ।

प्रात स्मरणीय अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने भूमिका लिखकर इस ग्रथ का गौरव बढाया है और भारत के सभी चोटी के विद्वानो तथा समाचार-पत्रो ने मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की है ।

यत्र तत्र गहन विषय को समझाने के लिए अनेक वैज्ञानिक चित्र दिए गये हैं । सशोधित तथा परिवर्धित द्वितीय सस्करण—

(सात सौ पृष्ठ के बृहत् ग्रन्थ का मूल्य केवल—आठ रुपये)

बेजोड़ ! बिलक्षण !! बेमिसाल !!!

धार्मिक साहित्य मे युगान्तर उपस्थित करने वाला महाग्रंथ

क्यों ?

(धर्म-दिग्दर्शन-उत्तरार्द्ध)

इस ग्रंथ से ईश्वर की सत्ता और तद्विषयक समस्त शंकाओ का निराकरण, अवतारवाद ईश्वर-उपासना, मूर्तिपूजा, वर्ण-व्यवस्था, स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था, श्राद्ध, तीर्थ, व्रत, त्योहार, पर्व, देवता उनके स्वरूप और वाहन, अश्व, नर गोमेध आदि यज्ञो की इतिकर्तव्यता, एव मास के भक्ष्याभक्ष्य आदि का, चारो वर्णो और चारो आश्रमो के विभिन्न अनुष्ठेय कर्मो की इयत्ता का, अमुक-अमुक पदार्थों के स्पृश्यास्पृश्य, ग्राह्याग्राह्य और भक्ष्याभक्ष्य होने की व्यवस्था का—गर्ज है कि सनातन-धर्म की प्रत्येक रीति और नीति का सप्रमाण सयौक्तिक एव विज्ञानपूर्ण रहस्य विदित हो जाएगा। फिर आपको कोई भी शंकावादी 'क्यो ?' के झमेले मे डालकर पथभ्रष्ट नही कर सकेगा। अपनी प्रति आज ही सुरक्षित करवायें।

चन्द्रोदय धर्मपीठाधीश्वर अनन्तश्री जगद्गुरु स्वामी अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्य जी महाराज ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की भूमिका लिखने के साथ-साथ ११००) पुरस्कार देकर इसको सम्मानित किया है।

[सवा नौ सौ पृष्ठ के ग्रंथ का मूल्य केवल—आठ रुपया]

०—०

पुराणों की तमाम शंकाओं को भगा देने वाला अपूर्व ग्रन्थ

[पृष्ठ संख्या आठ सौ, मूल्य केवल आठ रुपया]

सनातनधर्म जगत् के सुप्रसिद्ध सेनानी शास्त्रार्थ महारथी प० माधवाचार्य जी शास्त्री की चमत्कारपूर्ण लेखनी से लिखा हुआ अनुपम ग्रन्थरत्न 'पुराण-दिग्दर्शन'—जिसके लिए जनता कई वर्ष से अतीव लालायित थी, और प्रति मास हमे अपने देश-विदेश के अनेक कृपालु ग्राहको को निराश करना पडता था, अब नई सज धज के साथ परि-वर्द्धित तथा सशोधित रूप मे पुन प्रकाशित हो गया है। यह वही ग्रन्थ है, जिसका प्रथम सस्करण अफ्रीका प्रवासी भारतीय भाइयो के सदुद्योग से छपकर भारत और उपनिवेशो मे एक वर्ष मे ही हाथो हाथ अपना लिया गया था। अनन्तर विद्वत्समाज की अतीव उत्कण्ठा देखकर जिसे श्री महारानी सरकार साहिबा बलरामपुर राज्य ने अपने सात्विक दान से प्रकाशित कराकर अधिकारी पण्डितो को प्रदान किया था। पुनश्च जिस ग्रन्थ की मौलिकता और उपादेयता से प्रभावित होकर अध्यात्म-विद्यापीठ नैमिषारण्य के कुलपति गुरुदेव भगवान् श्रीनारदानन्द जी महाराज ने ११००) पुरस्कार देकर जिसका गौरव बढाया। इस ग्रथ की—

विशेषता यह है—

(१) इसमे अठारहो पुराणो की प्राय सभी कथाओ और कथाशो को वेदमन्त्रो द्वारा अक्षरश समन्वित किया गया है।

(२) साइन्स की कसौटी पर कस कर 'बावन तोले और पाव रत्ती' सिद्ध किया गया है।

(३) समाजी, जैन, बौद्ध, मुसलमान और ईसाइयो की मान्य पुस्तको के प्रमाण देकर तुलनात्मक दृष्टि से परखा गया है।

(४) आज तक पुराणो के खण्डन मे जितने पुस्तक किंवा लेख छप चुके हैं प्राय उन सब का मुहतोड किन्तु सभ्यतापूर्ण जवाब दिया गया है।

(५) विषय प्रतिपादन शैली इतनी विलक्षण और आकर्षक है कि पुस्तक को एक बार पढना शुरु कर देने पर बिना समाप्त किये छोडने को जी नही चाहता।

(६) भाषा इतनी सरल और रसीली है कि पढते हुवे उपन्यास जैसा आनन्द आता है तथापि भावगाम्भीर्य और लोकोत्तर रहस्यो का अटूट खजाना है।

(७) सभी वर्ग के धर्माचार्य्यो, जगद्गुरुओ, प्रसिद्ध नेताओ महामहोपाध्यायो ग्रन्थानुसन्धायको, और आलोचक-चक्र-चूडामणियो ने मुक्त-कण्ठ से प्रशसा की है।

(८) विद्वत्परिषद् (पजाब और कलकत्ता) ने अपने विषय का मौलिक ग्रन्थ मानकर लेखक को 'शास्त्रार्थ महारथ' और 'विद्यावाचस्पति' सम्मानोपाधियो के अतिरिक्त दो स्वर्ण पदक तथा एक सहस्र और दो सौ पचास नकद रकम देकर पुरस्कृत किया है।

(९) अध्यात्म विद्यापीठ नैमिषारण्य की विद्वत्परिषद् ने (११००) पुरस्कार देकर ग्रथ का गौरव बढाया है।

(१०) इस ग्रन्थ का महत्त्व इसी से जाना जा सकता है कि थोडे ही समय मे इसके तीन सस्करण छप चुके हैं।

'क्यों' के सम्बन्ध में प्राप्त कुछ सम्मतियें

शारदापीठाधीश्वर श्री जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य श्री अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ जी महाराज—इस पुस्तक मे पाश्चात्य शिक्षित जनो द्वारा हिन्दू-धर्म पर किये जाने वाले सब आक्षेपो का सप्रमाण सयौक्तिक तथा वैज्ञानिक उत्तर दिया गया है। प्रत्येक आस्तिक को यह पुस्तक अवश्य पढनी चाहिए।

ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज—शास्त्रसम्मत तर्कों एव वैज्ञानिक विवेचन द्वारा सनातनधर्म के विभिन्न मर्मों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। लेखन शैली विलक्षण और भाषा तथा भाव परिष्कृत हैं। प्रत्येक सनातनधर्मी को इसे पढना चाहिए।

अनन्त-श्रीविभूषित श्रद्धेय स्वामी करपात्री जी महाराज—'आधुनिक नवशिक्षित समाज को वास्तविक तत्त्व की ओर उन्मुख करने के लिये यह ग्रथ अत्यन्त उपयोगी है। निश्चित ही इसके द्वारा शास्त्र ज्ञान की ओर जनता की प्रवृत्ति बढेगी।

माननीय श्री अनन्तशयनम् आयंगर भू. पू. अध्यक्ष—भारतीय लोकसभा, नई देहली—

सनातनधर्म के महान् विद्वान् श्री प० माधवाचार्य शास्त्री जी द्वारा रचित ग्रथ क्यो ? (धर्मदिग्दर्शन) मे सनातनधर्म के सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण और विवेचन भली प्रकार किया गया है। वर्तमान युग मे एक ऐसे ग्रथ की—जिसमे सनातनधर्म के मूल सिद्धान्तो पर शास्त्रीय प्रमाणो के अतिरिक्त युक्तियुक्त वर्णन हो, अत्यन्त आवश्यकता थी। विद्वान् लेखक ने इस ग्रथ द्वारा पूर्ति करके एक महान् कार्य किया है।

धर्म दिग्दर्शन (क्यो ?) द्वारा धर्मोदय होगा मेरी शुभ कामना है।

श्री १०८ स्वामी राघवाचार्य जी महाराज आचार्य-पीठ बरेली— स्त्री जी जैसे प्रवल वक्ता है वैसे ही सिद्धहस्त लेखक भी।...प्रस्तुत ग्रथ ने सनातनधर्म पर की जाने वाली शकाओ को मिटाने मे जितना प्रयास किया है उतना अन्य किसी ने नही।

स्व० श्री गोस्वामी गणेशदत्त जी मन्त्री स. ध. प्रतिनिधि सभा पंजाब— यह बहुत सुन्दर महत्त्वपूर्ण और उपयोगी ग्रथ है। यह पुस्तक सनातनधर्मी जनता के लिये बडी उपयोगी है उन्हे इसे अधिक से अधिक ग्रहण कर लाभ उठाना चाहिए।'

पं० गंगाशंकर मिश्र एम. ए. प्रधान सम्पादक सन्मार्ग (बनारस, देहली, कलकत्ता)— 'हिन्दूधर्म पर विधर्मियो द्वारा जो कुतर्को की बौछार होती हैं इनका उत्तर देना सहज नही, परन्तु शास्त्री जी ने प्रस्तुत ग्रथ मे ऐसे सभी कुतर्कों की अच्छी खबर ली है। भारतीय जीवनचर्या को लौकिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य सिद्ध करके दिखलाया है।'

श्री पं० दीनानाथ जी शास्त्री सारस्वत विद्या-वागीश— इसमें हिन्दुधर्म के सभी अगो को विज्ञान की कसौटी पर युक्तियुक्त सिद्ध कर दिया है। विवेचना अद्वितीय है, जिससे प्रतिपक्षियो के छक्के छूट जाते हैं। प्रत्येक हिन्दु को पं० जी की यह पुस्तक अवश्य सगृहीत करनी चाहिए।

भक्त रामशरणदास जी पिलखुवा— 'क्यो ?' ग्रथ लिखकर देश, सभ्यता एव संस्कृति की महान् सेवा की है। जो मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे और चोटी जनेऊ तक उतार फेंक चुके थे इस 'क्यो' ग्रथ का पढने पर उनको मन्दिर में बैठे चोटी जनेऊ धारण कर भजन करते हमने स्वय देखा है। प्रत्येक हिन्दु को अवश्य पढना चाहिए।'

दैनिक नवभारत टाइम्स, दिल्ली—'आजकल कलिकाल में समस्त शास्त्र ग्रन्थ पढने के अभाव मे केवल इस ग्रन्थ के अध्ययन से सनातनधर्म की समस्त परिपाटी का ज्ञान हो जाता है।'

दैनिक जनसत्ता दिल्ली—हिंदु सस्कृति की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने मे ग्रन्थकार को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। भारतीय विचारधारा, सभ्यता एव सस्कृति को पुनरुज्जीवित करने मे 'क्यो ?' जैसे सरल सरस रोचक ग्रन्थों का सदा महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा।'

दैनिक सन्मार्ग बनारस—'विवेचन कला साफ सुथरी और निखरी हुई है। भाषा प्रवाहमयी तथा शैली अत्यन्त रोचक है। पुस्तक प्रत्येक हिंदु के लिए सग्रहणीय और पठनीय है।'

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी साप्ताहिक 'आर्गनाइजर' देहली—

The author of WHY asks such questions by the hundred—and to a very great extent answers them to scientific satisfaction He Succeeds to a commandable degree in convincing even a scepxic that this eleborate, and at times enigmatic structure of ritual that envelops the philosophical core of Hinduism is scientifically aimed at enabling the Hindu to lead a life of health and strength and consequently of intellectual keenness and moral purity The author's erudition manifest in the book commands respect.

शास्त्रार्थ पञ्चक	२)	कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्	२५ ,,
डाक्टरी गाइड	४)	राधा कृष्ण	२५ ,,
पुराण-दिग्दर्शन परिशिष्ट	१)	दुष्टे स्मृति	२५ ,,
सनातन-धर्म	७५ न.पै	पुराण प्रश्नोत्तर माला	२५ ,,
हैदराबाद शास्त्रार्थ	७५ ,,	रास-लीला	२५ ,,
लेखबद्ध शास्त्रार्थ	७५ ,,	आँख का शहतीर	२५ ,,
हमारे पर्व त्यौहार	७५ ,,	शास्त्रार्थ राजधनवार	२५ ,,
श्राद्ध-विज्ञान	७५ ,,	हमारा गोधन	२५ ,,
हिन्दू और हिन्दुराष्ट्र	७५ ,	निष्कलंक कृष्ण	२२ ,,
शिखा-सूत्र	७५ ,,	दूधका दूध पानीका पानी	२५ ,,
शल्योजेष्यति पाण्डवान्	७५ ,,		
श्रीगणेश	५० ,,	पुराणो के परब्रह्म कृष्ण	२५ ,,
विवाह-विज्ञान	५० ,,	गटरभेकका दिमाग क्रेक	२५ ,,
उपासना रहस्य	५० ,,	परतत्त्वस्य एकत्वम्	२५ ,,
कबीरच्चरितम्	५० ,,	परतत्त्व एक है	२५ ,,
लब्ड़ धौं धौं	५० ,,	ब्रह्मा पुत्री	२० ,,
मर्य्यादा पुरुषोत्तम राम	५० ,,	विष्णु वृन्दा	२० ,,
प्रेरक कथाए	५० ,,	चीर हरण	१२ ,,
ओंकार शिवलिंग	४० ,	पराजय पञ्चक	१२ ,,
गृहलक्ष्मी	२५ न पै	ग्रह पूजन विज्ञान	१२ ,,